प्रस्तावना

इस निवन्ध में रीति-काव्य की सामान्य पृष्ठभूमि देकर देव के व्यक्तित्व और काव्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इसके साधारणतः दो भाग है—पहले में पृष्ठाधार का विश्लेषण और विवेचन है, और दूसरे मे देव के व्यक्तित्व और काव्य का।

पृष्ठ-भूमि के अन्तर्गत तीन अध्याय हैं। (१) पहले में इस युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का ऐतिहासिक विवेचन करते हुए, एक प्रकार से अभीष्ट चित्र के लिये एक आधार-फलक तैयार किया गया है। यहाँ मैंने घटनाओ को प्रायः बचाते हुए, तत्कालीन जीवन की आन्तरिक प्रवृत्तियों को ही ग्रहण किया है, क्योंकि काव्य का सीधा सम्बन्ध इन्ही से है। जीवन की इन भौतिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक, एवं रागात्मक अन्तः-प्रवृत्तियों में परस्पर क्या सम्बन्ध था इसका निर्देश भी स्थान स्थान पर कर दिया गया है। (२) दूसरे अध्याय मे रीति-काव्य के शास्त्रीय आधार का साधारणतः ऐतिहासिक और विशेषतः सैद्धान्तिक विवेचन है। इस प्रसंग मे भारतीय काव्य-शास्त्र के मूल-सिद्धांतों और उन पर आश्रित सम्प्रदायों का नवीन साहित्य-शास्त्र तथा आधुनिक मनोविज्ञान व मनोविश्लेषण-शास्त्र के प्रकाश में विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण किया गया है। आज काव्य-शास्त्र के विद्यार्थी के लिये अध्ययन का यह सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है, और मैं विस्तार-पूर्वक इस पर लिखना भी चाहता था, परन्तु प्रस्तुत निबन्ध के अन्तर्गत इसके लिए अवकाश नहीं है। अतएव मैंने मूल-सिद्धांतों को ही ग्रहण किया है, उनके विस्तार-प्रस्तार और अंग-उपांगो को छोड दिया है। अपने मे महत्त्वपूर्ण होने के अतिरिक्त इस प्रसंग की मुख्य उपादेयता यह है कि इसके द्वारा एक तो रीति-काव्य का शास्त्रीय आधार प्राचीन और नवीन दोनों ही दृष्टि-कोणों से स्पष्ट हो जाता है, दूसरे देव के अध्ययन मे मैंने स्वयं जिस विधि का अनुसरण किया है, उसका पूर्वाभास भी मिल जाता है। शास्त्रीय आधार की अंतः प्रवृत्तियो के विवेचन में इस उपादेयता का सर्वत्र ध्यान रखा गया है, और इसी के अनुपात से उनका विस्तार भी किया गया है। उदाहरण के लिये—देव चूँकि समर्थ रसवादी थे, और मैंने भी उनके काव्य के मूल्यांकन मे रस-सिद्धान्त को ही सर्व-प्रधान माना है, इसलिये रस-सिद्धान्त का विस्तार-विवेचन अन्य सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक है। (३) तीसरे अध्याय मे रीति-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण है। यहाँ भी मैंने अपने विवेचन को प्रवृत्तियों तक ही सीमित रखा है।

व्यक्तियों को यद्यपि स्वतन्त्र महत्व नहीं दिया गया, परन्तु निष्कर्षों में अधिकांशतः सभी प्रतिनिधि रीति-कवियों के मुद्रित और हस्तलिखित (प्राप्य) ग्रन्थों का आश्रय लिया गया है।

इस प्रकार प्रथम तीन अध्याय देव विषयक अध्ययन की एक विस्तृत पृष्ठ-भूमि उपस्थित कर देते हैं जिनके आधार पर अब हम उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के अध्ययन में अग्रसर हो सकते हैं।

यहाँ से निबन्ध का दूसरा भाग चलता है। आरम्भ में ही देव-विषयक सामग्री का एक आलोचनात्मक विवरण दे दिया गया है, जिस से पहले से ही यह स्पष्ट हो जाये कि मेरा अपना अध्ययन कहाँ से आगे बढ़ता है। इसके उपरांत देव के जीवन-चरित तथा उनके काव्य के विभिन्न पक्षों का सांगोपांग विवेचन एवं मूल्यांकन है।

हिन्दी में रीति-काव्य प्रायः उपेक्षा का ही भागी रहा है। द्विवेदी-युग के आलोचकों ने इस कविता को नीति-भ्रष्ट कह कर तिरस्कृत किया, छायावाद के प्रतिनिधि कवि-लेखक इसको अति-ऐन्द्रिय और स्थूल कह कर हेय समझते रहे और आज का प्रगतिशील समीक्षक इसको सामन्तवाद की अभिव्यक्ति मानकर प्रति-क्रियावादी कविता कहता है। मैंने शुद्ध साहित्यिक (रस) दृष्टि से ही रीति-कविता विशेषतया देव की कविता का विश्लेषण और मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया है, अन्य बाह्य मूल्यों को प्रयत्न-पूर्वक बचाया है। इस दृष्टि से आप देखेंगे कि इस रसात्मक काव्य एवं इस रस-सिद्ध कवि का अपना विशेष महत्व है।

—नगेन्द्र

रीति-काव्य की भूमिका

(पूर्वार्द्ध)

१. रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि :—

१. राजनीतिक स्थिति

२. सामाजिक परिस्थिति

कवि और कलावन्तों की विचित्र स्थिति

मुग़ल परिवार और मुग़ल दरबार

विलास और श्रृंगारिकता

हिन्दू मुसलमानों की जातीय स्थिति

नैतिक अवस्था

३. धार्मिक परिस्थिति

बौद्धिक ह्रास ।

४. कला की प्रवृत्ति

स्थापत्य कला ।

चित्र कला ।

संगीत ।

२. रीति-काव्य का शास्त्रीय आधार :—

१. रीति काल का आरम्भ :

वेद-वेदांग, व्याकरण शास्त्र, दर्शन,

रीति-शास्त्र का वास्तविक आरम्भ ।

२. रस-सम्प्रदाय :

रस शब्द का अर्थ और उसका क्रमिक विकास

रस-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास : रस की परिभाषा ।

रस की स्थिति : भट्ट लोल्लट, श्री शंकुक, भट्ट नायक [साधारणीकरण] और अभिनव गुप्त के सिद्धांत, उनकी शक्ति और सीमायें ।

रस का स्वरूप, संस्कृत साहित्य शास्त्र का मत, यूरोपीय साहित्य शास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि से रस का स्वरूप, विवेचन—अपना मत और उसकी स्थापना ।

भाव का विवेचन, भाव की परिभाषा, स्थायी और संचारी का अन्तर मनोवृत्ति और मनोविकार का अन्तर, स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति।

रसों और भावों की संख्या, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में रस, मूल प्रवृत्तियाँ और प्रवृत्तिगत भाव। निष्कर्ष।

३. अलंकार-सम्प्रदाय :—

अलंकार-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास

अलंकार की परिभाषा और धर्म

अलंकार और अलंकार्य का भेद

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार

भारतीय और यूरोपीय अलंकार शास्त्र

रसानुभूति में अलंकार का योग

४. रीति-सम्प्रदाय :—

रीति-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति और शैली: साम्य और वैषम्य। रीति, एवं गुण और दोष की स्थिति और उनका रस से सम्बन्ध।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति, दोष की स्थिति।

५. वक्रोक्ति-सम्प्रदाय :—

संक्षिप्त इतिवृत्त

वक्रोक्ति का स्वरूप

विवेचन

वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद

आचार्य शुक्लजी की आलोचना

६. ध्वनि सम्प्रदाय :—

ध्वनि-सिद्धान्त का संक्षिप्त इतिहास

ध्वनि का आधार और स्वरूप

व्यंजना शक्ति

ध्वनि और रस

ध्वनि के अन्तर्गत अन्य सिद्धान्तों का समाहार।

उपसंहार—सिद्धान्त-समन्वय।

७. नायिका-भेद :—

पूर्व-वृत्त :— भरत, धनंजय, विश्वनाथ का नायिका-भेद

सहायक ग्रन्थों की सूची

१. रीति-काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

Tarachand	1. Short History of the Indian people
	2. हिन्दुस्तान के निवासियों का संक्षिप्त इतिहास
Rawlinson	India—A short cultural History.
Edwardes & Garre	Moghul-Rule in India.
Tarachand-	Influence of Islam on Indian culture
Ishwari Prasad.	A short History of Muslim Rule in India.
Moreland.	From Akbar to Aurangzeb.
Banarsi Pd. Sexena.	History of Shah Jahan of Dihli.
Jadunath Sarkar	History of Aurangzeb.
Jadunath Sarkar.	Fall of the Moghul Empire I & II
Irwine	Later Moghuls VS. I & II.
Khosla	Moghul Kingship & Nobility.
Jadunath Sarkar	Studies in Mogul India.
Tod.	Annals and Antiquities of Rajasthan.

ART.

Havell	Indian Sculpture & Painting.
V. Smith.	History of Fine Arts in India.
Percy Brown	Indian Painting.
राय कृष्णदास	भारत की चित्रकला

२. शास्त्रीय आधार

सर्वश्री

भरतमुनि	नाट्य शास्त्र
दण्डी	काव्यादर्श
वामन	काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति
आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त	ध्वन्यालोक : लोचन सहित :
कुन्तक	वक्रोक्तिजीवितम्

भोज	शृङ्गारप्रकाश
धनंजय	दश रूपक
राजशेखर	काव्य-मीमांसा
मम्मट	काव्य-प्रकाश
विश्वनाथ	साहित्य-दर्पण
जयदेव	चन्द्रालोक
भानुदत्त	रस-तरंगिणी
भानुदत्त	रस-मंजरी
जगन्नाथ	रस-गंगाधर
रूप गोस्वामी	उज्ज्वल नीलमणि
हरिऔध	रस-कलस
रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामणि
श्यामसुन्दर दास	साहित्यालोचन
केशवप्रसाद मिश्र	मेघदूत की भूमिका
गुलाबराय	नवरस
कन्हैयालाल पोद्दार	रसमंजरी, अलंकार-मंजरी
अर्जुनदास केडिया	भारती भूषण
S.K. De	Sanskrit Poetics.
Kane	Introduction to Sahitya Darpana.
Sankaran	Some aspects of literary criticism in Sanskrit.
Lahiri	The concepts of Riti and Guna in Sanskrit Poetics.
—	
Bhagwandas	The Science of Emotions.
Croce	Aesthetic.
Richards	Principles of Literary criticism.
Richards	Practical Criticism.
Mellone and Drummond	Elements of Psychology
Stout	Manual of Psychology.
James	Principles of Psychology.
Mcdougall	1. Outline of Psychology.
	2. Energies of Man.
Dewey.	Psychology.

Frend.	1. Introductory lectures on Psycho-analysi.
	2. Interpretation of Dreams.
	3. Léonardo-da-Vinci.
Jung	1. Psychological types.
	2. Modern Man in search of a soul.
Bosanquet.	History of Aesthetic.
Bain	English Composition & Rhetoric.
Pater.	Appreciations.
Reade	English Prose Style.
Murry	The Problem of Style.

३. रीतिकाव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

सर्वश्री

मिश्रबन्धु	मिश्रबन्धु विनोद, नवरत्न
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
श्यामसुन्दर दास	भाषा और साहित्य
डा. रसाल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	वाङ्मय-विमर्श, पद्माकर-पंचामृत, विहारी की वाग्विभूति।
केशव	रसिक-प्रिया, कवि-प्रिया
चिन्तामणि	कविकुल कल्पतरु
जसवन्तसिंह	भाषा-भूषण
मतिराम	रसराज, ललित-ललाम
भूषण	शिवराज-भूषण
कुलपति	रस-रहस्य
श्रीपति	श्रीपति सरोज : ह० लि० :
दास	काव्य-निर्णय, शृंगार-निर्णय
दूलह	कविकुल-कंठाभरण
बेनीप्रवीन	नवरस-तरंग
पद्माकर	जगद्विनोद, पद्माभरण
प्रतापसाहि	काव्य-विलास : ह० लि० :
,,	व्यंग्यार्थकौमुदी
रसिक गोविन्द	रसिक गोविन्दानन्दघन : ह० लि० :
उत्तमचन्द भंडारी	अलंकार आशय : ह० लि० :

देव और उनकी कविता

(उत्तरार्द्ध)

देव

१. देव-विषयक सामग्री और उसकी परीक्षा :—

२. देव का जीवन-चरित :—

देव नामधारी अनेक कवि,

नाम, जन्म, वर्णगोत्र, आदि।

पिता का नाम तथा वंश-परम्परा, वास-स्थान।

आश्रयदाता

यात्रा।

गुरु तथा सम्प्रदाय।

किम्वदन्तियां, मृत्यु।

देव का व्यक्तित्व : आकृति और वेश-भूषा ; प्रकृति और स्वभाव ; प्रतिभा और विद्वत्ता।

३. देव के ग्रंथ :—

(देव के ग्रन्थ १. उनकी प्रामाणिकता, २. रचना-क्रम तथा ३. वर्ण्य विषय अथवा प्रतिपाद्य।)

भाव-विलास	देव का पहला ग्रन्थ, प्रामाणिकता, वर्ण्य विषय।
अष्टयाम	रचनाकाल, वर्ण्य विषय।
भवानी-विलास	प्रामाणिकता, वर्ण्य विषय।
शिवाष्टक	प्रामाणिकता, वर्ण्य विषय।
प्रेम-तरंग	प्रामाणिकता, रचनाकाल आदि।
कुशल-विलास	वर्ण्य विषय आदि।
जाति-विलास	रचना काल, वर्ण्य विषय आदि।
रस-विलास	,, ,,
प्रेमचन्द्रिका	रचनाकाल, वर्ण्य विषय।
सुजानविनोद या रसानन्दलहरी	वर्ण्य विषय, रचनाकाल, समर्पण आदि।
राग-रत्नाकर	प्रामाणिकता, वर्ण्य विषय आदि।
शब्द-रसायन	प्रतिपाद्य

देव की अलंकार-विषयक दो मान्यतायें
देव का शब्दशक्ति और वृत्ति-विवेचन
,, रीति-गुण-विवेचन
,, पिंगल-विवेचन
सामान्य काव्य-सिद्धान्त और सम्प्रदाय ; आलोचना-शक्ति।

५. देव की कला :

५. अ—चित्रण-कला तथा अभिव्यंजना के प्रसाधन।
१. चित्रण-कला, वर्ण-योजना।
२. अभिव्यंजना के प्रसाधनः अप्रस्तुत विधान,
साहश्य, साधर्म्य, प्रभाव-साम्य;
अमूर्त अप्रस्तुत ;
धर्म के लिये धर्मी का प्रयोग,
मानवीकरण, सम्भावना-मूलक अप्रस्तुत विधान।
चमत्कार-मूलक अलंकार, अतिशय-मूलक अलंकार।
देव के प्रतीकों का विवेचन।

५. आ—देव की भाषा
व्रजभाषा की प्रकृति :- उच्चारण, संज्ञायें और विशेषण,
विभक्ति, सर्वनाम।
क्रियाः वर्तमानकाल, भूतकाल,
भविष्यत्काल, आज्ञा, प्रार्थना,
सम्भावना आदि ; कृदन्त।
साहित्यिक महत्व : व्यापकता, सौष्ठव।
देव की भाषा :
स्वरूप :— शब्दकोष,
व्याकरण :—
कारक-चिह्नों की गड़बड़,
कारक-चिह्नों के वैकल्पिक रूप,
क्रिया-रूप,
अवधी और खड़ी बोली के
क्रियापद और सर्वनाम।
वाक्य-रचना, अन्वय-दोष, अव्यवस्था,

न्यून-पद, अधिक-पद, आदि दोष।
निष्कर्ष।

सौष्ठव : अलंकरण
अर्थगमन
कांतिगुण (पालिश)
शब्द शक्ति : लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता।
व्यंजना,
उक्ति-वैचित्र्य।
भाषा पर अधिकार;
परिणाम।

५. इ—छन्द :

सवैया :—सवैया का विकास ; देव के प्रयोग।
कवित्त (घनाक्षरी) :—घनाक्षरी का विकास ; देव के प्रयोग।

६. आदान-प्रदान :

६. अ—आदान : देव पर अन्य कवियों का प्रभाव।

१. गाथा सप्तशती, अमरु-शतक, आर्या सप्तशती,
२. संस्कृत के स्फुट पद्यों की छाया।
३. देव और उनके पूर्ववर्ती हिन्दी कवि :
    १. सूरदास: खंडिता के चित्र, रासलीला आदि।
    २. रसखान।
    ३. केशवदास :—भावग्रहण, काव्य-सामग्री का ग्रहण, उक्तियों का ग्रहण।
    ४. बिहारी।
    ५. मतिराम।
मौलिकता।

६. आ—प्रदान : देव का हिन्दी के परवर्ती कवियों पर प्रभाव।

१. रीति विवेचन पर प्रभाव :—दास, रसलीन, आदि।
२. रीति-बद्ध शृंगारिक कविता पर प्रभाव :—
    १. देव और दास।

देव

सहायक ग्रन्थ

सर्वश्री

सूदन	सुजान-चरित्र
दलपतिराय वंशीधर	अलंकार-रत्नाकर
सरदार	शृंगार-संग्रह
शिवसिंह	शिवसिंह-सरोज
गार्सा दँतासी	इस्त्वार द ला लितरेत्यूर इंदुई ए इंदुस्तानी
ग्रियर्सन	दी मौडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान
नकछेदी तिवारी	कवि-कीर्तिकलानिधि
पं० बालदत्त मिश्र	सुखसागर-तरंग की भूमिका
मिश्रबन्धु	नवरस
कृष्णबिहारी मिश्र	देव और बिहारी
ला० भगवानदीन	बिहारी और देव
पं० पद्मसिंह वर्मा	बिहारी सजीवनी (भूमिका और भाष्य)
पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित	शृंगार-विलासिनी की भूमिका
डा० धीरेन्द्र	ब्रजभाषा का व्याकरण
पं० रामचन्द्र शुक्ल	बुद्धचरित्र की भूमिका
डा० श्यामसुन्दरदास	भाषा-रहस्य
बलदेवप्रसाद मिश्र	भारतीय दर्शन
पं० रामचन्द्र शुक्ल	सूरदास : पुष्टि-मार्ग :

तमसो मा ज्योतिर्गमय

रीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

राजनीतिक स्थिति :—

आज पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया हुआ हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन प्रायः सर्वमान्य-सा ही हो गया है—और वास्तव में सर्वथा निर्दोष न होते हुए भी, वह बहुत कुछ संगत तथा विवेकपूर्ण है। उसके अनुसार रीतिकाल के अन्तर्गत सं १७०० से सं० १९०० तक पूरी दो शताब्दियां आ जाती हैं।

सम्वत् १७०० से १९०० तक भारत का राजनीतिक इतिहास चरम उत्कर्ष को प्राप्त मुग़ल साम्राज्य की अवनति के आरम्भ और फिर क्रमशः उसके पूर्ण विनाश का इतिहास है। सम्वत् १७०० मे भारत के सिंहासन पर सम्राट् शाहजहाँ आसीन था। मुग़ल वैभव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था—जहाँगीर ने जो साम्राज्य छोडा था, शाहजहाँ ने उसकी और भी श्रीवृद्धि और विकास कर लिया था; दक्षिण में अहमदनगर, गोलकुण्डा और बीजापुर राज्यों ने मुग़लो का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, और उत्तर-पश्चिम में सं० १६९५ मे कन्धार का क़िला मुग़लो के हाथ में आगया था। अब्दुल हमीद लाहौरी के अनुसार उसका साम्राज्य सिन्ध के लहिरी बन्दरगाह से लेकर आसाम मे सिलहट तक और अफ़गान प्रदेश के बिस्त के किले से लेकर दक्षिण मे औसा तक फैला हुआ था। उसमे २२ सूबे थे जिनकी आम-दनी ८८० करोड़ दाम अथवा २२ करोड रुपया थी। देश में अखण्ड शान्ति थी; ख़ज़ाना मालामाल था। हिन्दुस्तान की कला अपने चरम वैभव पर थी। मयूर-सिंहासन और ताजमहल का निर्माण हो चुका था। परन्तु उत्कर्ष के चरम विन्दु पर पहुँचने के उपरान्त यहीं से निगति का भी आरम्भ होगया था। अप्रतिहत मुग़लवाहिनी पश्चिमोत्तर प्रान्तो में लगातार तीन बार परा-जित हुई—मध्य एशिया के आक्रमण बुरी तरह विफल हुए। इन विफलताओं से न केवल धन-जन की हानि हुई, वरन् मुग़ल-साम्राज्य की प्रतिष्ठा को भी भारी धक्का लगा। उधर दक्षिण में भी उपद्रव आरम्भ हो गए थे। बाहर से यद्यपि हिन्दुस्तान सम्पन्न और शक्तिशाली दिखाई देता था, परन्तु उसके अन्तस् में अज्ञात रूप से क्षय के बीज जड पकड रहे थे। जहांगीर की मस्ती

और शाहजहां के अपव्यय दोनों का परिणाम अहितकर हुआ। जिस प्रकार साहित्य के इतिहास में भक्तिकाव्य के चरम वैभव के बाद सं० १७०० के आस-पास से ही कविता क्षयग्रस्त होने लगी थी, ठीक इसी प्रकार राजनीतिक इतिहास में मुग़ल-साम्राज्य भी अपने सम्पूर्ण यौवन को प्राप्त करने के उपरान्त ह्रासोन्मुख हो चला था।

सं० १७१५ में शाहजहां बहुत सख्त बीमार पड़ गया—देश में एक अफ़वाह उड़ गई कि सम्राट् की मृत्यु हो गई। मुग़लों में चूंकि उत्तराधिकार का कोई निश्चित नियम नहीं था अतएव दुर्भाग्यवश बादशाह के जीवनकाल में ही उसके पुत्रों में सिंहासन के लिए युद्ध आरम्भ होगया। वह युद्ध रीति-काल के आरम्भ में सबसे प्रथम और सब से अधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना है—इसका राजनीतिक और नैतिक प्रभाव समस्त देश पर पड़ा। सम्राट् का सबसे बड़ा पुत्र दारा अपने सांस्कृतिक व्यक्तित्व के कारण न केवल सम्राट् का ही वरन् प्रजा का भी स्नेह-भाजन था—परन्तु वह कूटनीति से अनभिज्ञ था। इसके विपरीत दूसरे राजकुमार औरंगज़ेब का व्यक्तित्व कठोर और दृढ़ था। उसकी हार्दिक शक्तियां जितनी सीमित थीं बौद्धिक शक्तियां उतनी ही विकसित थीं। मानव-चरित्र के अध्ययन में उसकी गति अपरिमित थी—उसकी दृष्टि अन्तःप्रवेशिनी और निर्णय-शक्ति स्थिर-संयत थी। कूट-नीति में वह दक्ष था। दारा के विपरीत वह कट्टर सुन्नी था—उसमें धार्मिक-सहिष्णुता का सर्वथा अभाव था। दारा और औरंगज़ेब का युद्ध मानो संस्कृति और राजनीति का युद्ध था। कई जगह कई महीनों तक मोर्चा लगा। सारा साम्राज्य ईश्वर के सदृश प्रतापी मुग़ल सम्राट के पुत्रों में होने वाले इस भयंकर युद्ध को विस्फारित नेत्रों से देख रहा था। हिंदू और उदाराशय मुसलमान दारा की ओर थे—कट्टर सुन्नी औरङ्गज़ेब की तलवार पर इस्लाम की विजय की आशा केन्द्रित किये हुए थे। भाग्य के अनुरोध से दारा की पूर्ण पराजय हुई—देश ने इस लोक-प्रिय राजकुमार के वध का लोम-हर्षक नाटक अपनी आँखों से देखा। उन्होंने देखा मानों नैतिक और धार्मिक विश्वासों को पैरों तले कुचलता हुआ औरंगज़ेब भाइयों के खून में होकर सिंहासन तक पहुंच गया है, और गर्व से उस पर आसीन है। औरंगज़ेब का राज्यकाल सं० १७१५ से सं० १७६४ तक एक सम्पूर्ण अर्धशताब्दी को आच्छादित किये हुए है। उसका वृहत् राज्यकाल अशान्ति और संघर्ष का इतिहास है। इसका परन्तु पूर्वार्ध तो प्रायः ज़मींदारों, राजाओं तथा हिन्दुओं के धार्मिक उपद्रवों एवं विद्रोहों को दमन करने में बीता। सबसे विकट उपद्रव आगरा, अवध और इलाहाबाद सूबों में हुए। आगरा प्रान्त में गोकुल के नेतृत्व में जाटों ने,

अवध में वैस राजपूतों ने, और इलाहाबाद में हरदी तथा अन्य ज़मीदारों ने शासन की अन्यायपूर्ण नीति के विरुद्ध विद्रोह किया। —औरंगजेब ने यथा-समय सभी को शान्त किया और इन उपद्रवी हिन्दुओं से प्रतिशोध लेने के लिए मथुरा में केशवदास का मन्दिर और काशी में विश्वनाथ का मन्दिर विध्वस्त करा दिया, जिससे उसकी हिन्दू-विरोधी नीति और भी स्पष्ट हो गई। उधर बुन्देलखण्ड में चम्पतराय विद्रोही होगए—और उनकी मृत्यु के उपरांत उनके पुत्र महाराज छत्रसाल आजीवन मुग़लों का विरोध करते रहे।

कविवर लाल ने अपने ग्रन्थ छत्रप्रकाश में उनकी वीरता और बलि-दान का ओजस्वी वर्णन किया है—

मारि तुरक कौ मुंह मुरकायौ। रन में विजै बुँदेला पायौ॥
मुरके तुरक खग्ग फिर खोल्यौ। बल दिवान पर हल्ला बोल्यौ॥
वजे नगारे फेर जुझाऊ। रन मे रुप्यौ उमड़ि वलदाऊ॥
पहर राति भर मार मचाई। मुरक्यो तुरक उहां खम खाई॥
ओड़ि अरिन के ढाल ढकेला। भलौ लर्यौ बल करन बुँदेला॥
खभरि खेत तहवर बिचलायौ। सूवन के उर साल सलायौ॥

सले साल सूबानि कै, धस्कनि हलै पटान :
दियौ भाल छत्रसाल कै, राजतिलक भगवान॥

(छत्रप्रकाश)

राजपूताना में मारवाड़ के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर अशान्ति फैली हुई थी। अब तक राजपूताने के प्रमुख राज्य मुग़लों की निष्कपट रूप से सेवा करते रहे थे—जोधपुर के राजा जसवन्तसिंह और जयपुर के मिर्ज़ा जयशाह ने साम्राज्य की ओर से युद्ध करते हुए ही अपने प्राण गवाए थे। राजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के उपरान्त औरंगज़ेब ने जयपुर पर अधिकार कर लिया जिसके कारण मारवाड और मेवाड मुग़लों के विरुद्ध होगए—उधर उन्होंने शाहज़ादा अकबर को भी अपनी ओर तोडकर औरंगज़ेब को विषम परिस्थिति में डाल दिया। अन्त में हार तो राजपूतों की ही हुई, फिर भी दुर्गादास अन्त तक मुग़लों का सामना करता रहा। इधर आत्मरक्षा के निमित्त हिंदू धर्म के विभिन्न समुदायों में भी चेतना जागृत हो रही थी। नारनौल और मेवाड के प्रांतों में सतनामी मत के लोगों ने अपने भयंकर धार्मिक विश्वास का परिचय दिया। उनके अद्भुत साहस को देखकर तो मुगल सैनिक उनमें अतिप्राकृ-तिक शक्तियों का सन्देह करने लगे—और स्वयं औरंगजेब को जो मुसलमानों का ज़िन्दा पीर समझा जाता था—अपने हाथों से दुआएँ और आयतें लिख लिख कर शाही झण्डों में टाँकनी पड़ीं। पंजाब में सिक्खों का असन्तोष बढ रहा था। गुरु

तेग़बहादुर की हत्या और गुरु गोविन्दसिंह के बच्चों पर किये गए पाशविक अत्याचार ने उनको तिलमिला दिया था और सिक्खधर्म के नीचे एक साम्यवादी सैनिक जाति का निर्माण और विकास हो रहा था। परन्तु स्वतन्त्र शक्ति अभी इनमें भी नहीं आई थी। स्वयं गुरु गोविन्दसिंह ने ही मुग़लों का मनसब स्वीकार कर लिया था। दक्षिण की दशा और भी खराब थी। औरंगज़ेब की धार्मिक असहिष्णुता ने दक्षिण के शिया राज्यों की शक्ति सर्वथा क्षीण कर दी थी। वह स्वयं इतनी दुर्व्यवस्था ठीक करने में असमर्थ था—अतएव शिवाजी की अध्यक्षता में मराठे शक्ति संगठित कर रहे थे। कुछ दिन तो वे केवल उपद्रव ही करते रहे परन्तु फिर शिवाजी ने व्यवस्थित राज्य स्थापित कर लिया। गुरु रामदास आदि के प्रभाव से दक्षिण के हिन्दुओं में राष्ट्रीय पुनर्जागृति के लक्षण दृष्टिगत हो रहे थे। भूषण ने शिवाजी की राष्ट्रीय भावना का जो वर्णन किया है, वह अत्युक्तिपूर्ण होते हुए भी वस्तुस्थिति से बहुत दूर नहीं है। शताब्दियों से मुगल सेना अपराजेय समझी जाती रही थी, परन्तु शिवाजी ने यह स्वप्न भंग कर दिया। मराठों का यह प्रदेश हिन्दीभाषी प्रान्तों से दूर था अतएव इस पुनर्जागृति का प्रभाव वहीं तक सीमित रहा—उत्तर के प्रान्त उससे अस्पृष्ट रहे—वहां की हिन्दू जनता अभी उसी प्रकार आत्मचेतना शून्य थी। राज्य-काल के उत्तरार्ध में सम्राट् का ध्यान दक्षिण पर केन्द्रित रहने के कारण उत्तरापथ में अशांति और अव्यवस्था और भी बढ़ गई। इस प्रकार औरंगज़ेब के शासनकाल में देश की राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल थी, विशाल मुग़ल साम्राज्य की चूलें ढीली पड़ गई थीं और वह अपनी विशालता को सम्हालने में असमर्थ हो गया था। शाहजहाँ और औरंगज़ेब पूर्णतः अहंवादी सम्राट थे—उनको अपने निर्णय अथवा न्याय-विचार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप सह्य नहीं था। इसलिए सम्राट् का अपना व्यक्तित्व साम्राज्य के लिए असीम महत्व रखता था। ये लोग अपने मन्त्री आप थे। इस भयंकर व्यक्तिवादी राजतन्त्र का परिणाम यह हुआ कि मुग़ल शासन न तो भारतीयों को एक राष्ट्र में परिणत कर पाया और न सशक्त स्थायी राज्य ही प्रतिष्ठित कर पाया। जनता को किसी प्रकार की आर्थिक स्वाधीनता नहीं थी, उसे अपने न्याय-विचार या वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का कोई अधिकार नहीं था, राजनीतिक अधिकार तो उस समय अकल्पनीय थे। शासन पूर्णतः व्यक्ति की इच्छा पर था—जिसके लिए वैधानिक नियमों का कोई महत्व नहीं था, विद्रोह और क्रान्ति का ही भय था। मुग़ल सम्राटों की शासन-प्रणाली स्पष्ट रूप से सामन्तीय थी—अकबर के समय में राजकीय कर्मचारियों को नक़द वेतन मिलता था परन्तु शाहजहाँ के राजत्व-काल में आकर इन लोगों की संख्या इतनी बढ़ गई कि राज्य का कोष उसको पूरा न कर पाता था। अतएव शाहजहाँ को जागीर की प्रथा चलानी पड़ी। इस प्रकार उसके समय में साम्राज्य की शक्ति अमीरों और

जागीरदारों के सैनिकबल पर ही अवलम्बित रहती थी। परन्तु इनमें आपस मे विद्वेष था और इनकी पारस्परिक कलह और दलबन्दी राजसेवा में प्रायः बाधक होती थी। औरंगज़ेब के समय मे राज्य का ख़र्च और भी बढ गया था—वह हमेशा अपने जागीरदारों और सामन्तों से बड़े बड़े उपहार लेकर उसे पूरा करने की फ़िराक़ में रहता था। एक प्रकार से वह ओहदे बेचने लग गया था। मुसलमान के लिए धार्मिक पाखण्ड, हिंदू के लिए धर्म-परिवर्तन—और उन दोनो के लिए ही बडी बड़ी भेंटें— उस समय पद-प्राप्ति के साधन थे। इस प्रकार सामन्तीय शासन निर्बल होगया था—बेचारे जागीरदारों को भेंट के रूप मे इतना धन सम्राट् को देना पड़ता था कि वे अपना निर्वाह भी नहीं कर पाते थे—स्वभावतः उनके सैनिक बल का ह्रास होने लगा था—वे छोटे छोटे ज़मीदारो के उत्पातो का भी दमन नहीं कर पाते थे। सं० १७६४ मे औरंगज़ेब की मृत्यु हो गई। अभी तक उसका दृढ व्यक्तित्व धुरी के समान समस्त साम्राज्य को सम्हाले हुए था। उसकी मृत्यु के बाद एक साथ साम्राज्य की शक्तियाँ छिन्न-भिन्न होगईं। औरंगजेब के प्रखर अहंवाद ने अपने सभी पुत्रों के व्यक्तित्व को निर्जीव बना दिया था। परिणाम यह हुआ कि उसका कोई भी उत्तराधिकारी इतने बृहत् राज्य को सम्हालने मे समर्थ न हो सका और साम्राज्य का ह्रास बडे वेग से आरम्भ हो गया।

सम्वत् १७६४ के बाद का भारतीय इतिहास घोर राजनीतिक पतन और अव्यवस्था का इतिहास है—यह अशान्ति और अव्यवस्था क्रमश: बढती ही गई और अन्त मे सम्वत् १९१४ के ग़दर मे जाकर इसका पूर्ण पर्यवसान हुआ। मुगलवंश की राजनीतिक प्रतिभा नष्ट हो चुकी थी। अन्तःपुर मे क्षुद्र द्वेष और प्रणय की लीला चल रही थी—राज्य के उत्तराधिकारी उचित शिक्षा और संस्कार के अभाव मे विलासी निर्वीर्य एवं व्यक्तित्वहीन हो गये थे। मुग़लो के जैसे राजतन्त्र-विधान के लिये, जहां सम्पूर्ण व्यवस्था सम्राट् के व्यक्तित्व पर ही आश्रित रहती थी, इस प्रकार का वातावरण पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ। केन्द्रीय शासन के दुर्बल हो जाने के कारण भिन्न भिन्न प्रान्तों के अधिपति स्वतन्त्र होने लग गये थे—मुग़ल-दरबार स्वयं अमीरो और राजकीय अधि-कारियों की उच्चाकांक्षाओ का रंगस्थल बना हुआ था। इन लोगों के पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष का ऐसा ताण्डव नर्तन हो रहा था मानो सम्राट् का अस्तित्व ही न रहा हो। फर्रुख़सियर के समय मे सैयद भाइयों और तूरानी सर्दारो का उदाहरण इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। सैयद भाई तो बादशाहो को बनाने बिगाडने की शक्ति रखते थे। आगरा और राजपूताना मे जाट और राजपूतो के विद्रोह हो रहे थे; दिल्ली के उत्तर मे सिक्खों का प्रभुत्व बढ रहा था—बन्दा बैरागी के उपद्रवों ने बहादुरशाह और फर्रुख़सियर दोनो के नाक मे

दम कर दिया था। दक्षिण में मराठों की शक्ति अप्रतिरुद्ध बढ़ रही थी। निर्बल मुग़ल शासक प्रायः उनकी शर्तों को मानकर उनको चौथ वसूल करने का फर्मान देकर जैसे तैसे अपनी मुसीबत दूर करते थे। इधर योरोप से आई हुई व्यापारी कम्पनियाँ हिन्दुस्तान की अव्यवस्था से उत्साहित होकर धीरे धीरे परन्तु दृढ़ता से अपने पैर फैला रही थीं। अंग्रेजों और फ्रांसीसियों ने काफी प्रभुत्व जमा लिया था। इतिहासकारों ने इस काल के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया है। १—पहले में मराठों का प्रभुत्व बढ़ा। सम्वत् १७६५ में नादिरशाह का हमला हुआ। हिन्दुस्तान की सेना अपना उत्साह और पराक्रम खो बैठी थी—अनुशासन सर्वथा शिथिल हो गया था। निदान नादिरशाह के विजयोत्साह के सम्मुख उसकी घोर पराजय हुई। मुहम्मदशाह बन्दी बना और दिल्ली मे क़त्लेआम का हुक्म हुआ। सिन्धु नदी के पश्चिम के प्रान्त ईरानियों के अधीन हुए। शासन और भी जर्जरित हो गया—अवध का सूबेदार सआदत अलीखाँ, बंगाल का अलीवर्दी खाँ और दक्षिण का निजामुलमुल्क आसफजाह स्वतन्त्र हो गये। २—दूसरे भाग मे अवध और दक्षिण के सूबेदारो की गृह-कलह से आन्तरिक शक्ति क्षीण हो गई। अफगान शासक अहमदशाह अब्दाली के हमले शुरु होगये थे। सम्वत् १८१८ मे उसने मराठो की सम्मिलित शक्ति को पूरी तरह से पराजित कर दिया। मराठो के वर्धमान प्रभुत्व को पानीपत की पराजय से विशेष आघात पहुँचा। अगरेजो का अधिकार विस्तृत हो चला। उन्होंने बक्सर के युद्ध मे शाह आलम को हराकर अपने आश्रय मे ले लिया—और बंगाल, बिहार, उडीसा की दीवानी के बदले उसे इलाहाबाद और कड़ा के ज़िले दे दिये। इधर उन्होने फ्रांसीसी सेना को भी पूरी तरह हराकर उसके बल को निःशेष कर दिया। मराठो का उत्कर्ष एक बार फिर हुआ लेकिन आपस के संघर्षों से वह शीघ्र ही कुण्ठित हो गया। ३—पतन-काल के तीसरे भाग मे मराठो की शक्ति भी निःशेष हो गई और अंगरेजो का प्रभुत्व सम्पूर्ण उत्तरी भारत मे दृढ़ हो गया। मुग़ल साम्राज्य अब केवल दिल्ली और आगरा के आस-पास तक ही सीमित रह गया था। इस प्रदेश को भी बेचारा शाह आलम अपने नियंत्रण मे नही रख पाता था, क्योंकि उसके पास अपना कोई सैन्यबल नही था। इस समय दिल्ली दरबार की आन्तरिक राजनीति केवल उन षडयंत्रों का इतिहास है जो दरबार के विभिन्न दलों मे वजीर-पद की प्राप्ति के लिये हो रहे थे। इन षडयंत्रों मे मराठे, जाट, रुहेले और अवध के नवाब मुख्य भाग ले रहे थे। उनकी छोटी छोटी लड़ाइयो से उस समय का इतिहास भरा हुआ है। [डा० ताराचन्द—हिन्दुस्तान के निवासियो का संक्षिप्त इतिहास]

'शाह आलम के बाद अकबर शाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसके समय में लखनऊ के नवाबों को बादशाह की उपाधि प्राप्त हुई, अंगरेजों ने उन्हे बादशाह स्वीकार किया। यह स्थिति भी बहुत दिनों तक न रही। अंगरेजो ने बंगाल के बाद बनारस इलाहाबाद और अवध पर अधिकार कर लिया—और फिर कुछ समय में ही नामशेष मुग़ल राज्य अंत कर सारे उत्तरी हिन्दुस्तान पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसी समय के एक पत्र मे गवर्नर जनरल एलेनब्रुक ने रेजीडेन्ट टामस मेटकाफ को लिखा था—"बादशाह की ऊपरी शानो-शौक़त का शृंगार उतर चुका है। उसके वैभव की पहिली-सी चमक-दमक नही रही, इसलिये क़लम के एक डोबे मे बादशाह की उपाधि का अन्त कर देना कुछ भी कठिन नहीं है।"

इस युग मे दूसरे हिन्दू प्रदेशो की भी लगभग यही दशा थी जो दिल्ली राज्य की थी। हिन्दी के रीतिकाव्य का सृजन और पोषण जिन प्रांतों में हुआ—वे हैं अवध, बुंदेलखण्ड और राजस्थान। अवध की राजनीतिक परिस्थितियो का उल्लेख मुग़ल-साम्राज्य के प्रसंग में ऊपर हो ही चुका है। राजस्थान में इस समय मुख्य चार राजवंश थे—अम्बेर के कछवाहे, मेवाड़ के शिशोदिया, मारवाड़ के राठौर और कोटाबूंदी के हाड़ा। राजस्थान का इतिहास भी इस समय पतन का इतिहास है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि मुग़ल साम्राज्य के इस विनाशकाल मे भी ये लोग अपनी शक्तियों को संचित और एकत्र कर हिन्दू प्रभुत्व स्थापित न कर पाये। और, करते भी कैसे? राजपूतों की अनादि काल से चली आई हुई फूट इस समय तो और भी जोरो पर थी। बहुपत्नीक राजपूत राजाओं के रनिवासों में मुग़ल हरमो की तरह आन्तरिक कलह और ईर्ष्या का नग्न नृत्य होता था—एक एक राजा की कई विवाहित रानियाँ और अनेक रखितायें होती थीं। अहंकार इन राजपूतों में इतना भयंकर था कि उसके सम्मुख कोई भी आदर्श, कोई भी सम्बन्ध नहीं टिक सकता था। पिता-पुत्र में अधिकार के लिये युद्ध होना यहां भी मामूली बात थी। अगर दिल्ली का औरंगजेब पिता को कैद कर सकता था, तो मारवाड का अमरसिंह अपने पिता की हत्या भी कर सकता था। मेवाड़ मे चण्डावत और शक्तावत वंशों में भयंकर गृह-कलह थी जिससे मेवाड़ की सम्पूर्ण शक्ति जर्जर हो गई थी। राजस्थान में पूर्णतः सामन्तीय शासन था—जिसमे सब कुछ शासक के व्यक्तित्व पर ही निर्भर रहता था। राजा का व्यक्तित्व ही शासनचक्र की धुरी था—उसमें शिथिलता आजाने से सम्पूर्ण व्यवस्था का छिन्नभिन्न हो जाना स्वाभाविक था। व्यक्ति की यह प्रधानता एक ओर राजपूतों में स्वामिभक्ति, देश-प्रेम, जाति और धर्म के प्रति प्रगाढ आस्था जैसे

चारित्रिक गुणों का विकास करती थी, दूसरी ओर निरन्तर अशान्ति गृह-कलह और वैयक्तिक अधिकार-चेष्टा को भी जन्म देती थी--जिसमें संगठन असंभव होजाता था। बाह्य भय के अभाव में प्रायः आन्तरिक वैर भावना उभर आती थी—और वैयक्तिक प्रति-द्वन्द्वों के कारण सम्पूर्ण व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती थी। जब राजपूत वैयक्तिकता आन्तरिक संगठन में ही इतनी बाधक थी—तो राजस्थान का जातीय संगठन कैसे सम्भव होता ? दो एक बार मराठों और मुग़लों के विरुद्ध इस प्रकार संगठन के प्रयत्न भी हुए परन्तु उनका कोई सत्परिणाम असम्भव था, क्योंकि राजपूतों का वंशगत अहंकार और उनके "शत शतद्व्यकारण विद्वेष किसी प्रकार के भी संगठन को विफल कर देते थे। उधर मुग़लों की पराधीनता से उनका नैतिक बल नष्ट हो चुका था, अतएव उनमें स्थिरता और सच्ची देशभक्ति का प्रायः अभाव ही था। उनकी ये उत्तेजनाएं सन्निपात के रोगी की उत्तेजनाएं ही थीं।

इस प्रकार ऊपर के अध्ययन से हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचते हैं :—

(१) समस्त देश युद्धों और विप्लवों से आक्रात था जिनके कारण व्यवस्था पूर्णतः छिन्न-भिन्न होगई थी। केन्द्रीय शासन के निर्बल होजाने से विभिन्न प्रान्तों में छोटे-छोटे महत्वहीन शासन स्थापित हो चुके थे। मुग़ल-साम्राज्य की विराट् गरिमा के नष्ट हो जाने से देश की राजनीति में क्षुद्रता आ गई थी।

(२) यह राजनीतिक अधःपतन का युग था। शासन-समुदाय में मौलिक प्रतिभा निःशेष हो चुकी थी। स्वयं औरंगज़ेब भी सफल राजनीतिज्ञ नहीं था। अकबर और उसके सचिव भगवानदास, टोडरमल आदि की राजनीतिक योग्यता की इस युग में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

(३) इस युग में उत्तरी भारत ने औरङ्गजेब को छोड कोई भी प्रथम श्रेणी का व्यक्तित्व नहीं उत्पन्न किया—मुग़ल परिवार व्यक्तित्वहीन सन्तानें उत्पन्न कर रहा था। औरंगज़ेब के सभी उत्तराधिकारी कर्मचारियों के हाथ की कठपुतली थे। व्यक्तित्व का इतना घोर अकाल और किसी युग में नहीं पड़ा।

(४) इसी समय, देश पर भयंकर बाह्य आक्रमण हुए—नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के हमलों ने गिरती हुई दीवारों को एक धक्के में धराशायी कर दिया। दिल्ली के क़त्ले-आम और पानीपत की पराजय ने देश के रहे-सहे नैतिक बल को भी नष्ट कर दिया।

(५) इस युग का शासन-विधान स्वेच्छाचारी राजतन्त्र था, जो सैनिक-सामन्तीय पद्धति पर चल रहा था। औरंगज़ेब के अशक्त उत्तराधिकारियों के

हाथ में पड़कर वह ऐसा अस्त-व्यस्त हो गया था, कि उपर्युक्त विधान के सभी दुर्गुण उसमे उभर आये थे।

(६) शाहजहाँ ने अपने शासनकाल के उत्तरार्ध में जिस धार्मिक असहिष्णुता का श्रीगणेश कर दिया था— औरंगज़ेब ने उसे पूर्णता को पहुँचा दिया। परिणाम-स्वरूप हिन्दू और मुसलमानो में पार्थक्य की एक तीखी चेतना उत्पन्न होगई थी। दोनो ही निर्वीर्य हो चले थे। हिन्दू पादाक्रांत थे–मुसलमान विलास-जर्जर।

सामाजिक परिस्थिति :— जैसा कि डा० ईश्वरीप्रसाद ने लिखा है, भारतीय इतिहास यहाँ के सम्राटो के जीवन—उनकी विजय-पराजय का इतिहास है। विदेशी यात्रियों के अतिरिक्त किसी भी देशी इतिहासकार ने भारतीय जनता के सामाजिक जीवन का विवरण नहीं दिया।

"शाहजहाँ के समय मे हिन्दुस्तान का समाज सामन्तीय आधार पर स्थित था।—सम्राट इस सामाजिक व्यवस्था का केन्द्र था, उसके अधीन मनसबदार या अमीर थे जो ऊँचे ऊंचे ओहदों पर थे। इनके बाद साधारण कर्मचारियों का वर्ग था जो राज्य के छोटे छोटे विभागों में काम करते थे। इस समय का मध्यवर्ग अधिकतर इन्हीं लोगों से निर्मित था— इनके अतिरिक्त, व्यापारी, साहूकार, दूकानदार आदि भी थे, परन्तु ये लोग आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्ग की स्थिति मे होते हुए भी शिक्षा, संस्कृति मे हीन थे। निम्न-वर्ग में नौकरीपेशा लोगो और मजदूरों के अतिरिक्त भारत का बृहत् कृषक समुदाय भी था, जो सोना पैदा कर मिट्टी पर गुज़र कर रहा था। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से सारा समाज दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता था—एक उत्पादक वर्ग और दूसरा भोक्ता वर्ग। उत्पादक वर्ग में कृषक-समुदाय और श्रमजीवी थे। ये लोग शासन और युद्ध के मामलों से सर्वथा पृथक् रहकर अपने खेती-व्यापार के कामों मे लगे रहते थे— सरकार को कर देते थे और उसके बदले आन्तरिक तथा बाह्य उपद्रवों से त्राण पाते थे। भोक्ता वर्ग सम्राट् के परिवार और दरबारों से लेकर उनके नौकर चाकर और दासों तक फैला हुआ था। यह वर्ग राज्य की शक्ति था—अतएव उत्पादक वर्ग पर इसका पूर्ण प्रभुत्व था— सामाजिक स्थिति भी स्वभावतः इनकी श्रेष्ठतर थी। इन दोनो के बीच बहुत बडा अन्तर था–शासक और शासित–शोषक और शोषित का।

कवि और कलावन्तों की विचित्र स्थिति :— इन दो वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग विद्वानों का था, जो बादशाह, बड़े अमीरों और

छोटे छोटे रईसों के आश्रय में रहते थे। कवि और विशिष्ट कलाकार इसी वर्ग के प्राणी थे। इस प्रकार इस युग में कवियों और कलावन्तों की स्थिति कुछ विचित्र थी। जन्म से इनका सम्बन्ध प्रायः निम्न और मध्यवर्ग से होता था, परन्तु रहते थे ये उच्चवर्ग के आश्रय में। अतएव यद्यपि इनके व्यक्तित्व का निर्माण दोनों वर्गों के विभिन्न संस्कारों से ही होता था—फिर भी उसमें प्रधानता उच्चवर्ग के संस्कारों और उसी की आशा-आकांक्षाओं की रहती थी, क्योंकि बाद में निर्धन जनता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता था। निम्नवर्ग न तो इतना सम्पन्न ही था कि इतनी कृतियों का पुरस्कार दे सके और न इतना शिक्षित ही कि उनका रस ले सके। परन्तु शाहजहाँ के उपरांत इन लोगों के लिये राजकीय आश्रय का द्वार भी बन्द हो गया और औरंगजेब की मृत्यु के बाद तो साम्राज्य की शक्ति का विकेन्द्री-करण वेग से आरम्भ होगया। इसका परिणाम यह हुआ कि कवि और कलाकार भी दिल्ली के दरबार को छोड़ कर विभिन्न राजाओं, सूबेदारों, नवाबों और रईसों के दरबार में बिखर गये। स्वभावतः उनकी भी सामाजिक स्थिति बहुत कुछ गिर गई।

मुग़ल परिवार और मुग़ल दरबार :—शाहजहाँ का राज्य-काल वैभव और ऐश्वर्य से जगमग था। बर्नियर, ट्रेवर्नियर, मैनूची आदि विदेशी यात्री सम्राट् के दरबार का ऐश्वर्य देखकर स्तब्ध होगये थे। उन सभी ने चित्रमय मुग़ल दरबार की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। सम्राट की व्यक्तिगत जीवनचर्या पर अपार धनराशि व्यय की जाती थी। सम्पूर्ण मुग़ल परिवार में रत्नों और मणियों का मुक्त प्रयोग होता था। उनके वस्त्रों और आभूषणों के व्यय का अनुमान लगाना साधारणतः असम्भव था। सम्राट के लिये प्रति-वर्ष एक हज़ार बहुमूल्य वस्त्र तैयार होते थे, जो वर्ष के अन्त तक दरबार में आनेवाले अमीर उमराओं को भेंट कर दिये जाते थे। शाहजहाँ वैभव और विलास की मूर्ति था। उसका शरीर स्वर्ण-खचित वस्त्रों, रत्नहारों और बहु-मूल्य इत्रों से आपूर्ण रहता था। मुग़ल अन्तःपुर का वैभव इन्द्रभवन को मात करता था। बर्नियर लिखता है "मैंने (मुग़ल हरम में) प्रायः प्रत्येक प्रकार के जवाहिरात देखे हैं, जिनमें बाज़ तो असाधारण हैं।...... वे इन मोती की मालाओं को कन्धों पर ओढनी की तरह पहनती हैं। इनके साथ दोनों तर .. मोतियों की कितनी ही मालायें होती हैं। सिर में वे मोतियों का गुच्छा सा पहनती हैं, जो माथे तक पहुँचता है, और जिसके साथ एक बहुमूल्य आभू-षण जवाहिरात का बना हुआ सूरज, और चाँद की आकृति का होता है। दाहिनी तरफ़ एक गोल छोटा-सा गहना होता है, जिसमें दो मोतियों के बीच जड़ा हुआ एक छोटा-सा लाल होता है। कानों में बहुमूल्य आभूषण पहनती

है, और गर्दन के चारों तरफ बडे २ मोतियो तथा अन्य बहुमूल्य जवाहिरात के हार, जिनके बीच में एक बहुत बडा हीरा, लाल, याकूत या नीलम और इसके बाहर चारों तरफ़ बडे २ मोतियों के दाने होते हैं। . . ." एक शब्द में, इन बेगमो का सारा शरीर आपादचूड़ जवाहिरातों से ढका हुआ होता था। इनकी पोशाकें बहुमूल्य और इत्र में बसी हुई होती थीं—दिन में न जाने कितनी बार ये वस्त्र बदलती थी। रीतिकाव्य की वासक-सज्जाओं को इनसे सीधी प्रेरणा मिलती होगी। दरबार के अमीरों और कर्मचारियो का जीवन भी कम ऐश्वर्यपूर्ण नहीं था। अधिकृत राजा भी अपने मुग़ल अधिपतियों का अनुसरण करते थे। उनके महलों में भी इन्द्रसभा जुडी रहती थी। अवध के नवाबों और जयपुर मारवाड आदि के हिन्दू राजाओं के जीवन-वृत्त इसके साक्षी हैं। ये लोग भव्य-भवनो में रहते थे जो विलास की सामग्री से जगर-मगर होते थे। उत्सवो और पर्वों के दिनों में इनमें शोभा का स्वर्ग उतर आता था। तुलना कीजिए :—

(१) प्रतिबिम्बित जय साह-दुति दीपति दरपन-धाम।
सब जगु जीतन कौं कर्यौ काय-ब्यूहु मनु काम॥

[बिहारी सतसई]

(२) फटिक सिलान सो सुधारयो सुधा-मंदिर,
उदधि-दधि को सो अधिकाई उमगै अमंद,
बाहिर ते भीतर लौं भीति न दिखैयै 'देव'
दूध-कैसो फेनु फैलो आँगन फरस बंद।
तारा-सी तरुनि तामै ठाढी झिलिमिलि होति,
मोतिन की जोति मिली मल्लिका को मकरंद;
आरसी-से अम्बर मैं आभा-सी उज्यारी लागै,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब-सो लगत चंद॥

[देव : सुजान-विनोद]

नगर से बाहर चित्र-विचित्र उपवन और उद्यान सुशोभित थे—और स्थान-स्थान पर रमणीक सरोवर, जिनके पार्श्वों पर खडे हुए बिहारी और देव जैसे अनेक रसिक मणि 'कुच आँचर बिच बांह' देकर भीगे-पट घर को जाने वाली सुन्दरियों की शोभा निरखते रहते होगे। औरंगज़ेब के बाद जब देश की समृद्धि का क्षय होने

लगा—तो वास्तविक वैभव का स्थान वैभव के प्रदर्शन ने ले लिया जो घोर नग पतन का सूचक था।

विलास और शृंगारिकता :—वैभव और विलास का सहज सम्बन्ध है। अतिशय वैभव का यह युग अतिशय विलास का युग भी था। मुग़ल अंतःपुर में हज़ारों स्त्रियाँ रहती थीं। बर्नियर के साक्ष्य के अनुसार बहुधा राज-महलों में भी भिन्न २ वर्णों और जातियों की २००० स्त्रियाँ रहती थीं—जिनके कर्त्तव्य-कर्म भिन्न भिन्न होते थे। इनमें अनेक बादशाह की सेवा और बहुत-सी शाहज़ादियों के मनोरंजन और शिक्षा आदि के लिए नियुक्त थीं। शिक्षा प्रायः आशिकाना ग़ज़लों, फ़ारस की अश्लील प्रेम-कहानियों आदि की ही होती थीं। इनमें से बुड्ढी स्त्रियों से जासूसी का काम लिया जाता था। ये कुटनियां स्थान-स्थान से सुन्दरी स्त्रियों को धोखे-फरेब या लालच से महल में ले आती थीं। रीतिकाव्य की दूतियाँ बहुत कुछ इनका ही प्रतिरूप थीं। सम्राट के महलों में सुन्दरी के साथ सुरा का भी उन्मुक्त व्यापार था। मदिरापान उस समय का सबसे भयंकर व्यसन था। हिन्दू और मुसलमान समान रूप से धार्मिक निषेधों का उपहास करते हुए मदिरा का निर्बाध सेवन करते थे। अमीरों और राजाओं के महलों में शृंगारिकता का नग्न नृत्य होता था। सैनिक शिविरों में भी वेश्याओं का जमाव रहता था—मुग़ल सेना की सहायता के लिए कामदेव की भी बृहत् सेना चला करती थी। छोटे-छोटे अधिकारियों और रईसों के सामने भी यही आदर्श था और उनका भी सारा समय भोग-विलास में ही व्यतीत होता था, जिसका विवरण देव और अन्य कवियों के अष्टयामों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से मिलता है।

औरंगज़ेब ने इस अतिचार को बन्द करने का प्रयत्न किया—उसने सुरा और अन्य मादक वस्तुओं को निषिद्ध कर दिया। वेश्याओं को शादी के लिए मजबूर किया, परन्तु समस्त देश में वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड रहा था कि शुद्धिवादी सम्राट के सभी निषेध-प्रयत्न उसमे बह गये। अमीर उमराओं ने उसके निषेध-पत्रों को शराब की सुराही मे उसी तरह ग़र्क़ कर दिया, जिस तरह कि कुछ वर्ष बाद स्वयं औरंगज़ेब के उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह रंगीले ने नादिरशाह के पत्र को ग़र्क़ कर दिया था। मदिरा और प्रमदा के अतिरिक्त विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्रा में वर्तमान थे। अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन और पकवानों का उपयोग होता था। साहित्य में बदनाम पद्माकर का यह छंद उसकी एक क्षीण झांकी भर देता है :—

गुलगुली गिलमें गलीचा हैं गुणीजन हैं चांदनी हैं चिक हैं चिरागन की माला है।
कहै पद्माकर त्यों गजक गिजा हैं सजी सेज हैं सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं

शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तानतुक ताला हैं बिनोद के रसाला हैं सुबाला हैं दुशाला हैं बिशाला चित्रशाला हैं॥

(जगद्विनोद)

विलास की अगणित ललित क्रीडाओं का संचय था—अंतःपुर में शतरंज, चौसर और गंजफा के खेल इनका मनोरंजन करते थे—बाहर शिकार या पतंग-बाजी, तरह-तरह के पशुपक्षी—कबूतर, लाल तोता, मैना आदि के स्वरों से रनवास गूंजते रहते थे। अकबर के ज़माने की हाथी और चीतों की लडाई का स्थान अब बाज और सिकरो की लडाई ने ले लिया था।

बिहारी के अनेक दोहों में इनका प्रतिबिम्ब मिलता है :—

(अ) उडत गुडी लखि लाल की अंगना अँगना माँह।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुवति छबीली छाँह॥

(आ) ऊंचे चितै सराहियत, गिरह कबूतर लेतु।
झलकित दृग, मुलकित बदनु, तनु पुलकित किहि हेतु॥

(सतसई)

देश को परिथिति ज्यों-ज्यों बिगडती गई, त्यों-त्यों विलास के ये साधन भी अधिक अस्वस्थ होते गये, जिन से समाज का मानस पूर्णतः विकृत हो गया।

श्रमीवर्ग :—श्रमीवर्ग की दशा इसके बिल्कुल विपरीत थी। वर्ण-व्यवस्था का लोप हो चुका था। अतः समाज व्यवसाय और पेशों के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त था। सभी वर्णों के लोग सुविधानुसार प्रायः सभी काम करते थे, परंतु इन बेचारों का जीवन दैन्य और शोषण से आक्रान्त था। इनमें अधिकतर आबादी किसानों ही की थी। दिन भर काम करने के उपरान्त ये ग़रीब सिर्फ एक बार ही भोजन कर पाते थे। मुग़ल बादशाहों के असंख्य युद्धों, बहुमूल्य इमारतों, उनके और उनके अमीरों के विलास-वैभव सभी का भार अंत में जाकर इन किसानों पर ही पडता था। सचमुच इस समय के प्रासाद इन्ही लोगों की हड्डियो पर खडे हुए थ, इन्हीं के आँसू और रक्त की बूँदें जमकर अमीरों के मोती और लालों का रूप धारण कर लेती थीं। राजा के अबाध अपव्यय की क्षतिपूर्ति अनेक प्रकार के उचित-अनुचित कर्मों द्वारा की जाती थी; कर्मचारीगण राजा का और अपना उदर किसानों का खून चूसकर भरते थे। सम्राट्, सूबेदार, फ़ौजदार, ज़मीदार सभी का शिकार बेचारा किसान था, जिसके कष्टों को केवल भगवान् ही शायद सुन सकता था। शाही सेना के सिपाही, बनजारों की टोलियां, राजपूताने के डाकू उनकी हरी-भरी फसलों को तहस नहस कर देते थे, घर-बार लूट लेते थे। दीन प्रजा सर्वथा

त्रस्त होकर त्राहि-त्राहि कर उठी थी। मजदूरों और कारीगरों को यों ही बेगार के लिए पकड़ लिया जाता था। उनकी मजदूरी अक्सर कोड़े से मिलती थी। उधर भयंकर अकाल और महामारी के प्रकोपों ने उनका जीवन असह्य कर दिया था। इस प्रकार हिन्दुस्तान की आर्थिक स्थिति एक साथ बिगड़ गई थी। देश की धन-समृद्धि का ही नाश नहीं हुआ, वरन् शिल्प, कौशल, संस्कृति और कला की भी दुर्गति होगई थी।

हिन्दू मुसलमानो की जातीय स्थिति :—हिन्दुओं की राजनीतिक पराजय ने उनके जातीय संगठन को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर दिया था। किसी दृढ़ आधार के अभाव मे हिन्दुओं मे जाति-भेद की भावना प्रबल हो उठी थी। वेद-मन्त्रों के उच्चारण अथवा यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकारों को लेकर उनमे आपस में भयंकर संघर्ष चल रहे थे। धार्मिक दम्भ अबाध गति से बढ़ रहा था। शूद्र सर्वथा अस्पृश्य समझे जाते थे, उधर मुसलमान समस्त हिन्दू जाति को ही हीन समझते थे। शासन उनका था ही, अतएव हिन्दुओं की अपेक्षा उनकी सामाजिक स्थिति का श्रेष्ठतर होना स्वाभाविक था। हिन्दुओ के साथ शाहजहाँ के समय से ही ज़्यादतियाँ हो रही थी, उनके मन्दिर तुड़वा दिये गये थे। विद्यालय और पुस्तकालय नष्ट कर दिये गये थे; उत्सव और मेलो पर प्रतिबन्ध था। राज्य के पदाधिकार उनके लिये प्रायः वर्जित ही थे। इस प्रकार हिन्दू मुसलमानों मे पार्थक्य की एक तीव्र चेतना अब भी बनी हुई थी। परन्तु औरंगज़ेब के बाद ज्यो-ज्यों मुग़ल शासन क्षीण होता गया और देश विपत्तिग्रस्त होता गया, यह पार्थक्य कुछ कम अवश्य होने लगा था। उनके सामाजिक सम्पर्क गहरे होने लगे—निर्गुण सन्तो और सूफ़ी फ़कीरों के प्रभाव से उनकी धार्मिक भावनाओं मे भी थोड़ा बहुत समन्वय हुआ। उधर उनके पारस्परिक आचार-विचारों मे भी बहुत कुछ समता आगई। हिन्दू-मुसलमानो के उत्सव, संस्कार, रीति-रिवाज, आमोद-प्रमोद आदि मे साधारणतः भेद करना कठिन हो गया। गाँव के लोगो के व्यवहारो मे तो यह अभेद और भी अधिक था। परन्तु यह एकता किसी प्रकार स्थायी नहीं थी—थोड़े से भी उलट-फेर से स्थिति बिगड़ जाती थी, स्वयं मुसलमानो मे शिया और सुन्नी का - तूरानी और ईरानी का भयंकर भेद-भाव था।

नैतिक अवस्था :—राजनीतिक और सामाजिक अधोगति का स्वाभाविक परिणाम था नैतिक अधोगति। हिन्दू युग युग से पादाक्रान्त रहने के कारण—और मुसलमान विलास तथा आंतरिक एवं बाह्य द्वन्द्वो से जर्जर होकर, अपना नैतिक बल खो बैठे थे। दोनों की निर्बाध इंद्रिय-लिप्सा की ओर संकेत ऊपर हो चुका है, पर वह नैतिकता का एक पहलू है। उसके अतिरिक्त अन्य सभी पहलू भी इस

युग में सर्वथा दुर्बल हो गये थे। अपने अनियंत्रित अपव्यय को भरने के लिये कर्मचारी वर्ग खुले-आम रिश्वत लेता था। बडे-बडे अधिकारियो से लेकर छोटे छोटे कर्मचारियों तक रिश्वत का बाज़ार गर्म था। स्वयं बादशाह ओहदे बेचते थे और आवश्यकता पडने पर दूसरो को उत्कोच देकर अपने पक्ष मे करने का प्रयत्न भी करते थे। औरंगज़ेब ने अनेक दुर्ग इसी प्रकार विजय किये। अनेक हिन्दुओ को धन और ओहदो का लालच देकर मुसलमान बनाया। उसके बाद के सम्राट शक्तिशाली अमीरों और वाह्य आक्रमणकारियो से, घूस देकर ही, अपनी रक्षा करते रहे। शाही खानदान विलास-जन्य दुर्गुणों का केन्द्र था—वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट और षडयन्त्रों का नंगा नाच होता था। उत्तराधिकार के लिए होने वाले षडयन्त्रों और युद्धों में मुग़ल राजकुमारों ने जिस नृशंसता और पापाचार का परिचय दिया उसका नैतिक प्रभाव जनता पर बहुत ही बुरा पडा। प्रजा के हृदय से स्वामिभक्ति, सत्याचरण और कर्त्तव्य-निष्ठा की भावनाएं लुप्त हो गई, स्वार्थ-साधना प्रबल हो उठी। बाद मे जहाँदारशाह जैसे बादशाहों ने तो मग़लवंश का गौरव बिल्कुल ही धूल मे मिला दिया। उसकी रखैल लाल कुँवर स्वयं सम्राट् और वडे-बडे अमीरो का जनता मे अपमान कर देती थी। यही व्यवहार राजपूताना मे मारवाड-नरेश विजयसिंह की पासबनी वेश्या उसके और उसके सामन्तों के साथ कर रही थी। शाहज़ादो, राजपुत्रो एवं अमीरज़ादों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं था। उनका भरण-पोषण जिस कलुषित वातावरण में होता था, वह उन्हे विलासी और निर्वीर्य ही बना सकता था—उनपर हिजडो और युवती दासियों का प्रभुत्व था। उनक शिक्षक भी वेतनभोगी सेवकों से अधिक सम्मान नही पाते थे। यही कारण था कि छोटी उम्र से ही वे (औरंगजेब के प्रधान मन्त्री के पोते) मिर्ज़ा तफ़खुर की तरह बाजार मे आवारागर्दी और औरतों से छेड-छाड शुरू कर देते थे। जनता के आचार-रक्षकों के प्रयत्न केवल पाखण्ड की ही वृद्धि कर रहे थे। नैतिक बल के ह्रास से लोग पूर्णतः भाग्यवादी बन गये थे। सभी वर्ग के लोगों की ज्योतिष में प्रगाढ आस्था थी—सम्राट और अमीरो के साथ-साथ ज्योतिषियो का एक समुदाय चलता था। हिन्दू नृपतियों की अंध आस्था का तो कहना ही क्या? वे तो शकुन के बिना पत्ता भी नही तोड सकते थे। इस घोर भाग्यवाद का स्वाभाविक परिणाम था नैराश्य। वास्तव मे इस सम्पूर्ण युग को ही नैराश्य का गहन अंधकार आच्छादित किए हुए था। शाहजहाँ और औरंगज़ेब के पत्रों में—इस युग की सभी घटनाओ में—विषाद की गहरी छाया स्पष्ट है, और ज्यो ज्यो समय बीतता गया यह छाया भी गहरी ही होती गई। भीषण राजनीतिक विषमताओं ने वाह्य जीवन के विस्तृत क्षेत्र में स्वस्थ अभिव्यक्ति और प्रगति के सभी मार्ग अवरुद्ध कर दिये थे। निदान, लोगों की वृत्तियाँ अंतर्मुखी होकर अस्वस्थ काम-विलास में ही अपने को व्यक्त करती

थी। बाह्य जीवन मे त्रस्त होकर उन्हें अंतःपुर की रमणियों की गोद में ही त्राण मिल सकता था। अतिशय विलास की रंगीनी नैराश्य की कालिमा से ही अपने रङ्गो का संचय कर रही थी। युग-जीवन की गति जैसे रुद्ध हो गई थी।

धार्मिक परिस्थिति :—धर्म की स्थिति और भी दयनीय थी। जैसा कि डा० ताराचन्द ने लिखा है, इस समय हिन्दू और मुस्लिम धर्म के अनुयायियो में तीन प्रकार के लोग थे। पहिला वर्ग विद्वानों पण्डितो और मौलवियों का था, जो विधिवत शास्त्रीय धर्म का अध्ययन और अनुसरण करते थे। ये लोग अपने धर्म-ग्रन्थों की आज्ञाओं का अक्षरशः पालन करते थे। अपना धर्म इनके लिये एक सनातन सत्य था और शास्त्रों की वाणी ईश्वर की वाणी थी, जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं था। हिन्दी प्रान्तो मे, शास्त्रीय धर्मों में इस समय मुख्यतः वैष्णव धर्म की शाखा-प्रशाखाओं का प्रचार था और उनमें भी सब से अधिक प्रचलित थी कृष्ण-भक्ति शाखा, क्योंकि वही युग की प्रवृत्ति के सब से अधिक अनुकूल थी। कृष्ण-सम्प्रदाय मे भी इस समय तक कई उप-सम्प्रदाय आविर्भूत हो गये थे और विभिन्न स्थानों पर उनकी गद्दियाँ विद्यमान थीं। वल्लभ-सम्प्रदाय में विट्ठलनाथ जी की मृत्यु के उपरान्त उनके सात पुत्रों ने गोकुल, कामवन, कॉकरोली, श्रीनाथद्वारा, सूरत, बम्बई और काशी मे भिन्न-भिन्न सात गद्दियाँ स्थापित कर ली थीं। इन लोगो मे अनेक विद्वान् हुए—उदाहरणार्थ कॉंकरौली के गो० हरिरायजी महाराज जिन्होंने श्रीनाथजी की प्राकट्यवार्ता का प्रणयन किया। इनके अतिरिक्त अन्य गोस्वामियों ने भी वल्लभाचार्य के अणु-भाष्य की व्याख्या करने का क्रम प्रचलित रक्खा, परन्तु गोकुलनाथ जी के उपरान्त इस सम्प्रदाय में किसी ने भी मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। बाद में गद्दियो के स्थापित हो जाने से इन लोगों पर भी देश की तत्कालीन लोकरुचि का प्रभाव पडा। वैभव के अभिशाप से ये भी अछूते नही रह पाये। इन गोस्वामियों का सम्पर्क राजा और श्रीमानों से बढ़ने लगा और ये उन्हें ही गुरु-दीक्षा देने के लिए लालायित रहने लगे। जनता की इनकी गद्दियों मे कोई पूछ नहीं थी, और चूंकि ये लोग जनता मे बाहर जाकर धर्म का प्रचार नहीं करते थे अतएव उससे उनका सम्पर्क स्वभावतः ही कम हो गया था। साथ ही राजसी ठाठ-बाट के वातावरण में रहने के करण इनकी साधना और तत्वचिंतन में भी शैथिल्य आ गया था। धर्म का तात्विक विकास एकदम रुक गया था और उसके स्थान पर भक्ति के बाह्य विलास अत्यन्त समृद्ध

हो गये थे। सेवा-अर्चना की सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधियों का आविष्कार हो गया था। जब भक्त लोग इस प्रकार ऐश्वर्य और विलास में संलग्न थे तो भगवान् उससे कैसे वंचित रहते।

उनके विलास के लिए भी इतने साधन एकत्रित किये गये थे—"कि अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती, या कुतुबशाह भी अपने अन्तःपुर मे उनका अनुसरण करना गर्व की बात समझते।" यही दशा माधव, निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभीय सम्प्रदायो की गद्दियों की थी। उनमें राधा की महत्ता के कारण शृंगार भावना और भी स्पष्ट रूप से व्यक्त हो रही थी।

चैतन्य-सम्प्रदाय का वृन्दावन और बंगाल में खूब ज़ोर था। कीर्तन की लोक-प्रियता के कारण उसका जनता से घनिष्ठ सम्पर्क था। अतः उसमें अपेक्षाकृत जीवन भी अधिक था। परन्तु उसने लोगों की भक्ति-भावना के साथ परकीया भाव को भी प्रोत्साहन दिया। उधर रूपगोस्वामी ने सम्पूर्णनायिका-भेद को ही कृष्ण-भक्ति मे गुंफित कर दिया। कृष्ण-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों मे भी इसी प्रकार तत्व-चिन्तन क्षीण और बाह्य अर्चन-विलास समृद्ध हो चला था।

मठ और मन्दिर देवदासियो और मुरलियों के चरणो की छुन-छुन से गूँजते रहते थे। महाराष्ट्र में अवश्य इस समय तुकाराम के अभंगों और रामदास के दासबोध द्वारा धार्मिक जागृति हो रही थी। तुकाराम, तुलसी और सूर की कोटि के सन्त और कवि थे। उनके अभंगों ने दक्षिण भारत की जनता को शुद्ध भक्ति रस में विभोर कर दिया, और उधर रामदास ने भी जीवन-गत धर्म की प्रतिष्ठा कर जनता मे उत्साह और शक्ति का संचार किया। सिक्ख धर्म में भी यथेष्ट जीवन था, परन्तु ये सभी धार्मिक प्रवृत्तियाँ हिन्दी प्रान्तो से बाहर पडती थीं। अतएव हिन्दी साहित्य से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं था। तात्पर्य यह है कि जन-जीवन की धारा से असम्पृक्त रह कर धर्म इस युग मे रूढिवाद बन गया था। जीवन की शक्ति उसमे नहीं रह गई थी। सम्पन्न हिन्दुओ मे धर्म के प्रति आस्था तो निःशेष हो चुकी थी केवल धर्म-भीरुता शेष थी। इस युग के सम्राटों का दृष्टिकोण पूर्णतः ऐहिक था और उनके प्रभाववश उनके निकट सम्पर्क में आने वाले उच्च वर्ग और सम्पन्न मध्य वर्ग का भी यही दृष्टिकोण हो गया था। मुसलमानो के लिए तो इस ऐहिकता को स्वीकार कर लेना सहज था, परन्तु हिन्दुओं का पूरी तरह इसी रंग मे रंग जाना उतना सरल नहीं था। उनकी प्रवृत्ति उन्हें

ऐहिकता की ओर खींचती थी, परन्तु संस्कारों पर परलोकवाद का बोझ था। परिणाम यह हुआ कि धर्म का नीति और विवेक से सम्बन्ध टूट गया। धर्म की आन्तरिक आत्मिक शक्ति क्षीण हो गई। वाह्य विलास और प्रसाधन बढ़ गये और विलासी लोग धर्म के उन्हीं शृङ्गार-परक रूपों की ओर आकृष्ट होने लगे, जिनमें उनके अपने विलास-पूर्ण जीवन का समर्थन मिलता था। इस प्रकार इस युग में धर्म का स्वस्थ दार्शनिक आधार सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट हो गया था।

इस्लाम को हिन्दू धर्म की अपेक्षा विजेताओं का धर्म होने का लाभ था, परन्तु उसके अनुयायियों का भी धार्मिक जोश ठण्डा पड गया था। मुल्ला और मौलवी यद्यपि अब भी विभिन्न जल-वायु और देश-काल में रची हुई क़ुरान की आयतों का कट्टरता से पालन कर रहे थे। 'हिफ़्ज़े कलामुल्लाह' का अब भी उनको उतना ही आग्रह था, परन्तु मुसलमानों के राजनीतिक और नैतिक अधःपतन का प्रभाव इस्लाम पर भी पड़े बिना नहीं रहा था। उनमें भी रूढ़िवाद का प्रचार बढ़ रहा था। मुसलमान जनता की आत्मिक तृप्ति कुरान को हिफ़्ज करने भर से नहीं होती थी, क्योंकि हिन्दू शास्त्रों की भाँति कुरान भी सामयिक जीवन के प्रवाह से दूर पड़ गया था। रीति-काल में धार्मिक आभिजात्य की यही दशा थी।

इनको छोड कर अब दूसरे वृहत् वर्ग पर आइये। यह अशिक्षित जन-समुदाय का वर्ग था। ये लोग स्वभावतः अन्धविश्वासी थे। इनकी भक्ति-भावना धर्म के वाह्यांगों तक ही सीमित थी। ये लोग व्रत तीर्थ आदि मे विश्वास करते थे। सन्तों और पीरों की सब प्रकार की अन्ध-परम्पराओं और रीतियों का पालन करते थे। जादू-टोने में भी इन्हें प्रगाढ़ विश्वास था। झुण्ड के झुण्ड स्त्री-पुरुष पीरों के तकियों पर अपनी मुरादें लिए पहुँचा करते थे और ये लोग, जो अधिकांश में रंगे हुए सियार होते थे, उनको फ़र्जी तावीज़ वग़ैरह देकर ख़ूब लूटते और भ्रष्ट करते थे। मनुष्य पूजा भी अपनी विकृत रूप में वर्तमान थी। हिन्दू मुसलमान दोनों ही अपने गुरुओ और पीरों को ईश्वर का दर्जा देने लग गये थे। डाक्टर सरकार लिखते हैं कि हिन्दुओं का अन्ध-विश्वास यहाँ तक वढ गया था कि वे प्रत्येक विशाल बाहु व्यक्ति को हनुमान का अवतार मान कर पूजना शुरू कर देते थे। इतना होने पर भी बहुत बड़ी संख्या राम-कृष्ण के ही उपासकों की थी। राम और कृष्ण की जीवन-गाथा ही इनके लिये धर्म-ग्रंथ थी। वर्ष में रामलीला और रासलीला नियमित रूप से हुआ करती थीं और विभिन्न पर्वों पर उत्सवों तथा कथा-कीर्तनों का आयोजन किया जाता था जिनमें रामचरितमानस की कथा होती थी, सूरदास और मीरा के पद गाये जाते थे। मुसलमानों में उर्स होते थे, जहाँ सूफ़ियाना ग़ज़लें और क़व्वाली गा गा कर वे लोग अपनी भक्ति-भावना प्रकट करते थे। इस प्रकार जनता की धर्म-भावना उनके मनोविनोद का साधन भी थी। वही लौकिक संकटों मे ग्रस्त नर-

नारियों के हृदय में परलोक की आशा उत्पन्न कर उत्साह और उत्फुल्लता का संचार करती थी। अन्यथा उसका जीवन असह्य हो जाता। इस धार्मिकता में अन्ध-विश्वास होते हुए भी जीवन की शक्ति थी क्योंकि इसका सीधा सम्बन्ध जनता के नित्यप्रति के संघर्ष से था। यह परम्परा का पालन मात्र नहीं था, जीवन की आवश्यकता थी।

इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा उदार वर्ग भी था जो शास्त्रीय कट्टरता और रूढिवाद से दूर रह कर हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक समान आधार पर संयुक्त कर रहा था। यह वर्ग कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुण सन्तों की परम्परा का अनुयायी था। इनका मूल सिद्धान्त था ईश्वर की अविभाज्य एकता जिसका आधार हिन्दुओं का वेदान्त और मुसलमानो का एकेश्वरवाद था। ईश्वर की एकता का स्वाभाविक परिणाम है सृष्टि की एकता—अर्थात् जीवमात्र की समानता। ईश्वर के प्रेमी का कर्तव्य है कि वह उसकी सृष्टि के जीवमात्र से समान प्रेम करे। अतएव हिन्दू मुसलमान ब्राह्मण शूद्र का अन्तर मिथ्या है। संसार दुःखों की खान है। इसलिए संसार से विमुख होकर परमार्थी को ईश्वर से प्रेम करना चाहिए। जीवन में त्याग और तपस्या की आवश्यकता है। तत्व-चिंतन और आंतरिक भक्ति से परमात्मा मिलता है वाह्य आचारों से नहीं। स्वभावतः ये लोग व्रत, तीर्थ, रोज़ा, नमाज़, जात-पांत, अवतारवाद, मूर्ति-पूजा और शास्त्रीय धर्म की अन्य विधियों का तिरस्कार कर केवल आत्मशुद्धि को ही मुक्ति का साधन मानते थे। इनके लिये निर्गुण ब्रह्म में लीन होना ही मानव जीवन की सार्थकता थी। प्रेम का मार्ग बड़ा कठिन है, उस पर चलना गुरु के बिना असम्भव है। अतएव सन्त गुरु की इन सम्प्रदायों में बड़ी महिमा थी। इन सन्तों ने हिन्दुओं से योग और सूफ़ियों से प्रेम की भावना ग्रहण की थी।

हिन्दुओ में इस प्रकार के अनेक पंथ वर्तमान थे, जिनमें सतनामी, लालदासी, नारायणी आदि सत्रहवीं शताब्दी में प्रमुख थे। धरनीदास और प्राणनाथ के अनुयायियो का प्रचार-काल अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक था। इनमें जगजीवन, बुल्ला साहब, चरनदास और उनकी दो शिष्यायें सहजो और दयाबाई अपने पवित्र जीवन और मधुर बानियों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके बाद दूलनदास, भीखा, पलटूदास आदि हुए जो उन्नीसवीं शताब्दी तक जीवित रहे। ये पंथ भेदभाव से रहित होने के कारण पूर्णतः सुसंगठित थे और आवश्यकता पड़ने पर अपनी शक्ति का परिचय भी दे सकते थे, जैसा कि औरंगज़ेब के समय में सतनामियों ने किया। इनमें से काफ़ी ऐसे भी थे जो संयत रूप से सांसारिक जीवन व्यतीत करते थे। घर बार छोड़ कर जंगल में धूनी रमाना इन्हें प्रिय नहीं था। ये विवाहित थे और स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से उपदेश देते थे। समाज के निम्न वर्ग में से उद्भूत

होने के कारण इनमें सामाजिक मिथ्याचार नहीं था । इसलिए उपेक्षित जनता पर इनका अधिक प्रभाव था । लेकिन धीरे-धीरे सम्पन्न व्यक्तियों के दीक्षित होने से इनमें भी गद्दियाँ बनने लग गई थीं, जिससे इनमें भी विलास-वैभव की तृष्णा उत्पन्न हो चली थी ।

मुसलमानों में भी इनके समानान्तर कई सिलसिले थे, जिनमें शेख मुइनुद्दीन चिश्ती का चिश्तिया सिलसिला सबसे अधिक प्रभावशाली था। इसके अतिरिक्त निज़ामिया, नक्शबन्दियाँ, क़ादिरिया, शत्तारिया इत्यादि और भी सिलसिले काफ़ी लोकप्रिय थे । हिन्दुओं के पंथों और मुसलमानों के इन सिलसिलों में बहुत-सी बातें मिलती जुलती थीं—"दोनों का विश्वास था कि ईश्वर एक है, पर उसके अनेक नाम हैं । दोनो समझते थे कि बिना किसी धार्मिक शिक्षक (गुरु या पीर) की शरण लिए मुक्ति प्राप्त करना कठिन है । आत्मा को पहिचानने के लिए वे एक ही प्रकार के तरीकों का व्यवहार करते थे । दोनों ध्यान और समाधि के साधन और इस मार्ग के अनुभव और अवस्थायें एक समान जानते थे । दोनों कपट, दिखावटी कर्मकाण्ड और पूजा-पाठ को, आदमी आदमी के भेदों को, वह जन्म, धन या स्थिति चाहे किसी पर निर्भर हो, बुरा कहते थे । शान्ति और तपस्या के जीवन का एकमात्र आदर्श उन्हें आकर्षित करना था । दोनों के हृदयों में इस संसार के त्याग की परमाकांक्षा थी और दोनों का उद्देश्य ईश्वर के प्रेम का जीवन था। यह पवित्र धर्म मनुष्यों की आत्मा और चरित्र को ऊंचे उठाना था । इसके प्रभाव से समाज में सब वर्णों और जातियों के लोगों की स्वतन्त्रता और बराबरी की समान इच्छा जागृत हुई । मनुष्य का स्त्रियों के प्रति भाव बदलने लगा, बहुत से सुधार के कार्य उठाये गये और हिन्दुओं मुसलमानों में निकट का सम्पर्क स्थापित हुआ ।"

[डा० ताराचन्द –हि० के वि० का सं० ३]

फिर भी समग्र रूप में विचार करते हुए, इन पंथ-प्रवर्तकों को विशेष महत्व देना अनुचित होगा क्योंकि इनमें से कोई भी मौलिक प्रतिभावान नहीं था । इनके सिद्धान्त कबीर के सिद्धान्तों की क्षीण पुनरावृत्ति मात्र थे । इनमें से किसी ने भी तत्व-दर्शन में कोई मौलिक योग नहीं दिया और न सन्त-साहित्य की विशेष श्रीवृद्धि ही की । कबीर की क्रान्त-दर्शी प्रतिभा, नानक और दादू की द्रवणशीलता और सुन्दरदास की विद्वत्ता इनमें दुर्लभ थी । ये लोग तो बानियों के प्रचारक मात्र थे—स्रष्टा नहीं । प्रगति और सुधार का वह दुर्दम उत्साह, आहत आत्मा की वह पुकार, जिसने १९वीं शताब्दी में सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी, इस पतन-काल में सम्भव नहीं थी ।

बौद्धिक ह्रास :—इस समय हिन्दुस्तानियों का बौद्धिक धरातल बहुत

नीचा हो गया था। हिन्दुओं के लिए पृथ्वी और स्वर्ग दोनों का ही मार्ग बन्द था, उनके व्यक्तित्व-विकास के लिए कोई क्षेत्र नहीं था। युग-युग की दासता ने उनके नैतिक बल के साथ बौद्धिक प्रतिभा भी नष्ट कर दी थी। रामचरितमानस के स्थान पर अब ब्रज-विलास की ही रचना हो सकती थी। सूर और नन्ददास की प्रतिभा सर्वथा लुप्त हो चुकी थी, परन्तु उनकी श्रृङ्गारिकता का निर्जीव अनुकरण अब भी बडे उत्साह के साथ हो रहा था। कृष्ण-काव्य की दिव्य प्रेरणा के स्थान पर अब स्थूल ऐन्द्रियता या निष्प्राण अलंकरण ही शेष रह गया था। अयोध्या के भक्त कवि राम का भी इसी रूप मे अत्यन्त श्रृङ्गारिक चित्रण कर रहे थे। कबीर का स्थान उधर पलटू या भीखा साहब ने ले लिया था। संस्कृत साहित्य का विकास तो जैसे सर्वथा अवरुद्ध-सा ही हो गया था। पण्डितराज जगन्नाथ के उपरान्त साहित्य-शास्त्र में केवल नन्जराज यशोभूषण का नाम मिलता है, जो कि कवि-शिक्षा का एक अत्यन्त साधारण ग्रन्थ है। काव्य मे जो दो एक ग्रन्थ मिलते हैं उनमे चमत्कार-क्रीडा और घोर श्रृङ्गारिकता की प्रवृत्ति ही शेष है। मोरोपंत की मंत्र-रामायण शाब्दिक-क्रीडा का और लक्ष्मणाचार्य की "चण्डी-कुच-पंचाशिका" घोर श्रृङ्गारिकता का निकृष्ट उदाहरण है।

मुसलमानों का भी बौद्धिक ह्रास बडे वेग से हो रहा था। अकबर जैसे उदाराशय सम्राट के सामने सभी को आत्माभिव्यक्ति का समुचित अवसर मिलता था। दूसरे, मुसलमान हिन्दुस्तान को ही अपना देश समझने लगे थे। अतएव उनकी सभ्यता, संस्कृति और उसके साथ उनकी प्रतिभा का यहाँ की उर्वरा भूमि मे सहज विकास हो रहा था। परन्तु औरंगज़ेब की संकुचित मनोवृत्ति ने एक ओर तो मुसलमानो के हृदय मे यह भावना उत्पन्न कर दी कि उनकी मातृभूमि अरब ही है—अरब और फ़ारस की संस्कृति ही उनकी संस्कृति है, दूसरी ओर उसकी कठोर अहंवादी नीति ने अपने पुत्रो तक को व्यक्तित्व विकास का अवसर नहीं दिया था—अमीर उमराओं की तो बात ही क्या। उस समय प्रतिभा का विकास राजदरबार के आश्रय में ही सम्भव था—परन्तु राजदरबार का वातावरण उसके लिए सर्वथा प्रतिकूल हो गया था। इसके अतिरिक्त अरब फ़ारस की संस्कृति से कृत्रिम प्रेरणा प्राप्त करने वाली प्रतिभा भी कैसे पनप सकती थी? मुसलमानों का साहित्यिक माध्यम भी फ़ारसी ही थी—परन्तु फ़ारस में हिन्दुस्तान के अच्छे से अच्छे कवि की गणना साधारण श्रेणी के अन्तर्गत की जाती थी। ख़ुसरो और फ़ैज़ी तक को दूसरी श्रेणी का कवि माना जाता था—फिर जत्ताली की तो पूछ ही कहाँ होती? शाहजहाँ के समय से ही फ़ारसी साहित्य का ह्रास आरम्भ हो गया था। अकबर के समय जो साहित्य रचा गया था—उसमें

तत्कालीन सम्राट के व्यक्तित्व और उससे प्रभावित लोक-जीवन की उदारता उच्चाशा-आकांक्षाओं का विस्तार और बल था। परन्तु उसके बाद विस्तार और मुक्त प्रगति में अवरोध आरम्भ हो गया—शांति की स्थिरता आने लगी जो क्रमशः विलास और अलंकरण की ओर झुकती गई। फलतः साहित्य में भी नैतिक स्फूर्ति और सशक्त शैली के स्थान पर अलंकृति का प्राधान्य होने लगा। इस समय का फ़ारसी गद्य भी अत्यन्त अलंकृत है—उसमें सर्वत्र शब्द और अर्थ का चमत्कार और भाषा की ललित क्रीड़ा मिलती है—'चार चमन' इस प्रकार के गद्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है। औरंगज़ेब के बाद तो मुसलमानों की स्थिति बिगड़ती ही गयी, उनकी विलास-जीर्ण जाति शताब्दियों बाद कहीं मीर और ग़ालिब पैदा करने में समर्थ हो सकी।

कला की प्रवृत्ति

मुग़ल वैभव का युग कला के वैभव का भी युग था। इस समय ललित और उपयोगी दोनों प्रकार की कलाओं ने अभूतपूर्व उन्नति की। कलाप्रिय मुग़ल सम्राटों ने फ़ारसी और हिन्दू शैली के सम्यक् संयोग से विलासपूर्ण मुग़ल शैली का निर्माण किया जिसकी छाप तत्कालीन स्थापत्य, चित्रण, आलेखन आदि ललित कलाओं—और जवाहरात—सोने चाँदी के काम, कढ़ाई, बुनाई इत्यादि पर भी स्पष्ट अंकित है। इन सभी मे ऐश्वर्य का उल्लास है।

स्थापत्य-कला :—शाहजहाँ के राजत्वकाल मे स्थापत्य-कला अपने चरम ऐश्वर्य पर पहुँच गई थी—उसके दृढ़-रसिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम संगमरमर की रेशमी कठोरता ही हो सकती थी। उसने आगरे मे मोती मसजिद और ताजमहल का निर्माण किया—और अपने राजत्वकाल के उत्तरार्ध मे दिल्ली के लाल किले के स्वर्गिक प्रासादों का। काल के कपोल पर स्थित नयन-बिन्दु ताजमहल—और पृथ्वी के एकमात्र स्वर्ग दीवाने-खास की कलात्मक समृद्धि अपरिमेय है। अकबर की इमारतों के विराट सौंदर्य के विपरीत, शाहजहां की इमारतो का सौंदर्य सूक्ष्म—कोमल है—एक की कला मे यदि महाकाव्य (रामचरितमानस) की विराट गरिमा और दिगंत विस्तार है—तो दूसरे की कला में अलंकृत गीत-काव्य (बिहारी के दोहों) को रसात्मकता और सूक्ष्म चमत्कार है। मणिकुट्टिम की चित्र-विचित्र कला यहाँ चरम समृद्धि को पहुँच गई है—सोने के रंग का मुक्त प्रयोग है, मणियों का जड़ाव और नक्काशी की सूक्ष्मता अद्भुत है। शाहजहाँ

के स्थापत्य में मूर्ति और चित्रण कला की विशेषताएं अधिक हैं। ताज मूर्ति-कला की कृति ही अधिक है—और दीवाने-ख़ास चित्रण कला की। औरंगज़ेब के सिंहासनारोहण के उपरान्त मुग़ल साम्राज्य के क्षय के साथ ललित कलाओं की भी दुर्दशा होने लगी। औरंगज़ेब सर्वथा अरसिक धर्म-प्राण व्यक्ति था—वह ललित-कलाओं को—लालित्य मात्र को जीवन का पतन समझता था, अतएव शुरू से ही उसने उनके ख़िलाफ़ जहाद बोल दिया। उसने धार्मिक जोश में आकर कई मन्दिरों को, जो हिन्दू स्थापत्य-कला के उत्कृष्ट उदाहरण थे, धराशायी करा दिया—उसकी कर्त्तव्य-कठोर आत्मा में सौंदर्य के प्रति जैसे कोई मोह ही नहीं था। वास्तु-कला के विरुद्ध यद्यपि उसे कोई धार्मिक विद्रोह नहीं होना चाहिये था, परन्तु फिर भी उसके समय में उल्लेख-योग्य दो मसजिदें और एक मकबरा ही बन पाया। इनमे लाहौर की मसजिद अपेक्षाकृत सुन्दर है—परन्तु कला की दृष्टि से वह जामा मसजिद का, जैसा कि फ़र्गुसन ने लिखा है, घटिया अनुकरण मात्र है। दूसरी मसजिद ज़ीनतुन्निसा की बनाई हुई दिल्ली मे है। स्वयं सम्राट और उसकी बेगम के मकबरे भी बहुत साधारण हैं—उनमें मुग़ल-कला की अधोगति स्पष्ट है। "उनमे एक प्रकार की बर्बरता, रुखाई और उजाडपन-सा निदर्शित होता है।" औरंगज़ेब के उपरान्त मुग़ल सम्राटों के पास इतना कोष ही नहीं था कि वे इमारत बनवा सकते। केवल शाहआलम द्वितीय ने गुजरात मे कुछ इमारतें बनवाईं जिनमें जैन शैली की अनुकृति है। अतएव, अठारहवीं शताब्दी में मुग़ल कला को थोड़ा बहुत आश्रय दिल्ली से दूर रसिक नवाबों के दरबारो में ही मिल पाया। परन्तु इस समय तक मौलिक प्रतिभा का इतना भयंकर ह्रास हो चुका था कि लखनऊ की ये सभी इमारतें निष्प्राण एवं सर्वथा अनुकृत कला के ही निदर्शन मात्र रह गई हैं। इनमें किसी प्रकार का अपना भावनामय वैशिष्ट्य नहीं है—केवल शैलीगत विलास का पिष्ट-पेषण मात्र है। प्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ डा० स्मिथ ने इनकी कला को सर्वथा दाम्भिक और कुत्सित कहा है।

हिंदुओं के संरक्षण मे भी यद्यपि स्थापत्य ने विशेष उन्नति नहीं की, फिर भी उनके मन्दिरों की कला इतनी निष्प्राण और हीन नहीं है। राजपूताने की इमारतों मे इस समय के आम्बेर-स्थित जयसिंह सवाई के राजमहल और राजा सूरजमल के दीग के महल अपना महत्व रखते हैं। दीग के भवनों में यद्यपि राजपूत व्यक्तित्व की गुरुता नहीं है—परन्तु उनके अवयवों में अलंकरण का सौन्दर्य असंदिग्ध है। इस समय मुसलमानों के प्रभाववश हिन्दू राजा भी

अपनी छतरियां आर समाधियां बनाने लग गये थे। इस समय में बनी हुई राजा संग्रामसिंह, सूरजमल और छत्रसाल एवं उनकी रानी की छतरियां उल्लेख योग्य हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में सिक्खों ने कुछ सुन्दर इमारतें बनवाईं—इनमें सबसे सुन्दर अमृतसर का मंदिर है। परन्तु उसका महत्व जितना प्रदर्शन के कारण है उतना कला की दृष्टि से नहीं। उस पर राजमहल के अनुकरण की छाप ही अधिक स्पष्ट है—सिक्खों के दृढ़ व्यक्तित्व की मौलिक अभिव्यक्ति बहुत कम। इस प्रकार शाहजहाँ के उपरान्त लगभग दो शताब्दियों तक स्थापत्य का इतिहास प्रायः अनुकृत और निर्जीव कला-कृतियों का अनुलेखन मात्र है - उसकी एक ही विशेपता है—निर्जीव मौलिक-वैशिष्ट्य-हीन पिष्ट-पेषण जिसमें कहीं कहीं विलास की रमणीयता मिल जाती है।

चित्रकला:—स्थापत्य की भांति मुग़ल चित्रकला भी फ़ारसी और भारतीय कलाओ के संयोग से निर्मित है। उसमे फ़ारसी चित्रकला की कडी रूप-रेखा, सूक्ष्म अवयवों की अलंकृति और नक्काशी के साथ भारतीय कला की गोलाई, छाया प्रकाश का उचित प्रयोग तथा रंगों की चटक का सुचारु संमिश्रण है। "चीनी चित्रकला की विशेषता रही है रेखा—फ़ारसी की रेखा और रंग, और भारतीय कला में रंगो का ही आधिपत्य रहा है।"

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, मुग़ल शैली मे फारसीपन की न्यूनता और भारतीयता की अधिकता होती गई। जहाँगीर का युग मुग़ल चित्रकला का स्वर्णयुग है। उसमे आकर वह पूर्णतः भारतीय हो गई—विदेशी तत्त्व भारतीय तत्वों मे घुल मिल कर एक हो गये। परिणाम-स्वरूप मुग़ल चित्रकला में स्वाभाविकता, गति और सजीवता का समावेश हो गया। वह सम्राट् के अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति का साधन भी बन गई। वास्तव में इस सम्राट् के रंगीन व्यक्तित्व का सहज माध्यम चित्र ही था। पर्सी ब्राउन के शब्दों में मुग़ल चित्रकारी की आत्मा जहाँगीर के साथ ही मर गई। शाहजहाँ को स्थापत्य और मणि-माणिक से अधिक प्रेम था, चित्रकला में उसको विशेष रुचि नहीं थी। फलत: उसकी समकालीन शैली में मौलिक प्राणवत्ता और हार्दिकता की कमी है। यद्यपि उसमें हस्तकौशल और नक़ाशी अब भी पूर्ववत् बनी हुई है, परन्तु उसकी रचना या सर्जना में किसी प्रकार का वैचित्र्य नहीं पाया जाता। हाँ, अलंकरण की प्रवृत्ति कुछ और भी बढ़ गई है—स्वर्ण रंग का प्रचुर प्रयोग किया गया है, सभी चित्रो मे सुन्दर चित्र-विचित्र फूल-पत्ते, पची आदि से कढा हुआ हाशिया दिया गया है। कुल मिला कर इस समय की चित्रकारी में एक प्रकार की अतिशय परिपक्वता का भान होता है, जो अवनति की सूचना देती है।

जहाँगीर ने व्यक्तित्व के साथ सम्बन्ध स्थापित करके चित्रकला मे जो जीवन की चेतना उत्पन्न कर दी थी, वह शाहजहाँ के दरबार के गंभीर शिष्टाचार मे विलुप्त हो गई। शाहजहाँ राजसी शिष्टाचार की मर्यादाओ में विश्वास करता था—अतएव चित्रकारों को दरबार के आंतरिक जीवन में प्रविष्ट होने की आज्ञा न थी। उनका प्रिय विषय दरबार का ऐश्वर्य्य ही था—विभूतिमान् अमीरों की सभाओं, रत्न-जटित परदों, ज़री के आत-पत्रों, और बहुमूल्य वस्त्राभूषणों आदि के अंकन में ही वे अपनी सारी कारीगरी खर्च कर देते थे। इन चित्रो मे अलंकरण का इतना प्राचुर्य्य है—रंगों का इतना सूक्ष्म प्रयोग है—कि लोगों को प्रायः यह भ्रम हो जाता है कि रंगों के स्थान पर इन चित्रों मे मणियों के टुकडे ही जड दिए गए है। शाहजहाँ की प्रिय अलंकरण-कला मणि-कुट्टिम का इनपर स्पष्ट प्रभाव है। इसके अतिरिक्त शबीह अर्थात् व्यक्ति-चित्रो का भी उस युग मे विशेष मान था। इन चित्रों मे ज्यामिति के रचना-प्रकारो तथा आलेखन की सूक्ष्मता और जकडबंदी है। ये चित्र प्रायः व्यक्तियो की स्थिर मुद्राओ के हैं—इनकी रेखाएँ और रंग-मिश्रण बडे बारीक हैं—इनमें एक प्रकार से मूर्ति-कला की ही विशेषता मिलती है। परन्तु इनमे जीवन की उष्णता का अभाव है और भाव-व्यञ्जना अत्यन्त क्षीण है। इनकी मुख-मुद्राओ मे आन्तरिक स्फूर्ति और अभिव्यक्ति की सजीवता नहीं है और अन्तर के चित्र न होने के कारण व्यक्तित्व अथवा चरित्र के अध्ययन मे ये अधिक सहायक नहीं हो पाते। मुग़ल-शासन के पूर्वार्ध में व्यक्ति-चित्र केवल सम्राट्, उसके परिवार और दरबार के अमीरों के ही तैयार किये जाते थे—परन्तु साम्राज्य का विकेन्द्रीकरण होने के पश्चात राजाश्रय दुर्लभ होने लगा—और उधर जनता मे इन चित्रों की मॉग बढ़ने लगी। परिणाम यह हुआ कि अठारहवीं शताब्दी में इनका व्यवसाय होने लगा और चित्रो के स्वतन्त्र अंकन के स्थान पर स्टेन्सिल की सहायता से उनकी प्रतिकृतियाँ तैयार की जाने लगीं। यह कला के ह्रास की चरम सीमा थी। उससे वैशिष्ट्य की हानि हुई—जो इस पतन-काल का प्रमुख दोष है। यही बात पशु-पक्षियो के चित्रों में है—मनोहर, मंसूर आदि कलाकारों द्वारा अंकित पशु-पक्षी भी मुग़लों के उपवन-उद्यानों की शृंगार-शोभा के साधन मात्र प्रतीत होते हैं—ऐसा मालूम पड़ता है मानो वे जान बूझ कर चित्र खिंचवाने के लिये तैयार होकर खड़े हुए हैं। मुक्त आकाश में पंख खोलकर उडते हुए—अथवा उन्मुक्त वन-विहार करते हुए पक्षियों के चित्र अप्राप्य हैं। संक्षेप मे, श्री रायकृष्णदास के शब्दों में—"अब चित्रों में हद से ज़्यादा रियाज़, महीन-

कारी, रंगों की ख़ूबी, तथा शान-शौकत एवं अंग-प्रत्यंगों की लिखाई, विशेषतः हस्त-मुद्राओं में बड़ी सफाई और क़लम में कहीं कमज़ोरी न रहने पर भी, दरबारी अदब क़ायदों की जकड़बन्दी और शाही दबदबे के कारण इन चित्रों में भाव का सर्वथा अभाव बल्कि एक प्रकार से सन्नाटा-सा पाया जाता है, यहाँ तक कि जी ऊबने लगता है।"

[राय कृष्णदास—भारत की चित्रकला]

औरंगजेब का राजत्वकाल अन्य कलाओं की भाँति चित्रकला के भी अधःपतन का काल है— उसने अपने सामने बीजापुर के असर महल और अकबर के मक़बरे की चित्रकारी को मिटवा दिया था। फिर भी व्यक्ति-चित्रों की अपेक्षा उसको भी रही। स्वयं औरंगज़ेब के ही अनेक चित्र वर्तमान हैं, जो उसकी सम्मति के बिना नहीं खिंचे होंगे। इसके अतिरिक्त वह अपने नज़रबंद कुटुम्बियों के स्वास्थ्य के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये भी व्यक्ति-चित्रों का अंकन कराता था जिससे उनको दिए हुए पोस्त के प्याले का प्रभाव उसे नियमित रूप से मालूम होता रहे। औरंगजेब के उपरान्त रहा सहा मुग़ल वैभव भी नष्ट हो गया। उसके उत्तराधिकारियों का नैतिक और भौतिक ह्रास तत्कालीन चित्रों में व्यक्त है। दिल्ली का कोष अब कलाकारों को अपने आस-पास केन्द्रित रखने में असमर्थ था। अतएव वे अवध, मुर्शिदाबाद, और हैदराबाद के नवाबों के आश्रय में पहुँच गये और इस प्रकार स्थानीय प्रभावों के अनुसार मुग़ल शैली की दिल्ली की क़लम, लखनऊ की क़लम आदि कई शाखायें हो गईं। इस समय के चित्रों में कारीगरी महीनकारी और सजावट के होते हुए भी मौलिकता का सर्वथा अभाव है, उसमे बस श्रृङ्गारिक विलासिता की ही प्रधानता है। अंतःपुर के रास-रंग से सम्बन्ध रखने वाले श्रृङ्गारिक चित्र सब से ज्यादा इसी युग में अंकित किये गये। लेकिन इस समय चित्रकला इन दरबारों से बाहर उन्मुक्त वातावरण मे भी काफ़ी फल फूल रही थी। मुग़ल शैली की समकालीन राजस्थानी शैली अब भी लोक-जीवन से प्रेरणा पाकर जीवित थी। यह सर्वथा हिन्दू शैली थी। इसका सम्बन्ध मूलतः अजंता की कला से ही था। मुग़ल शैली सर्वथा भौतिक और राजसी थी, राजस्थानी शैली का आधार आध्यात्मिक था और उसका जन-जीवन से घनिष्ठ सम्पर्क था। उसकी सृष्टि जनता ने ही अपने सुख-दुःख की अभिव्यक्ति, आनन्द-विनोद के निमित्त की थी; परन्तु बाद में मुग़ल-शैली से आदान-प्रदान होने पर इसमें राजसी तत्वों का समावेश भी हो गया और जयपुर की क़लम में जयपुर की दरबारी संस्कृति की ही भांति काफ़ी फ़ारसीपन आ गया। राजस्थानी चित्रकला का मुख्य विषय रागमाला थी। रागमाला की चित्रावली विभिन्न ललित कलाओं की

मौलिक एकता का व्यक्त निदर्शन है। वास्तव में कलाओं की मूल आत्मा एक ही है, अभिव्यक्ति मात्र का अंतर है । गीत ध्वनिमय चित्र है, चित्र अंकित ध्वनि। हमारे शास्त्रों मे रसों और रागों के देवता और वर्ण आदि की कल्पना तो बहुत पहले से ही मिलती है। इन चित्रों में कुछ तो उसके सहारे, और कुछ अनुकूल ऋतुओं का आश्रय लेकर शब्द को रेखा और रंग में चित्रित किया गया है। रागमाला के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय के अन्य प्रिय विषय हैं-कृष्ण लीला, नायिका-भेद और बारह-मासा। कृष्णचरित—विशेष कर रासलीला का जनता में उस समय काफ़ी प्रचार था, परन्तु जनता की इस मनोवृत्ति में धार्मिकता नहीं थी—शृङ्गारिकता ही थी। राधा-कृष्ण लौकिक प्रेमी-प्रेमिका अथवा नायक-नायिका के प्रतीक मात्र थे। बुंदेलखंड में पहले केशव के छन्दों को चित्रबद्ध किया गया—फिर बाद को दतिया-राज्य मे राज-स्थानी-शैली की शाखा बुंदेलखण्डी-शैली मे देव के अष्टयाम, बिहारी की सतसई और मतिराम के रसराज की चित्र-व्यन्जना हुई। इनका मुख्य रस शृंगार ही है। शैली में अलंकारिकता की प्रधानता है और आँखों के अंकन में अतिशयोक्ति का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। इन चित्रों मे भावाभिव्यक्ति शिथिल है, पात्रों की मुख-मुद्राएँ भाव-शून्य हैं, परन्तु स्त्री-चित्रों में आँखें रसीली हैं। जैसा कि डा० श्यामसुन्दर दास ने लिखा है ये चित्र हिन्दी-साहित्य के अध्येता के लिए एक विशेष महत्व रखते हैं। इनकी और हिन्दी के रीति-साहित्य की आत्मा एक ही है।

राजस्थानी शैली की ही समवर्ती एक दूसरी शैली भी इस युग में वर्तमान थी—कांगड़ा शैली। विदेशी कला-मर्मज्ञों ने इन दोनों को राजपूत शैली की दो शाखाएं माना है, परन्तु कतिपय आधुनिक विशेषज्ञ इस वर्गी-करण से सहमत नहीं है। कांगड़ा-शैली मूलतः भावात्मक शैली है। इसमें यथार्थता को भाव के आश्रित रखा गया है। अतएव इसमें उन्मुक्तता और हार्दिकता पूर्वोक्त दोनों शैलियों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इस शैली का झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। इन चित्रों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, इनमे प्रायः सभी रसों और भावों की अभिव्यन्जना मिलती है—"देवताओं ध्यान, रामायण, महाभारत, भागवत, दुर्गासप्तशती इत्यादि समस्त पौराणिक साहित्य; ऐतिहासिक गाथा, लोक-कथा, केशव, बिहारी, मतिराम, सेनापति आदि हिन्दी के प्रमुख एवं अन्य साधारण कवियों की रचनाओं से लेकर जीवन की दैनिक-चर्य्या और शबीह तक ऐसा एक भी विषय नहीं जिसे उन्होंने छोड़ा हो।" [रायकृष्णदास-भारत की चित्रकला]

स्त्री-सौंदर्य के चारु अंकन में ये कलाकार अपना जोड़ नहीं रखते। मीनाक्ष-चित्रण का तो एक नवीन आदर्श ही इन्होंने प्रस्तुत किया है। रात्रि के रमणीय

वातावरण में अथवा मेघाच्छन्न आकाश की छाया में प्रेमी-प्रेमिका के अभिसार, अथवा थके हुए पथिकों की विनोद-वार्ता तथा जंगल के दृश्य अद्भुत हैं। इनमें छाया-प्रकाश का जैसा सुन्दर प्रयोग हुआ है वैसा मुग़ल चित्रों में दुर्लभ हैं। आलोचकों ने इस शैली के विकास को भारतीय चित्रकला का परमोत्कर्ष मानते हुए, इसकी मौलिकता, अभिव्यंजना और सूक्ष्म कारीगरी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

इस प्रकार रीति युग मे चित्रकला की दो प्रमुख धारायें थीं। एक राजसी थी जो जन जीवन से स्वाभाविक पोषण न पाकर केवल राजाश्रय पर अवलम्बित थी। देश की राजनीतिक अधोगति के कारण यह शैली ह्रासोन्मुख थी। दूसरी जन-प्रिय थी, जो तत्कालीन जनसमूह की ही भाँति अब भी अपनी चेतना बनाये हुए थी, इसमे जीवन की ताज़गी थी। इस युग के काव्य की रीति-बद्ध और रीतिमुक्त शृंगारिक प्रवृत्तियाँ उपर्युक्त दोनों धाराओं के ही समानान्तर बढ रही थीं।

संगीत :—रीतियुग में संगीत-कला की स्थिति किसी प्रकार भी संतोषजनक नहीं कहीं जा सकती। कला के अन्य रूपों की भाँति यहाँ भी मौलिकता का सर्वथा अभाव मिलता है। शाहजहाँ तक तो फिर भी कुशल रही—स्वयं शाहजहाँ को संगीत का परिष्कृत ज्ञान था, उसके समय में तानसेन के वंशज लालखाँ और हिन्दू कलावन्त जगन्नाथ ने तानसेन आदि के संगीत में सूक्ष्मताओं की सृष्टि करते हुए अलंकरण की श्रीवृद्धि की। औरंगज़ेब का युग संगीत के चरम अपकर्ष के लिये प्रसिद्ध है। बेचारा संगीत भी औरंगज़ेबी जुल्म का शिकार हुआ। औरंगज़ेब ने दिल्ली दरबार से संगीत का सर्वथा बहिष्कार कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप उसका पूर्णतया विकेन्द्रीकरण हो गया। कलावंत दिल्ली से निराश होकर राजाओं और नवाबों की शरण में जाने लगे। इस समय केवल एक ही संगीताचार्य का नाम उल्लेखनीय है। यह है भावदत्त, जो राणा अनूपसिंह के आश्रय में रहता था। उसने समस्त रागों को बीस ठाटों में विभक्त करते हुए "कनकाङ्गी" को शुद्ध मात्रा माना है। औरंगज़ेब के उपरान्त मुहम्मद शाह रंगीले ने एक बार फिर संगीत की मृतक आत्मा में प्राण फूंकने का प्रयत्न किया, और दिल्ली का श्रीहत दरबार अदारंग और सदारंग के ख़यालों से गूंज उठा। इसी समय शोरी मियाँ ने टप्पा-गायन प्रचलित किया "जिसमें गले से दानेदार तान निकालने की अद्भुत विशेषता है।" सर सौरेन्द्र मोहन टागोर का कथन है कि इन दो प्रसिद्ध गायकों के अतिरिक्त मुहम्मदशाह के समय में हिन्दू और फारसी शैलियों के संमिश्रण से और भी कतिपय मधुर संगीत-शैलियों और ध्वनियों की सृष्टि हुई, जिनमे से अधिकांश

श्रृंगारिक हैं। इसी शताब्दी मे श्रीनिवास ने "रागतत्व-विबोध" नामक एक ग्रंथ लिखा। श्रीनिवास उत्तर भारत में मध्यकालीन संगीत के सबसे अन्तिम ग्रन्थकार है। दक्षिण में मराठा राजा तुलजेन्द्र भोसले (सं० १८१०-१८४४) ने इस कला की ओर पर्याप्त ध्यान दिया और 'संगीत-सारामृतम्' और 'राग-लक्षणम्' नाम की दो पुस्तकें लिखीं। उनके बाद विष्णु शर्मा ने 'अभिनव-रागमंजरी' ग्रन्थ मे तत्कालीन हिन्दुस्तानी संगीत का विवेचन किया।

उत्तर भारत में संगीत को आश्रय देने वाले अब राजा रईस और नवाब ही रह गये थे जो उसको विलास का एक उपकरण मानते थे। संवत् १८७० के लगभग पटना के एक रईस मुहम्मद रज़ा ने 'नग़माते-आसफ़ी' नामक संगीत की पुस्तक लिखी जिसमे उन्होंने बिलावल को शुद्ध ठाठ मानते हुए एक नये ढंग से रागों का वर्गीकरण किया, और स्पष्टतया 'राग-रागिनी पुत्र' आधार को असंगत माना। इसके आस-पास ही जयपुर के राजा प्रतापसिंह ने हिन्दुस्तानी संगीत पर प्रामाणिक ग्रन्थ प्रस्तुत करने की दृष्टि से अपने राज्य मे एक वृहत् संगीत-समारोह किया जिसके परिणामस्वरूप देश के प्रसिद्ध आचार्यों के मतो का संग्रह करते हुए 'संगीत-सार' ग्रन्थ का सम्पादन हुआ। यह ग्रन्थ संकलन अवश्य अच्छा हैं, परन्तु विषय-विवेचन के विचार से अधिक महत्वपूर्ण नही है। इससे कहीं अधिक महत्त्व है 'राग-कल्पद्रुम' का जिसको कि संवत्सर १९०० के लगभग कृष्णानन्द व्यास ने चार खण्डो में प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ को तत्कालीन गेय पदो का विश्वकोष समझना चाहिये।

अवध की नवाबी भी इस समय विलास मे गर्क थी। अवध के अन्तिम अधिपति वाजिदअली शाह को कला-विलास के सभी उपकरणो से प्रेम था। संगीत उनकी रसिक-मण्डली का प्रधान अलंकरण था। वे स्वयं अच्छे संगीतकार थे। संगीत की रसीली शैली ठुमरी उन्हीं का आविष्कार है, जो कि डा० श्यामसुन्दरदास के शब्दों में भारतीय संगीत-प्रणाली का अन्यतम स्त्रैण रूप है। इस प्रकार अन्य कलाओ की भाँति संगीत के क्षेत्र मे भी विराट और गम्भीर तत्त्व का अभाव, तथा एक प्रकार की स्त्रैण श्रृंगारिकता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। रीति-युग में सगीत की प्रवृत्ति भी मौलिक उद्भावना की ओर न होकर अलंकरण और रसीलेपन की ओर ही थी।

२—रीतिकाव्य का शास्त्रीय आधार

रीतिशास्त्र का आरम्भ :—भारतीय आस्तिकता को जीवन की प्रत्येक अभिव्यक्ति का मौलिक सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार से अलौकिक शक्तियों से स्थापित करने का अभ्यास रहा है। प्रत्येक विद्या किसी न किसी प्रकार ब्रह्म अथवा उसके किसी रूप से उद्भूत हुई है—ऐसी उसकी आस्था रही है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में साहित्य-शास्त्र की उत्पत्ति का अत्यन्त रोचक वर्णन किया है: सरस्वती-पुत्र काव्य-पुरुष को ब्रह्मा की आज्ञा हुई कि वह तीनों लोकों में साहित्य-शास्त्र के अध्ययन का प्रचार करे। निदान उसने सबसे पूर्व अपने मानसजात सत्रह शिष्यों के समक्ष इसका व्याख्यान किया और फिर इन ऋषियों ने शास्त्र को १७ अधिकरणों में विभक्त करके अपने-अपने विषयों पर स्वतन्त्र रीतिग्रन्थ लिखे—'तत्र कविरहस्यं सहस्राक्ष: समाम्नासीत, औक्तिकमुक्तिगर्भ:; रीति-निर्णयं सुवर्णनाभः आनुप्रासिकं प्रचेतायन:, यमकानि चित्रं चित्राङ्गद:, शब्दश्लेषं शेष:, वास्तवं पुलस्त्य:, औपम्यमौपकायन:, अतिशयं पाराशर:, अर्थश्लेषमुतथ्य:, उभयलङ्कारिकं कुबेर:, वैनोदिकं कामदेव:, रूपक-निरूपणीयं भरत:, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वर:, दोषाधिकारिकं धिषण:, गुणौपादानिकमुपमन्यु:, औपनिषदिकं कुचुमार:, इति। (काव्यमीमांसा, पृष्ठ १)। विद्वानों की राय है कि यह सूची अधिक विश्वसनीय नहीं है। वैसे भी कुछ नाम तो स्पष्टतः संगति बैठाने को गढ़े गये मालूम पड़ते हैं। परन्तु कुछ नामों का उल्लेख यत्र-तत्र अवश्य मिलता है। जैसे कामसूत्र में औपनिषदिक के व्याख्याता कुचुमार और साम्प्रयोगिक के व्याख्याता सुवर्णनाभ के नाम आते हैं। रूपक या नाट्य-शास्त्र पर भरत का ग्रन्थ तो किसी न किसी रूप में आज भी उपलब्ध है। नन्दिकेश्वर के नाम से काम-शास्त्र, गीत-नृत्य और तंत्र-सम्बन्धी ग्रन्थों का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु रस पर उनका कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं है। इस प्रकार राजशेखर का यह काव्यमय वर्णन रीति-शास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास जुटाने में हमारी कोई सहायता नहीं करता।

वेद-वेदांग :—ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय ज्ञान का प्राचीनतम कोष वेद है। वैदिक ऋचाओं के रचयिता वाणी के रस से तो स्पष्टतः अभिज्ञ थे ही—इसमें कोई सन्देह नहीं है,—इसके साथ ही नृत्य, गीत, छंद-रचना आदि के सिद्धांतों का सम्यक् विवेचन और "उपमा" शब्द का प्रयोग भी वेदों मे मिलता है। परन्तु साहित्य-शास्त्र का निश्चित आरम्भ वेदों में ढूंढना क्लिष्ट कल्पना मात्र होगी। वेदों के अतिरिक्त वेदाङ्ग, संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् आदि भी इस विषय में मौन हैं।

व्याकरण-शास्त्र :—भारत का व्याकरण-शास्त्र जितना प्राचीन है, उतना ही पूर्ण भी है। उसे तो वास्तव में भाषा का दर्शन कहना चाहिए। व्याकरण के आदि-ग्रन्थ है निरुक्त और निघण्टु। यास्क ने वैदिक उपमा का विवेचन करते हुए उसके कुछ भेदों का विवरण दिया है : जैसे भूतोपमा जिसमें उपमित उपमान बन जाता है, रूपोपमा जिसमें उपमित और उपमान में रूप-साम्य होता है, सिद्धोपमा जिसमें उपमान सर्व-स्वीकृत और सिद्ध होता है, रूपक की समानार्थी लुप्तोपमा या अर्थोपमा जिसमें साम्य व्यक्त न होकर अव्यक्त ही होता है। पाणिनि के समय तक उपमा का स्वरूप निर्धारित हो चुका था। उन्होने उपमित, उपमान, सामान्य आदि पारिभाषिक शब्दो का स्पष्ट प्रयोग किया है। पाणिनि के उपरान्त पातञ्जलि का महाभाष्य भी इन रूपों की सम्यक् व्याख्या करता है। वास्तव में व्याकरण-शास्त्र हमारे काव्य-शास्त्र का एक प्रकार से मूलाधार है। वाणी के अलंकरण के जो सिद्धांत काव्य-शास्त्र में स्थिर किए गए, उन पर व्याकरण के सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव है। भामह, वामन तथा आनन्दवर्धन जैसे आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में व्याकरण की स्थान-स्थान पर सहायता ली है। ध्वनि का प्रसिद्ध सिद्धान्त व्याकरण के 'स्फोट' सिद्धांत से ही ग्रहण किया गया है।

दर्शन :—व्याकरण के उपरान्त काव्य-शास्त्र का दूसरा आधार दर्शन है। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का सीधा सम्बन्ध विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से है। उदाहरण के लिए शब्द की तीन शक्तियाँ—अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना—का संकेत न्याय-शास्त्र के शब्द-विवेचन में मिलता है। नैयायिकों के अनुसार शब्द के अभिधार्थ से व्यक्ति, जाति और गुण तीनों का बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने शब्दार्थ को गौण, भक्त, लाक्षणिक और औपचारिक आदि अर्थों मे विभक्त किया है। शब्द-प्रमाण के सम्बन्ध में न्याय और मीमांसा दोनो मे शब्द और वाक्य का वर्गीकरण तथा अर्थवाद आदि का सूक्ष्म विवेचन मिलता है। वास्तव मे एक प्रकार से न्याय और मीमांसा से ही व्याख्यात्मक आलोचना का उद्भव समझना चाहिए।

इसी प्रकार अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद सांख्य के परिणामवाद से बहुत दूर नहीं है—जिसके अनुसार सृष्टि का अर्थ "उत्पादन या सृजन न होकर केवल अभिव्यक्ति ही होता है।" इससे भी अधिक स्पष्ट है वेदान्तियों के मोक्ष-सिद्धान्त का प्रभाव। इसके अनुसार मोक्ष का आनन्द बाहर से प्राप्त नहीं होता, वह तो आत्मा का ही शुद्ध बुद्ध रूप है जो माया का आवरण हट जाने के उपरान्त स्वतः आनन्दमय रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। परन्तु ये वास्तव में संकेत अथवा अनुमानमात्र हैं, इनसे काव्य-शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं हो पाते।

काव्यशास्त्र का वास्तविक आरम्भः—निदान काव्यशास्त्र का वास्तविक आरम्भ हमें दर्शन और व्याकरण के मूलग्रन्थों की रचना के बहुत बाद का मालूम पड़ता है। डा० सुशीलकुमार डे, काणे आदि विद्वानों का मत है कि ईसा की पहली पाँच शताब्दियों में ही इसका जन्म माना जा सकता है। शिलालेखों की काव्यमयी प्रशस्तियाँ, अश्वघोष और भास के ग्रन्थ और फिर कालिदास का अलंकृत काव्य—सभी इसी ओर संकेत करते हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र का मूल रूप तो स्पष्टतः ही इसी काल की अत्यन्त आरम्भिक रचना है। इतिहासज्ञ उसका रचना-काल ईसा की पहली शताब्दी के आस-पास स्थिर करते हैं। भरत ने कृशाश्व और शिलालिन के नामों का उल्लेख किया है, उधर भामह ने मेधाविन का और दण्डी ने कश्यप आदि का, परन्तु अभी तक इनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। अतएव इनके विषय में चर्चा करना व्यर्थ है। भरत के उपरान्त काव्य और काव्यशास्त्र दोनों ही समृद्ध होते गए। काव्य-शास्त्र में क्रमशः अनेक वादों और सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा हुई, जिनमें से पाँच अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हुए—रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय और वक्रोक्ति-सम्प्रदाय। मान्यता तथा ऐतिहासिकता दोनों की दृष्टि से सबसे पहले रस-सम्प्रदाय ही आता है।

(अ) रस-सम्प्रदाय

रस शब्द का अर्थ और इतिहास—रस भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम शब्दों में से है। लोक में यह शब्द मुख्यतः चार विभिन्न रूपों में प्रचलित है—(१) पदार्थों का रस अर्थात् सौहित्य का रस—अम्ल, तिक्त, कषाय आदि; (२) आयुर्वेद का रस (३) साहित्य का रस, और (४) इसी से मिलता-जुलता मोक्ष या भक्ति का रस। सौहित्य-रस में रस से तात्पर्य है पदार्थ (वनस्पति आदि) को निचोड़ कर निकाले हुए द्रव का जिसमें किसी न किसी प्रकार का स्वाद होता है। इस अर्थ के ये दोनों अंग (अ) निचोड और (आ) स्वादु-गुण आगे चलकर स्वतन्त्र हो जाते हैं। आयुर्वेद में रस से तात्पर्य है पारद का। साहित्य में रस से तात्पर्य है काव्यानन्द का, और मोक्ष-रस का अर्थ है ब्रह्मानन्द।—व्याकरण के अनुसार रस की व्युत्पत्ति है 'रस्यते इति रसः' जो आस्वादित किया जाये वह रस है–"रस आस्वादनस्नेहयोः।" - व्याकरण मे इस की एक व्युत्पत्ति और भी है 'सरते इतिं रसः' अर्थात् जो बहे वह रस है। यहाँ रस में द्रवत्व और बहने का गुण मुख्य माना गया है। इस प्रकार व्युत्पत्ति के अनुसार भी रस में दो विशेषताएँ मिलती हैं—द्रवत्व और स्वाद।

रस के उपर्युक्त सभी अर्थों में स्वाद–आनन्द का गुण तो स्पष्टतः सर्व-सामान्य है ही, चाहे उसको ग्रहण करने का माध्यम जिह्वा हो या सूक्ष्मेन्द्रिय, मस्तिष्क हो या आत्मा; द्रवत्व और सार अथवा प्राण-तत्व का आशय भी प्रायः किसी न किसी रूप में निहित है ही। रस का पहला अर्थ वेदों में स्पष्ट रूप से मिलता है–'दधानः कलशे रसम्' [ऋग्वेद, ९,६३,१३] यहाँ रस से तात्पर्य सोमरस का है। अन्य वनस्पतियों के द्रव, दुग्ध और जल के अर्थ में भी इसका प्रयोग है। इसके अतिरिक्त स्वाद या गन्ध के लिए भी रस शब्द वेदों में आता है। शतपथ ब्राह्मण

में निश्चित रूप से रस का प्रयोग मधु के अर्थ में हुआ है—रसो वै मधु। आगे चलकर उपनिषद् के प्रसिद्ध सूत्र 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्धानन्दी भवति [तैत्तिरीय उपनिषद् ११, ७, १]' में रस का अत्यन्त स्पष्ट और गम्भीर अर्थ मिलता है। यहां पर प्राणतत्त्व (सार) और स्वाद दोनों अर्थों का सम्मिश्रण होजाता है —परमात्मा रस है अर्थात सृष्टि का सार है और रस अर्थात् चिदानन्द रूप है— 'रसः सारः चिदानन्दप्रकाशः' जिसको प्राप्त कर आत्मा परमानन्द का उपभोग करता है। इसी रस से ऋग्, यजु और साम की ऋचाओं की सृष्टि हुई—

ऋचामेव तद्रसेन,

यजुषामेव तद्रसेन,

साम्नामेव तद्रसेन।

[छान्दोग्य उपनिषद्—४, १७]

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस को काव्य का प्राणतत्व सिद्ध करने में श्रुति के इसी वाक्य का प्रमाण दिया है। वास्तव मे जैसा कि डा० संकरन का मत है, यह बहुत सम्भव है कि साहित्य के आदि आचार्यों ने रस का स्वरूप स्थिर करने में इस वाक्य से प्रेरणा प्राप्त की हो और इसी के आधार पर काव्यानन्द के अर्थ में रस का प्रयोग किया हो—"जिस प्रकार योगी उस चिदानन्द प्रकाश का अपनी आत्मा मे सहज साक्षात्कार कर, पूर्णतः तन्मय होकर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है इसी प्रकार सहृदय भी अपने मानस में नाटक या काव्य के सौन्दर्य का सहज साक्षात्कार कर काव्यानन्द का अनुभव करता है।" परन्तु इसके द्वारा रस का कोई निश्चित शास्त्रीय रूप स्थिर हो सका था,यह मानना अनुचित होगा। आगे चलकर कठ आदि उपनिषदों मे और उनके आधार पर कालान्तर में दर्शनों में रस रसना की ऐन्द्रिक अनुभूति के पारिभाषिक अर्थ मे प्रयुक्त होता है :

येन रूपं रसं......एतेनैव विजानाति।

(कठोपनिषत् ४, ३)

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः (सर्वोपनिषत्)।

शब्द श्रवणेन्द्रिय का अनुभव है, स्पर्श त्वचा का, रूप नेत्र का, रस जिह्वा का, और गन्ध नासिका का। वैशेषिक दर्शन मे २४ गुणों के अन्तर्गत रस के इस रूप का विवेचन मिलता है। न्याय का भी मत है—

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ।
सहकारी रसज्ञायाः नित्यत्वादि च पूर्ववत् ।

रामायण और महाभारत में रस शब्द के अर्थ में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन अथवा विकास नहीं हुआ। रामायण मे रस का प्रयोग जीवन रस (अमृत), पेय आदि साधारण अर्थों मे ही प्रयुक्त हुआ है—केवल विष के अर्थ में उसका प्रयोग नया है, पर वह हमारे लिए अप्रासंगिक है। महाभारत में भी वह जल, सुरा, पेय, गंध आदि का पर्याय है 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय' (गीता)—केवल दो एक प्रयोग थोड़े नवीन हैं, जैसे काम और स्नेह के अर्थ मे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद से लेकर महाभारत तक रस के लगभग अन्य सभी मुख्य मुख्य अर्थों की उद्भावना हो चुकी थी (प्रसिद्ध कोषकार ब्लूम-फ़ील्ड, एवं मौनियर विलियम्स इसके साक्षी हैं), परन्तु साहित्यिक रस का पारिभाषिक रूप अभी आविर्भूत नही हो पाया था।

"रसो गन्धरसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः,
शृंगारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे।"

[इति विश्वः]

मे से 'शृंगारादौ' का अन्तर्भाव अभी रस मे नही हो पाया था—परन्तु उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, इसमें संदेह नही। वैसे तो वाल्मीकि रामायण के साधारणतः प्रचलित संस्करणों में बालकाण्ड के आदि मे ही नवरस का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख है—

"पाठ्ये गेये च मधुरं च प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्;
जातिभिः सप्तभिर्युक्तम् ,तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ ८ ॥
रसैः शृंगार-करुण-हास्य-रौद्र-भयानकैः
वीरादिभीरसैर्युक्तं काव्यमेतद् गायताम् ॥ ९ ॥

परन्तु बालकाण्ड का यह अंश निश्चय ही प्रक्षिप्त है—एकाध अत्यन्त विश्वासी विद्वान को छोड़ प्रायः सभी इस विषय मे एकमत हैं।

इसके उपरांत भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र है जिसमे हमे रस का पारिभाषिक और शास्त्रीय रूप स्पष्ट मिलता है। भारत मे रस का इतना सम्यक् एवं विस्तृत विवेचन मिलना ही इस बात का प्रमाण है, और भरत ने भी अपने पूर्ववर्ती

आचार्यों के आर्या तथा अनुष्टुप छंद देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—कि उनसे पू॰ ही उसका शास्त्रीय और परिभाषिक रूप—और शायद संख्या आदि भी अवश्य स्थिर हो गई थी। भरत का मुख्य प्रतिपाद्य रूपक है काव्य नहीं—उन्होंने रस का विवेचन काव्य के आश्रय से नहीं किया वरन् नाटक के प्रेक्षक की भाव-प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण करने के निमित्त ही किया है।

रस-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास:—यों तो जनश्रुति नन्दिकेश्वर को प्रथम रसाचार्य मानती है, परन्तु राजशेखर का साक्ष्य होने पर भी उनके आचार्यत्व का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता। भरत ने भी प्रधानता तो वास्तव में रूपक को ही दी है—रस को तो उन्होंने, जैसा कि मैं आरम्भ में ही कह चुका हूँ, वाचिक अभिनय का अंग मान कर प्रतिपादित किया है। परन्तु फिर भी आज रस के विषय मे भरत का ही सिद्धांत सर्वमान्य है अतएव उनको आद्याचार्य मानना अनिवार्य्य ही है। भरत के उपरांत रस-सिद्धांत अधिक लोकप्रिय नहीं रहा। परवर्ती आचार्यों ने उसे नाटक के उपयुक्त ही मानते हुए अलंकार और रीति आदि को काव्य की आत्मा माना।

रस-सिद्धांत का पहला विरोधी आचार्य था भामह जिसने अलंकार सम्प्रदाय की स्थापना की। उसने अलंकार को काव्य की आत्मा मानते हुए रस का रसवद्, ऊर्जस्विन् और प्रेयस् अलंकारो मे अंतर्भाव कर दिया। भामह के अनुयायी हुए दण्डी, उद्भट और रुद्रट जो सभी अलंकारवादी थे। दण्डी ने भी रस को उपर्युक्त अलंकारों के अन्तर्गत माना, परन्तु फिर भी उसकी दृष्टि अधिक उदार थी। पद-लालित्य-रसिक दण्डी ने अपने काव्यादर्श में विभिन्न रसों का विस्तृत विवेचन किया है। वामन ने अलंकार को छोड रीति को काव्य की आत्मा माना। वास्तव मे वामन का दृष्टिकोण दण्डी से अधिक भिन्न नहीं था—रस को उसने कांतिगुण का मूल तत्व मानते हुए (दीप्तिरसत्वं कांतिः) उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ा दी। उद्भट का योग केवल अभावात्मक ही न होकर भावात्मक भी था। रस को माना तो उसने भी रसवद् आदि अलंकारों के अन्तर्गत ही, परन्तु उसका विवेचन अधिक सूक्ष्म और विस्तृत रूप में किया। उसने ॰हिता नामक अलंकार की उद्भावना की जिसमें भाव और रस की शांति का भी अंतर्भाव हो सकता था। रसवद्, ऊर्जस्विन् और प्रेयस् अलंकारों का भी विवेचन उसका भामह और दण्डी से पृथक है। इसके अतिरिक्त कुछ पंडितो का मत है कि उद्भट ने ही शांत रस की उद्भावना की थी। उद्भट पर भामह और भरत दोनों का प्रभाव था। उद्भट के उपरान्त रुद्रट का नाम आता है। रुद्रट वास्तव में अलंकार-रीति तथा ध्वनि-रस सम्प्रदायों के संगम-स्थल पर खड़ा हुआ है। उसने रसों को स्पष्ट रूप से अलंकारों की दासता से मुक्त करते

हुए विरोधी सिद्धांतों को समन्वित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। उसने असंदिग्ध शब्दों मे यह घोषित कर दिया कि रस के सम्यक् परिपाक के बिना कविता नीरस और निस्पंद होगी—

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत॥

[रुद्रट—काव्यालंकार १५, २१]

सबसे पूर्व उसने ही विप्रलम्भ को पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण— इन चार भागों में विभक्त किया।

यह सब होते हुए भी भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार और रीति का ही प्राधान्य रहा, और रस का स्थान गौण रहा। काव्य-सिद्धान्त मे इनकी प्रभुता वास्तव में इतनी अधिक हो गई थी कि उस समय के रस-सिद्ध कवियो को इनके विरुद्ध शस्त्र-ग्रहण करने पडे। कालिदास और भवभूति दोनो ने ही अपने समकालीन आलोचको का तीव्र प्रतिवाद करते हुए सशक्त शब्दो मे रस की प्रतिष्ठा की है। कालिदास ने स्पष्टतः स्वीकार किया कि

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

[मालविकाग्निमित्र अंक १, ४]

भवभूति तो वास्तव मे रसावतार थे—उन्होंने काव्य मे चित्त की विद्रुति को प्रमाण मानते हुए करुण रस में अन्य सभी रसो का अंतर्भाव किया। परन्तु कालिदास और भवभूति के अतिरिक्त अन्य कवियों ने रस की मान्यता स्वीकार करते हुए भी सामयिक सिद्धांतो के आगे शिर झुका दिया था। उदाहरण के लिए बाण जैसे रसज्ञ कवि को भी आलकारिक चमत्कार और प्रहेलिका आदि से खिलवाड करना पडा था।

इन विषमताओ का समाधान अन्त मे आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना द्वारा किया। ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर एक ओर उसने अलङ्कारवादियों की वाह्य साधना का अन्त कर दिया और दूसरी ओर रस-सिद्धान्त की अव्याप्ति का परिहार भी कर दिया। रस-सिद्धान्त के अनुसार तो जहां विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस-निष्पत्ति न हो वहां काव्यत्व की स्थिति मानना भी सम्भव नहीं है। परन्तु ध्वनिकार ने ध्वनि के रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और अलङ्कार ध्वनि ये तीन विभाग कर दिये—उन्होंने यद्यपि मुख्य रस-ध्वनि

को ही माना, तथापि वस्तु और अलङ्कार को भी काव्य में उचित स्थान दिया। इस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त को रस-सिद्धान्त का विरोधी न मानकर उसका व्यापक रूप ही मानना उचित है। ध्वन्यालोक के उपरान्त अभिनव गुप्त के लोचन की रचना हुई। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रतिभा के बल पर रस की स्थिति से सम्बन्ध रखने वाली अनेक भ्रान्तियों का समाधान किया और इस प्रकार रस के महत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की। उन्होंने भट्टनायक के भावकत्व और भोजकत्व का प्रामाणिक रूप से निषेध करते हुए व्यञ्जना की मान्यता स्थापित की और यह स्पष्ट किया कि रस के आस्वादन में व्यञ्जना किस प्रकार सभी व्यवधानों का नाश करती है तथा कटु भावों को भी मधुर रस की स्थिति तक पहुंचा देती है। अभिनव सात्वृत्ति के दार्शनिक विद्वान थे, अतएव स्वभावतः शान्तरस के प्रति उनका विशेष अनुराग था। उन्होंने शान्तरस का रसत्व ही सिद्ध नहीं किया, वरन् अन्य सभी रसों का उसके अन्तर्गत समाहार करते हुए उसे प्रधान रस भी घोषित किया। वास्तव मे संस्कृत साहित्य शास्त्र मे अभिनव गुप्त का स्थान अद्वितीय है, रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का पूर्ण श्रेय उन्ही को है।

अभिनव गुप्त के सिद्धान्तो का महिम भट्ट ने विरोध किया—उन्होंने व्यञ्जना की स्थिति का निषेध किया और श्री शकुक के आधार पर रस को अनुमित माना। परन्तु उनका मत लोकप्रिय नहीं हुआ। रस का सबसे प्रबल पृष्ठपोषण राजा भोज ने किया—उन्होने केवल एक रस—श्रृङ्गार की ही स्थिति स्वीकार की, अन्य रसो का पृथक् अस्तित्व ही उनको मान्य नही था। उनका सिद्धान्त था कि अहङ्कार ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि के द्वारा उद्दीप्त होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। यह अहंकृति—यह अभिमान ही श्रृङ्गार है, यही रसत्व को प्राप्त हो जाता है। रति आदि भाव रस में कभी परिणत नहीं हो सकते, वे तो केवल रस की श्रीवृद्धि करते हैं जिस प्रकार कि प्रकाश की किरणे अग्निकी द्युति-वृद्धि करती हैं। भोज के श्रृङ्गार-प्रकाश मे मौलिकता तो अधिक नही है, परन्तु अपनी व्यापकता और विस्तार के बल पर वह संस्कृत रस-शास्त्र का विश्वकोष कहा जा सकता है।

भोजराज के उपरान्त मम्मट और विश्वनाथ का नाम रस-सम्प्रदाय मे विशेषतया उल्लेखनीय है। मम्मट ने सभी प्रचलित सिद्धान्तो का स्वच्छ रीति से समाहार करते हुए ध्वनि और रस का समुचित व्याख्यान और प्रचार किया। रस-परम्परा मे विश्वनाथ का योग मम्मट की भी अपेक्षा अधिक है—उन्होने रस को ध्वनि से भी अधिक महत्व दिया—ध्वनिकार के विरुद्ध उन्होने ध्वनि को रस के अन्तर्गत ग्रहण किया। ध्वनिकार ने रस को महत्व देते हुए भी उसे काव्य के

लिए सर्वथा अनिवार्य नहीं माना था; उसकी अनुपस्थिति में भी मध्यम—या कम से कम अधम काव्य की स्थिति सम्भव थी। परन्तु विश्वनाथ ने मध्यम आदि काव्यों में भी काव्यत्व रस के कारण ही माना—उनमें भी रस का क्षीण से क्षीण आभास अवश्य होना चाहिये अन्यथा वे काव्य नहीं माने जा सकते। इसी सिद्धांत के अनुसार उन्होने चित्र को काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया। रस मे, परतु, उन्होंने चित्र की विद्रुति की अपेक्षा चित्र के विस्तार को अधिक महत्व दिया और चमत्कार को उसका मूल तत्व माना—इसीलिए रसों में अद्भुत को उन्होंने प्रधानता दी।—विश्वनाथ के इस उग्र रस-सिद्धांत का विरोध अठारहवीं शताब्दी में पंडित-राज जगन्नाथ ने किया—और फिर से ध्वनिकार की ही स्थापना को सर्वमान्य घोषित किया। विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को संकीर्ण कहकर उन्होने काव्य को 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः' माना, और इस प्रकार भाव के अतिरिक्त कल्पना और बुद्धितत्वो को भी काव्य में उचित स्थान दिया। पण्डितराज संस्कृत के दिग्गज विद्वानों मे से थे। उनके उपरांत संस्कृत साहित्य-शास्त्र की परम्परा मे कोई उल्लेखनीय नाम नहीं मिलता। बस, फिर रस-परम्परा भी, जो उनके पूर्व से ही नायिका-भेद की संकुचित सरणि पर चलने लग गई थी, हिन्दी के रीतिकवियो के हाथ में आ गई।

रस की परिभाषा :—रस की व्याख्या करनेवाला भरत का प्रसिद्ध सूत्र इस प्रकार है—'विभानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव का अर्थ है रति, करुणा आदि भावों के कारण—ये दो प्रकार के होते हैं—(१) आलम्बन जिनके आधार से भाव जागृत होते हैं। जैसे—नायक-नायिका आदि और (२) उद्दीपन जो भावों को उद्दीप्त अर्थात उत्तेजित करते हैं। उदाहरण के लिए वसन्त, उपवन, चाँदनी आदि। अनुभाव भावानुभूति के अनुकर्म हैं, अर्थात् उसके व्यक्त प्रभाव हैं, जैसे—भ्रूक्षेप, स्मिति, कटाक्ष आदि। व्यभिचारी अस्थायी भाव हैं जो क्षण क्षण में उठ गिर कर स्थायी भाव की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावो का संयुक्त रूप में साक्षात्कार कर दर्शक के मन में एक उत्कट आनन्दमयी भावना का संचार होता है—यही रस या काव्यानन्द है। एक स्पष्ट उदाहरण लीजिए—"कुशल नट और नटी दुष्यन्त और शकुन्तला के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। ये पहले-पहल तपोवन की रमणीय कुञ्जो में मिलते हैं [विभाव]। दोनों एक दूसरे के आल्हादकर सौन्दर्य को देखकर चकित हो जाते हैं और तृषित उत्सुक नेत्रो से एक दूसरे की ओर देखते हैं—अनिच्छा-पूर्वक जाती हुई शकुन्तला चोरी-चोरी एक दृष्टि-पात करती है [अनुभाव]। वियोग में

कभी उत्कण्ठा और कभी निराशा से व्यग्र होकर वे एक दूसरे से मिलने को आतुर हो उठते हैं व्यभिचारी भाव]। सौभाग्य से शकुन्तला सखी की सहायता से प द्वारा दुष्यन्त पर अपना प्रेम प्रकट करने का अवसर प्राप्त करती है। इतने ही में दुष्यन्त वहाँ आकर सहसा उपस्थित हो जाता है—और इस प्रकार दोनों प्रेमियों का संयोग हो जाता है। जब यह सब (विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव आदि का संयोग) कविता, संगीत, रंग-वैभव आदि की सहायता से, जिनको भरत ने नाट्य-धर्मी कहा है, मन्च पर प्रदर्शित किया जाता है तो प्रेक्षक के हृदय में वासना रूप से स्थित रति स्थायी भाव जागृत होकर उस चरम सीमा तक उद्दीप्त हो जाता है जहाँ प्रेक्षक व्यक्ति और देशकाल का अन्तर भूलकर सामने उपस्थित घटना में तन्मय हो जाता है,और चरमावस्था को प्राप्त उसका यह भाव उसे एक आनन्दमयी चेतना मे विभोर कर देता है। यही आनन्दमयी चेतना रस है।" [संकरन के एक उद्धरण का अनुवाद] * और स्पष्ट शब्दों मे, आलम्बन विभाव से उद्बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियों से परिपुष्ट, तथा अनुभावों से परिव्यक्त सहृदय का स्थायीभाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है—

> "विभावेनानुभावेन व्यक्तः सन्चारिणा तथा।
> रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावाः सचेतसाम्॥"

आगे चलकर रसमग्न करने की क्षमता रूपक और काव्य तक ही सीमित नहीं रही—स्फुट रचनाओं मे भी मान ली गई—और फिर इसकी परिधि गीत, नृत्य तथा चित्र आदि कलाओं तक विस्तृत होगई। संगीत, नृत्य आदि के द्वारा भी रस के प्रदर्शन और अभिव्यक्ति आदि की चर्चा परवर्ती शास्त्रों मे मिलती है।—रूपक या काव्य ही नहीं स्फुट छन्द यहाँ तक कि गीत, नृत्य और चित्र भी सहृदय को रस-विभोर कर सकते हैं। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दों के फेर मे न पड़कर यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि रस एक आनन्दमयी चेतना है। परन्तु यह जागृत किस में होती है, और किस प्रकार की होती है—अर्थात् काव्य से उद्बुद्ध इस आनन्दमयी चेतना में और अन्य निमित्तों से उद्बुद्ध आनन्दमयी चेतना में क्या अन्तर है? ये प्रश्न उठते हैं। दूसरे शब्दों में रस की मूल स्थिति किस मे है? और रस का स्वरूप क्या है!

रस की स्थिति

रस की स्थिति के विषय में संस्कृत आचार्यों में बहुत मतभेद रहा है। भरत ने रस की व्याख्या में एक सूत्र देकर छोड़ दिया है 'विभावानुभावव्यभिचारि-

---

[Some aspects of Literary Criticism in Sanskrit 1929 पृष्ठ १२]

संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'; अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। निष्पत्ति से उनका क्या तात्पर्य है और वह किस प्रकार होती है इसका विवेचन उन्होने सम्यक् रूप से नही किया। इस प्रसंगमे उन्होंने आगे भी कुछ वाक्य दिये हैं, जैसे "यथा गुडादिभिद्र॑व्यैव्यन्जनैरोषदिधिभिश्च षड्रसा निवर्त्यन्ते, एवं नानाभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति।" अर्थात् जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यो, व्यंजनो और औषधियो से षट्रस बनते हैं इसी प्रकार नाना भावों से घिरे हुए स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होते हैं: "प्रपाणक-रसन्यायात् चर्व्यमाणो रसो मत:।" परन्तु इससे भी समस्या कुछ सुलझ नहीं सकी—इसलिए परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से उसकी पृथक्-पृथक् व्याख्या की। यहाँ स्पष्ट ही साहित्य का एक अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठता है—रस का मूल भोक्ता कौन है? कवि या नाटककार, अथवा श्रोता या दर्शक या फिर काव्य या नाटक के पात्र अथवा इन काव्यगत पात्रो के मूल रूप ऐतिहासिक अथवा पौराणिक स्त्री-पुरुष और या फिर नट-नटी? इनमें श्रोता या दर्शक का तो किसी न किसी रूप मे इसका भोक्ता होना सर्वथा स्पष्ट है और सभी ने उसको स्वीकार भी किया है—किस रूप मे स्वीकार किया है यह दूसरी बात रही। वास्तव मे यह बात इतनी प्रत्यक्ष और स्वतःसिद्ध है कि इसका निषेध धोखे से भी नहीं किया जा सकता। नाटक या काव्य का अस्तित्व क्यों है? देखने या पढने के लिए। कोई उसे क्यो देखे, पढे या सुने? आनन्द के लिए। अब यहाँ भी कोई यह प्रश्न उठा बैठे कि किसके आनन्द के लिए, तो आप प्रश्नकर्ता के दुराग्रह अथवा उसकी 'मूर्खता' पर कुछ झुँझला कर यही उत्तर देंगे कि स्पष्टतः अपने आनन्द के लिए। जो कोई कुछ भी करता है, अपने आनन्द के लिए ही करता है। दूसरों के आनन्द के लिए भी वह जो कुछ करता है उसकी प्रेरणा उसके अपने आनन्द मे ही निहित रहती है।

भरत-सूत्र के सब से पहले जिस व्याख्याकार का मत अभी तक प्राप्त हो सका है, वह लोल्लट है। वह सामाजिक के आनन्द को तो अस्वीकृत नहीं करता, परन्तु उसकी धारणा है कि रस का वास्तविक आस्वादन नायक-नायिका ही करते हैं—सामाजिक के हृदय में तो नट-नटी के माध्यम से उनके रस की प्रतीति कर रस उत्पन्न होता है। अर्थात् नायक-नायिका का रस है वास्तविक, सामाजिक का है प्रतीति-जन्य, अपरागत (second hand)। और इस प्रतीति के माध्यम हैं नट-नटी। सामाजिक नट-नटी मे नायक-नायिका का आरोप कर (उनके नाट्य-कौशल के कारण उन्हीं को नायक-नायिका समझता हुआ) नाटक का आनन्द लेता है। यहाँ दो-तीन प्रश्न उठते हैं: (१) नायक-नायिका (दुष्यंत-शकुन्तला) से क्या आशय है? मूल ऐतिहासिक दुष्यंत और शकुन्तला का या नाटक में वर्णित दुष्यंत और

शकुन्तला का ? (२) नट-नटी का इनसे क्या सम्बन्ध है ? (३) दूसरे के रस की प्रतीति से सामाजिक के हृदय में रस कैसे उत्पन्न होता है ? भट्ट लोल्लट अपना आशय शायद इस प्रकार स्पष्ट करते : एक दिन अचानक ही दुष्यंत और शकुन्तला तपोवन की रम्य कुंजस्थली में मिलते हैं और एक दूसरे के अपूर्व सौंदर्य को देख मुग्ध-चकित हो जाते है। दोनों के हृदय में स्थित वासना-रूप रति जागृत हो जाती है। दुष्यंत शकुन्तला की ओर विस्फारित नेत्रों से देखता रह जाता है— शकुन्तला भी चोरी-चोरी सलज्ज दृष्टि उसकी ओर डालती है। ये अनुभाव उनकी जागृत रति को व्यक्त करते हैं। दोनों के मन में अनेक तर्क-वितर्क उठने लगते हैं, और वे वियोग-जन्य ताप में जलने लगते हैं। इन संचारियों से रति परिपुष्ट होती है अंत में दुष्यंत स्वयं हो वहाँ प्रकट हो जाता है। इस प्रकार दोनों का संयोग होने पर रति-भाव पूर्णतः उद्बुद्ध होकर शृंगार रस में परिणत हो जाता है और वे उसका आनन्द लेते हैं। अतएव, रस का वास्तविक अनुभव करते हैं नायक-नायिका। अब प्रश्न यह उठता है कि इनका नायक-नायिका से लोल्लट का आशय कौन से दुष्यंत-शकुन्तला से है ? ऐतिहासिक महाराज दुष्यंत और मेनकात्मजा कण्वपोष्या शकुन्तला से, जिनका वर्णन हम महाभारत में पढते हैं और जिसे कालिदास ने भी उसी रूप मे पढा होगा ? अथवा कालिदास द्वारा अंकित दुष्यंत और शकुन्तला से, जो महाभारत के दुष्यंत-शकुन्तला से निश्चय ही कुछ अंशों में तो भिन्न हैं ही ? भट्ट लोल्लट का अभिप्राय निस्संदेह ही ऐतिहासिक दुष्यंत-शकुन्तला से है। या यो कहे कि वह इतिहास के दुष्यंत-शकुन्तला और 'शाकुन्तलम्' के दुष्यंत-शकुन्तला मे कोई मूलगत अंतर नही मानता। एक तो शायद इसलिए कि नियम के अनुसार नाटक के नायक-नायिका प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति ही होते है, दूसरे इसलिए भी कि उस समय तक काव्यगत पात्रो मे कवि के आत्मांश को स्वीकार करने की क्षमता आलोचक को प्राप्त नही हो सकी थी। वैसे भी भारतीय साहित्य-शास्त्र की बाह्यार्थ-निरूपणी दृष्टि कवि के आत्मांश की उपेक्षा ही करती आई है। थोड़ी गहराई में जा कर देखा जाये तो महाभारत के दुष्यंत-शकुन्तला भी मूल ऐतिहासिक दुष्यंत-शकुंतला नहीं हैं। ख़ैर, यह एक लम्बा प्रसंग है जिसका विवेचन आगे किया जायगा। यहाँ केवल यही निर्देश करना है कि भट्ट लोल्लट रस की स्थिति ऐतिहासिक दुष्यंत-शकुन्तला मे हो मानता है। कवि-अंकित दुष्यंत-शकुन्तला को या तो वह उनसे एकरूप कर देखता है। या फिर, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, नट-नटी की भांति माध्यम मात्र मानता है। प्रेक्षक सामने नट-नटी को उनका अभिनय करते हुए देखता है, और उनकी कुशलता एवं सजीवता के कारण उनमे ही दुष्यंत-शकुन्तला का आरोप कर लेता है—अर्थात् उन्हीं को दुष्यंत-शकुन्तला समझ लेता है। रंग-मंच पर उनको रस-ग्रहण करते हुए देख वह यही समझता है कि

वास्तविक दुष्यंत-शकुन्तला रस-ग्रहण कर रहे हैं और उनकी रस-दशा को देखकर स्वयं भी रसानुभव करने लगता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि दूसरे के रस को देखकर प्रेक्षक रसानुभव कैसे कर सकता है? बाद के व्याख्याकारों ने इसके साथ ही कई मनोवैज्ञानिक और नैतिक आक्षेप उठाये हैं: (१) दूसरे को इस दशा में देखना, विशेषकर यदि रस शृङ्गार है, अनुचित है, अनैतिक है। अनुचित या अनैतिक कर्म करने की शास्त्र कैसे आज्ञा दे सकता है? और उससे आनंद कैसे सम्भव है? मनोविज्ञान की दृष्टि से भी तो यह आवश्यक नहीं कि दूसरे के प्रेम-मिलन का आनंद देखकर हमे प्रेम का आनन्द ही प्राप्त हो—ईर्ष्या हो सकती है, लज्जा, विरक्ति और क्रोध तक हो सकता है।

भट्टलोल्लट को उत्तर देने का अवसर नही मिला, वह इन आक्षेपों का क्या उत्तर देता, यह नही कहा जा सकता। पर आज का समालोचक बड़ी सरलता से कह सकता है कि हम मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा दूसरे के आनन्द से आनंदित हो सकते हैं। आनंद के अतिरिक्त भी जो प्रतिक्रिया होगी, वह भी सहानुभूति के ही द्वारा होगी और आनंद का ही कोई रूप होगी, चाहे विपरीत रूप ही क्यो न हो। दुष्यंत और शकुंतला का संयोग-सुख देखकर यदि हमे ईर्ष्या होती है तो यह न समझना चाहिए कि हमारी ईर्ष्या की भावना उनके संयोग-सुख से सर्वथा भिन्न है। यह भी उसी का रूप है, पात्र और परिस्थिति के वैपरीत्य से उसका रूप-मात्र बदल गया है और यह रूप-परिवर्तन तो किसी भी दशा मे संभव है।

संक्षेप मे भट्टलोल्लट-कृत विवेचन की शक्ति और सीमाये इस प्रकार हैं:—

शक्ति—(१) उसने रसास्वादन के मूल-तत्व सहानुभूति की ओर सफल संकेत किया है। (२) उसने ऐतिहासिक व्यक्तियो मे रस की स्थिति मान कर सौंदर्य या रस को विषयगत माना है, और इस प्रकार काव्य-विषय की महत्ता का प्रतिपादन किया है। यह सिद्धान्त आत्यंतिक रूप से सत्य न होते हुए भी सर्वथा अनर्गल नही है। हमारे हृदय मे कुछ विषय अन्य विषयों की अपेक्षा रस की उद्बुद्धि अधिक मात्रा में तथा अधिक सरलता से कर सकते हैं, और इसका कारण यह है कि इन विषयों पर हमारे अपने, हमारी जाति के, हमारे देश के, और आगे बढ़ कर संपूर्ण मानवता के परंपरागत संस्कारों के पर्त चढ़े हुए हैं। इसलिये विशेष कठिनाई के बिना हमारी वासना, जो स्वयं संस्कार-रूप है, जागृत की जा सकती है। यह रसानुभूति अपेक्षाकृत कहीं अधिक गहरी भी होती है, क्योकि इसमे परिस्थिति-विशेष के ही नहीं वरन् युग-युग के, और उधर हमारे एक व्यक्ति के ही नही वरन् समग्र जाति के संस्कार एक साथ जग उठते है। हिटलर पर स्टालिन की विजय का चित्र देख कर साधारणतः हमारे आज के (राजनीति से प्राप्त) संस्कार ही झंकृत होते

हैं,परन्तु रावण पर राम की विजय का वर्णन पढ़ कर युग-युग तक प्रसरित संस्कारों का जाल झंकृत हो उठता है। स्पष्टतः यह दूसरी झंकार पहले की अपेक्षा कहीं अधिक गहरी और सबल होगी। संचारियों से स्थायी भावों को अथवा एक रस से दूसरे को अधिक महत्व देने का भी यही कारण है। आलोचना के इस समृद्ध युग में भी हम मैथ्यू आर्नल्ड और आचार्य शुक्ल को इसी सिद्धांत को स्वीकार करते हुए पाते हैं। आज का पदार्थवादी दृष्टिकोण भी हीगेल के आदर्शवाद का (अर्थात् ज्ञान से पदार्थ की उत्पत्ति का) निषेध कर वस्तु या पदार्थ से ही ज्ञान की उत्पत्ति मानता हुआ बहुत कुछ इसी वस्तु-परक सिद्धान्त की ओर लौट आया है। हमारे यहां मीमांसकों का दृष्टिकोण यही था—और लोल्लट मीमांसक ही तो था।

(२) उसने नट में भी रसानुभूति की स्थिति को स्वीकार किया है। वास्तव में नट के लिये भी रसानुभुति अनिवार्य है—उसके बिना सफल अभिनय नहीं हो सकता। कोई भी कला बिना अनुभूति के सफल कैसे हो सकती है, वह कोई यन्त्र-परिचालित कर्म तो है नहीं। नट का लक्ष्य चाहे धन हो या और भी कुछ, परन्तु अभिनय के समय उसे तन्मय, रस-मग्न होना ही पड़ेगा नहीं तो अभिनय सफल नहीं हो सकता।

सीमा :— (१) वह ऐतिहासिक व्यक्तियों और कवि द्वारा अंकित उनके-प्रतिरूप व्यक्तियों का अंतर स्पष्ट नहीं कर पाया और न यह स्पष्ट कर पाया है कि ऐतिहासिक नायक-नायिका की काव्य मे कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। काव्य में तो उनके प्रतिरूप नायक-नायिका की ही सत्ता है जो कविकी अपनी अनुभूतिके मूर्तरूप मात्र हैं। अतएव नायक-नायिका मे रस की स्थिति मानना वास्तव मे कोई अर्थ नहीं रखता। इस प्रकार भट्ट लोल्लट वास्तव में यह नहीं जान सका कि जिस प्रकार दर्शक नाटक देखने के समय रसानुभव करता है और नट अभिनय के समय, इसी प्रकार कवि स्वयं भी नाटक या काव्य का सृजन करते समय रसका अनुभव करता है। उसके विवेचन की सब सेबड़ी सीमा यही थी क्योंकि इस प्रकार कल्पित पात्र और कल्पित घटना वाले उपन्यास, कथा, आख्यायिका आदि के रसास्वादन का कोई समाधान नहीं रह जाता।

(२) उसने सामाजिक के रसास्वादन को सर्वथा गौण स्थान दिया है।

भरतसूत्र का दूसरा व्याख्याता हुआ, शंकुक। उसने भट्टलोल्लट का विरोध करते हुए निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति किया। अर्थात् उसने प्रतिपादित किया कि रस उत्पन्न नहीं होता, अनुमित होता है। रस की मूलस्थिति वह भी ऐतिहासिक नायक-नायिका में ही मानता है। प्रेक्षक उसको (आरोप के द्वारा) प्रत्यक्ष देख कर प्राप्त नहीं करता, वरन् अनुमान से प्राप्त करता है। उसका आक्षेप है कि दूसरे को रस-दशा में देखकर, पहले तो प्रेक्षक को रस-प्रतीति ही नहीं हो सकती और

यदि कुछ उत्तेजना होती भी है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह अनुकूल ही हो प्रतिकूल न हो। उदाहरण के लिए, नायक-नायिका की प्रत्यक्ष श्रृङ्गार-रसानुभूति सहृदय में संकोच, ईर्ष्या, विरक्ति आदि की भावना भी तो जागृत कर सकती है। परन्तु इस आक्षेप के द्वारा शंकुक एक प्रकार से सहानुभूति तत्व का निषेध करता है जो मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत है। उसका दूसरा आक्षेप यह है कि जिन नायक-नायिका को हमने कभी देखा नहीं, उनके रसास्वादन की अनुभूति हम को कैसे हो सकती है ? आज का आलोचक उसका भी उत्तर देने में असमर्थ नहीं है। वह कहेगा 'कल्पना के द्वारा'। पहले नाटककार स्वयं सहानुभूति और कल्पना के द्वारा (जिसमें कि ये दोनों गुण असाधारण मात्रा में मिलते हैं) अपने को नायक अथवा नायिका से तद्रूप कर देता है, और फिर उसकी सहायता से प्रेक्षक भी इन्हीं दो गुणों के द्वारा उसका साक्षात्कार कर लेता है। परन्तु शंकुक इस समाधान तक नहीं पहुँच सका और इसका भी कारण यही था कि संस्कृत के आचार्य रसास्वादन में कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोड़कर चले हैं। निदान शंकुक ने रस की प्रतीति न मान कर, 'चित्र-तुरग न्याय' के आधार पर इसका अनुमान ही सम्भव माना है। शंकुक का सिद्धान्त कुछ इस प्रकार है : भरत ने स्थायी भाव और रस में कोई अंतर नहीं माना। स्थायी भाव की मूल अनुभूति तो ऐतिहासिक नायक-नायिका को ही होती है। परन्तु रंगमंच पर नट-नटी इतना सफल अभिनय करते हैं कि प्रेक्षक चित्र-तुरग न्याय से उन्हीं को नायक-नायिका समझ लेता है और उनके अभिनय का आनन्द लेता हुआ मूल भाव का अनुमान करता है। यह अनुमित (स्थायी) भाव ही रस है और वास्तविक (स्थायी) भाव से भिन्न न होकर उसका अनुकृत रूप ही है। अतएव मूल भाव का अनुभव करते हैं नायक-नायिका, उसके अनुकृत भाव (रस) का अनुमान द्वारा अनुभव करते हैं प्रेक्षक, और इस अनुमान का माध्यम हैं नट-नटी जिनका अभिनय-सौंदर्य (अपूर्व-वस्तु-सौंदर्य) इस अनुमान को सम्भव बनाता है। परन्तु मनोविज्ञान की दृष्टि से अनुमान द्वारा रसानुभूति की बात मिथ्या है, लोक-अनुभव के विरुद्ध है। अनुमान बुद्धि की क्रिया है मन की नहीं; अनुमान से ज्ञान होता है, अनुभूति नहीं। किसी प्रणयी-युग्म को एकांत उपवन-गृह की ओर जाते हुए देखकर हमको अनुमान के द्वारा तो केवल यह ज्ञान ही होता है कि वे प्रणयानुभव करेंगे, या कर रहे होंगे। इसके आगे यदि हमें भी वैसी उत्तेजना होती है तो वह इसलिए नहीं होती कि हमने एक उसका अनुमान लगा लिया है, वरन् इसलिए कि हमने एक क़दम और आगे बढ़कर कल्पना और सहानुभूति के द्वारा अपने को उस स्थिति में डालकर उनके प्रणयानंद का मनसा साक्षात्कार कर लिया है। —शंकुक ने वास्तव में रसास्वादन के विवेचन में विशेष योग नहीं दिया। भट्टलोल्लट की सीधी बात को उसने और उलझा दिया है और

सहानुभूति-तत्व का निषेध कर अनुमान के सिद्धान्त द्वारा उलटा भ्रम पैदा कर दिया है। उसकी देन बस एक है। वह यह कि नट-नटों के अभिनय-कौशल का आनन्द भी रसानुभव में महत्वपूर्ण योग देता है—इस तथ्य का उसने असंदिग्ध शब्दों में निर्देश किया है। अप्रत्यक्ष रूप से उसका योग यह है कि उसने रस-सिद्धान्त को पूर्णतः वस्तु-परक स्थिति से हटाकर व्यक्ति परक स्थिति की ओर एक पग आगे बढ़ाया।

इस समस्या को भट्टनायक ने बहुत कुछ सुलझाया है। लोल्लट, शंकुक और इधर ध्वनिकार के मतों का खण्डन करते हुए उसने लिखा है कि रस का न तो ज्ञान होता है न उत्पत्ति, और न अभिव्यक्ति। उसने दो अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं: एक तो यह कि यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है तो शोक से शोक की उत्पत्ति होनी चाहिये न कि आनंद या रस की। और शोक-प्राप्ति के लिए कोई क्यों नाटक देखेगा या काव्य पढ़ेगा? दूसरे, अगर सहृदय के हृदय में ही रस स्थित रहता है और विभाव, अनुभाव तथा संचारी के संयोग से अभिव्यक्त हो जाता है, तो प्रश्न यह उठता है कि एक का भाव अर्थात् नायक का व्यक्तिगत भाव, दूसरे के अर्थात् प्रेक्षक के वैसे ही व्यक्तिगत भाव को कैसे अभि-व्यक्त कर सकता है? फिर रति, शोक आदि की अभिव्यक्ति संभव भी हो सके, परन्तु समुद्र-लंघन जैसे असाधारण भावों की अभिव्यक्ति साधारण पाठक में कैसे हो सकती है? किन्तु यह प्रश्न मौलिक होते हुए भी अकाट्य नहीं हैं। पहले प्रश्न का उत्तर आज का आलोचक यह देगा कि एक तो प्रेक्षक या पाठक को शोक का प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार नहीं होता केवल मनसा (कल्पना-द्वारा) साक्षात्कार होता है, और मानसिक रूप धारण करने में कटु से कटु अनुभव भी क्रमशः अपनी कटुता खो देता है। स्मृति इसका एक साधारण प्रमाण है। कटु से कटु स्मृति में भी कटुता की क्षति और एक प्रकार के अपनेपन की उद्भूति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, कवि या नाटककार का अपना सृजन-अनुभव या सहजानुभूति—और स्पष्ट शब्दों में अनुभूति की सफलता का आनंद भी तो इस शोक को अपने रंग में रँगकर हमारे सामने उपस्थित करता है। कवि का अनुभव दूसरे के शोक का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है, उस शोक के सफल भावन का अनुभव है जो स्वभा-वतः आनंदमय होता है। प्रेक्षक या पाठक को कवि के इस सफल (आनंदमय) भावन की अनुभूति होती है, अतएव उसका अनुभव भी आनंद-रूप ही होता है चाहे नाटक का विषय सुखात्मक हो या दुःखात्मक। यह समाधान उस समय प्राप्त नहीं हो सका; और इसका कारण भी यही था कि संस्कृत के आचार्यों ने कवि के व्यक्तित्व को लगभग छोड़ ही दिया था।

भट्ट नायक के दूसरे प्रश्न का उत्तर भी सरल है। पहले तो काव्यगत 'भाव' सामान्यतः असाधारण नहीं हो सकता क्योंकि कोई भी अनुभव 'भाव'-संज्ञा को तभी प्राप्त कर सकता है जब कवि को स्वयं उसकी सहजानुभूति हो गयी हो। और कवि के लिए जब उसकी अनुभूति संभव है तो प्रेक्षक या पाठक के लिए भी सर्वथा सम्भव ही होनी चाहिए; क्योंकि कवि की प्रतिभा कितनी ही लोकोत्तर अथवा असाधारण क्यों न हो, उसके मन की स्थिति तो साधारण ही होती है। और यदि ऐसा नही है, यदि कवि अलौकिक रहस्य-द्रष्टा है या विक्षिप्त है, तो न तो वह अपने अनुभव को प्रेषणीय बना सकता है और न पाठक ही उस असाधारण अनुभव की सहजानुभूति कर सकता है। उसकी कृति फिर काव्य की परिधि से बाहर पड़ेगी। इस प्रकार काव्यगत किसी भी भाव या अनुभूति की स्थिति प्रेक्षक या पाठक में असंभव नही मानी जासकती। हनुमान के समुद्र-लंघन का उत्साह सर्वथा अलौकिक या अमानवीय, असाधारण या विशिष्ट नही है। साधारण उत्साह से मूलतः वह भिन्न नहीं है। एक शब्द में (जैसा कि बाद मे अभिनवगुप्त ने कहा भी), काव्यगत कोई 'भाव' विशिष्ट नहीं होता, साधारणीकृत होता है और हृदय में उसकी स्थिति सर्वथा स्वाभाविक है।

पर भट्ट नायक ने इन शंकाओं का समाधान दूसरे प्रकार से किया। उसने रस की स्थिति न तो नायक-नायिका मे मानी, न नट-नटी मे। रस की स्थिति उसने सीधी सहृदय मे मानी। भट्ट नायक के अनुसार काव्य मे तीन शक्तियाँ निसर्ग-सिद्ध हैं: (१) अभिधा, (२) भावकत्व और (३) भोजकत्व। अभिधा वह शक्ति है जिसके द्वारा पाठक या प्रेक्षक काव्य के शब्दार्थ का ग्रहण करता है; यह प्रत्येक शब्द-रूप ज्ञान में होता है। दूसरी शक्ति है भावकत्व जिसके द्वारा उसे उस अर्थ का भावन होता है। भावन होने पर भाव की वैयक्तिता का नाश होकर साधारणीकरण हो जाता है और भाव विशिष्ट न रहकर साधारण बन जाता है। उदाहरण के लिए दुष्यंत की शकुन्तला के प्रति रति, दुष्यंत का शकुन्तला के प्रति भाव नहीं रह जाता, न नट का नटी के प्रति, न प्रेक्षक का अपनी प्रेमिका के प्रति। वह पुरुष का स्त्री के प्रति सहज साधारण रति-भाव ही रह जाता है। इस प्रकार भावकत्व के द्वारा नायक-नायिका, नट-नटी, प्रेक्षक और उसकी प्रेमिका, सभी का वैयक्तिक तत्त्व अंतर्हित हो जाता है, और शुद्ध साधारणीकृत अनुभव रह जाता है। ऐसा होने से आप से आप रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का आविर्भाव हो जाता है। बस यहाँ काव्य की तीसरी शक्ति भोजकत्व काम करती है और प्रेक्षक या पाठक आनंद का उपभोग करता है। इस प्रकार रस की अभिव्यक्ति नहीं भुक्ति होती है।

भट्ट नायक संस्कृत के बडे मेधावी आलोचको में से है। उसके विवेचन से रस-शास्त्र अत्यंत समृद्ध और समुन्नत हुआ, इसमें संदेह नहीं। उसने अभिनव से

पूर्व रस को विषयगत न मानकर विषयीगत माना। उसका साधारणीकरण का सिद्धांत काव्य-शास्त्र के लिए अमर वरदान सिद्ध हुआ, जिसके बिना रस की समस्या सुलझ ही नहीं सकती थी।

साधारणीकरण

साधारणीकरण का अर्थ है काव्य के भावन द्वारा पाठक या श्रोता का 'भाव की सामान्य भूमि पर पहुँच जाना'—दुष्यन्त की शकुन्तला के प्रति रति का भावन करते हुए भाव की उस अवस्था पर पहुँच जाना जहाँ यह रति शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त की रति न रह कर पुरुष की स्त्री के प्रति साधारण रति-मात्र रह जाती है। जो कोई भी शाकुन्तलम् इस दृश्य को देखता है या पढ़ता है वही उसमें अपने हृदय में स्थित रति का अनुभव करता है। यह किस प्रकार संभव होता है? इसका विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते हैं—"जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप मे नही लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्‌बोधन की पूर्ण शक्ति नही आती। (विषय का) इसी रूपमें लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है। (चिंतामणि, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्य वाद)।" इस प्रकार साधारणीकरण से शुक्लजी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है।

"तात्पर्य यह है कि आलम्बन-रूप मे प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलम्बन हो जाता है।" इसका अनुवर्ती परिणाम स्वभावतः यह होता है कि पाठक का अपना तादात्म्य आश्रय के साथ हो जाता हैं। "साधारणीकरण के प्रतिपादन में पुराने आचार्यों ने श्रोता (या पाठक) और आश्रय (भाव-व्यंजना करने वाले पात्र) के तादात्म्य की अवस्था का ही विचार किया है।"

इसका संकेत विश्वनाथ में मिलता है। परन्तु यह भट्ट नायक और अभिनव का मत नहीं है। उन दोनो ने शब्द भेद से स्थायी भाव तथा विभावादि सभी का साधारणीकरण माना है। केवल विभाव का साधारणीकरण और तदनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य उनको मान्य नहीं है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए रति भावना करना अनुचित होगा। इसीलिए सहृदय न आलम्बन से प्रेम करता है और न आश्रय से तादात्म्य, क्योंकि उसका यह प्रेम अपना व्यक्तिगत प्रेम नहीं होता। 'न ममेति न परस्येति।' आगे चलकर शुक्ल जी कहते हैं कि "कभी-कभी ऐसा होता है कि पाठक या श्रोता की मनोवृत्ति या संस्कार के कारण वर्णित व्यक्ति विशेष के स्थान पर कल्पना में उसी

के समान धर्म वाली कोई मूर्ति विशेष आ जाती हैं। जैसे यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुन्दरी से प्रेम है तो शृङ्गार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रहकर आलम्बन रूप में उसकी प्रेयसी की मूर्ति ही उसके सामने आयगी।" भट्ट नायक और अभिनव गुप्त इसका भी निषेध करते हैं कि हम दुष्यन्त के स्थान पर अपने को और शकुन्तला के स्थान पर अपनी प्रेयसी को देखने लगते हैं। क्योंकि एक तो अपनी रति का प्रकाशन लज्जास्पद है, दूसरे यह भी सम्भव है कि हमारा किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम ही न हो। उस समय शुक्ल जी कहते हैं कि हमारे सामने किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आयगा, परन्तु किसी कल्पित सुन्दरी का चित्र आना व्यक्तिगत रति का नहीं साधारण रति का रूप है। दूसरे यदि भाव मधुर न होकर कटु है—जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जागृत हो जाता है, तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा, रस इसे नहीं कह सकते। वास्तव में यह सब-कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या होती?

अब प्रश्न यह उठता है कि साधारणीकरण किसका होता है? 'मानस' में पुष्प-वाटिका के प्रसंग को पढ़ते हुए मुझे तीन व्यक्तियों की चेतना है—अपने (सहृदय की) राम (आश्रय) की और सीता (आलम्बन) की। इनके अतिरिक्त एक अव्यक्त व्यक्तित्व और है—कवि का। मेरे (सहृदय के) व्यक्तिगत आलम्बन का भी एक अव्यक्त व्यक्तित्व हो सकता है। परन्तु यह चूँकि सभी दशाओं में सम्भव नहीं है, इसलिए इसे छोड़ देते हैं। साधारणीकरण की संभावना दो की ही हो सकती है (क्योंकि मैं तो साधारणीकृत रूप का भोक्ता हूँ) १. आश्रय को और २. आलम्बन की। क्या साधारणीकरण आश्रय का होता है? अर्थात् क्या राम का व्यक्तित्व सभी सहृदयों का व्यक्तित्व हो जाता है—और स्पष्ट शब्दों में, क्या सभी सहृदय अपने को राम समझकर रति का अनुभव करते हैं? नहीं। यहाँ शायद आश्रय का व्यक्तित्व प्रिय होने के कारण और भाव मधुर होने के कारण आपको 'हाँ' कहने का लोभ हो जाय। परन्तु जहाँ आश्रय अप्रिय है और भाव कटु है वहाँ इसकी संभावना कैसे हो सकती है? उदाहरण के लिए आश्रय रावण है और वह सीता के प्रति क्रोध प्रदर्शित कर रहा है। वास्तव में आश्रय तो घृणित, क्रूर, नीच, आपके व्यक्तित्व के ठीक विपरीत भी हो सकता है—आप उसके साथ कहाँ तक तादात्म्य करते फिरेंगे? अच्छा आश्रय को छोड़िए। साधारणीकरण नायक का होता है "नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः" (भट्टतौत) इसमें क्या आपत्ति है? आपत्ति स्पष्ट है। संस्कृत काव्य का नायक, ऐसे गुणों से विभूषित होता था कि उसके साथ तादात्म्य करना प्रत्येक सहृदय को सहज और स्पृहणीय था, परन्तु आज तो काव्य

पर यह प्रतिबन्ध नहीं है। आज अनेक प्रथम श्रेणी के उपन्यासों में नायक का रूप उक्त आदर्श के बिलकुल विपरीत मिलता है जिसके साथ तादात्म्य आपके लिए न सहज होगा, न स्पृहणीय। उदाहरण के लिए, एक साम्यवादी उपन्यासकार किसी हृदयहीन पूँजीपति को नायक के रूप में हमारे सामने लाकर पूँजीवाद के प्रति अपनी सम्पूर्ण घृणा को उसके व्यक्तित्व में पुञ्जीभूत कर देता है। उपन्यास व्यक्ति-प्रधान है क्योंकि इसका उद्देश्य पूँजीवाद की मूल चेतना व्यक्तिवाद के प्रति घृणा जगाना है: नायक असंदिग्ध रूप में वही घृणित व्यक्ति है। परन्तु क्या आप उससे तादात्म्य कर सकेंगे? यदि ऐसा कर सकेंगे तो यह उपन्यासकार की घोर विफलता होगी। इस प्रकार मूलतः नायक का भी साधारणीकरण नहीं होता। अब रह जाता है आलम्बन का प्रश्न। क्या आलम्बन का साधारणीकरण होता है? अर्थात् पुष्प-वाटिका के प्रसंग में जिस सीता के प्रति राम की रति का अंकुर प्रस्फुटित हुआ, उसके प्रति क्या प्रत्येक सहृदय की भी रति जागृत हो जाती है। क्या राम की प्रिया विश्व-प्रिया बन जाती है? हमारा आस्तिक आचार्य (भट्टनायक आदि) "शांतं पापं, शांतं पापं,": कह उठता। और उसने स्पष्ट शब्दों तिरस्कार भी किया है। परन्तु क्या ऐसा होता नहीं? क्या पुष्प-वाटिका की भी सीता हमारी माता ही बनी रहती है। अगर माता ही बनी रहती है तो यह कहना मिथ्या है कि हम अमिश्रित श्रृंगार रस का अनुभव कर रहे है। हम उसे जब तक प्रेयसी के रूप में नहीं देखेंगे श्रृंगार रस की दशा से दूर रहेंगे। और इसमें कोई अनौचित्य नहीं है, क्योंकि यह सीता उस वास्तविक सीता से, जिसमें हम मातृ-बुद्धि रखते हैं, सर्वथा स्वतन्त्र हैं, जब तक कि कवि की प्रेरक अनुभूति में ही मातृ-भावना का मिश्रण न रहा हो। पर ऐसी दशा में जैसा कि तुलसी के श्रृंगार-चित्रों से स्पष्ट है हमें अमिश्रित श्रृंगार नहीं मिलता। हम काव्य की सीता से प्रेम करते हैं और काव्य की यह आलम्बन रूप सीता कोई व्यक्ति नहीं है, जिससे हमको किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता हो, वह कवि की मानसी सृष्टि है अर्थात् कवि की अपनी अनुभूति का प्रतीक है। उसके द्वारा कवि ने अपनी अनुभूति को हमारे प्रति संवेद्य बनाया है। बस, इसलिए जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह वास्तव में कवि की अपनी अनुभूति का संवेद्य रूप है। उसके साधारणीकरण का अर्थ है कवि की अनुभूति का साधारणीकरण जो भट्ट नायक और अभिनवगुप्त का प्रतिपाद्य है। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति की इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली में हम कहते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है। अनुभूति सभी में होती है, सभी व्यक्ति उसे यत्किंचित् व्यक्त भी कर

लेते हैं, परन्तु साधारणीकरण करने की शक्ति सब मे नहीं होती। इसीलिए तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के होते हुए भी सब कवि नही होते। कवि वह होता है, जो अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कर सके, दूसरे शब्दों मे "जिसे लोक-हृदय की पहचान हो।" यहाँ आकर ये सभी बाधाए आप दूर हो जाती हैं कि किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है, या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है, अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है। आश्रय-रूप रावण यदि कहीं राम की भर्त्सना करता है तो क्या हुआ? हमारी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं आती क्योंकि हमारे अन्तर में तो वही अनुभूति जागेगी जो कवि ने इस प्रतीक द्वारा व्यक्त की है। माईकेल को रावण से सहानुभूति है इसीलिए मेघनाद-वध का यह प्रसग हमारे हृदय में रावण के लिए सहानुभूति और राम के प्रति तुच्छ भाव जागृत करेगा। तुलसी को यदि राम के प्रति भक्ति और रावण के प्रति घृणा है तो, यह प्रसंग उसी के अनुकूल हमारे लिए रावण को उपहास या तुच्छ भाव या घृणा का विषय बना कर राम के प्रति हमारी भक्ति जागृत करेगा। हम को रस दोनों ही अवस्थाओं मे आयेगा। इसी प्रकार यदि साम्यवादी लेखक के उपन्यास का पूँजीपति नायक अपनी कुत्साओं मे जघन्य है, तो हुआ करे, हम उसमे तादात्म्य थोड़ा ही स्थापित करते है। हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं, अतएव हम लेखक की तरह ही उसकी जघन्यता के प्रति अपनी घृणा और क्रोध जागृत कर उपन्यास का रस लेंगे। ठीक इसी तरह यदि सीता मे हमारी परम्परागत पूज्यबुद्धि है तो हो। यह सीता नही है, यह तो कवि की अनुभूति का प्रतीक है। तुलसी को यदि उसके प्रति अमिश्रित रति की अनुभूति न होकर श्रद्धा-मिश्रित रति की अनुभूति होती हैं तो हमको भी वैसी ही होगी। हम राम से तादात्म्य न कर तुलसी से ही तादात्म्य कर पायेंगे। ऐसी दशा मे हमको रसानुभूति तो होगी पर अमिश्रित शृंगार की नही। इसके विपरीत 'कुमार-संभव' या रीतिकालीन राधाकृष्ण प्रेम-प्रसंगों को पढकर यदि हमे अमिश्रित शृंगार की अनुभूति होती है तो उसका कारण यही है कि तुलसी के विपरीत कालिदास या रीति-युग के कवि की तद्-विषयक अनुभूति अमिश्रित रति की ही अनुभूति थी। उसमे कोई मानसिक ग्रन्थि नहीं थी। यह सीधा सत्य है। जिसे एक ओर साधारणीकरण के आविष्कार भट्टनायक और अभिनव गुप्त भारत की अव्यक्तिगत काव्य-परम्परा के कारण, दूसरी ओर आधुनिक आलोचना मे उसके सबसे प्रबल पृष्ठपोषक शुक्लजी अपनी वस्तु-परक दृष्टि के कारण स्पष्ट रूप मे व्यक्त नही कर पाए।

अगर आप ऊब न गए हों तो आइए एक और आवश्यक प्रश्न का समाधान कर लिया जाय। साधारणीकरण कवि के लिए किस प्रकार संभव होता है? वह

किस प्रकार अपनी अनुभूति का साधारणीकरण करता है ? स्वदेश-विदेश के पंडितों ने इसके दो उत्तर दिए हैं—१. साधारणीकरण भाषा का धर्म है। २. साधारणीकरण का मूलाधार मानव-सुलभ सहानुभूति है जो सभी मनुष्यों के हृदय में एक-तार अनुस्यूत है।

पहले उत्तर मे भट्ट नायक और अभिनव गुप्त की ध्वनि है। भट्ट नायक काव्य (काव्यमय शब्द में) ही एक ऐसी 'भावकत्व' शक्ति मानते हैं जिससे कि भाव का आप-से-आप साधारणीकरण हो जाता है। अभिनव गुप्त शब्द मे भावकत्व की कल्पना को निराधार मानते हुए शब्द की सर्वप्रधान शक्ति व्यंजना में साधारणीकरण की सामर्थ्य मानते हैं। विदेश के पण्डित भी भाषा को ऐसे ज्ञान और भाव-प्रतीकों का समूह मानते हैं, जो उन विशेष ज्ञान-खण्डों और भावों को समान रूप से सबकी चेतना मे जगा सकें। ज्ञान और भाव वास्तव मे एक दूसरे के विपरीत न होकर चेतना के दो संस्थान हैं : ज्ञान पहला संस्थान है, भाव दूसरा। कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक विशेष, हमारी चेतना मे किसी वस्तु का ज्ञान-मात्र ही जगाकर रह जाता है, और कभी ज्ञान के आगे उसका 'भावन' भी करा देता है। भाषा के ये ही दो प्रयोग हैं। एक वह जिसमें प्रतीक केवल ज्ञान जगाते हैं, दूसरा वह जिसमें भाव भी जगाते हैं। पहला प्रयोग हम सभी साधारणतः व्यवहार मे लाते हैं, दूसरा केवल भाव-दीप्त क्षणों मे—जब हमारे अपने भाव-प्रतीकों पर आरूढ होकर उन्हें इतना भावमय बना देते हैं कि उनमें सुनने वालो के हृदयो मे भी समान भाव उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। तात्पर्य तो यह है कि शब्दों को भावोद्दीपन करने को शक्ति मूलतः हमारे भावो से ही प्राप्त होती है। अब यदि आप पूछें कि एक व्यक्ति का भाव दूसरों के हृदयो मे समान भाव कैसे उत्पन्न कर देता है तो इसका उत्तर यही है कि मूलतः सम्पूर्ण मानवता एक चेतना से चैतन्य है। मानव मानव के हृदय मे—भारतीय दर्शन तो चराचर को भी अपनी परिधि मे समेट लेता है—चेतना का ऐसा एक तार अनुस्यूत है जो एक स्थान पर भी स्पर्श पाकर समग्रत: झंकृत हो जाता है। आपको चाहे इस कथन मे रहस्यवाद की गन्ध आये, परन्तु मनोविज्ञान, शरीर-शास्त्र और अध्यात्म अभी इससे आगे नहीं बढ पाये हैं।

अतएव साधारणीकरण का कारण है भाषा का भावमय प्रयोग, भाषा का भावमय प्रयोग प्रयोक्ता की अपनी भावशक्ति पर निर्भर रहता है। और प्रयोक्ता के भावो का संवेदन शक्ति का आधार है, मानवसुलभ सहानुभूति।

भाव-शक्ति थोडी-बहुत सभी मे होती है। इसलिए साधारणीकरण की भी शक्ति थोडी-बहुत सभी मे होती है, अन्यथा जीवन की स्थिति ही संभव नहीं। परन्तु साधारणीकरण की विशेष शक्ति उसी व्यक्ति मे होगी जिसकी भाव-शक्ति

विशेष रूप से समृद्ध हो, जिसकी अनुभूतियां विशेष रूप से सजग हों। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है, अर्थात् अपने समृद्ध भावों के बल पर उनके प्रतीको को सहज ही ऐसी शक्ति प्रदान कर सकता है कि वे दूसरो के हृदयों में भी समान भाव जगा सके। ऐसा ही व्यक्ति कवि है।

इतना होते हुए भी भट्टनायक का सिद्धान्त सर्वथा निर्भ्रांत नहीं है। उसकी सबसे बड़ी भ्रान्ति है काव्य-शब्द में भावकत्व और भोजकत्व नामक विशिष्ट शक्तियों की कल्पना जो पूर्णतः निराधार है। व्याकरण, मीमांसा आदि किसी में भी इनका संकेत नही मिलता।

इस त्रुटि का संशोधन अभिनवगुप्त ने किया जो भरत-सूत्र का चौथा व्याख्या कार था। उसने इस समस्या को बडे अच्छे ढंग से सुलझा दिया। उसका सिद्धांत इस प्रकार है—मानव आत्मा शाश्वत है। सभी आत्माओं में विशेषकर सहृदयो की आत्माओं मे, स्वभाव से सांसारिक अनुभव, पूर्व जन्म अथवा पठन-पाठन आदि के फलस्वरूप कुछ मूलगत वासनाएँ संस्कार रूप में स्थित रहती हैं। ये वासनाएँ ही परिभाषिक शब्दावली में स्थायीभाव कहलाती हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी के कुशल प्रदर्शन से ये गुप्त वासनाएँ या स्थायी भाव ही उद्बुद्ध होकर रस रूप में परिणत हो जाते हैं, अर्थात् उस अवस्था को प्राप्त होजाते हैं जहाँ एक आनन्दमयी चेतना के रूप में उनका अनुभव होता है। यहाँ आकर भाव की वैयक्तिकता नष्ट हो जाती है। वह मेरा या दूसरे का न रह कर साधारण भावमात्र रह जाता है और इस प्रकार सर्वग्राह्य बनकर एक साथ इतना तीव्र हो जाता है कि उसका भावत्व भी नष्ट हो जाता है। केवल एक आनन्दमयी चेतना रह जाती है। कालिदास ने 'शाकुन्तलम्' मे इसी की ओर स्पष्ट संकेत किया है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्
भावस्थिराणि जन्मान्तरसौहृदानि॥

[अभिज्ञानशाकुन्तलम्, अंक ५]

अर्थात् रम्य दृश्यों को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर यदि कोई सुखी व्यक्ति भी उन्मना हो उठता है तो इसका कारण यही समझना चाहिये कि उसे अपने पूर्व के जन्मों के स्नेह-सम्बन्धो की, जो उसके अचेतन मन में स्थिर [स्थायी] भावों के रूप में स्थित हैं, अनायास ही सुधि आ रही है।

कालिदास के छन्द में 'भावस्थिराणि' तो स्पष्टतः स्थायी भाव हैं ही और सुधि आने का तात्पर्य है अचेतन मन से चेतन मन में आ जाना—ठीक वही जो अभिनव गुप्त की अभिव्यक्ति का तात्पर्य है। इस समय चित्त की एकाग्रता के कारण तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य रहता है और आत्मा का स्व-प्रकाश या स्वाभाविक आनन्द झलकने लगता है [दे० 'नवरस', गुलाबराय]। इस प्रकार रस की न तो उत्पत्ति होती है और न अनुमिति और न भुक्ति; उसकी केवल अभिव्यक्ति होती है। रस बाहर से प्राप्त नहीं होता सहृदय की अपनी आत्मा में से आविर्भूत होता है। वह वस्तुगत या विषयगत न होकर सर्वथा विषयीगत है। अभिनव वास्तव में आभासवादी वेदान्ती है जो वस्तु की स्थिति न मानकर केवल चिदानंद ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करता है। विदेश में हीगेल, ह्यूम आदि दार्शनिकों का भी यही सिद्धांत है। वे भी सौन्दर्य को विषयीगत मानते हैं विषय-गत नहीं।

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भट्टनायक से सर्वथा भिन्न नहीं है। भट्टनायक के साधारणीकरण को उसने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। यह सिद्धान्त भी कि काव्यानन्द के उद्रेक के समय तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य हो जाता है वह बिना संशोधन के स्वीकार कर लेता है। अन्तर केवल यह है कि अभिनवगुप्त भावकत्व और भोजकत्व को निराधार घोषित करता हुआ उनके स्थान पर व्यञ्जना और ध्वनि की सत्ता को स्वीकृत करता है। भट्टनायक का मत है कि काव्य की प्रकृति ही ऐसी है कि सहृदय को पहले उसका अर्थग्रहण, फिर भावन अर्थात् निर्विशेष रूप से चिंतन, और उसके उपरांत तुरन्त ही आनन्द-प्राप्ति सहज में हो जाती है; परन्तु अभिनव यह मानता है कि रस की स्थिति सहृदय की आत्मा में ही है, काव्य उसकी अभिव्यक्ति मात्र कराता है। मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने सामान्यतः अभिनवगुप्त के सिद्धांत को ही स्वीकृत किया है।

अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भारतीय साहित्य-शास्त्र मे सर्वमान्य-सा ही हो गया है, और वास्तव में वह बहुत अंशों में पूर्ण भी है। रस सर्वथा विषयीगत है। सहृदय की आत्मा में ही उसकी स्थिति है, वस्तु में नहीं; वस्तु तो केवल उसको उद्बुद्ध करती है। काव्य के आस्वादन मे हमारे सामने मूलतः तीन सत्ताएँ आती हैं—कवि, वस्तु और सहृदय। आधुनिक आलोचना की शब्दावली में हम कह सकते हैं कि कवि वह व्यक्ति है जो अपनी अनुभूति को संवेद्य बनाता है; वस्तु तत्वतः उसकी अनुभूति है, और सहृदय वह व्यक्ति है जो कवि की इस संवेद्य अनुभूति को ग्रहण करता है। वस्तु को मैंने तत्व रूप में कवि की अनुभूति कहा है

जिस पर आपत्ति उठ सकती है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे तो जैसा कि वस्तु शब्द से ही स्पष्ट है, उसको कवि की अनुभूति से पृथक् सत्ता मानी ही गई है। आज भी प्रश्न हो सकता है कि ऐतिहासिक वृत्त या लोक-प्रचलित कहानी या घटना, जिसको कवि अपनी मूल सामग्री के रूप में प्रयुक्त करता है, कवि की अनुभूति कैसे कही जा सकती है? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि कवि का उद्देश्य उस कथा या वृत्त को कहना कभी नहीं होता, उसके व्याज से अपनी अनुभूति को ही अभिव्यक्त करना होता है। उस कथा का महत्व उद्दीपन, या फिर, माध्यम से अधिक नहीं होता क्योंकि संवेद्य कवि की अनुभूति ही है कथा का एक अणु भी नहीं। दूसरे की कही बात को केवल दुहराने के लिए ही कोई क्यों दुहरायेगा? साधारणतः यदि किसी दूसरे की बात को हम अक्षरशः दुहराते भी हैं, तो उसके द्वारा वास्तव में हम अपनी ही बात कहते है। हमारा उद्देश्य अपना आशय प्रकट करना होता है, दूसरे की बात को दुहराना नहीं। इस प्रकार तत्व रूप मे वस्तु की सत्ता कवि के व्यक्तित्व से स्वतन्त्र नहीं है। अतएव वस्तु या विषय मे रस खोजना अर्थवादसे अधिक नही है। वस्तु के अंतर्गत भट्टलोल्लट के नायक-नायिका भी आ जाते हैं। ये नायक-नायिकायें भी, चाहे वे ऐतिहासिक हों या पौराणिक किंवा कल्पित, काव्य मे कवि से पृथक अपनी सत्ता नहीं रखते। उनका ऐतिहासिक अस्तित्व एक व्याज मात्र है, और उनका व्यक्तित्व सर्वथा निर्विशेष है। देश और काल की सीमा मे बँधे हुए शकुंतला और दुष्यन्त व्यक्तियों की हमारे लिए [नाटक-काव्य के श्रोता-प्रेक्षक के लिए] इस समय कम से कम कोई सत्ता नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि दुष्यन्त और शकुन्तला के नाम बदलकर चन्द्रमोहन और जयश्री कर दिये जायें, या हमें इतिहास [महाभारत] का ज्ञान ही न हो, अथवा कोई पुरातत्ववेत्ता असंदिग्ध रूप में यह प्रमाणित कर दे कि महाभारत का शकुन्तलोपाख्यान प्रक्षिप्त है, तो भी 'शाकुन्तलम्' पढकर हमें काव्य-रस की अनुभूति अवश्य होगी। मान लीजिए कि वाल्मीकि के राम वास्तव में ऐतिहासिक हैं [यद्यपि ऐसा हो नहीं सकता]। अब देखिये कि जब वाल्मीकि के ऐतिहासिक राम, तुलसी के इतिहास-भिन्न ईश्वरावतार राम, मैथिलीशरण के आधुनिक लोकनायक राम और माइकेल मधुसूदन दत्त के इतिहास-विपरीत राम सभी हमें रस-दशा तक पहुँचा सकते हैं, तो रस की दृष्टि से ऐतिहासिक राम का क्या रामत्व रहा? इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की यह उक्ति—

> राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
> कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है॥ [साकेत]

मूल में जाकर उनकी भक्ति-भावना की ही व्यंजक है, राम के रामत्व की नही। राम का जो एक स्वतन्त्र रूप हमे प्रतीत होता है वह वास्तव में हमारे

अन्तर्मन में पड़ा हुआ वाल्मीकि, तुलसी आदि के काव्यों से प्राप्त संस्कारों का संघात मात्र ही है, वह स्वतंत्र अस्तित्ववान नहीं है। यहाँ इसका निषेध नहीं है कि ऐतिहासिक राम थे—वह अवश्य थे। पर एक तो उनके वास्तविक रामत्व की अनुभूति हमें रामायण, रामचरित-मानस, साकेत आदि पढ़कर कदापि नहीं हो सकती (इसलिए काव्य के रसानुभव में वह हमारे लिए निरर्थक है); दूसरे उन्होंने रस का नहीं, प्रकृत भाव का ही अनुभव किया होगा। राम ने सीता के शील-सौंदर्य पर मुग्ध होकर प्रेमानन्द का अनुभव अवश्य किया होगा, पर वह रति-भाव का अनुभव था, 'शृंगाररस' का नहीं। यह संयोग मात्र है कि वह अनुभव भी मधुर था और 'रस' भी मधुर होता है। परन्तु यह समानता सभी दशाओं में सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, जब राम रावण के प्रति क्रुद्ध हुए होंगे अथवा सीता-वियोग में विषण्ण या लक्ष्मण के शक्ति लगने पर क्रोध-मूर्छित तब उनका अनुभव मधुर न होकर कटु ही हुआ होगा। फिर उनका अपना अनुभव रस कैसे हो सकता है? परंतु उनके इसी अनुभव को काव्य में पढ़कर हम 'रस' लेते हैं। अतएव नायक में रस की स्थिति साधारणतः विश्वसनीय-सी लगती हुई भी अन्त में मिथ्या ही ठहरती है।

अब दो सत्ताएँ रह जाती हैं—कवि और सहृदय की। कवि अपनी अनुभूति को सहृदय के प्रति इस प्रकार प्रेषणीय बनाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय को आनन्द की उपलब्धि होती है। जैसा मैंने पहले कहा है सहृदय की रसानुभूति में तो किसी को संदेह हो ही नहीं सकता। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि इस रस की स्थिति दोनों में से किस में है? इसका उत्तर ठीक वही है जो अभिनव गुप्त ने दिया है—अर्थात् 'सहृदय में'। क्योंकि जब हम प्रसन्न होते है तो अपने हृदय-रस का, अपने आनन्द का ही अनुभव करते हैं। आनन्द की स्थिति तो हमारे अपने अन्तर में ही है। इसको स्वदेश के अध्यात्मदर्शी और विदेश के मनोवैज्ञानिक दोनों ही समान रूप से मानते हैं। भारतीय दर्शन सुख को अपनी ही आत्मा का विस्तार मानता है; (सु = सुलभ + ख = आकाश, व्याप्ति)। उसमें आनन्द को अपनी ही अस्मिता वृत्ति का आस्वादन कहा गया है—आत्म का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है। "मैं हूँ" यही रस का सार तत्व है। (डा० भगवानदास, 'रस-मीमांसा'—द्वि० अ० अं०)। विदेश का मनोवैज्ञानिक भी आनंद को 'अंतर्वृत्तियों का सामंजस्य' ही मानता है।

यह निश्चित हो जाने पर कि रस की स्थिति सहृदय के अन्तर में ही है, एक दूसरी समस्या सामने आती है:—फिर कवि किस प्रकार अपनी अनुभूति को ऐसी संवेद्य बना पाता है कि उसको ग्रहण कर सहृदय की रस-चेतना जागृत हो

जाती है ? इसका उत्तर होगा—'अपने हृदय-रस में डुबाकर'। कवि जब अपनी अनुभूति को व्यक्त कर पाता है तो उसे भी आत्माभिव्यक्ति का, अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है। अनुभूति को अभिव्यक्त करने में कवि को अपनी अस्मिता के आस्वादन का रस मिलता है, और उस संवेदित अनुभूतिको ग्रहण करने मे सहृदय को अपनी अस्मिता का आस्वदन होता है। इस प्रकार कवि अनुभूतिके साथ अपना रस भी सहृदय के पास भेजता है अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय मे मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मे क्योंकि यदि कविके कथन मे रस नहीं है तो सहृदय के हृदय मे स्थित रस सुप्त पड़ा रहेगा, और इसी तरह यदि सहृदय के हृदय में रस नही है तो कवि का संवेद्य निष्फल जायेगा। पहले तथ्य के प्रमाणमें अनेक नीरस छंद उद्धृत किये जा सकते हैं, और दूसरे के प्रमाण में अनेक अरसिक व्यक्ति। कविता के प्रथम स्फुरण से सम्बद्ध जनश्रुति जिसके अनुसार आदि कवि का शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था; या भट्टतौत का यह सिद्धात[1] कि 'नायक कवि और श्रोता का अनुभव समान होता है' या फिर अभिनवगुप्त की यह उक्ति [2] कि 'कवि के अतर्गत भाव को जो वाचिक, आंगिक मुखरागादि, तथा सात्विक अभिनय द्वारा आस्वाद योग्य बनाता है वह भाव कहलाता है'—ये सब इस बात के असंदिग्ध प्रमाण हैं कि संस्कृत का आचार्य कवि के हृदय-रस से परिचित तो अवश्य था परन्तु विधान रूप मे कवि की अनुभूति को संस्कृत साहित्य-शास्त्र में पृथक ही रखा गया है। भट्टतौत का सिद्धांत भी उपेक्षित-सा ही रहा है।

यह तो हुई श्रव्य काव्य की बात। लेकिन दृश्य काव्य में नट-नटी की सत्ता और माननी पडेगी। इनका रसास्वादन से क्या सम्बन्ध है ? रस की स्थिति उनके हृदय मे भी माननी पडेगी। नट-नटी भी अनिवार्यतः सहृदय ही होने चाहियें, अन्यथा वे संवेद्य का उचित माध्यम नहीं बन सकते। जब वे संवेद्य अनुभूति को पहले स्वयं ग्रहण कर सकेंगे, अर्थात् जब वे संवेद्य को ग्रहण कर स्वयं रस-मग्न हो सकेंगे, तभी वे सहृदय तक संवेद्य को पहुँचाने में सफल हो सकेंगे। इसलिये उनकी सहृदयता के विरुद्ध किये गये संस्कृत आचार्यों के सभी आक्षेप अनुचित हैं।

अन्त में निष्कर्ष यह निकलता है : इसमें संदेह नहीं कि काव्य पढकर या नाटक देखकर सहृदय को जो रसास्वादन होता है उसकी मूल स्थिति उसी के हृदय में है, अर्थात् मूलतः वह उसी की अपनी अस्मिता का आस्वादन है : परन्तु यह तभी सम्भव है जब कवि अपनी अनुभूति को उस तक पहुँचाने में स्वयं रस

१—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः

२—वागङ्गमुखरागेन सत्वेनाभिनयेन च कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव इत्युच्यते
(देखिये डाक्टर दासगुप्त का 'काव्य-विचार')

ले सका हो अर्थात् अपनी अस्मिता का रस ले सका हो। नाटक में नट-नटी के विषय मे भी यही सत्य मानना पड़ेगा। इसको स्पष्ट करने के लिए एक और अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये। डांडी-यात्रा पर जाते हुए गाँधी का प्रसंग है। यह अतर्क्य है कि गाँधी जी ने उस समय एक सात्विक उत्साह का अनुभव किया होगा। मैंने उनके उस भव्य रूप को देखा; सहानुभूति के द्वारा मुझ में भी वह भाव जागृत हो गया। कवि सियारामशरण ने पहले एक दर्शक के रूप में उस भाव को ग्रहण किया; फिर बाद में कभी उससे प्रेरित होकर 'बापू' में महामानव गाँधी का यह सात्विक उत्साह शब्द-बद्ध कर दिया। मैंने उसे पढ़ा और एक सात्विक आनंद का अनुभव किया। इस प्रकार हमारे सामने पाँच अनुभव हैं: एक अनुभव स्वयं गाँधी जी का; दो अनुभव सियारामशरण के—एक व्यक्ति का जो गाँधीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त हुआ था, दूसरा कवि का जो उसे काव्य-रूप देने में प्राप्त हुआ; दो अनुभव मेरे—एक गाँधीजी के प्रत्यक्ष दर्शन से प्राप्त और दूसरा 'बापू' के अध्ययन से प्राप्त। अब यह देखना है कि इनमें रस-संज्ञा किसको दी जा सकती है? गाँधीजी के अनुभव को? नहीं। वह तो भाव (Emotion) मात्र है जो इस प्रसंग में मधुर है अन्यथा कटु भी हो सकता है। उदाहरण के लिए सीतारमैया की हार पर गाँधीजी की खीझ स्पष्टतः ही एक कटु अनुभूति थी। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुभव रस नहीं हो सकता। इस प्रकार मेरे और सियारामशरण के प्रत्यक्ष अनुभव भी रस की कोटि से बाहर पड जाते हैं। केवल दो अनुभव रह जाते हैं—कवि का अनुभव और उसके काव्य का अध्ययन करने वाले सहृदय का अनुभव। कवि का अनुभव (गाँधी के भव्य उत्साह से प्राप्त) इस अनुभूति को, जो बाद में प्रत्यक्ष न रह कर संस्कार मात्र रह गई थी, काव्य-रूप देने का अर्थात् बिंब-रूप में उपस्थित करने का अनुभव है। काव्य रूप देने मे वह उस संस्कार-शेष अनुभूति का भावन करता है। भावन की इस प्रक्रिया मे एक क्षण ऐसा आता है जब उसके अपने हृदय का भी सात्विक उत्साह उद्बुद्ध हो जाता है। बस तभी कवि के मानस में काव्य-रूप पूर्ण हो जाता है और साथ ही वह रस का अनुभव भी प्राप्त कर लेता है। बाहर से प्राप्त किसी अनुभूति के संस्कार का भावन करते हुए अपने हृदय-स्थित वासना को जगा लेना ही तो रस-दशा को प्राप्त कर लेना है। यही सहृदय करता है और यही कवि। और यदि काव्य का अभिनय किया जाता है तो सहृदय से पहले इसी प्रकार का भावन तथा वासना का उद्बोधन नट के लिए भी अनिवार्य हो जाता है।

अतएव आरंभ में—रचना के समय कवि, और फिर अभिनय के समय नट (यद्यपि इसकी सत्ता अत्यन्त गौण है) अपने हृदय-स्थित रस का

आस्वादन तो करते ही हैं—साथ ही उनका यह रसास्वादन सहृदय के हृदय मे वासना-रूप से स्थित स्थायी भावों को जागृत कर रस-दशा तक पहुंचाने मे अनिवार्य योग भी देता है। इस प्रकार कविता के विषय में यह लोक-परिचित उक्ति कि वह हृदय से हृदय में पहुंचती है, मनोवैज्ञानिक रूप में भी पूर्णतः सत्य है।

रस का स्वरूप

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः।
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥

[साहित्यदर्पण तृ० परिच्छेद]

उपर्युक्त पद्यो में कविराज विश्वनाथ ने सस्कृत रस शास्त्र में वर्णित रस के स्वरूप का सार अङ्कित कर दिया है। यहां सत्वोद्रेक रस का हेतु है, अखण्ड, स्व-प्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य, ब्रह्मस्वाद-सहोदर, लोकोत्तर चमत्कार-प्राण आदि पदों द्वारा रस के स्वरूप का निर्देश किया गया है, स्वाकारवदभिन्न के द्वारा प्रकार का और प्रमाता द्वारा रस के अधिकारी का। परिणामतः संस्कृत रस शास्त्र मे रस के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) आस्वाद्यते (रस्यते) इति रसः—जिसका आस्वादन हो वह रसहै—अर्थात् रस आस्वाद रूप है। इसके आस्वादयिता सहृदय ही हो सकते हैं रस सहृदय-संवेद्य हैं।

(२) यह आस्वाद अनिवार्यतः आनन्दमय ही है और यह आनन्द अखण्ड चिन्मय और वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य है। अखण्ड का अर्थ यह है कि इसमे विभाव, अनुभाव, स्थायी, सचारी आदि की पृथक् या खड चेतना नहीं होती; वरन् सभी की अखंड चेतना होती है। दूसरे इस समय किसी अन्य विषय की चेतना नहीं होती और तीसरे यह अनुभूति "चिन्मय" है–अर्थात् अनिच्छापूर्वक एव अबुद्धिपूर्वक नहीं इच्छा और बुद्धि सहित होती है। रस का आविर्भाव सत्व की प्रधानता होने पर ही होता है इसका तात्पर्य आज के पाठक के लिए यही है—कि उसमे ऐन्द्रियता नहीं होती। रस-चर्वण आस्वाद से अभिन्न होने के कारण भाव से स्पष्टत: भिन्न है। शृंगार रस का अर्थ रति का अनुभव नहीं है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वीभत्स रस का अनुभव-जुगुप्सा, या करुण रस का अनुभव शोक का अनुभव नहीं है। "भाव क्षोभ, संरंभ, संवेग, आवेग, उद्वेग, आवेश अंग्रेजी में "इमोशन" का अनुभव

रस नहीं है, किन्तु उस अनुभव का स्मरण, प्रति-संवेदन, आस्वादन रस है।" (रसमीमांसा—डा० भगवानदास)

(३) यह आनन्द चमत्कार-प्राण है। चमत्कार का अर्थ है चित्त का विस्तार अर्थात् विस्मय । विश्वनाथ ने अपने पितामह का अनुसरण करते हुए चमत्कार को अत्यधिक महत्व दिया है, परन्तु फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि विस्मय या चमत्कार का काव्यानन्द में यत्किंचित् योग अवश्य रहता है। सुन्दर वस्तु को देखकर मन मे आनन्द और विस्मय की मिश्र भावना का उद्रेक होता है। सुन्दर प्राकृतिक दृश्य अथवा कला-कृति, उदाहरण के लिये ताजमहल, को देखकर मन में जो भावना उत्पन्न होती है वह केवल आनन्द ही नहीं कही जा सकती उसमें विस्मय का भी अनिवार्य योग रहता है। विदेशके सौंदर्य शास्त्रमें भी सौंदर्य-अनुभूति में विस्मय : Wonder : का तत्व अनिवार्य माना गया है। इसका आशय यही है कि यह अनुभूति स्थूल न होकर सूक्ष्म है, प्रत्यक्षता के अतिरिक्त इसमें बौद्धिकता भी वर्तमान रहती है, कवि की लोकोत्तर सृजन-प्रतिभा के प्रति आदर और विस्मय का भाव भी रहता है, बस। इसके आगे, अद्भुत को ही केवल एक रस मानना या चमत्कार को बौद्धिक व्यायाम अथवा पहेली बुझाना समझ लेना, चमत्कार का अनर्थ करना है। बाद के आचार्यों ने उसे इसी स्थूल अर्थ मे ग्रहण कर पेचीले मज़मूनों के गोरख-धन्धे इकट्ठे कर दिये हैं।

(४) रस न ज्ञाप्य है, न कार्य, न साक्षात् अनुभव है न परोक्ष, न वह निर्विकल्पक ज्ञान है न स-विकल्पक, अतएव किसी लौकिक परिभाषा में आबद्ध न हो सकने के कारण वह अनिर्वचनीय एवं अलौकिक है। ब्रह्मानन्द-सहोदर है: [सवितर्क] ब्रह्मानन्द का सहोदर है, निर्वितर्क समाधि का नहीं। क्योंकि उसमे तो अहंकारमयी वासना का सर्वथा नाश हो जाता है, परन्तु रस मे ऐसा नहीं होता। संक्षेप से आज के मनोवैज्ञानिक के सामने तीन प्रश्न हैं :—

: १ : क्या रस अनिवार्यतः आनन्दमयी चेतना है ?
: २ : क्या रस अनिवार्यतः भावानुभूति से भिन्न है ?
: ३ : क्या यह आनन्द अभौतिक और निराला है ?

आनन्द के विषय मे मनोविज्ञान के दो मत हैं। एक मत यह है कि जीवन की सभी क्रियाओं का लक्ष्य आनन्द प्राप्ति है अर्थात् जीवन की समस्त क्रियायें आनन्दोन्मुख है—यह सम्प्रदाय आनन्दवादी (हेडोनिस्ट)कहलाता है। दूसरे मत के अनुसार ये क्रियाएँ अपने से भिन्न कोई अपर लक्ष्य नहीं रखती, ये अपना लक्ष्य आप ही हैं अर्थात् क्रियाशील होना जीवन का धर्म है जीवन के लिए क्रिया अनिवार्य है। इस सम्प्रदाय का नाम है सार्थकतावादी (होरमिक) इनमे पहला जीवन

को साधन और आनन्द को साध्य मानता है । यह भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुकूल है, दूसरा जीवन को ही जीवन का अंतिम साध्य मानता है, यह वैज्ञानिक वस्तुवाद के अनुकूल है। आजकल अधिकतर मनोवैज्ञानिक इस दूसरे मत को ही स्वीकार करते हैं। वे आनन्द की स्थिति स्वीकार तो करते हैं, परन्तु उसे अनुभूति या भाव की सिद्धि मानते हैं लक्ष्य नहीं, और इस प्रकार काव्य में आनन्द को साध्य होने का गौरव वे नहीं देते—उसकी सत्ता को साधारण रूप मे स्वीकार करते हुए भी अनिवार्य नहीं मानते। उदाहरण के लिए दुःखान्त नाटक का भी आस्वादन आनन्दमय होता है यह वे नहीं मानते। परन्तु वास्तव में इस विवेचन में शाब्दिक सूक्ष्मता के अतिरिक्त कोई विशेष ठोस तथ्य नहीं है। आनन्द को ये लोग हमारी अंतर्वृत्तियों की क्रिया की सफलता मात्र मानते हैं। इनका कहना है कि जब हमारी वृत्तियों का क्रिया सफल होता—है वे तृप्त हो जाती हैं, तो हमें आनन्द की चेतना होती है। परन्तु इस आनन्द का महत्त्व कुछ नहीं है, महत्त्व है क्रिया का और उसकी सफलता का। आगे जब क्रिया के मूल्य का प्रश्न आता है तो इन लोगों का कहना है कि क्रिया का मूल्य वृत्तियों का संकलन और समन्वय से आंका जाना चाहिये—जो क्रिया जितनी अधिक हमारी वृत्तियों को संकलित और समन्वित करेगी उतनी ही मूल्यवान् होगी। काव्य और कला में इस संकलन की अत्यधिक शक्ति है, अतएव वे जीवन की अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि अंतर्वृत्तियों का समन्वय जो उनकी तृप्ति पर अवलम्बित है, आनन्द नहीं है तो क्या है? ये लोग उत्तर देंगे कि उससे आनन्द की प्राप्ति तो होती है, पर वह केवल आनन्द नहीं है आनन्द से भिन्न है, वह एक वास्तविक अनुभूति है। आनन्द उस अनुभूति की सिद्धि मात्र है। लेकिन यह केवल बात को उलझा देना है। यह पूछा जा सकता है कि इस वास्तविक अनुभूति का आनन्द से विभिन्न रूप क्या है?

To read a poem for the sake of the pleasure which will ensue if it is successfully read is to approach it in an inadequate attitude. Obviously it is the poem in which we should be interested, and not in a by-product of having managed successfully to read it
× × × This error, here a legacy in part from the criticism of an age which had a still poorer psychological vocabulary than our own, is one reason why Tragedy for example is so often misapproached.

(Pleasure - Principles of Literary Criticism
by - I. A. Richards, P- 96- 97.)

आप अपनी स्थिति का स्मरण करके देखिये, दोनो में विभेद करना असम्भव है। आनन्द की यह प्रकृति है कि वह अपने साथ किसी दूसरी अनुभूति की स्थिति सहन नहीं कर सकता। अतएव वृत्तियों के संकलन की अनुभूति आनन्द की अनुभूति से अभिन्न ही होगी। इस प्रकार वृत्तियों की पूर्ण संकलित अवस्था में तृप्ति अथवा वृत्तियों के पूर्ण संकलन की अनुभूति अखण्ड आनन्द के अतिरिक्त और क्या हो सकती है? वास्तव मे आनन्द का यह निषेध आनन्द की ही सत्ता का प्रतिपादन करता है। हाँ, स्वस्थ और अस्वस्थ, क्षणिक और स्थायी आनन्द में भेद करता हुआ अन्त में स्वस्थ आनन्द को—जो वास्तविक और जीवन-प्रद है—प्रतिष्ठा यह अवश्य करता है, और इसे मान लेने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? रस को काव्य की आत्मा मानने वाले आलोचक का सबसे समर्थ विरोधी यही सार्थकतावादी सम्प्रदाय है, इससे समझौता हो जाने के बाद कोई विशेष प्रतिरोध नहीं रह जाता। भारतीय दर्शन के भी कुछ सम्प्रदाय हैं जो आनन्द से भी ऊपर 'स्वरूप मे अवस्थान' को ही जीवन का साध्य मानते हैं। परंतु उनसे हमारा कोई विरोध नहीं क्योंकि काव्य जीवन की ही अनुभूति है- उसे निर्वि-तर्क समाधि तक लेजाना हास्यास्पद होगा और जब तक अनुभूति की सत्ता रहती है ये सम्प्रदाय भी आनन्द का तिरस्कार नहीं करते। अन्तर केवल इतना ही है कि ये आनन्द से भी और ऊपर 'स्वरूप मे अवस्थान' की दशा तक जाते है। परन्तु वहाँ तो अनुभूति की सत्ता ही नही रहती, निदान वह काव्य के लिए अप्रासंगिक हैं।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि इस आनन्द का स्वरूप क्या है। इस विषय में पहली स्थिति तो यही है कि रस का आनन्द भाव (Emotion) स भिन्न है, और उसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि कटु भावो द्वारा भी तो रसकी प्राप्ति होती है। शारीरिक रति के आनन्द और शृङ्गार-रस के आनन्द में अभिन्नता का भ्रम हो भी सकता है, परन्तु जुगुप्सा की प्रत्यक्ष अनुभूति और वीभत्स-रस अथवा शोक की प्रत्यक्ष अनुभूति और करुण-रस मे अभिन्नता कैसे हो सकती है। यद्यपि इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इनमें सम्बन्ध अवश्य है—न शृंगार-रस रति की अनुभूति से असम्बद्ध है और न करुण-रस शोक की अनुभूति से—अर्थात् प्रत्येक रस के आनन्द का स्वरूप उसके स्थायी भाव से मूलत: सम्बद्ध है। संस्कृत साहित्य शास्त्र का यह दूसरा दावा (कि रस भाव से पृथक् है) स्पष्टतः प्रामाणिक है और आज के मनो-विज्ञान को उसके विरुद्ध कुछ नहीं कहना। इसके आगे तीसरा और सबसे महत्व-पूर्ण प्रश्न उठता है :—रस भौतिक अनुभूति है या अभौतिक? आत्मा की स्थिति मानकर यदि हम चलें तो अनुभूति को स्थूलतः तीन रूपों मे विभक्त कर सकते हैं:—
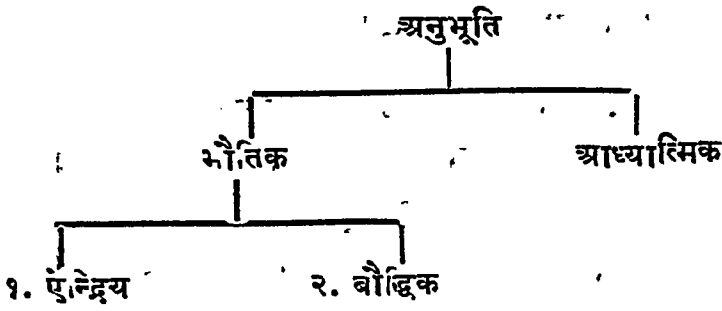
स्पष्ट रूप से, यह विभाजन स्थूल है—आत्यन्तिक नहीं है क्योंकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना आध्यात्मिक अनुभूति के असम्भव है, इसी प्रकार बौद्धिक या अध्यात्मिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से स्वतन्त्र कैसे हो सकती है। अथवा बुद्धि की क्रिया के बिना ऐन्द्रिय या आत्मिक क्रिया मनुष्य में कैसे कृतकार्य हो सकती है। अतएव यह विभाजन अनुभूति में उपर्युक्त किसी एक तत्व की प्रधानता का ही द्योतक है—एकमात्रता का नहीं। उदाहरण के लिए चुम्बन का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द है, गणित के किसी प्रश्न को सुलझा लेने का आनन्द बौद्धिक है, और ब्रह्मके साक्षात्कार अथवा योग का आनन्द आध्यात्मिक। अस्तु,

अब यह देखना है कि काव्यानन्द इनमें से किसके अन्तर्गत आता है या वह किसी के अन्तर्गत ही नहीं आता, स्वतः-सापेक्ष और स्वतन्त्र है? संस्कृत के आचार्य ने तो उसे अलौकिक और अनिर्वचनीय कह कर मुक्ति पा ली है। उसने तो स्पष्ट कह दिया है कि काव्यानन्द न ऐसा है न वैसा अतएव वह अनिर्वचनीय है। परन्तु विदेश में उसके स्वरूप का इतिहास रोचक रहा है। वहां का आद्याचार्य प्लेटो बुद्धि और आत्मा को एक मानता हुआ केवल दो प्रकार की अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार करता था—आध्यात्मिक (बौद्धिक) अनुभूति, ऐन्द्रिय अनुभूति। काव्यानुभूति को उसने स्पष्टतः सौन्दर्यानुभूति (जिसे वह आत्मा का अनुभव मानता था) से पृथक् ऐन्द्रिय अनुभूति मान कर मिथ्या, निम्न कोटि का तथा अस्वस्थ आनन्द माना है। अरस्तू ने उसे सर्वथा मिथ्या तो नहीं माना है, परन्तु ऐन्द्रिय अवश्य माना है और सौन्दर्य से पृथक् रखा है। शताब्दियों तक योरोप में प्लेटो और अरस्तू के मत ही साधारणतः मान्य रहे, परन्तु बाद में रोमन विद्वान् प्लोटीनस ने उनका स्पष्ट खण्डन करते हुए काव्यानुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति घोषित किया।

"The beauty of natural objects is the archetype existing in the soul which is the fountain of all natural beauty. Thus was Plato in error (he said) when he despised arts for imitating nature, for nature herself imitates the idea, and

art also seeks her inspiration directly from those ideas whence nature proceeds.

[Aesthetic : Historical Summary—B. Croce]

इसका सारांश यह है : प्रकृति के सौन्दर्य का उद्गम आत्मा है। अतएव प्लेटो का यह निर्णय भ्रान्त है कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है और प्रकृति स्वयं ज्ञान की अनुकृति है, इसलिए (अनुकृति की अनुकृति होने के कारण) कला मिथ्या और अस्पृहणीय है। कारण यह है कि कला का उद्गम भी वही ज्ञान है जो स्वयं प्रकृति का। इस प्रकार प्लोटिनस ने कला का सौन्दर्य के साथ तादात्म्य करते हुए, उसे आध्यात्मिक अनुभूति का गौरव प्रदान किया और फिर इसी को हीगेल आदि आदर्शवादी दार्शनिकों ने वैधानिक रूप देकर एक स्थिर सिद्धान्त बना दिया। पीछे के दार्शनिक कला को अपने स्वभाव के अनुसार साधारणतः आध्यात्मिक या ऐन्द्रिय मानते रहे और बहुत समय तक इन्हीं दो मतों का आवर्तन होता रहा। अठारहवीं शताब्दी मे एडीसन ने काव्यानन्द को कल्पना का आनन्द मानते हुए, उसे इन दोनो से पृथक् रूप मे सामने रखा। उनके अनुसार कल्पना का आनन्द वह आनन्द है, जो वस्तु के मूलरूप और कला द्वारा अनुकृत रूप के बीच मिलने वाले साम्य के भावन से प्राप्त होता है। साम्य के भावन द्वारा प्राप्त यह कल्पना का आनन्द प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक अथवा बौद्धिक आनन्द और ऐन्द्रिय आनन्द दोनों से भिन्न है। वास्तव मे इसमें भारतीय रस का थोडा सा आभास मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी मे रोमान्टिक भाव-स्वातन्त्र्य का प्रभाव इतना अधिक बढा कि बुद्धि की उपेक्षा कर काव्यानन्द का स्वरूप एक साथ अनस्थिर हो गया, प्रत्यक्ष जीवन से काव्य का स्पर्श इतना कम हो गया कि धीरे धीरे लोग काव्यानुभूति को एक निरपेक्ष अनुभूति मानने लगे, जिसकी कि स्पष्ट प्रतिध्वनि बीसवीं शताब्दी के पहले चरण में ब्रैडले और क्लाइव बैल आदि मे निश्चित रूप से सुनाई पडी। इनके अनुसार काव्यानन्द एक विशिष्ट और अनुपम आनन्द है जो लौकिक अनुभूतियो का विवेचन करने वाली किसी भी शब्दावली द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इस प्रकार इनका मत भारतीय आचार्यों से मिल जाता है। कुछ ऐसी ही परिस्थितियो मे अभिव्यंजनावाद का उदय हुआ और प्रसिद्ध दार्शनिक बैनेडेटो क्रोचे ने बुद्धि की परिधि के बाहर और इन्द्रियों की परिधि के भीतर-मानव प्राण-चेतना मे, सहजानुभूति की एक पृथक् शक्ति मानते हुए काव्य या कला को इसी शक्ति का गुण माना। इनके सिद्धान्त के अनुसार काव्यानुभूति बौद्धिक अनुभूति और ऐन्द्रिय अनुभूति की मध्यवर्ती एक पृथक् अनुभूति—सहजानुभूति है, जिसका निर्माण बौद्धिक धारणाओ (Concepts) अथवा ऐन्द्रिय संवेदनों (Sensations) से न होकर बिम्बो से होता है। क्रोचे का यह मत कलावादियों

के मत का वैज्ञानिक या वैधानिक रूप है। इस प्रकार संक्षेप में स्वदेश विदेश के साहित्य-शास्त्र मे काव्यानुभूति अथवा काव्यानन्द-विषयक पांच सिद्धांत मिलते हैं।

१. काव्य का आनन्द प्रत्यक्षतः ऐन्द्रिय आनन्द है। इस मत का प्रवर्तन किया प्लेटो ने और आधुनिक युग मे परिपोषण किया ड्यू बाय ने। इसके अनुसार काव्य या कला से प्राप्त आनन्द ठीक वैसा ही है जैसा सरकस से मिलता है।

२. काव्य का आनन्द आत्मिक आनन्द है। आत्मा सहज सौंदर्य-रूप है सहज आनन्द-रूप है। काव्य उसी का उच्छलन है अतः वह स्वभावतः आध्यात्मिक अनुभूति है। स्वदेश विदेश के आदर्शवादी आचार्य इसी मत को सत्य मानते हैं, हीगेल, और रवीन्द्रनाथ का यही मत है।

३. काव्यानन्द कल्पना का आनन्द है अर्थात् मूल वस्तु और उसके काव्यांकित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द है। यह एडीसन का मत है।

४. काव्यानन्द सहजानुभूति का आनन्द है। इस मत के प्रवर्त्तक हैं क्रोचे।

५. काव्यानन्द सभी प्रकार के लौकिक आनन्दों से भिन्न एक अनुपम और विचित्र आनन्द है जो स्वतः-सापेक्ष है। यह काफ़ी पुराना सिद्धांत है। विदेश में इसका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ और इस युग में डा० ब्रैडले*द्वारा इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा हुई।

---

*1. "First this experience is an and in it-self, is worth having on its own account, has an intrisic value. Next, its poetic value is this intrinsic worth alone......For its nature is to be not a part, nor yet a copy of the real world as we commonly understand that phrase but to be a world by itself, independent, complete, autonomous".

(A. C. Bradley, Oxford Lectures on Poetry p. 5)

2. "Thus Mr. Clive Bell used to maintain the existence of an unique emotion—aesthetic emotion."
(Richards I. A., Principles of Litetery Criticism)

3. "To appreciate a work of art we need bring with us noting from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions."......and to not forget that a knowledge of life can help no one to our understanding.

(Clive Bell, Art p. 75)

उपर्युक्त सभी मत अपना अपना महत्व रखते हुए भी मनोविज्ञान की कसौटी पर पूरे नही उतरते और इसी कारण आज के विद्यार्थी का पूर्ण परितोष करने में असमर्थ रहते हैं। काव्य की अनुभूति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय अनुभूति (direct perception) नहीं है, यह पहले ही प्रमाणित किया जा चुका है क्योंकि ऐसा मान लेने पर शोक, जुगुप्सा आदि की अभिव्यंजना से प्राप्त अनुभूति शोक और जुगुप्सा-मय ही होगी, जो कि स्पष्टतः असत्य है। काव्य की अनुभूति को आध्यात्मिक अनुभूति मानना भी आज स्वीकार्य नहीं क्योंकि एक तो आत्मा की सत्ता ही सहज-मान्य नहीं है, दूसरे काव्यानन्द मे चपलता आदि की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि उसे आत्मा के शुद्ध,अचंचल आनन्द का रूप मान लेना हास्यास्पद होगा। एडीसन का कल्पना का आनन्द आत्यन्तिक तथ्य नहीं है क्योंकि कल्पना मन (सूक्ष्मेन्द्रिय) और बुद्धि की क्रिया-मात्र है, स्वतंत्र सत्ता नहीं। अतएव कल्पना का आनन्द ऐन्द्रिय और बौद्धिक आनंद से स्वतंत्र नहीं है। इसी प्रकार क्रोचे द्वारा प्रतिष्ठित सहजानुभूति की शक्ति : Intuition : को भी स्वतंत्र शक्ति मान लेने के लिये मनोविज्ञान आज तैयार नहीं है। मनोवैज्ञानिकों ने एक स्वर से कह दिया है कि इस विचित्र शक्ति के लिये मनोविज्ञान मे कोई पृथक् स्थान नही है। अंत में काव्यानभूति को अनिर्वचनीय कहना या उसको एक विचित्र और स्वतः-सापेक्ष अनुभूति मानना समस्या को सुलझाना नहीं, उससे भागना है। इस विषय में अनेक युक्तियां दी जा सकती हैं, परन्तु सबसे सीधा और प्रबल तर्क रिचर्ड्स का है। वे कहते हैं कि जब सौंदर्य की अनुभूति के लिए हमारे पास कोई विशिष्ट या पृथक् इन्द्रिय नहीं है, तो उस अनुभूति को ही विशिष्ट या पृथक् कैसे माना जा सकता है। उसका अनुभव साधारण इंद्रियों द्वारा ही तो होता है। इसलिए उसे साधारणतः ऐन्द्रिय अनुभूति से भिन्न कैसे मानें ? अतएव मनोविज्ञान की परिधि के भीतर ही अर्थात बौद्धिक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों के अंतर्गत ही काव्यानुभूति का स्वरूप निर्णीत करना होगा। हम देखते है कि काव्यानुभूति मे चित्त की द्रुति, विस्तार आदि मानसिक संवेदन तो होते ही है—रोमांच, अश्रु आदि शारीरिक संवेदन भी प्रायः अनुभूत होते हैं, अतएव काव्यानुभूति मे ऐन्द्रिय अनुभूति का अंश अवश्य मानना होगा। यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, इसमें न भारतीय आचार्य ने और न विदेश के दार्शनिक ने ही कभी संदेह किया है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि प्रत्यक्ष रूप मे अपने प्रियजन का स्पर्श कर चित्त मे द्रुति और शरीर मे रोमांच का जो अनुभव होता है वह उस अनुभव से स्पष्टतः भिन्न है जो रंगमंच पर इसी प्रकार के प्रसंग को देखकर अथवा उससे भी किंचित् भिन्न नाटक मे पढकर प्राप्त होता है। चित्त मे द्रुति और शरीर मे रोमांच इस समय भी होता है,

पर वह पहले से भिन्न होता है। कैसा होता है ? स्पष्टतः उतना प्रत्यक्ष, अतएव उतना तीव्र नहीं होता। दोनों में भिन्नता तो अवश्य है पर यह भिन्नता प्रत्यक्षता, एवं तीव्रता की मात्रा की भिन्नता होती है। यह दूसरी अनुभूति अपेक्षाकृत अप्रत्यक्ष और मंद है। और इस अपेक्षाकृत अप्रत्यक्षता का कारण यह है कि यह [काव्य का] अनुभव प्रत्यक्ष घटना का अनुभव नही है, भावित [Contemplated] घटना का अनुभव है। भावन करने में पहले कवि को, फिर दर्शक या पाठक को बुद्धि का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। अतः परिणाम यह निकला कि काव्यानुभूति है तो ऐन्द्रिय अनुभूति ही, परन्तु साधारण नहीं है, भावित अनुभूति है। अर्थात् उसमें ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्वों का लवण-नीर-संयोग है। अब, एक शब्द रह गया अनुभूति, जो व्याख्या की अपेक्षा करता है। अनुभूति का विश्लेषण करने पर हमारे हाथ मे केवल संवेदन [sensations] रह जाते हैं। जिनको वास्तव में हम अपने मनोजगत् के अणु परमाणु कह सकते हैं शारीरिक रूप में यह प्रत्यक्ष और स्थूल होते हैं मानसिक रूप मे ये सूक्ष्म और बिम्ब-रूप होते हैं, और बौद्धिक रूप तक पहुँचते पहुँचते इतने सूक्ष्म हो जाते हैं, अर्थात् इनके बिम्ब भी इतने सूक्ष्म हो जाते हैं कि वे लगभग अरूप ही से लगते हैं। उनका रूप नहीं केवल अन्विति-सूत्र ही रह जाता है : जैसे बहुत बारीक जंजीर की कड़ियाँ नहीं दिखाई पडती केवल सूत्र ही दिखाई पड़ता है। इस प्रकार वास्तव में अनुभूति अपने सभी रूपो में मूलतः संवेदन-रूप ही है उसमें [शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सभी रूपों मे] केवल प्रत्यक्षता की मात्रा का ही अंतर है मूलगत प्रकार का नहीं। अतः काव्य की अनुभूति या आनन्द भी संवेदन रूप ही है परन्तु ये संवेदन स्थूल और प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म और बिम्ब-रूप होते है। साधारण रूप मे प्रत्यक्षता और तीव्रता की मात्रा के विचार से हम क्रमशः तीन प्रकार के संवेदनों की कल्पना कर सकते हैं। १. एक तो शुद्ध प्राकृतिक संवेदन [ये एकांत प्रत्यक्ष तथा स्थूल होते हैं]जो, उदाहरण के लिए, हमें अपने प्रियजन के प्रत्यक्ष स्पर्श आदि से प्राप्त होते हैं। २. दूसरे वे संवेदन जो उस स्पर्श के स्मरण से प्राप्त होते हैं—ये मानो पहले प्रकार के संवेदनों के बिम्ब रूप हैं। स्वभावतः ही ये प्रत्यक्ष अथवा स्थूल कम, और आंतरिक अथवा सूक्ष्म अधिक होते हैं। ३. तीसरे वे संवेदन जो इस स्मृति के विश्लेषण या बौद्धिक अध्ययन आदि से प्राप्त होते है। ये मानो बिम्ब के भी प्रतिबिम्ब हैं और स्वभाव से ही अत्यन्त आंतरिक एवं सूक्ष्म होते हैं। वास्तव मे इनका स्थूल शारीरिक अंश प्रायः नष्ट ही होजाता है। इन्हें हम बौद्धिक संवेदन कह सकते हैं। सभी प्रकार की बौद्धिक क्रियाओं में हमें इसी प्रकार के सवेदन प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्ष जीवन मे

प्रायः ये ही तीन प्रकार के संवेदन हमारे अनुभव में आते हैं। परन्तु पिछले दो प्रकार के संवेदनो के बीच एक चौथे प्रकार के संवेदन भी होते हैं जो स्मृति के भावन से) क्रोचे के शब्दो में उसकी सहजानुभूति से और साधारण व्यावहारिक शब्दावली में उसको काव्य रूप मे उपस्थित या ग्रहण करने से) प्राप्त होते है। यह भावन का अनुभव न तो स्मृति का प्रत्यक्ष अनुभव होता हैं और न उसके विश्लेषण आदि का बौद्धिक अनुभव, स्मृति के अनुभव की अपेक्षा यह अधिक सूक्ष्म और बौद्धिक अनुभव की अपेक्षा अधिक स्थूल होता है, और उसी के अनुपात से उसके संवेदन भी एक की अपेक्षा सूक्ष्म और दूसरे की अपेक्षा स्थूल होते है। इस प्रकार काव्य से प्राप्त संवेदनो की स्थिति प्रत्यक्ष मानसिक संवेदनों से सूक्ष्मतर और बौद्धिक संवेदनों से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष एवं स्थूल ठहरती है। इसीलिए तो काव्यानुभूति में एक ओर ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता (ऐन्द्रियता और कटुता) नहीं होती और दूसरी ओर बौद्धिक अनुभूतिकी अरूपता नहीं होती, और इसलिए वह पहले से अधिक शुद्ध : परिष्कृत और दूसरी से अधिक सरस होती है। यहाँ यह शंका एक बार फिर उठती है कि यदि काव्यानुभूति संवेदनो से ही निर्मित है तो कटु संवेदनो के काव्य रूप की अनुभूति मधुर क्यों होती है ! इसका समाधान करने से पूर्व कटु संवेदन और मधुर संवेदन की परिभाषा करना उचित होगा। वास्तव में संवेदन न अपने आप में कटु है और न मधुर, कटुता और माधुर्य तो अनुभूति का गुण है। अनुभूति मे एक पृथ संवेदन नहीं होता, संवेदनो का एक विधान होता है। जब संवेदनो में सामंजस्य और अन्विति स्थापित हो जाती है, तो हमारी अनुभूति मधुर होती है और जब ये विशृंखल और विकीर्ण होते है तो अनुभूति कटु होती है। जैसा मैंने अभी कहा—काव्य से प्राप्त संवेदन प्रत्यक्ष न होकर सूक्ष्म बिम्ब-रूप होते हैं। एक तो इसी कारण उनकी कटुता अत्यंत क्षीण हो जाती है, दूसरे वे कवि द्वारा भावित होते हैं इसलिए अनिवार्यतः उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है क्योंकि काव्य के भावन का अर्थही अव्यवस्था मे व्यवस्था स्थापित करना है—और अव्यवस्था मे व्यवस्था ही आनन्द है। इस प्रकार जीवन के कटु अनुभव भी काव्य मे, अपने तत्वरूप संवेदनों के समन्वित हो जाने से आनन्दप्रद बन जाते हैं।

भाव का विवेचन

भाव की परिभाषा :—संस्कृत मे भाव का अर्थ है स्थिति—

साधारण रूप मे हम कह सकते हैं कि "वाह्य जगत् के संवेदनो से मनुष्य के हृदय में जो विकार उठते है—वे ही मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते है।" आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने भाव या मनोविकार का वर्णन करते हुए लिखा—है❋[1] "(स्थूलत: यह कहा जा सकता है कि) विशेष वाह्य स्थितियो के संवेदन - अथवा स्मृति एवं कल्पना के स्वतन्त्र विचारो द्वारा जागृत मनोदशा ही भाव है—जिसके दो प्रधान गुण हैं, अनुभूति और प्रयत्न।" और स्पष्ट शब्दो मे डा० मैकडूगल के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हमारी किसी स्वाभाविक वृत्ति के जागृत होते ही—उस वृत्ति की अनुकूल पेशियों और स्नायुओं मे ओज का संचरण होने लगता है। ओज संचरण की यह अवस्था उत्तेजना की अवस्था होती है, और प्रत्येक परिस्थिति में इस उत्तेजना मे एक ऐसी विशिष्टता वर्तमान रहती है जिसके कारण हम उसे भय, क्रोध, घृणा आदि का पृथक नाम दे सकते हैं। 'यहाँ स्वाभाविक वृत्ति की जागृति' और 'उत्तेजना में निहित विशिष्टता, दोनो भाव के मानसिक रूप का वर्णन करते हैं, और 'स्नायु एवं पेशियो मे ओज का संचरण' उसके शारीरिक रूप का द्योतन। इन मानसिक और शारीरिक रूपों के अतिरिक्त भाव के लिए कुछ स्थितियाँ भी अनिवार्य हैं—

---

(१)··· We must be satisfied with the merely provisional description of an emotion as a state of mind characterized predominantly by feeling and activity, aroused by the perception of certain specific objective conditions or specific free ideas of memory and imagination.

(Elements of Psychology—Mellone and Drummond)

[१] भाव के विषय की सत्ता अवश्य होगी—क्योंकि भाव वास्तव में व्यक्ति की वस्तु—अर्थात् विषयी की विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया होती है।

[२] भाव का सुखात्मक अथवा दुःखात्मक आस्वादन निश्चय रूप में होगा।

[३] इस मानसिक प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप कुछ प्रयत्न भी अनिवार्य्यतः होगा।

[४] भाव की शारीरिक अभिव्यक्ति अवश्य होगी अर्थात् स्नायु और पेशियों के परिवर्तन स्वरूप शरीर में विकार अवश्य उत्पन्न होंगे।

[५] किसी एक भाव की स्थिति निरपेक्ष नहीं रह पायेगी—इसमें अनेक विकार उत्पन्न होते रहेंगे।

मनोविज्ञान के पण्डितों मे भाव के मानसिक और शारीरिक रूप के पूर्वापर कार्यक्रम को लेकर बहुत कुछ विवाद चला है। जेम्स, मैक्डूगल आदि का कहना है कि भाव का मानसिक रूप शारीरिक रूप का परिणाम है—स्टाउट आदि का विचार है कि ऐसा शारीरिक संवेदनों के लिए तो अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु सभी भावों के विषय मे यह क्रम नहीं माना जा सकता—उनके मत मे प्रायः इसका विपरीत क्रम ही स्वीकार्य्य है। हम इस विचार मे न पडकर यही कह सकते हैं, कि भारतीय दर्शन मे यह दूसरा मत ही ग्रहण किया गया है। चेतना की पृथक सत्ता स्वीकार करने वाले के लिए यही मत ग्राह्य हो सकता है।

स्थायी और संचारी का अन्तर—
मनोवृत्ति और मनोविकार का अन्तर— } —संस्कृत साहित्य-शास्त्र का आचार्य भाव को सिद्ध मानकर चला है—अतएव उसने प्रकृत भाव❀[२] की परिभाषा नहीं की। उसने या तो 'स्थायी' और 'संचारी भाव' की परिभाषा की है, या फिर रस की अपरिपक्व दशा के अर्थ मे पारिभाषिक 'भाव' का विवेचन किया है। स्थायी भाव की परिभाषा करते हुए साहित्य-दर्पणकार ने लिखा है—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः,
आस्वादांकुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।

अर्थात् अविरुद्ध और विरुद्ध भाव—जिसको न छिपा सकें, जो आस्वादन अंकुर का मूल हो वही भाव स्थायी भाव कहलाता है। इसके विपरीत—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः।

❀Emotion

स्थिरता से विद्यमान रत्यादि स्थायी भाव में उन्मग्न, निर्मग्न अर्थात् आविर्भूत तिरोभूत होने वाले (स्थायी-भाव रूपी जल मे तरंगों की भांति संचरण करने वाले) भाव संचारी कहलाते है। उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि स्थायी भाव स्थिर होते है, संचारी अस्थिर। स्थायी भाव एक स्थिर मनोदशा है, और संचारी एक संचरणशील मनोविकार है। यह अन्तर बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा मनोविज्ञान के 'मनोवृत्ति' (Sentiment) और 'मनोविकार' (Emotion) के बीच पाया जाता है। मनोवृत्ति एक स्थिर मनोदशा–एक दृष्टिकोण है; मनोविकार एक अस्थिर संचरणशील विकार मात्र है। *"मनोविकार एक संचरण-शील अनुभव है। मनोवृत्ति एक स्थिर वृत्ति है जिसका कि अनेक मनोविकारो और मानसिक क्रियाओं द्वारा क्रमशः निर्माण होता है। मनोवृत्ति एक प्रकार का मानसिक संस्थान है, अथवा उसका एक अंश है…।" संक्षेपत: मनोविकार और मनोवृत्ति में दो मुख्य अंतर हैं—

(१) मनोविकार अस्थिर अनुभव होता है, मनोवृत्ति अपेक्षाकृत स्थिर।

(२) मनोविकार स्वभाव, वृत्ति या आत्रा (Instinct) से सम्बद्ध है; मनोवृत्ति विचार (Idea) से; अर्थात् उसमें बौद्धिक तत्व भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है।

संस्कृत का संचारी भाव तो स्पष्टतः मनोविज्ञान का मनोविकार है। यहाँ हम संचारी की परिधि में रति, शोक, हास्य, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद की भी गणना कर रहे हैं क्योंकि ये भाव भी तो सर्वदा स्थायी न होकर समय समय पर संचारी के रूप मे सामने आते हैं।

स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति :—अब प्रश्न रह जाता है स्थायी भाव का। स्थायी भाव की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है ? संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अनुसार स्थायी भाव की विशेषतायें हैं—

(१) स्थायी भाव (अपेक्षाकृत) स्थिर है।

(२) स्थायी भाव अपेक्षाकृत पुष्ट है।

(३) और इसीलिए वही रस दशा को प्राप्त हो सकता है, 'चारी नही।

Emotion is a fleeting experience ; Sentiment s an aquired disposition, one gradually built up through many emotional experiences and activities ; it is an organization (or a part of total organization)............... !

[बयालिस भावों में से ये विशेषतायें केवल नौ में ही हैं और इसी लिए शेष तेंतीस से उनको पृथक् कर स्थायी भाव का गौरव प्रदान कर दिया गया है।]

मनोविज्ञान में मनोविकार या भाव के केवल तीन रूप ही माने गये हैं—

(१) मौलिक मनोविकार (Primary Emotion) जो स्वतन्त्र, अमिश्र और एक होता है, जैसे भय।

(२) व्युत्पन्न मनोविकार (Derived Emotion) जो स्वतन्त्र न होकर किसी अन्य मनोविकार के आश्रित रहता है, जैसे आशंका।

(३) मनोवृत्ति (Sentiment) जो मनोविकारों के मिश्रण, उनकी पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्व के समावेश द्वारा निर्मित एक स्थिर मनोदशा है, जैसे—वत्सल्य।

अब आप देखें कि स्थायी भाव को हम एक साथ ही शुद्ध मौलिक मनोविकार नहीं कह सकते। उदाहरण के लिये निर्वेद या शम् शुद्ध मनोविकार नहीं है। एक से अधिक मनोविकारों का सम्मिश्रण और बौद्धिक तत्व का प्राधान्य होने के कारण वह एक व्यवस्थित मनोदशा ही है। अद्भुत रस का स्थायी विस्मय भी स्पष्टतः ही एक मिश्र भाव है। व्युत्पन्न मनोविकार का भी प्रश्न नहीं उठता क्योंकि इनमें से सभी व्युत्पन्न नहीं है। भय, क्रोध, आदि स्पष्टतः ही मौलिक हैं। अब रह जाती है मनोवृत्ति—तो स्थूलतः स्थायी भाव मनोवृत्ति के बहुत कुछ समरूप होता हुआ भी अन्ततः उससे भिन्न है :—

समता—[१] मनोवृत्ति की भाँति स्थायी भाव भी अन्य (संचारी) भावों की अपेक्षा स्थायी होता है।

[२] मनोवृत्ति की ही भाँति स्थायी भाव एक मनोदशा है, जिसमें अन्य भाव संचरण करते रहते हैं।

विषमता—परन्तु दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी हैं—

[१] मनोवृत्ति एक व्याप्त मनःस्थिति मात्र है, जिसके समग्र रूप का अनुभव कभी नहीं हो सकता। मनोवृत्ति के संचारी का ही आस्वादन हो सकता है मनोवृत्ति स्वयं का नहीं। उदाहरण के लिए देशभक्ति का आस्वादन कभी नहीं होता, उसके आश्रित या संचारी भाव उत्साह आदि का ही होता है, परन्तु स्थायी के विषय में यह बात नहीं है, उसका संचारी ही नहीं वह स्वयं भी समग्रतः

आस्वाद्य है। क्लैव्य मनोविकार का कारण है स्वयं मनोविकार नहीं है, परन्तु भय स्वयं ही मनोविकार है।

[२] मनोवृत्ति सदैव ही मनोविकार की आवृत्ति से बन जाती है, परन्तु स्थायी भाव के विषय में यह सत्य नहीं है। हर्ष की आवृत्ति करते रहिये, पर वह रति नहीं बन पायेगा।

[३] मनोवृत्ति सदैव विचार-मूलक है, परन्तु स्थायी भाव (शम को छोड़कर) विचार-मूलक नहीं—प्रवृत्ति-मूलक ही है।

इस प्रकार स्वीकृत रूप मे तो साहित्य-शास्त्र के स्थायी भाव का स्वरूप और विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की परिभाषाओं मे पूरी तरह नही घट पाता, परन्तु फिर भी वह अमनोवैज्ञानिक नहीं है। उसकी भी अपनी संगति है। आरम्भ मे शायद उपलब्ध साहित्य के पर्यालोचन द्वारा उद्‌गमन की विधि से स्थायी-संचारी का वर्गीकरण हुआ हो, परन्तु बाद में आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति को बचा कर इन्हीं की व्यापकता सिद्ध करते हुए अपने वर्गीकरण को निर्दोष बनाने का सर्वथा स्तुत्य प्रयत्न किया है। उनकी स्थापना आज इस रूप में सामने रखी जा सकती है –

[१] मानव हृदय में उठने वाली तरंगों के योग से जो विभिन्न मनोविकार बनते हैं उनकी संख्या बयालिस ठहरती है। ये मनोविकार शुद्ध, मिश्र, व्युत्पन्न, मन्द, तीव्र, अस्थायी, स्थायी सभी प्रकार के है। इनमें से केवल रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद ये नौ मनोविकार ऐसे हैं जो औरों की अपेक्षा अधिक स्थायी, अधिक प्रभावशाली और पुष्ट होने के कारण रस-परिपाक के योग्य है, अतएव इनको विशेष महत्व दिया गया है और पारिभाषिक-शब्दावली में स्थायी की संज्ञा दे दी गई है।

[२] इस प्रकार के अर्थात् रस में परिणत होने योग्य भाव केवल नौ ही हैं— अन्य भाव या तो इन्हीं के अन्तर्भूत हो जाते हैं, जैसे दान-शीलता, धर्म-प्रेम आदि भाव उत्साह के अन्तर्गत आ जाते हैं [आज के गाँधी की अहिंसा और जवाहरलाल की देशभक्ति, भगतसिंह का आतंकवाद तथा राहुल संकृत्यायन की साम्यवाद के प्रति निष्ठा भी स्पष्टतः उत्साह के ही अंतर्गत आ जायेंगे]; और या फिर रस दशा तक पहुँचने में असमर्थ रहने के कारण स्थायीपद के अधिकारी नही बन पाते—उदाहरण के लिए [शास्त्र के अनुसार] 'वात्सल्य' या देवादि-विषयक रति भाव ही हैं—'स्थायी भाव' नहीं हैं।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं—

[१] क्या स्थायी और संचारी का यह भेद मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित है ?

[२] क्या स्थायियों की संख्या नौ ही हो सकती है और संचारियों की तेंतीस ही ? पहले प्रश्न का उत्तर तो उपर्युक्त विवेचन में ही दिया जा चुका है कि मनोविज्ञान में इस प्रकार का वर्ग-विभाजन नहीं मिलता। वहाँ तो दो ही प्रकार का वर्गीकरण स्वीकृत है। एक मौलिक [शुद्ध] और व्युत्पन्न मनोविकार का; दूसरा मनोविकार और मनोवृत्ति का। स्थायित्व, तीव्रता और प्रभाव के आधार पर मनोविज्ञान वर्गीकरण नही करता।

मनोविज्ञान विज्ञान है जो उपयोगी और अनुपयोगी, सुन्दर और असुन्दर, साधु और असाधु, तीव्र और मन्द के आधार पर वर्गीकरण नहीं करता। परन्तु फिर भी जीवन मे इस प्रकार का भेद और विभाजन तो है ही—और रहेगा भी। विज्ञान इस पचड़े में नहीं पडता क्योकि यह-सब उसकी परिधि से बाहर है; परन्तु जब जीवनगत उपयोग का प्रश्न आता है, तो इसका निषेध कैसे किया जा सकता है ? इसी प्रकार भाव क्षेत्र में भी एक भाव दूसरे की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और कोमल है—अथवा तीव्र एवं स्थायी है—अथवा अधिक प्रभावशाली है, यह मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिये। मनोविज्ञान इसका विवेचन नहीं करता, परन्तु साहित्य के लिए जिसका सम्बन्ध भाव के जीवनगत उपयोग से है इस प्रकार का वर्गीकरण सर्वथा स्वाभाविक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नैतिक-मूल्य के आधार पर स्थायी भावों का औचित्य-विधान किया है। वह भी एक दृष्टिकोण है, परन्तु जीवन के अधिक व्यापक दृष्टिकोण से भी इसका समाधान किया जा सकता है। उदाहरण के लिए चिंता की अपेक्षा शोक अधिक तीव्र है—चिंता का तीव्रतम चित्रण शोक के तीव्रतम चित्रण की अपेक्षा क्षीण ही रहेगा। इसी प्रकार चिंता की अपेक्षा शोक में स्थायित्व भी स्पष्टत: अधिक है-शोक में चिंता निमग्न हो जाती है, परन्तु चिंता में शोक निमग्न नहीं हो सकता। चिंता की अपेक्षा शोक वास्तव में अधिक व्यापक है ही। जो भाव अधिक तीव्र, अधिक स्थायी और अधिक व्यापक है, वह निश्चय ही अधिक प्रभावशाली भी होगा। यही गर्व और उत्साह, शंका और भय अथवा इसी प्रकार के अन्य भावों के विषय में भी कहा जा सकता है।

संक्षेप मे यद्यपि आधुनिक मनोविज्ञान मे इस प्रकार का विभाजन नहीं मिलता, परन्तु फिर भी हम इसे मिथ्या एवं अमनोवैज्ञानिक नहीं कह सकते। स्थायी भाव की स्थिति वास्तवमें जीवनके उन तीव्र और व्यापक मनोविकारोंकी

है,जो मानव-स्वभाव के मूल अंग हैं, पाश्चात्य दर्शन मे जिन्हे साधारणतःमौलिक मनोवेग [Elemental Passions] कहा गया है। इन मनोवेगोंका सीधा संबन्ध मानव-आत्मा के मूलभूत गुण राग-द्वेष से है। आत्मा की प्राथमिक अभिव्यक्ति है अस्मिता—अहंकार जिसे आज के मनोविश्लेषण ने अह [ego] या आत्माभिव्क्ति [self-assertion] के रूप मे निर्विरोध स्वीकार कर लिया है। अहंकार की अभिव्यक्ति की दो सरणियां हैं राग और द्वेष—जो मानव-जीवन के दो मौलिक अनुभवों—सुख और दुःख के वैज्ञानिक पर्याय-मात्र हैं—'सुखात् रागः, दुःखात् द्वेषः।' आधुनिक मनोविश्लेषण-शास्त्र मे इन्हें ही प्रेम करने की प्रवृत्ति [Libido] और नाश करने की प्रवृत्ति [Thanatos] कहा गया है। और गहरे में जाएँ तो फ्रायड का 'काम' मूलतः राग ही है, और आडलर का 'हीन भाव' द्वेष। आधुनिक मनोविश्लेषकों के इस विषय में तीन मत हैं-एक फ्रायड का—जो काम को जीवन की मूल वृत्ति मानता है, दूसरा आडलर का जो हीन-भाव या क्षतिपूर्ति को लेकर चलता है, और तीसरा युंग का जो इन दोनों को जीवनेच्छा [या स्वत्व-रक्षा]—हमारे शब्दो में अस्मिता के पोषण की—शाखाएँ मानता हुआ उसी को मूल मानता है। आज यही सिद्धांत सामान्यतः स्वीकृत है।

उत्तम, सम और अधम के आधार पर राग प्रश्रय, प्रेम और करुणा का रूप धारण कर लेता है, और द्वेष भय, क्रोध और घृणा का। इस प्रकार भाव-जगत का विस्तार होता जाता है। जैसा कि डा० भगवानदास ने अत्यन्त मौलिक ढङ्ग से प्रदर्शित किया है, संस्कृत-साहित्य के सभी स्थायी भावों का इन्हीं मूलभावो के अन्तर्गत समाहार हो जाता है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणतः अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आजाते है,—और शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा अस्मिता के अपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत,—निर्वेद मे इन दोनों का सामञ्जस्य हो जाता है। उसमे अस्मिता की समरसता की अवस्था होती है। पहले चार भाव मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति हैं, दूसरे कटु होने के कारण दुःख की। निर्वेद में दोनों का समन्वय है। कहने की आवश्यकता नही कि यह विभाजन आत्यन्तिक नही है—तत्वत: तो कोई भी प्रवृत्ति न तो शुद्ध राग हो सकती है और न अमिश्रित द्वेष। वास्तव में जैसा कि मनो-विश्लेषक कहता है राग और द्वेष [Libido and Thanatos] के संघर्ष से ही हमारा मानसिक जीवन [Psychic Life] संचालित है। इसीलिए यदि उत्साह के युयुत्सा रूप में आपको द्वेष का अंश मिले—या शोक में राग का, तो चौंकना नहीं चाहिये; यों तो स्वयं रति भी शुद्ध राग नहीं है।

रसों और भावों की संख्या—अब दूसरे प्रश्न को लीजिये। यह मान

लेने पर कि स्थायी भावों की स्थिति जीवन के मूल मनोवेगों [Elemental Passions] की स्थिति से अभिन्न है—और इस प्रकार के विभाजन का एक सूक्ष्म आधार भी है ही जो अमनोवैज्ञानिक नहीं है, एक और प्रश्न उठता है :—क्या जीवन के मूल मनोवेग नौ ही हैं—अर्थात् क्या मनोभावों की संख्या नौ ही है—कम-अधिक नही ? यह प्रश्न संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे अनेक बार उठा है—स्थायी भावो को बढाने-घटाने का प्रयत्न हुआ है, उनकी प्रधानता-अप्रधानता का विवेचन हुआ है—उन सभी को केवल एक मूल स्थायीभाव के अंतर्भूत करने की भी चेष्टा की गई है, परन्तु अन्त मे परिणाम यही निकला है कि स्थायी भावों की संख्या नौ ही है और नौ ही होनी चाहिये। भरत ने मूलतः आठ ही रस और तदनुसार आठ ही स्थायी भाव माने हैं; उनमें भी शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स तदनुसार रति, उत्साह, क्रोध, और जुगुप्सा को प्रधान और मौलिक माना है; और हास्य, करुण, भयानक तथा अद्भुत तदनुसार हास शोक, भय तथा विस्मय को गौण एवं व्युत्पन्न माना है। उन्होंने—

शृंगार से हास्य—तदनुसार रति से हास,
वीर से अद्भुत — ,, उत्साह से विस्मय,
रौद्र से करुण — ,, क्रोध से शोक,
वीभत्स से भयानक— ,, जुगुप्सा से भय

की उत्पत्ति मानी है, परन्तु परवर्ती आचार्यों ने उसे स्वीकृत नहीं किया। बाद में 'शान्तोऽपि नवमो रसः' कहकर शांत भी जोड दिया गया। पहले पण्डितों का मत था कि शात की उद्भावना रुद्रट ने की, परन्तु आज प्रायः अभिनव के आधार पर भरत को ही इसका भी श्रेय दिया जाता है। इसके उपरांत रसो और स्थायी भावों की संख्या को बढाने के अनेक प्रयत्न हुए जिनमें सबसे महत्वपूर्ण दो हैं—

[१] विश्वनाथ द्वारा वत्सल रस और वात्सल्य स्थायी की प्रतिष्ठा।

[२] भक्त आचार्यों विशेषकर रूपगोस्वामी द्वारा भक्तिरस और भगवत-रति स्थायी की प्रतिष्ठा।

परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ और उनके बाद के आचार्यों ने इन उद्भावनाओ का निषेध किया। पण्डितराज ने तो वीर के भी युद्धवीर आदि अंतर्विभाजन को निरर्थक घोषित किया क्योंकि इस प्रकार तो पाण्डित्यवीर आदि अनेक अवान्तर भेद होते जायेंगे। ❀इन परम्परा-दृढ पण्डितों ने वात्सल्य और भक्ति को रस-परिणति

❀ "वस्तुतस्तु बहवो वीररस्य शृङ्गारस्येव प्रकारा निरूपयितुं शक्यन्ते। तथाहि प्राचीन एव 'सपदि विलयमेतु' इत्यादि पद्ये 'मम तु मतिर्न मनागपैतु सत्यात्'

के अयोग्य ठहराकर 'भाव' मात्र ही माना । इसमें सन्देह नहीं कि साधारण व्यक्ति के लिए देवादि-विषयक रति भाव की स्थिति से आगे नहीं बढ पाती क्योंकि उसका आलम्बन परोक्ष एवं अमूर्त है, परन्तु यह मनोविकार रस-परिणति में असमर्थ है, एकदम ऐसा कहना अनुचित होगा । मीरा, सूर, तुलसी की भक्ति रस दशा को प्राप्त नहीं कर सकी थी, यह कहना तो सत्य का तिरस्कार करना है, लेकिन हाँ इनकी भक्ति को उसकी अन्तःप्रेरणा के अनुसार स्थूलतः रति या निर्वेद के अन्तर्भूत किया जा सकता है। मीरा की माधुर्य्य भावना रति का ही परिष्कृत रूप है । सूर और तुलसी का कार्पण्य निर्वेद का । इसके अतिरिक्त जहाँ इन्होंने प्रत्यक्ष आत्मनिवेदन किया है—वहाँ भी, कहीं तो स्पष्ट ही रति का परिपाक मिलता है जैसे सूर के अनेक पदों में जिनमे कृष्ण की रूप-माधुरी का अंकन किया गया है, और कहीं स्पष्ट निर्वेद का जैसे तुलसी के बहुत से पदों में जहाँ संसार की असारता—कराल कलिकाल से उसकी रक्षा आदि के लिए प्रार्थना की गई है । शेष कुछ ऐसे पद रह जाते हैं, जिनमे प्रश्रय आदि 'भाव' ही मानना पड़ेगा । इस प्रकार भक्ति को रस के योग्य मानते हुए भी उसका अन्तर्भाव इन्ही निर्णीत स्थायी भावों में हो जाता है । जहाँ राग का प्राचुर्य है वहाँ रति, जहाँ विराग का प्राधान्य है वहाँ निर्वेद माना जा सकता है । वैसे भी आज के मनोविश्लेषकों ने धर्म-भावना को काम का उन्नयन ही माना है । परन्तु वात्सल्य को रस-परिणति के अयोग्य मानना बहुत ज़्यादती होगी । क्योंकि वात्सल्य भाव का सम्बन्ध तो जीवन की एक सर्व-प्रधान एषणा—पुत्रैषणा से है । विदेश के सभी मनोवैज्ञानिकों ने भी मातृ-वृत्ति को एक अत्यन्त मौलिक एवं प्रधान वृत्ति माना है । वात्सल्य मानव-जीवन की एक बहुत बडी भूख है जो तीव्रता और प्रभाव की दृष्टि से केवल काम से ही न्यून कही जा सकती है । दूसरे जब तक रति का फ्रायड के ढङ्ग पर विस्तार न किया जाए, वात्सल्य को रति के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता है । सूर के वात्सल्य-चित्रों को क्या रस का अधिकारी नहीं माना जाएगा—या उनको शृङ्गार के अन्तर्गत रख दिया जायगा ? रति का काम से असम्पृक्त भी एक रूप हो सकता है, जैसे—मैत्री, जिसको ध्यान में रखकर ही रुद्रट ने 'प्रेयान्' रस का आविष्कार किया था । परन्तु वास्तव में मैत्री शुद्धभाव न होकर

इति चरमपादव्यत्यासेन पद्यातरता प्रापिते सत्यवीरस्यापि संभवात् । न च सत्यस्यापि धर्मान्तरगततया धर्मवीर रस एव तद्वीरस्यान्यन्तर्भाव इति वाच्यम् ।

दानदययोरपि तदन्तर्गततया तद्वीरयोरपि धर्मवीरात्पृथग्गणना नौचित्यात् । एवं पाण्डित्यवीरोऽपि प्रतीयते ।'

(रस गंगाधर)

काव्यमाला संस्करण, [पृष्ठ ४१]

एक मनोवृत्ति है जिसमें अनेक भावों का संमिश्रण रहता है। साधारणतः यह भाव रस दशा को नही पहुंच पाता—वृत्तियों का पूर्ण सामञ्जस्य और निलय केवल मित्र भाव के कारण नहीं हो पाता; जहाँ कहीं होता है वहाँ उसमें काम या उत्साह जैसे किसी प्रगाढ मनोवेग का प्राधान्य रहता है।

पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में रस :—पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में अरस्तू आदि ने मनोवेग के अर्थ मे सेंटीमैंट [Sentiment] शब्द का प्रयोग किया है और साधारणतः काव्यगत मनोवेगों को सुन्दर [Beautiful], उदात्त [Sublime], करुण [Pathetic] और हास्यमय [Humorous] इन चार रूपों मे विभक्त किया है। यह वर्गीकरण अपेक्षाकृत अपूर्ण है। सौन्दर्य भाव वास्तव में निरपेक्ष मनोविकार नहीं है। वह हर्ष, रति, विस्मय का ही एक रूप है। किसी सुन्दर वस्तु को देखकर यदि हमारी वृत्तियों में सामञ्जस्य मात्र ही स्थापित होता है तो हमारी प्रतिक्रिया हर्ष है, यदि उसके प्रति स्थायी आकर्षण उत्पन्न हो जाता है तो रति हो जाएगी और यदि उसको देख कर चित्त चमत्कृत होता है तो वह प्रतिक्रिया विस्मय कहलायेगी। इन तीनो या इसी प्रकार के किसी निश्चित भाव से या उनके मिश्ररूप से पृथक् सौन्दर्य-भावना का कोई अस्तित्व नहीं है। सौन्दर्य-भावना जिस प्रकार अधिकतर हर्ष, रति और विस्मय का योग है, उदात्त भावना इसी प्रकार आश्रय में हर्ष, भय और विस्मय का योग है, और आलम्बन में हर्ष और उत्साह का। वह भी निरपेक्ष भाव नहीं है। उसे स्थिति के अनुसार संस्कृत का रस-शास्त्र अपने अद्भुत और वीर मे अंतर्भूत कर सकता है। गीता मे कृष्ण का विराट रूप अद्भुत के अन्तर्गत आएगा, रामायण मे दिग्विजयी राम का रूप वीर के अन्तर्गत—यद्यपि यह मानने में आपत्ति करना हठधर्मी होगी कि अद्भुत और वीर की अपेक्षा उन दोनो को ही उदात्त या महान् कहना अधिक संगत होगा, परन्तु इसका तात्पर्य केवल यही है कि उदात्त शब्द अधिक सचित्र तो है, पर वैज्ञानिक नहीं है।—शेष दो करुण और हास्य तो पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों शास्त्रों में एक ही हैं।

मूल प्रवृत्तियां और प्रवृत्तिगत भाव:—आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने जीव की मूल प्रवृत्तियो का अन्वेषण कर स्थूलतः उनकी संख्या निश्चित करने का प्रयत्न किया है (ये प्रवृत्तियाँ मानव और मानवेतर प्राणियो में समान रूप से विद्यमान हैं)। परन्तु इन वैज्ञानिकों के निर्णय एक-स्वर नही हैं। इसका प्रत्यक्ष कारण यही है कि मानव मन एक गहन समुद्र है, जिसकी तरङ्गों अथवा वीचियों की निश्चित गणना करना साधारणतः सम्भव नहीं है। मैकडूगल महोदय ने प्रवृत्तियो और उनसे सम्बद्ध मनोविकारों का वर्णन इस प्रकार किया है :—

प्रवृत्ति	प्रवृत्तिगत भाव
१. भोजनोपार्जन [भोजन अर्जन करने की प्रवृत्ति]	क्षुधा
२. अपकर्षण [किसी वस्तु को त्यागने अथवा उससे हटने की प्रवृत्ति]	घृणा [जुगुप्सा]
३. काम [प्रेम और यौन सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति]	रति
४. भय [दुःखदायी वस्तु से बच कर भागने या शरण लेने की प्रवृत्ति]	भय
५. जिज्ञासा [नवीन और अद्भुत वस्तुओं के अन्वेषण की प्रवृत्ति]	औत्सुक्य
६. सामाजिकता [सजातीय व्यक्तियों का साहचर्य लाभ करने की प्रवृत्ति	मिलनेच्छा (सहानुभूति)
७. मातृ-भावना (अपत्य-स्नेह) [बच्चों का संरक्षण करने की प्रवृत्ति]	वात्सल्य
८. आत्म-प्रतिष्ठा [अपने व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने, दूसरों पर रोब जमाने की प्रवृत्ति]	गर्व [अहंकार]
९. अधीनता [अपने से अधिक बलवान के प्रति आदर, प्रश्रय, अधीनता आदि की प्रवृत्ति]	दैन्य [कार्पण्य]
१०. क्रोध [बाधा और विघ्न अथवा विरोध को छिन्न-भिन्न कर देने की प्रवृत्ति	क्रोध
११. आर्तप्रार्थना [स्वयं विफल एवं निराश हो जाने पर दूसरों की सहायता माँगने की प्रवृत्ति]	दुःखकातरता [distress]
१२. निर्माण [आवश्यक आच्छादन आदि के निर्माण करने की प्रवृत्ति]	सृजनोत्साह
१३. परिग्रह [वाञ्छित वस्तुओं को प्राप्त करने और उन पर अपना अधिकार करने की प्रवृत्ति]	अधिकार-भावना
१४. हास्य [दूसरों के दोषों और विकृतियों पर हँसने की प्रवृत्ति]	हास

मैक्डूगल ने ये १४ ही प्रवृत्तियाँ मानी थीं, परन्तु बाद में चार और जोड़ दीं—

आराम—[Comfort] ऐसे स्थान की खोज करना जहाँ शरीर को सुख मिले ।

निद्रा—विश्राम अथवा निद्रा की प्रवृत्ति ।

भ्रमण—नवीन स्थानों में भ्रमण करने की प्रवृत्ति ।

कफ, छींक, श्वास-प्रश्वास, मोचन आदि ।

इनका सम्बन्ध स्पष्टतः शारीरिक क्रियाओं से अधिक है, अतएव इनका सहकारी मनोविकार या मनःस्थिति बहुत स्पष्ट एवं विशिष्ट नहीं होती । निदान ये हमारे विशेष उपयोग की नहीं हैं । उपर्युक्त चौदह प्रवृत्ति-मूलक मनोविकारों मे भी क्षुधा सर्वथा शारीरिक है, अतएव काव्य में उसके विशेष उपयोग की आशा करना व्यर्थ है । इसके अतिरिक्त शेष तेरह भी, आप देखिये, अतिव्याप्ति और अव्याप्ति से मुक्त नहीं हैं । वे स्पष्टतः एक दूसरे की सीमा-रेखा का अतिक्रमण कर जाते हैं । उदाहरण के लिए सृजनोत्साह और अधिकार-भावना अहंकार की परिधि मे ही आ जाते है । कार्पण्य और कातरता भी एक दूसरे से बहुत भिन्न नही है । वास्तव मे वे एक ही प्रवृत्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं । इस प्रकार पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार भी प्रवृत्ति-मूलक मनोविकार साधारणतः दस ही हुए । रति, हास, क्रोध, भय, घृणा [जुगुप्सा], औत्सुक्य, वात्सल्य, अहंकार, कार्पण्य, सहानुभूति [संवेच्छा] इनमें पहले सात तो संस्कृत स्थायी भावो से प्रायः अभिन्न ही हैं । अहंकार और उत्साह में भी कोई विशेष अंतर नहीं है । कार्पण्य को भी कुछ आचार्यों ने स्थायी भाव माना है, परन्तु वास्तव मे सर्वतन्त्र मत यही रहा है कि भाव से अधिक उसकी स्थिति नहीं होती । यही बात संवेच्छा के लिए और भी निश्चय के साथ कही जा सकती है । अब संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का एक स्थायी भाव रह जाता है—शोक ! क्या कार्पण्य और सहानुभूति दोनो शोक [करुणा] के तत्व नहीं माने जा सकते ?

उपर्युक्त विवेचन से मेरा अभिप्राय संस्कृत के नौ रसों की सार्वभौमिकता स्थापित करना न होकर केवल यही संकेत करना है कि हमारा यह वर्गीकरण सर्वथा अनर्गल और कपोल-कल्पित नहीं है । स्थायी भाव की स्थिति पौरस्त्य और पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रतिकूल नहीं है और संख्या-निर्धारण भी सर्वथा निराधार नहीं है, यद्यपि यह भी ठीक ही है कि वह सर्वथा निर्दोष भी नहीं है । परन्तु क्या कोई भी वर्गीकरण और संख्या-निर्धारण निर्दोष हो सकता है ?

संचारियों की स्थिति अपेक्षाकृत निर्बल है । इसके दो प्रत्यक्ष कारण हैं—एक तो इन तेंतीस संचारियों में कुछ स्पष्टतः ऐसे हैं जो शारीरिक क्रियायें ही अधिक हैं मानसिक विकार उनमें गौण होता है । उदाहरण के लिए अपस्मार, निद्रा आदि । स्वप्न और मरण को भी भाव कहना निश्चय ही असंगत होगा ।

दूसरे हमारे नित्य प्रति के अनुभव मे और भी अनेक ऐसे भाव आते हैं जिनकी स्थिति इन तेंतीस से बाहर है। संस्कृत आचार्य के सम्मुख भी यह प्रश्न आया है मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, विवेक, निर्णय, क्षमा उत्कण्ठा, और माधुर्य आदि भाव उसके सामने आए हैं, परन्तु उसने उन सभी का इन्हीं में अंतर्भाव कर दिया है, जैसे मात्सर्य का असूया में, उद्वेग का त्रास मे, दंभ का अवहित्थ में ईर्ष्या का अमर्ष में क्षमा का धृति मे उत्कण्ठा का औत्सुक्य में। परन्तु आज इससे संतोष नहीं होता। इस तरह तो धृति का मति मे, विषाद का चिन्ता मे अंतर्भाव भी माना जा सकता है। पौरस्त्य मीमांसा के अनुसार भी अनेक मनोविकार ऐसे हैं जो इनकी परिधि से बाहर हैं। उदाहरण के लिए—आदर, श्रद्धा, पूजा आदि प्रश्रय के विभिन्न रूप अथवा औदार्य, दया, स्नेह आदि अनुकम्पा के अंतर्भेद या फिर द्वेषपक्ष मे असंतोष अवमान अविश्वास आदि को लिया जा सकता है। डाक्टर भगवानदास ने पौरस्त्य विचार-शास्त्र के अनुसार ही ६४ मनोविकारो की गणना की है, जिनमें उपर्युक्त सभी तथा उनके अतिरिक्त और भी कई मनोविकार संस्कृत साहित्य-शास्त्र के तेंतीस या बयालिस संचारियो की परिधि से बाहर पड़ते हैं। वास्तव में जैसा प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक जेम्स ने कहा है, मनोविकारों की गणना करना तथा उनको पृथक् रूप मे वर्णन करना केवल कठिन ही नहीं असम्भव भी है क्योंकि मनोविकार तो मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है, जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है। मन में असंख्य तरंगें उठती हैं, जो एक दूसरे से अनेक रूपों मे मिल कर न जाने कितने मनोविकारों का आविर्भाव करती है। साधारणतः मौलिक मनोविकारो की गणना करना ही अत्यन्त कठिन है, फिर मिश्र व्युत्पन्न मनोविकारों का तो अंत ही कहाँ है ?

अन्त में मेरे निष्कर्ष ये हैं :—

[१] आरम्भ में तो संस्कृत साहित्य-शास्त्र के स्थायी भावों का वर्गीकरण और विवेचन उपलब्ध साहित्य के आधार पर किया गया था, परन्तु बाद में दार्शनिक आचार्यों ने मीमांसा आदि के बल पर उन्हे व्यापक बनाते हुए वैज्ञानिक रूप दे दिया है।

[२] आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नही है। पौरस्त्य और पाश्चात्य मनःशास्त्रों की कसौटी पर वह बहुत अंशो में खरा उतरता है। संचारी तो मनोविकार का पर्याय ही है। स्थायी भाव को स्थिति मौलिक मनोवेगो की है जो अपनी शक्ति स्थायित्व और प्रभाव के कारण मानव-जीवन की संचालक एवं प्रेरक वृत्तियां हैं।

[३] इन मनोवेगों की संख्या निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। यह देखते हुए भी कि संस्कृत के आचार्यों ने अपने नौ स्थायियों के अंतर्गत ही सब सशक्त मनोवेगों का समाहार कर दिया है, इस संख्या को सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नहीं माना जा सकता। वात्सल्य को रति से पृथक् स्थान देना ही होगा। करुण की परिधि में भी शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कार्पण्य आदि का समावेश करना होगा। रुद्रट ने तो सभी संचारियों के लिए ऐसा कहा है, परन्तु कम से कम कुछ एक में—जैसे गर्व, ग्लानि, असूया आदि में रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पड़ेगी। इस प्रकार साधारण शोधन, परिशोधन और विशेष व्याख्यान के द्वारा स्थायी की स्थिति बहुत कुछ वैज्ञानिक बन सकती है।

संचारियों का वर्णन और विवेचन स्पष्टतः अपूर्ण और सदोष है, उनमें से ऐसे संचारी भावों को तो निकालना ही पड़ेगा जो मुख्यतः शरीर के धर्म हैं। इसके अतिरिक्त गणना का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। आलोचक अधिक से अधिक यही कर सकता है कि जिन मनोविकारों को नाम और परिभाषा दे दी गई है है, उनका काव्य सामग्री के विश्लेषण में मनोविज्ञान के अनुकूल उपयोग कर ले। बस इससे आगे और कुछ उसके लिए सम्भव नहीं है।

—————

अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार निरूपण:—अलंकार का भी सब से पूर्व उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में ही मिलता है। भरत ने केवल चार अलंकारों का ही निरूपण किया है—और वह भी रूपक के सम्बन्ध से ही। अलंकार का सब से प्रथम ग्रन्थ जिसमें उसका क्रम-बद्ध वैज्ञानिक विवेचन उपस्थित किया गया है, भामह का काव्यालङ्कार है। भरत के उपरांत रस रूपक का ही मुख्य अंग माना जाने लगा था—काव्य में उक्ति का चमत्कार ही मुख्य था। भामह ने इसी मत का प्रतिनिधित्व किया। उसने दृश्य-काव्य की सर्वथा उपेक्षा करते हुए केवल श्रव्यकाव्य के अंगो का—प्रधानतः अलंकारों का ही व्याख्यान किया। परन्तु भामह का विवेचन इतना व्यवस्थित और पूर्ण है कि उसको अलंकार शास्त्र का एक साथ पहला ग्रन्थ मान लेना उचित नहीं प्रतीत होता—अलंकार की परम्परा भी रस-परम्परा की तरह एक क्रमिक विकास का ही परिणाम हो सकती है। और भामह ने स्वयं भी अपने पूर्ववर्ती मेधाविन् आदि का सादर उल्लेख किया है। अनुमानतः अलंकार-परम्परा का विकास धीरे-धीरे तभी से हो रहा था जब से पंडितों ने भाषा की सूक्ष्म परीक्षा आरम्भ कर दी थी—मेधाविन् इसी विकास-पथ का कोई प्रमुख मार्ग-चिह्न था।

मेधाविन् केवल नामशेष है—अतएव उन्होंने कितने अलंकारों का विवेचन किया है, यह अज्ञात है। भरत ने प्रसंगवश केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया है—उपमा, रूपक, दीपक और यमक। यह तो सर्वथा स्पष्ट ही है कि भरत ने अलंकारों को वाचिक अभिनय का एक साधारण अंग ही माना है। नाट्यशास्त्र के बाद दूसरा ग्रन्थ भट्टिकाव्य है जिसके दशम सर्ग में यमक और अनुप्रास सहित ३८ अलंकारों का उल्लेख है। भामह ने भी अलंकारों की संख्या ३८ मानी है और वक्रोक्ति को उन सब का प्राण माना है। उन्होंने अलंकार को ही काव्य का प्रधान अंग माना है और इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने रस और भाव का स्वतन्त्र

अस्तित्व न मानकर उनका रसवत् ऊर्जस्वित आदि अलंकारों में ही अंतर्भाव किया है। इस प्रकार उनके अनुसार काव्य का प्राण है अलंकार और अलंकार का प्राण है वक्रोक्ति :—

सैवा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते,
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।

(काव्यालंकार)

इसी दृष्टि से सूक्ष्म, हेतु और लेश को उन्होंने अलंकार-सीमा से वहिष्कृत कर दिया है।

वक्रोक्ति का अर्थ है शब्द और अर्थ की विचित्रता। इस प्रकार भामह के अनुसार अलंकार शब्द और अर्थ के वैचित्र्य का नाम है।

वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः।

[काव्यालंकार] १–३७

भामह के उपरान्त दण्डी ने अलंकार के विवेचन को और स्पष्ट तथा समृद्ध किया। उन्होंने काव्य को अलंकार का शोभाकर धर्म माना—अर्थात् उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि काव्य की शोभा सर्वथा अलंकार के आश्रित है अतएव अलंकार काव्य का शाश्वत धर्म है। दंडी ने उनकी संख्या ३५ मानी है, भामह के कुछ अलंकार भेदों को, जैसे उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, उपमारूपक उत्प्रेक्षावयव आदि को उन्होने छोड़ दिया है। इसके विपरीत लेश, सूक्ष्म और हेतु को जिन्हें भामह ने वक्रोक्ति के अभाव में अलंकार की पदवी नहीं दी थी, दंडी ने स्वीकृत किया है और साथ ही यमक चित्रबंध और प्रहेलिका आदि का विस्तृत विवेचन करते हुए शब्दालंकार को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व तथा विस्तार दिया है। दंडी ने भामह की वक्रोक्ति के स्थान पर अतिशय को अलंकार की आत्मा माना है।

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमातिशयाह्वयाम्।

[काव्यादर्श २१२]

परन्तु वास्तव में दोनों के आशय मे केवल शब्द-भेद है—वक्रोक्ति से भामह का तात्पर्य भी अतिशय उक्ति का ही है जैसा कि परवर्ती आचार्यों ने स्पष्ट किया है 'एवं चातिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्याय इति बोध्यम्'—और दोनों का अर्थ है लोकोत्तर चमत्कार 'लोकोत्तरेण चैवातिशयः....अनया अतिशयोक्त्या विचित्रया भाव्यते [लोचन अभिनवगुप्त]। भामह की अपेक्षा दंडी की दृष्टि अधिक उदार है। उन्होंने अलंकार के समकक्ष ही गुण और रीति का भी प्रतिष्ठान किया है। दंडी

के परवर्ती आचार्य उद्भट ने अलंकार सम्प्रदाय की और भी अधिक श्रीवृद्धि की। उद्भट ने यद्यपि लक्षण निरूपण आदि में भामह का ही अनुसरण किया है। 'भामह-विवरण' नाम से उसने भामह के सिद्धान्तों की व्याख्या भी की है परन्तु उसका विवेचन इतना सूक्ष्म और समृद्ध है कि उसने भामह को एक प्रकार से आच्छादित कर लिया है। सभी परवर्ती अलंकारिकों ने मुक्तकंठ से उद्भट की महत्ता को स्वीकार किया है। संक्षेप में उद्भट का आभार इस प्रकार है।

१. उद्भट ने दृष्टान्त, काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास की सर्वथा नवीन उद्भावना की—अनुप्रास के प्रभेदों में वृद्धि की—और इस प्रकार अलंकारों की संख्या को ३८ से ४१ तक पहुंचा दिया।

२. श्लेप के उसने दो भेद किये—१. शब्द-श्लेप, २. अर्थ-श्लेष और दोनों को अर्थालंकार माना। बाद में मम्मट आदि ने इसका निषेध किया है।

३. व्याकरण के आश्रय से उपमा के अनेक प्रभेद, जिनका काव्य-प्रकाश में वर्णन है, सब से पूर्व उद्भट ने ही किये।

[काणे-कृत साहित्यदर्पण की भूमिका]

अलंकार सम्प्रदाय का सर्व-प्रमुख आचार्य था रुद्रट। यद्यपि रुद्रट की दृष्टि अत्यन्त व्यापक एवं उदार थी और यद्यपि उसने इसकी महत्ता स्वीकार करते हुए अपने समकालीन सम्प्रदायों का समन्वय भी किया, फिर भी अलंकार-शास्त्र ही विशेष रूप में उसका ऋणी रहेगा। रुद्रट ने एक तो अलंकारों के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों का स्पष्टीकरण कर उनकी संख्या का विस्तार ९० से ऊपर कर दिया, दूसरे वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेप के आधार पर उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण किया। रुद्रट का यह वर्गीकरण सर्वथा मान्य न होते हुए भी अलंकार-शास्त्र के लिए एक मौलिक देन थी। रस और भाव को अलंकार के अन्तर्गत मानने की जो त्रुटि भामह के समय से बराबर होती आ रही थी उसका संशोधन सब से पूर्व रुद्रट ने ही किया। उसने रसवत् आदि को अलंकार मानने से साफ इन्कार कर दिया और इस प्रकार एक बहुत बडे भ्रम का निवारण किया। भामह से लेकर रुद्रट तक अलंकार सम्प्रदाय का सुवर्णकाल रहा। अनेक प्रकार का मतभेद रखते हुए भी ये सभी आचार्य अलंकार को ही प्रधानता देते थे। भामह और दंडी ने गुण और अलंकार में कोई अन्तर नहीं माना। 'उद्भटादिभिस्तु गु लंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। तदेवमलंकारा एक काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।' रुद्रट के उपरान्त ध्वनि-सम्प्रदाय का उदय हुआ, जिसने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए अलंकार को निम्नतर स्थान दिया। जिस काव्य में शब्द-चित्र अथवा

वाच्य-चित्ररूप अलंकार ही हो व्यंग्यार्थ न हो वह अधम माना गया। अलंकार रस और ध्वनि का सहायक होकर ही गौरव का अधिकारी हो सकता है, वह न अपने में स्वतन्त्र है और न काव्य का अनिवार्य अंग ही है। ध्वनि की स्थापना के उपरान्त संस्कृत साहित्य, शास्त्र में क्या, भारतीय साहित्य शास्त्र में ही यही मत मान्य रहा।

इस मत की पूर्ण प्रतिष्ठा की मम्मट ने। मम्मट ने अलंकार को उचित गौरव दिया। उन्होने काव्य को सालंकार माना, परन्तु फिर भी 'अनलंकृति पुनः च क्वापि' कह कर उसकी अनिवार्यता का निषेध किया। मम्मट समन्वयवादी आचार्य थे, उन्होंने प्राचीन सभी सिद्धान्तों की सम्यक् परीक्षा करते हुए काव्यपुरुष के रूपक के आधार पर उनका उचित समन्वय किया। उन्होंने गुण और अलंकार का भेद स्पष्ट किया। गुणो को काव्य का साक्षात् धर्म माना और अलंकारों को काव्य के अंगभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म माना।

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित,
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।

[काव्यप्रकाश]

अलंकार काव्य के अंग अर्थात् शब्दार्थ रूप शरीर की शोभा बढाते हुए काव्य का उपकार करते है—चमत्कृति मे योग देते हैं। काव्य मे उनका स्थान वही है जो मनुष्य के व्यक्तित्व मे हार आदि आभूषणों का। और स्पष्ट रूप में—'शब्द अर्थ काव्य के शरीर हैं और रसादिक आत्मा है। माधुर्यादि गुण शौर्यादि की भाँति, श्रुतिकटुत्वादि दोष काणत्वादि की तरह, वैदर्भी आदि रीतियां अंगरचना की तरह, और उपमादिक अलंकार कटक-कुण्डल आदि के तुल्य होते हैं।"

[साहित्य-दर्पण-विमला टीका]

अर्थात् अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं।

अलंकार के विवेचन मे मम्मट ने भामह, दंडी, उद्भट, रुद्रट आदि पूर्वाचार्यों के मतों की परीक्षा करते हुए, अनेक परिवर्तन और परिशोधन किये। अलंकारों की संख्या अब ७० हो गई। ८ शब्दालंकार और ६२ अर्थालंकार। "इनमें अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम, ये पाँच अलंकार नवीन हैं। और सम्भवतः श्री मम्मट द्वारा आविष्कृत हैं।"

मम्मट के उपरान्त रुय्यक ने अलंकार-सर्वस्व की रचना की। रुय्यक ने विचित्र और विकल्प अलंकारों की सृष्टि की, परन्तु उसका प्रमुख कार्य था अलंकारों का वर्गीकरण। रुद्रट के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष वर्गों को अपर्याप्त

मानते हुए उसने निम्नलिखित वर्गों की उद्भावना की—सादृश्य-गर्भ, विरोध-गर्भ, शृङ्खलाबद्ध, न्यायमूल, गूढ़ार्थप्रतीतिमूल और संकर। स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त को किसी वर्ग में न रखकर स्वतन्त्र माना। परवर्ती आचार्यों ने अलंकार शास्त्र में कोई विशेष योग नहीं दिया। इसमे सन्देह नही कि जयदेव, विद्याधर, अप्पय दीक्षित आदि पंडितों ने एक बार फिर अलंकार-सम्प्रदाय का पुनरुत्थान करने का भरसक - यत्न किया।

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती,
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती।

[चन्द्रालोक]

की आह्वान-ध्वनि के साथ अलंकार का जयघोष किया गया, परन्तु रस और ध्वनि की नींव इतनी गहरी जम गई थी कि वह फिर न हिल सकी। इसके उपरान्त अलंकार-परम्परा हिन्दी के रीति-कवियों के हाथ मे चली गई। हिन्दी मे भी यद्यपि आचार्य केशवदास ने कविता और वनिता के लिए अलंकार को अनिवार्य माना तथा अन्य कवियो ने भी अपने लक्षण-ग्रन्थो में चन्द्रालोक आदि की शैली का अनुसरण किया, परन्तु प्राधान्य रस का ही रहा।

अलंकार की परिभाषा और धर्म :—अलंकार की व्युत्पत्ति वैयाकरण दो प्रकार से करते हैं—अलंकरोतीति अलंकारः अर्थात् जो सुशोभित करता है वह अलंकार है; अथवा अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकारः अर्थात् जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है। साधारणतः दोनों का आशय एक ही है, परन्तु पहले अर्थ मे अलंकार कर्त्ता या विधायक हैं, दूसरे में करण—साधन हैं। वास्तव में अलंकार के विकास में ये दोनों व्युत्पत्ति अर्थ अपना महत्व रखते हैं—व्युत्पत्ति अर्थ मे यह अंतर इस बात का द्योतन करता है कि अलंकार किस प्रकार काव्य के विधायक पद से स्खलित होकर साधन मात्र रह गया। अलंकार के सर्वमान्य अर्थ को दृष्टि में रखते हुए दूसरी व्युत्पत्ति ही अधिक संगत है—जिसके अनुसार अलंकार काव्य की शोभा का साधनमात्र है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में अलंकार की दो प्रतिनिधि परिभाषायें हैं—पहली है अलंकारवादी दण्डी की। इसके अनुसार 'काव्य-शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते'—अलंकार काव्य की शोभा करने वाले धर्म हैं। इससे दो परिणाम निकलते हैं।

(१) अलंकार काव्य के धर्म—अर्थात् सहज गुण हैं।

(२) काव्य की शोभा अथवा सौंदर्य अलंकारों पर ही निर्भर है।

उपर्युक्त परिभाषा अलंकार-सम्प्रदाय का सिद्धान्त-वाक्य रही। परन्तु बाद में जब ध्वनिकार द्वारा ध्वनि और रस की स्थापना स्थिर रूप से हो गई, अलंकार की परिभाषा भी बदल गई। रसवादी विश्वनाथ के शब्दों में:—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥१॥

(साहित्यदर्पण)

'शोभा को अतिशयित करने वाले, रसभाव आदि के उपकारक, जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वे अंगद [बाजूबंद] आदि की तरह अलंकार कहाते हैं।' इससे निम्नलिखित परिणाम निकलते हैं—

(१) अलकार काव्य के सहज एवं अनिवार्य गुण नहीं है। केवल अस्थिर धर्म हैं, अर्थात् कभी वर्तमान रहते हैं, कभी नहीं।

(२) काव्य की शोभा (सौंदर्य) अलंकार पर निर्भर नहीं है। सत्काव्य में अलंकार जहां वर्तमान भी रहता है, वहां शोभा की सृष्टि नहीं करता केवल वृद्धि ही करता है।

(३) काव्य का सौन्दर्य है रस, अलंकार का गौरव उसी का उपकार करने में है। अर्थात् सत्काव्य में अलंकार का स्वतन्त्र अस्तित्व भी मान्य नहीं है।

उक्ति के चमत्कार का नाम अलंकार है. इसमे तो किसी को भी विरोध नही है, परन्तु आगे दो प्रश्न उठते हैं—

(१) क्या प्रत्येक उक्ति-चमत्कार काव्य है ?

(२) क्या काव्य मे उक्ति-चमत्कार अनिवार्य है ? अर्थात् क्या प्रत्येक काव्योक्ति में चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान रहता है ?

अलंकार और रस सम्प्रदाय के बीच जो द्वन्द्व रहा वह इन्हीं प्रश्नों पर अवलम्बित था। अलंकार-सम्प्रदाय दोनो का उत्तर--'हाँ' मे देता था, रस-सम्प्रदाय 'नहीं में' अर्थात् अलंकार-सम्प्रदाय का मत था कि प्रत्येक चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य पद की अधिकारिणी है, और प्रत्येक काव्योक्ति मे चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान होना चाहिये; इसके विरुद्ध रस-सम्प्रदाय का कहना था कि न तो प्रत्येक चमत्कृत उक्ति ही काव्य हो सकती है, और न प्रत्येक काव्योक्ति में ही चमत्कार अनिवार्यतः वर्तमान रहता है।

इन प्रश्नों को एक एक करके लीजिये । क्या प्रत्येक चमत्कार-पूर्ण उक्ति काव्य है ? इसका उत्तर देने के लिये पहले चमत्कार का आशय स्पष्ट करना चाहिये। चमत्कार की मूल वृत्ति है कौतूहल । किसी असामान्य वस्तु को देख कर अथवा असाधारण उक्ति को सुनकर हमारी कौतूहल वृत्ति जागृत होकर तृप्त होती है। काव्य मे असाधारणता होती अवश्य है, परन्तु काव्य की मूल वृत्ति कौतूहल नहीं है। काव्य का आनन्द वासनाओं की उद्‌बुद्धि दूसरे शब्दों में भावो की झंकृति से सम्बन्ध रखता है। इसमे सन्देह नहीं कि उसके सारभूत प्रभाव मे कवि की लोकोत्तर प्रतिभा के प्रति कौतूहल एवं विस्मय का भाव भी मिश्रित रहता है, परन्तु वह सर्वथा गौण है, और रसानुभूति के समय उसकी पृथक् सत्ता नही होती । अतएव काव्य के लिए वह चमत्कार जो केवल हमारी कौतूहल वृत्ति को शान्त करता है, किसी प्रकार भी अनिवार्य नहीं हो सकता। काव्य का चमत्कार (जिसकी आचार्यों ने चर्चा की है।) जिसके लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रमणीयता की संज्ञा अधिक उपयुक्त समझी है, वास्तव में हमारे कौतूहल या विस्मय को नहीं जगाता। वह हमारी भाव-वृत्तियों को ही जगाता है। इसलिए वह भाव की रमणीयता के ही आश्रित है, दूर की सूझ या बुद्धि के व्यापारों के नहीं। वह सहानुभूति या सह-जानुभूति-जन्य है, विस्मय-जन्य नहीं है। इसलिए वही चमत्कारपूर्ण उक्ति काव्य हो सकती है, जिसका चमत्कार भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, अथवा तीव्रता के आश्रित हो। ऐसी उक्ति जिसका चमत्कार बौद्धिक ग्रन्थियो के सुलझाने से सम्बन्ध रखता है, या केवल कल्पना-विधान के आश्रित है, काव्य पद की अधिकारिणी कभी नहीं हो सकती। यही कारण है कि चित्र-काव्य अथवा प्रहेलिका आदि को जिनमे भाव की रमणीयता का सर्वथा अभाव रहता है प्राचीन आचार्यों ने भी काव्य की कोटि से बहिष्कृत कर दिया है। अतएव यह तो स्पष्ट है कि जहां चमत्कार भाव के आश्रित न होकर कोरे बौद्धिक-विधान के आश्रित रहता है अर्थात् श्रोता के मन मे हल्की से हल्की भी भाव-तरङ्ग नहीं उत्पन्न करता, वहां हमारे हृदय में लेखक के बुद्धि-विधान के प्रति आश्चर्य और विस्मय की भावना तो जग सकती है, इसके अतिरिक्त किसी गूढ़ समस्या के सुलझ जाने से या बौद्धिक-ग्रन्थि के खुल जाने से जो एक प्रकार का बौद्धिक-आनन्द मिलता है, उसका भी अनुभव हो सकता है, परन्तु काव्यानुभूति सम्भव नहीं हैं। सभी प्रकार का चमत्कार काव्यानन्द नहीं दे सकता। जिसमें भाव का योग है वही काव्यानन्द दे सकता है। जिसमे भाव का योग नहीं, जो बौद्धिक-विधान मात्र है, वह बौद्धिक आनन्द ही देगा। उसमें ऐन्द्रियता का रस नहीं होगा।

अब दूसरा प्रश्न लीजिये। क्या काव्य अनिवार्यतः उक्ति चमत्कार के ही

आश्रित है ? ध्वनि और रस-वादियों ने तो इसका असंदिग्ध शब्दों में विरोध किया है। अलंकार के समर्थ पृष्ठपोषक मम्मट ने भी स्पष्ट रूप में 'अनलंकृती पुनः च क्वापि' कह दिया है। विश्वनाथ आदि ने अलंकारों को शोभातिशायी एवं अस्थिर धर्म कहा है। परन्तु इसके विपरीत भामह और कुंतक ने वक्रता को काव्य के लिए अनिवार्य माना है। वक्रता से उनका तात्पर्य है लोकाक्रांतगोचरता या वैदग्ध्य-भंगी-भणिति का अर्थात् अ..भव्यक्ति की असाधारणता या अनूठेपन का। वास्तव मे ये दोनो सिद्धांत ही अपने अपने ढंग से ठीक हैं। रसवादियों का यह सिद्धांत कि रमणीयता मूलतः भाव के आश्रित है सर्वथा निर्भ्रान्त है, परन्तु भाव की रमणीयता, कोमलता, सूक्ष्मता, अथवा तीव्रता सर्वथा साधारण शब्दों द्वारा—विना किसी प्रकार की वक्रता के—व्यक्त की जा सके, यह सम्भव नहीं। भाव के सौन्दर्य से उक्ति के सौंदर्य में चमक आप से आप आ जायेगी। मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहें तो यह कह सकते हैं कि भाव का सौंदर्य और उक्ति का सौन्दर्य दो सर्वथा भिन्न तत्व नहीं हैं। अनुभूति और अभिव्यक्ति में निश्चित पार्थक्य नहीं किया जा सकता। इसलिये काव्य की आत्मा भाव की रमणीयता अवश्य है, परन्तु इस रमणीय आत्मा का आधार-शरीर भी अनिवार्यतः रमणीय ही होगा। अर्थात् काव्य के लिए रमणीय भाव तो अनिवार्य हो है, परन्तु रमणोय उक्ति—वक्र उक्ति भी स्वभावतः अनिवार्य है, क्योंकि भाव की रमणीयता उक्ति की रमणीयता के बिना अकल्पनीय है। परन्तु इसके लिए, हमें अलंकार की परिधि को परिगणित रूढ़ अलंकारों तक ही सीमित न रख कर सभी प्रकार को वचन-वक्रता अथवा उक्ति-रमणीयता तक विस्तृत करना होगा, लक्षणा और व्यंजना के प्रयोगों को भी उसमे अंतर्भूत करना होगा।

अलंकार और अलंकार्य का भेद :—संस्कृत साहित्य-शास्त्र में रस (भाव), वस्तु और अलंकार तीनों की पृथक् स्थिति मानी गई है। अलंकार रस [भाव] का उपकार करता है—अर्थात् उसको तीव्रतर करता है—और वस्तु के चित्रण में रमणीयता अथवा आकर्षण उत्पन्न करता है।—अतएव रस (भाव) और वस्तु दोनो अलंकार्य्य हुए और अलंकार उनके अलंकरण का साधन। उदाहरण के लिए यदि हम निम्नलिखित दोहे को लें :—

> छिप्यौ छबीलौ मुँह लसै झीने अंचल चीर।
> मनहु कलानिधि झलमलै कालिन्दी के तीर॥
>
> (बिहारी-सतसई)

तो 'झीने नील अंचल मे नायिका का मुख अत्यन्त सुन्दर लगता है'—यह तथ्य तो है 'वस्तु', नायक के हृदय मे उसके प्रति जो आकर्षण अथवा अनुराग उत्पन्न हुआ वह है भाव (रस), और 'मानों कालिन्दी के जल में कलानिधि झलमला

रहा है' यह अप्रस्तुत विधान है उत्प्रेक्षा अलंकार। यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार वस्तु के चित्रण को रमणीय बनाता हुआ—भाव को भी रमणीय बना देता है।

संस्कृत का आचार्य्य अलंकार और अलंकार्य्य का इस प्रकार पृथक् विवेचन करता है, और पश्चिम का प्राचीन अलंकार-शास्त्री भी इससे सहमत है। परन्तु कला और अभिव्यञ्जना के नवीन सिद्धांत इससे मेल नहीं खाते। क्रोचे और उसके अनुयायी अभिव्यञ्जना-वादियों ने स्पष्ट शब्दों में अलंकार और अलंकार्य्य का अंतर अनर्गल और निराधार माना है—"One can ask oneself how an ornament can be joined to expression. Externally? In that case it must always remain seperate. Internally? In that case either it does not assist expression and mars it; or it does form part of it and is not an ornament but a constituent element of expression indistinguishable from the whole (Expression & Rhetoric-Croce)

"यह पूछा जा सकता है कि उक्ति (अलंकार्य्य) मे अलंकार का किस प्रकार समावेश किया जा सकता है? बाहर से? तब तो फिर वह सदैव ही उक्ति से पृथक् रहेगा। भीतर से? ऐसी दशा मे या तो वह उक्ति का साधक न होकर बाधक हो जायगा, या फिर उसका अंग बनकर अलंकार ही न रह जायगा। तब तो वह उक्ति का ही एक मूल तत्व होकर उससे सर्वथा अभिन्न बन जायगा।" स्पष्ट शब्दों मे इसका आशय यह हुआ कि उक्ति और अलंकार मे भेद नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपर्युक्त दोहे में संस्कृत साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से जो वस्तु भाव और अलंकार में भेद किया गया है, वह क्रोचे और उसके अनुयायियों को स्वीकार नहीं है। 'झीने अंचल में नायिका का मुख सुन्दर लगता है' यह एक बात हुई—'झीने अंचल मे नायिका का मुख ऐसा सुन्दर लगता है मानो कालिन्दी के जल में चन्द्र-बिम्ब झलमला रहा हो' यह दूसरी बात। दोनों उक्तियों की भावनात्मक प्रतिक्रियायें भिन्न हैं। नायिका के इस रूप विशेष को देखकर नायक (या कवि) के हृदय में सौंदर्य की जो रमणीय चेतना हुई वह एक ही रूप मे व्यक्त की जा सकती थी।—यह चेतना अखण्ड थी, अतएव उसकी अभिव्यक्ति को भी खण्डों में विभाजित नहीं किया जा सकता।

गिरा और अर्थ की यह अभिन्नता भारतीय आचार्यं को अविज्ञात थी, यह बात नहीं। वैयाकरणों ने इस प्रसंग को लेकर काफी चर्चा की है। परन्तु तत्वरूप में अभिन्नता मानते हुए भी व्यवहार रूप में फिर भी हमारे यहां पार्थक्य स्वीकार किया गया है। वास्तव मे इस सिद्धांत का मूल सम्बंध अद्वैत दर्शन से

है। अद्वैतवादी तत्वरूप में प्रकृति और पुरुष की अभिन्नता मानता है। क्रोचे की भी स्थिति अद्वैतवादी से बहुत भिन्न नहीं है—उसने आत्मा की अद्वैत स्थिति की अत्यंत स्पष्ट शब्दों में स्थापना की है। क्रोचे भी मूलतः दार्शनिक ही है। उसने सौंदर्यशास्त्र का विवेचन दार्शनिक सिद्धांतों के ही स्पष्टीकरण के लिए किया है। परन्तु इतना होते हुए भी भारतीय दार्शनिक व्यवहार रूप में प्रकृति और पुरुष मे पार्थक्य स्वीकार करता है—'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।'—और इसी से प्रभावित होकर भारतीय आचार्य वाणी और अर्थ की व्यवहारगत भिन्नता मानता है, परंतु इसके विपरीत क्रोचे किसी भी रूप में उसे स्वीकार नही करता।—इन दोनो की सापेक्षिक सत्यता पर यदि विचार किया जाय तो भारतीय आचार्य की ही स्थिति अधिक विश्वस्त है। दोनो में व्यवहारगत भेद न मानने से न केवल समस्त साहित्य-शास्त्र वरन् भाव-शास्त्र और विचार-शास्त्र का भी अस्तित्व लुप्त हो जाता है। विदेश के साहित्य-मनीषी भी प्रायः इसी के पक्ष में हैं कि तत्व दृष्टि से अलंकार और अलंकार्य मे अभेद होते हुए भी व्यवहार दृष्टि से दोनो मे भेद मानना अनिवार्य है।

अलंकारों का मनोवैज्ञानिक आधार:—अलंकारों का आधार खोजने की चेष्टा संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे आरम्भ से ही मिलती है। आरम्भ में ही भामह ने वक्रोक्ति को, दण्डी ने उसी की समानार्थक अतिशयोक्ति को और वामन ने औपम्य को समस्त अलंकारों का प्राण मानते हुए—उनके मूलाधार का सफल निर्देश किया है। इनके अतिरिक्त दण्डी ने एक स्थान पर श्लेष की ओर भी संकेत किया है। "श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायः वक्रोक्तिषु श्रियम्।" (१) * उनके उपरांत दूसरा महत्वपूर्ण प्रयत्न रुद्रट का है जिसने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष के आधार पर अलंकारों का वर्ग-विभाजन किया। वास्तव श्रेणी में २३ अलंकार रखे गये हैं जिनमे वस्तु के वास्तव स्वरूप का कथन होता है; औपम्य श्रेणी में २१ अलंकार हैं जिनका आधार सादृश्य है; अतिशय के अंतर्गत १२ अलंकार हैं जिनमें प्रसिद्धि-बाधा के कारण विपर्यय—अथवा अतिलोकता का प्राधान्य होता है; श्लेष के अंतर्गत अनेकार्थता के चमत्कार पर अवलम्बित अलंकारों की गणना है। रुद्रट के उपरान्त रुय्यक ने औपम्य, विरोध, श्रृङ्खला, न्याय, गूढ़ार्थ-प्रतिपत्ति और संकर अथवा संसृष्टि

*१—बाद में अभिनवगुप्त ने भी आनन्दवर्धन के समकालीन मनोरथ-के इस सिद्धान्त—"नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्य च यत्" के प्रति सहमति प्रकट करते हुए वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का आधार स्वीकार किया है।—"वक्रोक्ति-शून्यशब्देन सर्वालङ्काराभावश्च उक्तः।"

के आधार पर अलंकारों को छः वर्गों में विभक्त किया—और बाद में विद्याधर एवं विश्वनाथ ने न्याय को तर्क-न्याय, वाक्य-न्याय, और लोक-न्याय इन तीन अवांतर भेदों में विभाजित कर रुय्यक के वर्गीकरण को ही लगभग ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। विद्यानाथ ने अवश्य इस क्रम को थोड़ा बहुत विकसित करने का प्रयत्न किया। उसने औपम्य अथवा सादृश्य के स्थान पर साधर्म्य शब्द को अधिक उपयुक्त माना, और—अध्यवसान एवं—विशेषण-वैचित्र्य, ये दो नवीन आधार और आविष्कृत किये।—(२) वास्तव में जैसा कि डाक्टर डे ने कहा है, उपर्युक्त कोई भी वर्गीकरण सर्वथा संगत नहीं है। साधर्म्य और अतिशय का आधार यदि मनोवैज्ञानिक है, तो वाक्य-न्याय आदि का आधार सर्वथा काव्य के बाह्य रूप पर आश्रित है।-- इसका मुख्य कारण यह है कि स्वयं अलंकारों का स्वरूप-निरूपण ही किसी निश्चित आधार को लेकर नहीं चला है। उनका अधिकार शैली की सीमा को लांघ कर वस्तु तक ही नहीं वरन् न्याय, दर्शन, वाणी और क्रिया तक फैल गया है। योरोप के आचार्यों ने भी अलंकारों का वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया है-- उन्होंने छः आधार माने हैं ; साधर्म्य, सम्बंध, अंतर, कल्पना, वक्रता, और ध्वनि (नाद)। उपमा, रूपक, अन्योक्ति आदि को उन्होंने साधर्म्य के आश्रित माना है, अतिशयोक्ति को कल्पना के आश्रित, विरोधाभास को वक्रता के, सार को अन्तर के, और यमक अनुप्रास आदि को ध्वनि (नाद) के आश्रित। परंतु संस्कृत के वर्गीकरण की भांति यह भी अपूर्ण ही है ...उदाहरण के लिए अतिशयोक्ति को कल्पना के आश्रित

२—इधर आधुनिक युग में भी कुछ विद्वानों ने इस ओर रुचि प्रदर्शित की है सुब्रह्मण्य शर्मा ने अलकारों को आठ भागों मे विभक्त किया है—१. औपम्य-मूलक २. विरोध-मूलक, ३. कार्यकारण-सिद्धान्त-मूलक, ४. न्यायमूलक, ५. अपन्हव-मूलक, ६. शृङ्खला-वैचित्र्य-मूलक, ७. विशेषण-वैचित्र्य-मूलक, और ८. कवि-समय-मूलक।—यह वास्तव में रुय्यक के विभाजन का रूपान्तर-मात्र है—परन्तु इसको उससे अधिक सगत नहीं माना जा सकता क्योंकि अपन्हव-मूलक, विशेषण-वैचित्र्य-मूलक और कवि-समय-मूलक वर्ग किसी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित नहीं हैं, बाह्य और स्थूल सामान्यता पर ही आश्रित हैं। दूसरा ब्रजरत्न जी का वर्गीकरण है। उन्होंने रुय्यक के औपम्य, विरोध, शृंखला और न्याय को तो ज्यों का त्यों स्वीकार किया है, परन्तु गूढार्थ-प्रतिपत्ति को स्वतन्त्र नहीं माना। उसके स्थान पर एक नवीन वर्ग वस्तु-मूलक अलंकारो का मान लिया है, जिसके अन्तर्गत उन सभी अलकारों को जो कि उपर्युक्त चार वर्गों मे नहीं आते, रख दिया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नवीनता किसी प्रकार भी अपनी उदभावना को सार्थक नहीं करती।

मानना अत्यंत विचित्र लगता है; क्योंकि कल्पना के आश्रित तो सभी अलंकार है, इसी प्रकार यमक भी सर्वथा ध्वनि (नाद) के आश्रित नहीं है।

स्वभावतः ही मनोविज्ञान के प्रकाश में साहित्य का अध्ययन करने वाले आज के आलोचक का इनसे परितोष होना कठिन है।—अस्तु !

अलंकार की मूल प्रेरणा क्या है ? अर्थात् हमारी वाणी किस कारण अलंकृत हो जाती है ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है—भावोद्दीपन से। जब हमारी भावना उद्दीप्त हो जायगी, तो हमारी वाणी भी आप से आप उद्दीप्त हो जाएगा। भावना के उद्दीपन का मूल कारण है मन का ओज, जो मन को उद्दीप्त करता हुआ वाणी को भी उद्दीप्त कर देता है। मन के ओज का सहज माध्यम है आवेग और वाणी के ओज का सहज माध्यम है अतिशयोक्ति। इसी प्रश्न को दूसरे प्रकार भी हल किया जा सकता है। हमारे अलंकार-प्रेम की प्रेरक प्रवृत्ति है आत्म-प्रदर्शन और और प्रदर्शन मे अतिशय का तत्व अनिवार्यतः होता है। इस प्रकार अलंकृत वाणी-स्पष्ट शब्दों मे—अलंकार का मूल रूप अतिशयोक्ति ठहरती है। अतिशयोक्ति का अर्थ है असाधारण उक्ति। वास्तव में जैसा कि अभिनव के उद्धरण से स्पष्ट है—भामह ने वक्रता की और दण्डी ने अतिशय की बहुत कुछ एक से ही शब्दों में परिभाषा की है। दोनों का तात्पर्य लोकाक्रान्तगोचरता से ही है; इसलिए अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति किसी को भी अलंकार-सर्वस्व माना जा सकता है।

यह तो मूल-प्रेरणा की बात हुई। व्यावहारिक धरातल पर आकर भी हम अलंकारों के कुछ अपेक्षाकृत मूर्त्त आधार निर्धारित कर सकते हैं। यहाँ भी यदि वही प्रश्न फिर उठाता जाए कि हम अलंकार का प्रयोग किस लिए करते हैं—तो व्यवहार-तल पर भी उसका एक ही स्पष्ट उत्तर है : उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए। ऐसा करने के लिए हम सदृश लोकमान्य वस्तुओं से तुलना के द्वारा अपने कथन को स्पष्ट बनाकर उसे श्रोता के मन मे अच्छी तरह बैठाते हैं; बात को बढ़ाचढ़ा कर उसके मन का विस्तार करते हैं, वाह्य वैषम्य आदि का नियोजन कर उसमें आश्चर्य की उद्भावना करते हैं, अनुक्रम अथवा औचित्य की प्रतिष्ठा कर उसकी वृत्तियों को अन्वित करते हैं, वात को घुमा फिराकर वक्रता के साथ कहकर उसकी जिज्ञासा उद्दीप्त करते हैं, अथवा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं।—अलंकारों के ये ही मनोवैज्ञानिक आधार हैं, स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल।—इनके मूर्त्त रूप हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)। उपमा और रूपक से लेकर दृष्टान्त, और अर्थान्तरन्यास जैसे अलंकार साधर्म्य-मूलक हैं; अतिशयोक्ति के विभिन्न भेदों से लेकर सार, उदात्त, जैसे अलंकार अतिशय-मूलक;

विरोध, विभावना, असंगति से लेकर व्याघात, आक्षेप जैसे अलंकार वैषम्य-मूलक ; यथासंख्य, कारणमाला, एकावली से लेकर स्वाभावोक्ति जैसे अलंकार औचित्य-मूलक हैं; पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा से लेकर, सूक्ष्म, पिहित आदि अलंकार वक्रता-मूलक हैं, और श्लेष, यमक से लेकर मुद्रा और चित्र जैसे अलंकार चमत्कार-मूलक हैं। उपर्युक्त विभाजन मे अतिशय, वक्रता और चमत्कार ये तीन ऐसे आधार हैं जो वास्तव में अपने व्यापक रूप में समस्त अलंकारों के मूलवर्ती हैं—परन्तु यहाँ इनका प्रयोग संकीर्ण और विशिष्ट अर्थ मे किया है—अतिशय का लम्बी-चौड़ी बात करने के अर्थ मे, वक्रता का बात को घुमा-फिरा कर कहने के अर्थ में—और चमत्कार का बुद्धि-कौतुक के अर्थ में।

भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र—यूरोप में काव्य के अन्य अंगों की भाँति अलंकार-शास्त्र का जन्म भी यूनान मे ही हुआ। यूनानी भाषा में जिस र्हैटरिक शब्द का प्रयोग होता है उसका वास्तविक अर्थ है भाषण अथवा वक्तृत्व-कला और आरम्भ में इसका उपयोग इसी अर्थ मे होता भी था। श्रोता को प्रभावित अथवा अपने मत में करने के लिए जिन विधियों का उपयोग किया जाता था वे सभी अलंकार कहलाती थीं। अरस्तू ने इसे भाषा-शास्त्र की अपेक्षा तर्कशास्त्र से अधिक सम्बद्ध माना है। धीरे-धीरे मौखिक भाषण से अलंकार का क्षेत्र विस्तृत हो गया, और मौखिक भाषण से लिखित भाषा पर भी उसका अधिकार होगया।

योरोपीय अलंकार तीन वर्गों में विभक्त हैं—१—शब्द-विन्यास-सम्बन्धी, वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी, ३ – अर्थ-विन्यास-सम्बन्धी। इनमे शब्दविन्यास-सम्बन्धी अलंकारों को संस्कृत के आचार्यों ने व्याकरण के ही अन्तर्गत माना है—व्याकरण मे ही उपसर्ग-प्रत्यय वर्ण-विपर्यय आदि का विवेचन मिलता है। वाक्य-रचना सम्बन्धी कुछ एक, और अर्थ-सौष्ठव सम्बन्धी अनेक अलंकार संस्कृत अलंकारो के समानान्तर हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि अलंकार केवल शैली के वाह्य उपकरण नहीं है—उनका आधार मानव मनोविज्ञान है, इसीलिए, यूनानी, अरबी, संस्कृत सभी भाषाओ के प्रधान अलंकार समान है। साधर्म्य-मूलक अलंकारों मे अंग्रेजी के सिमिली, मैटाफ़र, हमारी उपमा और रूपक के पर्याय ही हैं—फ़ेबिल, पैरेबिल और ऐलीगरी वास्तव में शुद्ध अलंकार नहीं है, फिर भी इनको अन्योक्ति और रूपक के रूपांतर माना जा सकता है। वैषम्य-मूलक आक्सीमारन तो स्पष्ट रूप से विरोध ही है। इसी प्रकार अतिशय-मूलक अलंकारों के अन्तर्गत हायपरबोल और अतिशयोक्ति में, तथा सार और क्लाइमैक्स मे कोई अन्तर नहीं है; वक्रता पर आश्रित यूफ्यूमिज़्म पर्याय का ही एक रूप है, इनुऐन्डो गूढोक्ति से बहुत भिन्न नही है, आयरनी काकु का पर्याय है; और चमत्कार-प्राण अलंकारो मे पन, श्लेष और यमक का समकक्ष है।

वाक्य-विन्यास वास्तव मे भाषा की रचना का वाह्य उपादान है, अतएव उससे सम्बद्ध अलंकारो मे साम्य साधारणतः सम्भव नही है, फिर भी ज़्यूग्मा और दीपक की समानता दर्शनीय है।

भारतीय और यूरोपीय अलंकार-शास्त्र मे मुख्य अंतर यह है कि यहाँ शब्द शक्तियों का अलंकार से पृथक विवेचन मिलता है वहाँ अलंकार में ही लक्षणा और व्यञ्जना को अंतर्भूत कर लिया गया है। वैसे तो संस्कृत के भी अनेक अलंकारों मे लक्षणा का आधार है—रूपक, परिकरांकुर और समासोक्ति में तो स्पष्ट रूप से लक्षणा का चमत्कार है—फिर भी भाषा के ऐसे कई लाक्षणिक प्रयोग हैं जिन्हे अंग्रेज़ी मे स्वतन्त्र अलंकार माना गया है, परन्तु संस्कृत में वे केवल शब्द-शक्ति के रूप ही माने गए हैं, जैसे—मैटोनिमी–जिसमे लिंगी के लिए लिंग, आधेय के लिए आधार, कर्ता के लिए करण का प्रयोग होता है; सिनक्डकी—जिसमें व्यक्ति के लिए जाति, जाति के लिए व्यक्ति, अंग के लिए अंगी, अंगी के लिए अंग, मूर्त्त के लिए अमूर्त्त और अमूर्त्त के लिए मूर्त्त प्रयुक्त होता है; हाइपैलेज—जिसमें विशेषण का विपर्यय हो जाता है, या परसोनीफ़िकेशन जिसमे जड़ वस्तुओं का अथवा गुणो का मानवीकरण कर दिया जाता है। वास्तव मे ये चारो न केवल स्वतन्त्र अलंकार के गौरव के ही अधिकारी हैं–वरन् इन्हें प्रधान अलंकार स्वीकार करने मे भी आपत्ति नहीं होनी चाहिये। संस्कृत मे जहाँ अनेक साधारण चमत्कार-मूलक अलंकारों की बाल की खाल निकाली गई है, वहाँ लक्षणा-मूलक इन महत्व-पूर्ण अलंकारो का अभाव आश्चर्य की ही बात है। इसी प्रकार विदेश में व्यंग्य को अलंकार माना है, परन्तु हमारे यहाँ उसे भी शब्द-शक्ति का धर्म माना है–यद्यपि हमारे पर्यायोक्ति, व्याजोक्ति, व्याजस्तुति, गूढोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि सभी व्यञ्जना के ही आश्रित हैं–शब्दो की खींचा-तानी से उनको अन्यथा प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

कुल मिलाकर अंग्रेज़ी के अलंकारो की संख्या—वाक्य और शब्द-विन्यास से सम्बद्ध अलंकारों को मिलाकर भी—संस्कृत की अपेक्षा बहुत कम है। इसके अतिरिक्त इनमे सभी अलंकार वास्तव मे शुद्ध नहीं कहे जा सकते–शब्द और वाक्य-विन्यास के आश्रित अलंकार तो अधिकांशतः व्याकरण के प्रयोग हैं ही, अर्थ-विन्यास से सम्बद्ध ऐपीग्राम, फेबिल आदि भी स्वतन्त्र अलंकार नही हैं। वास्तव मे यूरोप में अलंकार-शास्त्र का इतना सूक्ष्म विवेचन नही हुआ जितना कि हमारे यहाँ, और वैसे प्रकृति से भी वर्ग-विभाजन मे भारतीय आचार्यों को पराजित करना विदेश के पण्डितों के लिए सम्भव नहीं था। जैसा कि आज से बहुत पूर्व युग-चेता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कहा था—'भारती को कुछ नवीन भूषणों से अलंकृत

करने मे हमें संकोच नही करना चाहिये ।' 'फिर क्या कारण कि बेचारी भारती के जेवर वही, भरत, कालिदास, भोज इत्यादि के ज़माने के ज्यों के त्यो बने हुए हैं? भारती को क्या नवीनता पसन्द नही? न हो तो न सही। हो तो केडिया जी कुछ नये भूषणों की खोज या कल्पना करने की भी कृपा करें। ये पुराने भूषण भाषण के भिन्न-भिन्न ढंग हैं। क्या इनके सिवा बोलने और लिखने मे सरसता या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कोई अन्य ढंग ही नहीं सकता।' [भारती-भूषण की प्रस्तावना में उद्धृत पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का एक पत्र]। अलंकारों की वृद्धि से भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है उनके परिशोधन का। संस्कृत के अलंकारों में भ्रांतियाँ काफी हैं—वाणी, न्याय, वस्तु और भाव पर आश्रित अलंकार वास्तव में शुद्ध अलंकार नहीं है। इसी प्रकार बाल की खाल निकालकर अलंकारों में जो सूक्ष्म अवांतर भेद किये गए हैं उनका समीकरण करना भी श्रेयस्कर होगा। अलंकार भाषण की विधियाँ हैं—अतएव उनके मूल में निश्चित मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। उन्हीं के प्रकाश में आज अपने अलंकारों की सम्यक् व्याख्या और उसके साथ ही यथास्थान थोडा बहुत परिवर्तन और परिशोधन कर हम भारती के इस समृद्ध अंग का उचित उपयोग कर सकते हैं।

रसानुभूति मे अलंकार का योग—अब एक प्रश्न शेष रह जाता है 'रसानुभूति में अलंकार किस प्रकार योग देता है?' रस मन की वह अवस्था है जिसमें हमारी मनोवृत्तियाँ अन्वित हो जाती है। अतएव रसानुभूति में अलंकार का क्या योग है, इसका परीक्षण करने के लिए हमे यह देखना चाहिये कि अलंकार किस प्रकार हमारी वृत्तियों को अन्वित करने मे सहायक होता है। वैसे तो सभी अलंकारों का मूलाधार अतिशय है—जो हमारी वृत्तियों को उद्दीप्त करता हुआ बाद में उन्हें पूर्ण अन्विति के लिए तैयार कर देता है। परन्तु जैसा मैंने अन्यत्र कहा है व्यवहार तल पर अलंकारों के छः स्पष्ट आधार हैं जो अतिशय-गर्भ होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न और अपने मे स्वतन्त्र हैः—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। साधर्म्य-मूलक अलंकार द्वारा मुख्यतः हम अपने कथन को स्पष्ट करते हुए श्रोता की मनोवृत्तियों को अन्वित करते हैं—उदाहरण के लिए यदि हम किसी सुन्दरी के मुख को चन्द्रमा की उपमा देते है—तो, वास्तव में, मुख को देखकर हमारे मन में जो विशिष्ट भाव उठता है उसका हम एक प्रसिद्ध उपमान की सहायता लेकर साधारणीकरण करते हैं। चन्द्रमा एक प्रसिद्ध सौंदर्यप्रतीक है। उसके दर्शन से मन में कैसा भाव उत्पन्न होता है, इसे हमारे अतिरिक्त अन्य सहृदय व्यक्ति भी पूरी तरह जानते हैं। अतएव हम किसी सुन्दर मुख को चन्द्रमा के समान कहकर अपनी उद्दीप्त भावना को श्रोता के हृदय मे बैठाते हैं। इस प्रकार हमारा

उक्ति के प्रभाव को पूर्णतः ग्रहण कर श्रोता की वृत्तियाँ प्रसन्न होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं। साधर्म्य-मूलक अलंकार मूलतः इसी तरह रसानुभूति में योग देते हैं। अतिशय-मूलक अलंकार हमारे मन के ओज की अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। उनमें स्पष्ट रूप से लोकातिशयता तो होती ही है, परन्तु आत्यन्तिक रूप में संगति भी अनिवार्यतः होती है (जहाँ लोकातिशयता असंगत अथवा अप्राकृतिक होगी वहाँ अलंकार सार्थक नहीं होगा)। अतएव वे अतिशयता के द्वारा पहले मन का विस्तार करते हुए हमारी वृत्तियों को ऊर्जस्वित करते हैं फिर मूलवर्ती संगति के द्वारा उनमें अन्विति स्थापित करने में सहायक होते हैं। एक उदाहरण लीजिये—

राघव की चतुरंग चमूचय को गनै 'केशव' राज समाजनि,
सूर तुरंगन के अरुझैं पग तुंग पताकनि की यह साजनि।

राम की सेना के वैभव का कवि के मन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसके मन का ओज एक साथ वाणी में फूट पड़ा। 'तुंग-पताकाओं में सूर्य-तुरंगो के पैर उलझ जाते हैं,' इस उक्ति में पताकाओ की ऊंचाई की अतिशयता तो स्पष्ट है ही परन्तु उसके आगे उसकी ऊँचाई और सूर्य की ऊँचाई में मूलवर्तिनी भावना की संगति भी है। इसलिए हम जब इस ऊर्जस्वित वाणी को सुनते हैं तो प्रति-संवेदन के द्वारा पहले तो हमारे मन में ओज का संचार हो जाता है जिससे हमारी वृत्तियाँ विस्तृत हो जाती हैं, फिर मूलवर्तिनी संगति के सहारे वे अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं। विस्तार के उपरांत यह अन्विति स्वभावतः ही अधिक गहरी होती है। वैषम्य-मूलक अलंकारों की रसानुभूति मे योग देने की विधि साधर्म्य-मूलक अलंकारो के बिल्कुल विपरीत है। ये वैषम्य के द्वारा—शब्द-गत अथवा अर्थ-गत निषेध के द्वारा—आश्चर्य-चकित कर, वैषम्य में अनुस्यूत साम्य की, अर्थात् अनेकता में एकता की, भावना कराते हुए हमारी वृत्तियों को अन्वित करने में सहायक होते हैं—

मीठी लगै अँखियान लुनाई।

उपर्युक्त उक्ति मे लुनाई के मीठे लगने में शब्द-गत वैषम्य अथवा निषेध है—यही वैषम्य पहले तो एक साथ मन में आश्चर्य पैदाकर हमारी वृत्तियों को विश्रृङ्खल कर देता है, परन्तु बाह्य वैषम्य होते हुए भी दोनो मे जो आन्तरिक संगति है वह अन्त मे जाकर उद्दीप्त वृत्तियों को अधिक पूर्णता के साथ अन्वित करने मे सहायक होती है।

चौथा वर्ग है औचित्य-मूलक अलंकारो का—औचित्य-मूलक अलंकारों मे तो मूलतः ही एक संगति वर्तमान रहती है जो हमारी वृत्तियो को सीधे रूप में ही समन्वित होने में सहायता देती है—

'भागीरथी बिगडी गति मैं, अरु तू बिगडी गति की है सुधारक।'—यहाँ भक्त 'बिगड़ी गति' है और भागीरथी 'बिगड़ी गति की सुधारक' है। इन दो तत्वो में संगति स्पष्ट है जो हमारी भावनाओं में सामंजस्य स्थापित करने में सहायता देती है। इसी प्रकार माला तथा एकावली भावनाओं को श्रृङ्खलित कर—और काव्य-लिंग आदि भावगत औचित्य स्थापित कर उक्त उद्देश्य की सिद्धि में योग देते हैं।

वक्रता-मूलक अलंकार यह कार्य जिज्ञासा को उभार कर पूरा करते है। गोपन प्रकाशन से भी सूक्ष्मतर कला है। वक्रता पर आश्रित अलंकार गोपन की सहायता से हमारे मन में जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। वे हमारी वृत्तियों की गति को थोडा रोक कर उन्हे तीव्रतर बना देते हैं—और फिर वास्तविक अर्थ की संगति द्वारा उनकी अन्विति में सहयोग देते हैं। उदाहरण के लिये एक प्रसिद्ध पर्यायोक्ति लीजियेः—'न स संकुचितः पंथा येन बाली हतो गतः'—"जिस मार्ग से बाली यमपुरी गया था वह मार्ग संकुचित नहीं हुआ है।" ऐसा कहकर वाल्मीकि यह ध्वनित करना चाहते हैं कि सुग्रीव यदि प्रमाद करता है तो उसको भी बाली-पथ का पंथी बनना पड़ेगा। यहाँ वास्तविक अर्थ के गोपन द्वारा हमारी जिज्ञासा उद्दीप्त की गई है। अब रह जाते हैं चमत्कार-मूलक अलंकार—इनका चूँकि बुद्धि के व्यायाम से सम्बन्ध अधिक है—और नियोजन भी मुख्यतः मस्तिष्क की क्रियाओ के ही आश्रित है अतएव रसानुभूति में इनका योग अत्यन्त न्यून और अप्रत्यक्ष होता है फिर भी बुद्धि और भावना मे कोई निश्चित विभाजक रेखा न होने से एक की क्रिया दूसरे को प्रभावित तो करती ही है। इसी प्रक्रिया से ये अलंकार भी हमारे मन में कौतूहल उत्पन्न कर हमारी वृत्तियो को अधिक जागरूक बना देते है और इस प्रकार अपने ढंग से रसानुभूति में योग देते हैंः—

'सगुन सलोने रूप की जु न चख तृषा बुझाइ।'

[बिहारी-सतसई]

यहाँ सलोना पद श्लिष्ट है—उसके दो अर्थ हैं लावण्ययुक्त और नमकीन। प्रयोग का यह द्वि-अर्थक चमत्कार तो सीधा मन मे कौतूहल उत्पन्न कर रस मे सहायक होजाता है। परन्तु प्रायः चमत्कार-मूलक अलंकारो मे बुद्धि की क्रीडा और अधिक होती है, जैसे—

ललन सलोने अरु रहे, अति सनेह सों पागि
तनक कचाई देत दुख सूरन लौं मुँह लागि।

[बिहारी-सतसई]

इस दोहे मे सूरन की उपमा नायक के साथ दी गई है--और सलोने, सनेह, कचाई, मुँह-लागि आदि श्लिष्ट पदो द्वारा उसका निर्वाह किया गया है। "सूरन कच्चा रहने पर मुँह काट लेता है। उसकी किनकिनाहट दूर करने के लिए नमक लगाकर उसका रस निकाल डालते हैं, और उसे खूब तेल देकर भूँजते हैं, फिर भी भूँजने मे वह कच्चा रह गया तो मुँह में लग ही जाता है।" इस दोहे का सौंदर्य्य श्लेष के ही आश्रित है—और वास्तव में अलंकार निर्वाह भी बहुत ख़ूबसूरती के बिना किसी खींच-तान के हुआ है, लेकिन फिर भी चूँकि सूरन और नायक में भावना की अन्विति न होकर केवल बुद्धि की ही अन्विति है, इसलिए रस तक पहुँचने में देर लगती है—और इसीलिए इसका योग दूरारूढ ही मानना पड़ेगा। सारांश यह है कि अलंकार अतिशय के चमत्कार द्वारा किसी न किसी प्रकार हमारी वृत्तियो को उद्दीप्त कर उन पर धार रख कर तीव्रतर बना देते हैं। ये उद्दीप्त वृत्तियाँ जब अन्वित होती हैं तो स्वभावतः ही इनकी अन्विति मे अपेक्षाकृत गहराई आ जाती है—और उसकी सहायता से हमारी रस की अनुभूति में भी तीव्रता एवं गहराई आ जाती है।—इसी रूप में अलंकार रसानुभूति में योग देते हैं।

(३) रीति-सम्प्रदाय

रीति-सम्प्रदाय का संक्षिप्त इतिहास :—रीति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक थे आचार्य्य वामन । उन्होंने ही सबसे पूर्व रीति शब्द का प्रयोग किया—और उसे काव्य की आत्मा माना—'रीतिरात्मा-काव्यस्य' । परन्तु इस सम्प्रदाय की परम्परा उनसे बहुत पहले से चली आ रही थी । दण्डी ने तो स्पष्ट ही रीति के अर्थ में मार्ग शब्द का प्रयोग करते हुए वैदर्भ और गौड दो मार्गों का निर्देश किया है । भामह ने भी वैदर्भ और गौड काव्यों के अन्तर का सबल शब्दों में निषेध किया है—जिससे स्पष्ट है कि उनके समय में भी किसी न किसी रूप में रीति का अस्तित्व था । उधर सातवी शताब्दी के पूर्वार्ध में बाणभट्ट ने भी लिखा है—गौड लोग अपने शब्दाडंबर के लिए कुख्यात थे ।' इसके अतिरिक्त गुणो का विवेचन तो—जिनको कि दण्डी और वामन दोनों ने रीति के मूलतत्व माना है—अत्यन्त प्राचीन है । भरत के नाट्य-शास्त्र मे दस गुणों की सम्यक् व्याख्या की गई है ।—अतएव यही सिद्ध होता है कि रस, और अलंकार की भाँति रीति की परम्परा भी उनके समानान्तर चल रही थी—जिसको वामन ने एक निश्चित रूपरेखा में बाँध दिया ।

यदि भरत से ही आरम्भ करे, तो हम देखते है कि उन्होंने रीति की ओर तो कही भी संकेत नही किया परन्तु गुणों का पर्याप्त विवेचन किया है । उन्होने गुणो का स्वतंत्र अस्तित्व न मानकर, उन्हें दोपाभाव माना है—और इस प्रकार दस दोषो के अभाव-रूप गुणों को भी 'ख्या में दस माना है ।

> श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्य्यमोजः पदसौकुमार्य्यम् ।
> अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कांतिश्च काव्यार्थगुणा दशैते ॥
>
> [नाट्य-शास्त्र]

भरत का गुण-विवेचन यद्यपि स्थान स्थान पर अस्पष्ट और संदिग्ध है, परन्तु फिर भी उनकी अनेक परिभाषाओं को दण्डी और वामन ने ज्यों का त्यों

स्वीकार कर लिया है। इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने शब्द और अर्थ-गत गुणों का पृथक् निरूपण नहीं किया लेकिन उन्हें इसका ज्ञान अवश्य था। भरत के उपरांत भामह ने भी रीति को कोई महत्व नहीं दिया। उन्होंने वक्रोक्ति को काव्य का मूलतत्व मानते हुए वैदर्भ और गौड़ काव्यों के भेद को अनर्गल घोषित किया।—भामह में रीति के लिए काव्य शब्द का प्रयोग मिलता है "वक्रोक्ति हीन वैदर्भ काव्य भी सत्काव्य नहीं है, और उससे परिपुष्ट गौड काव्य भी सत्काव्य की पदवी का अधिकारी है।" गुणो की भी भामह ने गौण रूप से चर्चा की है—उन्होने उनकी संख्या केवल तीन मानी है, माधुर्य्य, ओज और प्रसाद। बाद में ध्वनिवादियों ने भामह के तीन गुणो को ही स्वीकार किया। भामह के परवर्ती दण्डी वैसे तो अलंकारवादी थे, परन्तु उन्होने गुणो को अलंकारो से अधिक महत्व दिया है। वास्तव मे उन्होने गुणों और अलंकारों मे स्पष्ट भेद नहीं किया है। गुण और अलंकार दोनों ही काव्य को शोभित करने वाले धर्म हैं-गुण केवल सत्काव्य को ही शोभित करते हैं, अलंकार सत् और असत् दोनों प्रकार के काव्यों मे मिल सकते है। वैदर्भ काव्य जिसमें, समस्त गुणों का समावेश रहता है, सत्काव्य है। गौडकाव्य इसके विपरीत है, उसमे गुणों का विपर्यय मिलता है।—'इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः। एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि।' (काव्यादर्श)। दण्डी ने मार्ग और वर्त्मन् शब्द का प्रयोग किया है—उन्होने मार्गों की संख्या दो और गुणों की दस मानी है। गुणो की गणना और नामकरण मे भरत का अनुसरण करते हुए भी, उनकी व्याख्या मे दण्डी ने पृथक् मार्ग का अवलम्बन किया है। उनका कांतिगुण भरत के अर्थव्यक्ति गुण का समानान्तर है, समाधि और माधुर्य्य की परिभाषाएँ भरत से भिन्न हैं। दण्डी ने भी यद्यपि शब्द और अर्थ-गत गुणो का पार्थक्य नहीं किया, परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट है कि श्लेष, समता, सुकुमारता और ओजस् शब्द के आश्रित हैं, प्रसाद, अर्थव्यक्ति, कांति ,उदारता और समाधि अर्थ के—माधुर्य्य में दोनो का आधार है। दोषो का विवेचन उनका भरत से बहुत भिन्न नही है। उन्होंने भी भामह के ग्यारहवे दोष को अव्यक्त मानते हुए दोषो की संख्या दस स्वीकार की है।—इतना होते हुए भी, दण्डी के विवेचन मे अपने दोष है—उदाहरणार्थ अर्थ-व्यक्ति प्रसाद के अन्तर्गत आ सकता है—उदारत्व और कांति की परिभाषाएँ भी अस्पष्ट है—उनमे जिस भाव-गत सौंदर्य की ओर सकेत किया गया है वह अनिर्दिष्ट है।

दण्डी के उपरांत वामन ने रीति और गुणो का सम्यक् विवेचन तथा उनका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए रीति-सम्प्रदाय की असंदिग्ध रूप मे प्रतिष्ठा कर दी। उन्होंने दण्डी के दो मार्गों के स्थान पर तीन रीतियों की सत्ता स्वीकार

की : वैदर्भी गौड़ी, पान्चाली। वैदर्भी में दसों गुणों का समावेश रहता है, गौड़ी में ओज और कांति का, पांचाली में माधुर्य्य और सौकुमार्य का। इसके अतिरिक्त गुणों को शब्द-गुण और अर्थ-गुण दो भागों में विभक्त करते हुए उनका अपने ढंग से पुष्ट विवेचन किया और गुण और अलंकार में स्पष्ट भेद करते हुए पहले को नित्य और दूसरे को अनित्य स्वीकृत किया। वामन का गुण-विवेचन भरत और दण्डी से बहुत भिन्न है—उदाहरण के लिए वामन का ओजस् दण्डी के श्लेष के समानान्तर है। वामन ने अर्थ-गुण कांति में रस का भी समावेश करते हुए उसे काव्य के मूल तत्वों में परिगणित कर लिया है—परन्तु दण्डी ने उसका अन्तर्भाव अलंकारों मे ही करते हुए उसे काव्य का अनिवार्य अङ्ग नहीं माना।

उधर भरत और दण्डी के अनुसार वामन ने भी दस दोष तो माने हैं परन्तु भरत की भाँति उन्होंने गुणों को दोषाभाव न मानकर, दोषों को गुणो का विपर्यय माना है, और उनका पद-दोष, पदार्थ-दोष, वाक्य-दोष और वाक्यार्थ-दोष इन चार भेदों में विभाजन किया है। वामन के विवेचन की सीमायें भी हैं—उनकी कतिपय परिभाषायें अस्पष्ट हैं। सबसे पहले तो उनका समस्त गुणों को शब्द-गुण और अर्थ-गुण में विभक्त करना ही अधिक संगत नहीं है—स्थान स्थान पर इसके लिए उन्हें खींच-तान करनी पडी है। साथ ही कुछ अन्य दोष भी स्पष्ट है—जैसे उनका शब्द-गुण प्रसाद केवल ओजस् का निषेध मात्र है और उदारता ग्राम्यत्व का। उनके श्लेष को मम्मट ने स्वतन्त्र गुण ही नहीं माना क्योंकि वह ओजस् का केवल एक भेद मात्र है।—उनके कई गुण तो केवल अलंकार ही रह गए हैं। इस प्रकार वामन के विवेचन के विरुद्ध परवर्ती आचार्यों ने अनेक आक्षेप किए हैं। परन्तु इन साधारण आक्षेपो के होते हुए भी संस्कृत अलंकार-शास्त्र में वामन का गौरव कम नहीं होता। काव्य के वाह्य रूप की महत्ता को असंदिग्ध शब्दों मे स्थापित करते हुए उसकी व्यवस्थित व्याख्या करने वाले इस आचार्य्य का अपना पृथक् स्थान रहेगा। काव्य-शोभा अथवा सौन्दर्य्य का वस्तुगत विवेचन उनका सर्वथा पूर्ण है।

वामन के उपरांत रुद्रट ने एक चौथी रीति लाटी का और आविष्कार किया, परन्तु उनकी रीति समस्त पदों का प्रयोग-विशेष ही है। आनन्दवर्धन और अभिनव गुप्त ने ध्वनि के आधार पर काव्य का भावगत विवेचन किया है, अतएव स्वभाव से ही उन्होंने रीति को स्वतन्त्र महत्व नहीं दिया। आनन्दवर्द्धन ने उसे काव्य के वाह्य रूप की शोभा का उपादान मानते हुए वाच्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है। उनका महत्व इसी पर निर्भर है कि वे रस-परिपाक मे कहाँ तक योग देती हैं। अभिनव एक पग और आगे बढ गए है, उन्होंने गुण और अलंकारसे पृथक रीति का

अस्तित्व मानने की आवश्यकता ही नहीं समझी। हाँ, गुणों को ध्वनिवादियों ने वांछित महत्व दिया है—उनको रस का तत्व मानते हुए काव्य का नित्य अङ्ग माना है। गुणो की संख्या इन्होसे दस से घटा कर भामह के अनुसार तीन ही कर दी है:— माधुर्य्य, ओज और प्रसाद जो क्रमशः चित्त की द्रुति दीप्ति और व्यापकत्व पर आश्रित है। कुंतक ने भी रीति-विभाजन का तीव्र शब्दों में विरोध किया।—उन्होंने कहा—देश के अनुसार काव्य-रीति का विभाजन असंगत है—इस प्रकार तो असंख्य रीतियाँ माननी पड़ेंगी, और न रीतियों को उत्तम, मध्यम और अधम मानना ही उचित है क्योंकि काव्य तो कवि-प्रतिभा-जन्य है। एक बात को कहने की केवल एक ही रीति हो सकती है, वह सबसे उत्तम होगी—उसमे उत्तम, मध्यम और अधम के लिए स्थान नहीं है। रीति के स्थान पर कुंतक ने भी मार्ग शब्द का ही प्रयोग किया है और उसे कवि-प्रस्थान-हेतु अर्थात् कवि-कर्म का ढंग माना है। मार्गों को उन्होने देश-भेद के अनुसार विभाजित न कर—रचना गुण के अनुसार दो भेदों मे विभाजित किया है : सुकुमार और विचित्र। उधर दस गुणों की परिपाटी से स्वतन्त्र उन्होने दोनों मार्गों के तत्वरूप चार गुण माने हैं—माधुर्य्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य। यों तो चारों गुण दोनों ही मार्गों के मूल तत्व हैं परन्तु उनका स्वरूप दोनो में भिन्न है। इनके अतिरिक्त औचित्य और सौभाग्य दो और भी गुण हैं जो सभी प्रकार के काव्यो मे वर्तमान होने चाहियें।—कुंतक ने कवि-प्रतिभा को काव्य का मूलाधार माना है, इसलिए उन्होंने वाह्य उपादानों को अधिक महत्व नहीं दिया—स्वभावतः उनकी विवेचना सर्वथा वस्तुगत न होकर बहुत कुछ मनोगत भी है।

कुंतक ने उपरांत भोज के मागधी और अवंतिका—दो नवीन रीतियों की उद्भावना करते हुए उनकी संख्या छः तक पहुँचा दी। उनका वर्गीकरण भी बहुत कुछ समस्त पदों के प्रयोग पर ही आश्रित है। अवन्तिका को उन्होंने वैदर्भी और पांचाली की मध्यवर्ती माना है। मागधी को एक अपूर्ण और सदोष प्रकार मानते हुए खण्ड-रीति की संज्ञा दी है—उसमें संगति का अभाव रहता है। इसके अतिरिक्त गुणों और दोषों के विवेचन में भी उन्होंने नवीन उद्भावनाएँ की हैं, परन्तु उनकी ये उद्भावनाएँ अधिक पुष्ट और व्यवस्थित नहीं हैं—उनके पीछे कोई निश्चित मनोभूमिका नहीं मिलती; उदाहरण के लिए उनकी रीति-विषयक उद्भावनाएँ ही निराधार और निरर्थक हैं।

भोज के परवर्ती आचार्य्यों ने मौलिक सिद्धांतो की कोई विशेष सृष्टि नहीं की, वे प्रायः व्याख्याता ही थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध तीन हुए—मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ। मम्मट ने वामन की रीतियों को उद्भट की वृत्तियों से एकरूप कर

दिया है : वैदर्भी और उपनागरिका एक हैं, परुषा और गौडी एक हैं, पाञ्चाली और कोमला एक हैं। इनमे पहली दोनों माधुर्य्य-व्यञ्जक वर्णों के आश्रित हैं, दूसरी ओज-व्यञ्जक वर्णों के, तीसरी मे ऐसे वर्णों का प्रयोग होता है जो इन दोनों से भिन्न हैं। मम्मट का विवेचन बहुत कुछ आनन्द-वर्द्धन और अभिनव से प्रभावित है। उन्हीं के अनुसरण पर मम्मट ने भी गुणों की संख्या केवल तीन ही मानी है--और वामन-कृत दस शब्द-गुण और दस अर्थ-गुण की व्याख्या की आलोचना करते हुए शेष गुणों को या तो इन तीनों मे ही अंतर्भूत कर दिया है, या फिर दोषाभाव कह कर स्वतंत्र अस्तित्व का अधिकार नहीं दिया। मम्मट की अपेक्षा विश्वनाथ ने रीति को अधिक आदर दिया है। ध्वनि के परवर्ती आचार्य्यों में केवल विश्वनाथ ने ही रीतिका रस और गुण के सम्बन्ध से व्यवस्थित विवेचन किया है। उन्होंने रुद्रट के अनुसार चार रीतियां मानी हैं—और उनका आधार समस्त-पद-प्रयोगों को न मान कर स्पष्ट रूप से वर्णों के संगुंफन को ही माना है। वैदर्भी जो माधुर्य्य से सम्बद्ध है शृंगार, करुण और शांत के उपयुक्त है, और गौड़ी जिसका सम्बन्ध ओज से है वीर, वीभत्स तथा रौद्र के अनुकूल पडती है। पाञ्चाली की परिभाषा उन्होने बहुत कुछ मम्मट के अनुसार ही की है जो स्पष्ट नहीं हो सकी। उनकी लाटिका रीति में भी वैदर्भी और पाञ्चाली की ही विशेषताएं हैं—अतएव उसकी स्वतंत्र सत्ता मानना व्यर्थ है।--संस्कृत साहित्य-शास्त्र के अंतिम प्रसिद्ध आचार्य्य पण्डित-राज जगन्नाथ ने काव्य के वाह्य रूप को एक बार फिर गौरव के साथ आगे लाने का प्रयत्न किया, और गुण आदि विस्तृत विवेचन भी किया। परन्तु कुल मिला कर वे भी इस क्षेत्र मे आनन्दवर्द्धन और मम्मट आदि से भिन्न कोई स्वतंत्र उद्भावना नहीं कर सके। रीति की परम्परा जोकि संस्कृत में भी अधिक लोक-प्रिय नहीं हो पाई थी, अंत में स्वभावतः ही उसी के साथ निःशेष हो गई। हिंदी के आचार्य्यों ने उसे कोई महत्व नहीं दिया।

रीति की परिभाषा और स्वरूप

रीति के उद्भावक वामन ने रीति को विशिष्ट पद-रचना कहा है—"विशिष्टा पद-रचना रीतिः"—और पद-रचना के इस वैशिष्ट्य को विभिन्न गुणों के संश्लेषण पर आश्रित माना है; 'विशेषो गुणात्मा'। गुण का अर्थ उन्हीं के शब्दों में है काव्य को शोभित करने वाले धर्म। गुण नित्य धर्म हैं अलंकार अनित्य, क्योंकि केवल गुण तो वैशिष्ट्य की सृष्टि कर सकते हैं, केवल अलंकार नहीं। काव्य का समस्त सौन्दर्य रीति पर आश्रित है। यह सौन्दर्य किस प्रकार उत्पन्न होता है? दोषों के बहिष्कार एवं गुणों और अलंकारों के प्रयोग से। तो, इस प्रकार वामन के अनुसार

रीति पद-रचना का वह प्रकार है जो दोषों से मुक्त हो, एवं गुणों से अनिवार्यतः तथा अलंकारों से साधारणतः सम्पन्न हो।

वामन के उपरांत कुंतक ने रीति को कवि-प्रस्थान-हेतु, अर्थात् कवि-कर्म की विधि कहा है, और भोज ने भी उसका अर्थ काव्य-मार्ग किया है। आनन्द-वर्द्धन ने अपने आशय को थोड़ा और स्पष्ट करते हुए उसको वाक्य-वाचक-चारुत्व-हेतु कहा है—उनके अनुसार रीति वह विधि है, जिसके द्वारा काव्य के शरीर शब्द-अर्थ में चारुता आती है। आनन्दवर्द्धन ने इस प्रकार रीति का सम्बन्ध समस्त काव्य से न जोड़ कर उसके वाह्य रूप तक ही सीमित रखा है जो वास्तव में उचित है, क्योंकि काव्य केवल पद-रचना के ही आश्रित नहीं है। बाद में मम्मट और विश्वनाथ ने इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए रीति-विवेचन को सर्वथा निर्भ्रान्त बना दिया है। 'पद-संघटना रीतिरंग-संस्थानवत्'। इस प्रकार आप देखें कि साहित्य-शास्त्र के विकास के साथ रीति के गौरव में तो आकाश पाताल का अन्तर हो गया है—वह आत्मा से अंग मात्र रह गई है, परन्तु उसकी परिभाषा आदि से अन्त तक लगभग वही रही है।

बहुत कुछ अंग्रेजी के अठारहवीं शती के कवियों की भाँति रीतिवादियों का भी दृष्टिकोण वस्तु-गत था। उन्हीं को तरह ये भी काव्य-सौंदर्य को भाव के आश्रित न मान कर भाषा के ही आश्रित मानते थे। वामन का यह विश्वास था कि समस्त पदों के कुशल प्रयोग, एवं शब्दों तथा वर्णों के चारु चयन के द्वारा अथवा भावों का क्रम बाँधने या उनको सजा कर रखने से ही प्रायः काव्य सौन्दर्य की सृष्टि होती है। अतएव वे उन्हीं को आधार मान कर काव्य के वाह्य रूप का वस्तु-गत विश्लेषण करते रहे। परन्तु काव्य के भाव पक्ष अथवा आंतरिक पक्ष से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे, यह नहीं कहा जा सकता। उन्होने अर्थ-गुण कान्ति में रस की दीप्ति अनिवार्य मानी है। इसी प्रकार उनके अर्थ-गुण सौकुमार्य और उदारता भी भाव-सौंदर्य से ही अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इसके अतिरिक्त अर्थ-गुणो को शब्द-गुणों के बराबर ही महत्व देना भी तो इसका स्पष्ट प्रमाणहै। इस प्रकार वामन की रीति मे आन्तरिक तत्व का सर्वथा अभाव मानना तो भ्रामक है। क्योंकि उन्होंने अर्थ और वाणी के सामञ्जस्य को पूर्णतः स्वीकार किया है; पर हाँ, वैयक्तिक तत्व को उसमें कदाचित् उतनी प्रधानता नहीं दी गई जितनी कि पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की 'शैली' मे दी गई है। भारतीय काव्य-शास्त्र की रीति का सम्बन्ध कला से जितना घनिष्ठ है—उतना कवि-व्यक्तित्व से नहीं। परन्तु फिर भी डाक्टर डे आदि की भी यह प्रस्थापना पूर्णतः सत्य नहीं है कि भारतीय रीति सर्वथा निर्वैयक्तिक रचना-कौशल है अतएव वह पाश्चात्य 'शैली' से एकांत भिन्न है। भारतीय

काव्य-शास्त्र में अनेक स्थानो पर रीति और कवि-व्यक्तित्व के अंतरंग सम्बन्ध का निर्देश किया गया है। उदारण के लिये दण्डी ने स्पष्ट कहा है कि वैदर्भ और गौडीय मार्ग तो काव्य के दो स्थूल भेद मात्र हैं—वैसे तो वाणी के कवियों के अपने अपने-व्यक्तित्वों के अनुसार अनेक सूक्ष्म-सरल भेद हैं जिनका वर्णन सम्भव नहीं है:—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ ॥

× × ×

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूप-निरूपणात्
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रति कविस्थिताः ॥

[काव्यादर्श—१.]

उनके उपरांत शारदातनय आदि ने भी इसका समर्थन किया 'पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती' और उधर अनेक कवियो ने इस बात पर बल दिया है कि प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट रीति होना अनिवार्य है।

उधर पश्चिम में भी शैली का वस्तु-विवेचन काफ़ी हुआ है। सबसे पूर्व तो आचार्य अरस्तू ने ही शैली के वाह्य रूप का व्यापक विवेचन करते हुए उसके दो भेद किये हैं: १वाद शैली और २साहित्य शैली। उन्होंने शैली के दो मूल गुण माने हैं: (अ) पर्सपिक्यूइटी (आ) प्रोप्राइटी। पर्सपिक्यूइटी का अर्थ है प्रसाद और प्रोप्राइटी का औचित्य। ये दोनों ही गुण भारतीय काव्य-शास्त्र में स्वीकृत हैं—प्रसाद तो पृथक गुण ही है, औचित्य का कुंतक के अतिरिक्त किसी ने पृथक निर्देश नही किया, किंतु नाम भेद से उसे वामन आदि सभी ने स्वीकार किया है। तथापि औचित्य वास्तव मे विशेष गुण न होकर काव्य का सामान्य गुण ही है क्योंकि इसके अभाव मे काव्य काव्य ही नही रह जाता—और इस दृष्टि से कुंतक का मत ही अधिक मान्य है जिन्होने कि इसे रीति का सामान्य अनिवार्य गुण ही माना है। अरस्तू के उपरान्त शैली पर डिमेट्रियस का 'औन स्टाइल' नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ मिलता है—डिमेट्रियस ने शैली के चार भेद किये हैं: ऐलीगेन्ट (सुन्दर), प्लेन (प्रसादयुक्त), फोर्सिबिल (ओजस्वी), और ऐलिवेटेड (उदात्त)। इनमें से प्रथम तीन तो भारतीय काव्य शास्त्र की क्रमशः माधुर्य, प्रसाद और ओज युक्त शैलियों से अभिन्न ही हैं। - हां ऐलिवेटेड (उदात्त) थोडी भिन्न है—परन्तु उसका कारण यह है कि विदेश मे सब्लाइम का आरम्भ से

(1) Controversial (2) literary.

ही पृथक् विवेचन है जब कि हमारे यहां उसे ओज में भी अन्तभूर्त कर लिया गया है।

यूनानी आचार्यों के उपरान्त रोम के और उनके उपरान्त फ्रांस, इंग्लैंड आदि के अनेक काव्य-शास्त्रियों ने शैली के वस्तु-रूप का सम्यक् विवेचन किया है। इन अलंकारिकों के विवेचन के सार-रूप पश्चिम मे शैली के तीन पक्ष माने गये हैं :—

बुद्धि-पक्ष, राग-पक्ष, और कला-पक्ष। बुद्धि-पक्षके अंतर्गत आते हैं (अ) यथातथ्यता अर्थात् उचित शब्द का उचित प्रयोग; (आ) स्पष्टता अर्थात् इन उचित शब्दों को वाक्य-संघटन मे उचित स्थान पर क्रम-पूर्वक रखना, (इ) औचित्य-अर्थात् वस्तु और उसकी अभिव्यक्ति का सामञ्जस्य—संगति, अन्विति इत्यादि। राग-पक्ष से आशय ओज, तीव्रता, ध्वन्यात्मकता, अथवा उन तत्वों से है जिनके द्वारा कवि न केवल अपने विचारों को ही, वरन् अपने भावों और उद्वेगों को भी पाठक तक प्रेषित करता हुआ, उसके हृदय मे भी सदृश भावों और उद्वेगों का संचार करने में समर्थ होता है। तीसरा है कला पक्ष—जिसके अंतर्गत संगीत, गति, लय, नाद-सौंदर्य आदि की गणना है जो अर्थ से स्वतन्त्र होकर भी मन को आह्लादित करते हैं

आप देखें कि उपर्युक्त तत्व-विश्लेषण वामन आदि के तत्व-विश्लेषण से बहुत भिन्न नहीं है। वामन के श्लेष--[जिसमें शब्द और अर्थ की पूर्ण मैत्री के द्वारा अभिव्यक्ति में यथातथ्यता रहती है] प्रसाद--[जिसमें सरल प्रचलित शब्दों के निर्भ्रान्त प्रयोग द्वारा आशय की स्पष्टता रहती है] समाधि—[जिसमें अर्थ की एकाग्रता होती है] समता—[जिसमें संगति होती है] आदि बुद्धि-पक्ष के तत्व हैं। सौकुमार्य--[जिसमें अप्रिय तथ्य भी प्रिय शब्दों में कहा जाता है] उदारता--[जिसमें भाव-भंगिमा में अग्राम्यत्व रहता है] कांति--[जो रस से दीप्त होता है] आदि अर्थ-गुण राग-पक्ष के तत्व हैं। इसी प्रकार कतिपय शब्द-गुण जैसे ओज--[जिसमे पदों का गाढ-बन्धत्व रहता है], माधुर्य--[जिसमें पद पृथक् और श्रुति मधुर होते हैं], सौकुमार्य--[जो परुष वर्णों से मुक्त होता है], उदारता--[जिसमें पद नृत्य-सा करते हैं] और कांति--[जिसमें पद-औज्ज्वल्य की विशेषता रहती है] कला-पक्ष के तत्व हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह विवेचन सर्वथा पूर्ण नहीं है, परन्तु जहाँ कहीं भी जीवन के तत्वों का वाह्य तथ्यों के वर्गीकरण द्वारा विवेचन किया जाएगा, वहाँ पूर्णता की आशा करना व्यर्थ होगा। रीति या शैली अपने वास्तविक रूप मे मनोविकारों की अभिव्यक्ति का नाम है। अतएव उसको निश्चित वाह्य तथ्यों में बांधना उतना ही कठिन है, जितना मनोविकारों को, इस क्षेत्र में तो विवेचन ही एक दिशा

का ही निर्देश ही किया जा सकता है—इस दृष्टि से वामन की सफलता पश्चिमी आचार्यों की अपेक्षा अधिक स्तुत्य है।

अब रह जाता है शैली का वैयक्तिक तत्व। वैयक्तिक तत्व के दो रूप हैं: एक तो शैली द्वारा कवि की आत्माभिव्यंजना, दूसरा पात्र तथा परिस्थिति के साथ शैली का सामंजस्य। पहला रूप जैसा मैंने अभी कहा है, भारतीय रीति-परिभाषा से सर्वथा बहिष्कृत नहीं है, यद्यपि उसे वाञ्छित महत्व नहीं मिला—और इसका स्पष्ट कारण यही है कि भारत में साहित्य को निर्वैयक्तिक साधना के रूप मे ही प्रायः ग्रहण किया गया है। दूसरे रूप का विधान तो निश्चय ही मिलता है। यद्यपि वामन ने इसका स्पष्टीकरण नही किया, परन्तु वामन से पूर्व भरत ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि नाटक मे भाषा पात्र के शील-स्वभाव की ही अनुवर्तिनी होनी चाहिए। वामन के उपरान्त मम्मट ने भी वक्ता और विषय के अनुसार रीति मे परिवर्तन करना उचित और आवश्यक माना है।

सारांश यह है कि रीति-सम्प्रदाय ने काव्य के वाह्य पक्ष : रचना-चमत्कार को विशेष महत्व दिया है इसमे सन्देह नहीं, परन्तु यह भी सत्य है कि उसके मानस पक्ष की भी उपेक्षा इसमे नहीं की गई। हाँ, कवि की आत्माभिव्यक्ति को वाञ्छित महत्व नहीं मिला, यद्यपि बहिष्कार उसका भी नहीं हुआ।

रीति एवं गुण और दोष की स्थिति और उनका रस से सम्बन्ध

जहाँ तक वामन की रीति का प्रश्न है, स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। वामन के अनुसार रीति का अर्थ है रचना-चमत्कार जो गुणो पर आश्रित रहता है;—गुण-काव्य के वे नित्य धर्म हैं जो उसको सुशोभित करते हैं; दोष गुणों के विपर्यय हैं; अतएव वे काव्य की शोभा में बाधक होते हैं। गुणों के प्रयोग और दोषों के बहिष्कार से रचना में सौन्दर्य आता है। रचना का यही सौन्दर्य वामन के लिए काव्य का सर्वस्व है। रस इसी मे निहित रहता है, वह इसका साध्य नहीं साधक है।

परन्तु यह स्थिति बहुत समय तक न रही। ध्वनि और रसवादियों ने चित्र बदल दिया। रीति आत्मा न रह कर अंग-संस्थान मात्र रह गई। रस उसका एक तत्व नहीं रहा। वह स्वयं रस की उपकर्त्री समझी गई। इसी प्रकार गुण भी उसके उपादान तत्व नहीं रहे। वह स्वयं उनका माध्यम बन गई। इन लोगों के अनुसार

रीति शब्द और अर्थ के आश्रित रचना-चमत्कार का नाम है जो माधुर्य, ओज अथवा प्रसाद गुण के द्वारा चित्त को द्रवित, दीप्त और परिव्याप्त करती हुई रस दशा तक पहुँचाती है।

गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति :—अब एक प्रश्न शेष है। गुण की मनोवैज्ञानिक स्थिति क्या है? आनन्दवर्द्धन ने तो केवल यही कहा है कि श्रृङ्गार, रौद्र आदि रसो मे जहाँ चित्त आह्लादित और दीप्त होता है, माधुर्य ओज आदि गुण बसते हैं, परन्तु आह्लादन (द्रुति) और दीप्ति से गुणों का क्या सम्बन्ध है, यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। क्या माधुर्य और चित्त की द्रुति अथवा ओज और चित्त की दीप्ति परस्पर अभिन्न हैं अथवा उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध है? इस समस्या को अभिनव ने सुलझाया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुण चित्त की अवस्था का ही नाम है। माधुर्य चित्त की द्रवित अवस्था है, ओज दीप्ति है और प्रसाद व्यापकत्व है। चित्त की यह द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति रस-परिपाक के साथ ही घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रृङ्गार-रस की अनुभूति से चित्त में जो एक प्रकार की आर्द्रता का संचार होता है, वही माधुर्य है; वीर रस के अनुभव से उसमें जो एक प्रकार की दीप्ति उत्पन्न होती है वही ओज है; और सभी रसों के अनुभव से चित्त मे जो एक व्यापकत्व आता है वही प्रसाद है। इस प्रकार अभिनव के अनुसार माधुर्य आदि गुण चित्त की द्रुति आदि अवस्थाओं से सर्वथा अभिन्न हैं और चूंकि ये अवस्थायें रसानुभूति के कारण ही उत्पन्न होती हैं, अतएव रस को कारण और गुण को उसका कार्य कहा जा सकता है। कारण और कार्य मे अन्तर होना अनिवार्य है, इसलिये रस और चित्त-द्रुति आदि के अनुभव मे भी अंतर अवश्य मानना होगा—कम से कम काल-क्रम का अन्तर तो है ही। परन्तु चूंकि रस की पूर्ण स्थिति मे दूसरे अनुभव को स्थान नही रहता, अतएव चित्त-द्रुति आदि का भी सहृदय को पृथक् अनुभव नहीं रह पाता। वह रस के अनुभव में ही निमग्न हो जाता है। आनन्दवर्धन ने गुणों को रस के नित्य धर्म इसी दृष्टि से माना है।

अभिनव के उपरांत माधुर्य आदि गुणो को मम्मट ने रस के उत्कर्ष-वर्द्धक एवं अचल-स्थिति धर्म माना—और उन्हे चित्त-द्रुति आदि का कारण माना। अभिनव ने रस को गुण का कारण माना था—और गुण को चित्त-द्रुति आदि से अभिन्न स्वीकार किया था। मम्मट गुण को चित्त-द्रुति आदि का कारण मानते हैं। गुण का स्वरूप क्या है इस विषय में मम्मट ने कुछ प्रकाश नहीं डाला। मम्मट का प्रतिवाद विश्वनाथ ने किया। उन्होने फिर अभिनव के मत की ही प्रतिष्ठा की।

अर्थात् चित्त के द्रुति दीप्तत्व रूप आह्लाद को ही गुण माना। परन्तु उनका मत था कि "द्रवीभाव या द्रुति आस्वाद-स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण कार्य नहीं है जैसा कि अभिनव ने किसी अंश तक माना है। आस्वाद या आह्लाद रस के पर्याय हैं। द्रुति रस का ही स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है।"

[सा० द० विमला टीका]

इस तरह विश्वनाथ ने एक प्रकार से गुण को रस से ही अभिन्न मान लिया है।

वास्तव में जैसा कि डा० लाहिरी ने कहा है, संस्कृत साहित्य-शास्त्र में गुण की स्थिति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। यदि विश्वनाथ के अनुसार उसे रस से अभिन्न आस्वाद रूप ही मानते हैं, तो प्रश्न उठता है कि उसकी पृथक् स्थिति क्यों मानी जाए ? इसलिये विश्वनाथ का सिद्धांत मान्य नहीं हो सकता। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो रस और गुण दोनों ही मनःस्थितियाँ है। (इस विषय में अभिनव मम्मट आदि सभी सहमत हैं) । रस वह आनन्द-रूपी मनःस्थिति है, जिसमें हमारी सभी वृत्तियाँ अन्वित हो जाती हैं और यह स्थिति अखण्ड है। उधर गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चित्त-वृत्तियाँ द्रवित हो जाती हैं, कहीं दीप्त और कही परिव्याप्त। यहाँ तक तो कोई कठिनाई नही है। यह भी ठीक है विशेष भावो मे और विशेष शब्दो में भी चित्त-वृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिये मधुर वर्णों को सुन कर और प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त मे एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है—जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं—और महाप्राण वर्णों को सुन कर एवं वीर और रौद्र आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है, जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। परन्तु इन विकारों को पूर्णतः आह्लाद रूप नही कह सकते। यहाँ काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पारकर भोजकत्व की ओर बढ रहा है। अभी उसमे वस्तु-तत्व निःशेष नहीं हुआ—और स्पष्ट शब्दो मे हमारी चित्त-वृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ रही है। अभी इनमे पूर्ण अन्विति की स्थापना नही हुई क्योंकि तब तो रस का परिपाक ही हो जाता। जैसा भट्ट नायक ने एक जगह संकेत किया है, यह काव्य के भोजकत्व की एक प्रारम्भिक स्थिति है, जो पूर्ण रसत्व की पूर्ववर्ती है। अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद रूप न मान कर केवल चित्त की एक दशा ही माना जाए, तो उसे सरलता से रस-परिपाक की प्रक्रिया मे रस-दशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता

है, जहाँ हमारी चित्त-वृत्तियाँ पिघल कर, दीप्त होकर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिये तैयार हो जाती हैं।

दोष की स्थिति :—दोषों को रस का 'अपकर्षक' 'मुख्यार्थ में बाधक' आदि कहा गया है। भरत ने उन्हे भाव-मूलक (Positive) मानते हुए गुणों को अभाव-मूलक (Negative) माना है। दण्डी ने भी उन्हें भाव-मूलक ही माना है, परन्तु वामन ने उन्हें गुणों का विपर्यय कहा है। परवर्ती आचार्यों ने भी उनकी भाव-मूलक स्थिति ही स्वीकार की है, और यह उचित ही है क्योंकि काणत्व आदि दोष की स्थिति भाव-मूलक ही है सुनयनत्व आदि गुणों का अभाव-रूप नहीं है। गुण का अभाव निर्गुणत्व है, दोष नहीं। दोषो की संख्या दस से आरम्भ होकर सत्तर तक पहुँच गई हैं। उनका विभाजन साधारणतः पाँच वर्गों मे किया जाता हैः—पद-दोष, पदांश-दोष, वाक्य-दोष, अर्थ-दोष और रस-दोष। परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल है। तत्व-रूप में सभी दोषो का रस-हानि से सम्बन्ध है और जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है, वे [१] या तो रस की प्रतीति को रोक देते हैं, या [२] रस की उत्कृष्टता की विघातक किसी वस्तु को बीच में खड़ा कर देते है, या [३] रसास्वाद में विलम्ब उपस्थित कर देते हैं—और गहरे मे जायें तो हम देखते है कि समस्त दोषों का मूल औचित्य का व्यतिक्रम है। औचित्य का अर्थ है सहज स्थिति या सामान्य व्यवस्था। उसका उत्कर्ष गुण है, अपकर्ष दोष है। साहित्य मे यह औचित्य कई प्रकार का होता है एक पद-विषयक औचित्य जो शब्द और अर्थ के सामञ्जस्य पर निर्भर रहता है, दूसरा—व्याकरण-विषयक औचित्य जो पदो की आर्थी व्यवस्था पर आश्रित रहता है; तीसरा बौद्धिक औचित्य जो हमारी ज्ञान-वृत्तियो के समन्वय का परिणाम होता है; चौथा भावना-विषयक औचित्य जिसका हमारी भाव-वृत्तियों की अन्विति से सम्बन्ध है। यह औचित्य जहाँ कहीं खण्डित हो जाता है वही दोष का आविर्भाव हो जाता है। उदाहरण के लिए पद-विषयक औचित्य की हानि से श्रुति-कटुत्वादि पद-दोषों का जन्म होता है, व्याकरण-विषयक औचित्य की हानि से न्यूनपद, समाप्त-पुनरात्त आदि प्रायः सभी वाक्य-दोष उत्पन्न हो जाते हैं। बौद्धिक औचित्य का त्याग प्रसिद्धि-त्याग, भग्न-प्रक्रम, अपुष्ट, कष्टार्थ आदि दोषो की सृष्टि करता है और भावना-विषयक औचित्य खण्डित होकर सीधा रस-दोषो की अथवा अश्लीलता, ग्राम्यत्व आदि की सृष्टि करता है। इनमे पहले प्रकार के दोष तो प्रायः ऐन्द्रिय [कर्णगोचर] संवेदन और मानसिक संवेदन में असामञ्जस्य उत्पन्न करते हुए, दूसरे और तीसरे प्रकार के दोष अर्थ-ग्रहण मे बाधक होकर बौद्धिक संवेदनों को विश्रृंखल करते हुए, तथा अंतिम प्रकार के दोष प्रत्यक्ष रूप में ही हमारी

चित्त-वृत्तियो की अन्विति मे बाधक होते हुए रस का अपकर्ष करते हैं। श्रुति-कटुत्वादि में विरोधी ऐन्द्रिय चित्र का मानसिक चित्र पर आरोप होने से गड़बड़ हो जाती है; न्यूनपद, कष्टार्थ आदि मे मानसिक चित्र अत्यन्त धुँधला और अस्पष्ट उतरता है, और रस-दोषो मे दो परस्पर-विरोधी मानसिक चित्रो का एक दूसरे पर आरोप होने से भाव-चित्र पूरा नही हो पाता।

(ई) वक्रोक्ति-सम्प्रदाय

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक हुए जिन्होंने ध्वनि को नहीं वक्रोक्ति को काव्य का जीवित (प्राण) माना। उनका उद्देश्य यद्यपि ध्वनि-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष विरोध करना तो नही था, परन्तु उन्होंने उसकी पृथक् सत्ता न मानकर उसे वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही माना। वक्रोक्ति शब्द अत्यन्त प्राचीन है। कादम्बरी मे इसका प्रयोग परिहास-जल्पित के अर्थ मे हुआ है। भामह ने इसका अर्थ 'इष्टा-वाचामलंकृति अर्थात् 'अर्थ और शब्द का वैचित्र्य' करते हुए उसे सभी अलंकारों का मूल माना है। भामह के उपरान्त दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वभावोक्ति के विपर्यय-रूप में ग्रहण करते हुए उसे श्लेष-पोषित माना है। सारांश यह है कि भामह और दण्डी दोनों के अनुसार वक्रोक्ति कथन की उस विचित्र (असाधारण) शैली का नाम है—जो साधारण इतिवृत्त शैली से भिन्न होती है—शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्। [अभिनव]। परवर्ती आचार्यों में रुद्रट आदि प्रायः सभी ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है, केवल एक वामन ने अर्थालंकार माना है। कुंतक ने इन सभी का निषेध करते हुए वक्रोक्ति को पृथक अलंकार माननेसे इन्कार किया, तथा अत्यन्त स्पष्ट और सबल शब्दो में उसे काव्य का जीवन माना। कुंतक काव्य को आह्लादकारी सालंकार शब्दार्थ का साहित्य [सहित भाव] मान कर चले है।

वक्रोक्ति की व्याख्या उन्होने की वैदग्ध्य-भंगी-भणिति अर्थात् कथन की विचित्रता जो कवि-प्रतिभा पर निर्भर है। वक्रोक्ति की इस व्यापक परिभाषा में उन्होंने शब्दालंकार—अर्थालंकार, प्रबन्ध-कौशल आदि सभी को अन्तर्भूत कर लिया, और उसे छः भागों में विभक्त किया जो वर्ण-विन्यास से लेकर घटना-विन्यास तक में व्याप्त है। वक्रोक्ति की परिभाषा और महत्व का संकेत कुंतक को भामह मे मिला और कवि-प्रतिभा का भट्ट-तौत मे। कुंतक के परवर्ती आचार्यों ने इस नवीन

महिमा-मण्डित वक्रोक्ति को स्वीकार नहीं किया। मम्मट आदि ने वक्रोक्ति को वक्रीकृता उक्ति के अर्थ में एक शब्दालंकार ही माना। अतएव वक्रोक्ति-सम्प्रदाय कुंतक से प्रारम्भ होकर उन्हीं के बाद समाप्त हो गया। वास्तव मे जैसा कि काणे आदि विद्वानो ने कहा है, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय अलंकार-सम्प्रदाय की ही एक शाखा थी जिसके द्वारा कुंतक ने अलंकार वादी आचार्यों की वक्रता को ही नवीन काव्य-ज्ञान के प्रकाश में व्यापक रूप देने का कुशल प्रयत्न किया था।

वक्रोक्ति का स्वरूप—वक्रोक्ति का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए हमें स्वभावतः कुंतक की ही व्याख्या का आश्रय लेना चाहिए—

कुंतक ने वक्रोक्ति का अर्थ किया है विचित्र विन्यास-क्रम जो एक ओर शास्त्र आदि में प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक शब्द और अर्थ के उपनिबन्ध से। भिन्न अथवा विशिष्ट होता है, और दूसरी ओर व्यवहार-गत साधारण भाषा प्रयोग से इसीलिए उन्होंने उसे वैदग्ध्य-भंगी-भणिति कहा है—वैदग्ध्य का प्रयोग विद्वत्ता से भिन्न काव्य-नैपुण्य के अर्थ में बहुत पहिले से चला आता था, भंगी-भणिति से तात्पर्य था भाषा का वक्र अर्थात् रमणीय प्रयोग, दूसरे शब्दों में उक्ति-चारुत्व। वैदग्ध्य स्वाभाविक कवि-प्रतिभा-जन्य होता है। अतएव वक्रोक्ति का प्रयोग भी निश्चय ही कवि-प्रतिभा-जन्य ही होता है। कवि-प्रतिभा एवं कवि-व्यापार से स्वतन्त्र उसका अस्तित्व नही है। यह कवि-व्यापार क्या है इस विषय मे कुन्तक मौन हैं क्योकि शायद इसे वे अनिर्वचनीय मानते हैं। कुंतक की वक्रता एक पृथक उक्ति में ही सीमित न रहकर वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-रचना तक प्रसरित है। इसी धारणा के अनुसार ही उन्होंने वक्रोक्ति अथवा कवि-व्यापार वक्रता के छः भेद माने हैं— (१) वर्ण-विन्यास-वक्रता (२) पद-पूर्वार्ध-वक्रता (३) पद-परार्ध अथवा प्रत्यय-वक्रता (४) वाक्य-वक्रता। (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबन्ध-वक्रता। वर्ण-विन्यास-वक्रता के अन्तर्गत यमक जैसे शब्दालंकार और उपनागरिकता आदि वृत्तियो का नाद-सौन्दर्य आता है। पद-पूर्वार्ध के अनेक भेद किए गये हैं, जिनमे प्रमुख हैं— (क) रूढि-वक्रता (इसमें शब्द का साधारण अभिधार्थ से भिन्न रूढ अर्थ मे प्रयोग होता है; रूढ लक्षणा के प्रयोग प्रायः इसके अन्तर्गत आते है) (ख) पर्याय-वक्रता (इसके अन्तर्गत पद-गत औज्ज्वल्य एवं पद-चयन की गणना होती है।) (ग) विशेषण-वक्रता (यहां विशेषण, कारक, क्रिया आदि का चारु-प्रयोग होता है। साधारणतः पृथक पद-गत सौंदर्य इसके अन्तर्गत आता है)। प्रत्यय-वक्रता में वैचित्र्य प्रत्यय के वक्र-प्रयोग के आश्रित होता है। हिन्दी में यह प्रायः अव्यवहार्य ही है। वाक्य-वक्रता मे अर्थालंकारो का अन्तर्भाव हो जाता है—सूक्ति आदि नवीन वाक्य-भंगिमाएँ भी इसी के अन्तर्गत आती हैं। प्रकरण-वक्रता और

प्रबन्ध-वक्रता का क्षेत्र अधिक व्यापक है। उनका सम्बन्ध मुक्तक से न होकर प्रबन्ध-रचना से है। इनमे प्रकरण-वक्रता से तात्पर्य उन स्वतन्त्र उद्भावनाओं का है जिनके द्वारा कवि-मूल-कथा में रमणीयता उत्पन्न करता है; और प्रबन्ध-वक्रता से तात्पर्य समस्त कथा के प्रबन्ध-कौशल का है। यहाँ मूल कथा को कवि अपनी प्रतिभा और प्रकृति के अनुसार एक नवीन रूप प्रदान कर देता है। प्रकरण-वक्रता प्रकरण विशेष से सम्बद्ध है, शाकुन्तलम् में दुर्वासा-शाप प्रकरण की उद्भावना इसका उदाहरण है। प्रबन्ध-वक्रता का सम्बन्ध समस्त कथा के घटना-विधान से है, जैसा कि रामायण महाभारत में मिलता है, अथवा किरातार्जुनीयम् में जहाँ किसी प्रसिद्ध कथा को एक घटना पर दूसरा ढाँचा खड़ा कर दिया जाता है। प्रबन्ध-वक्रता में रसोत्कर्ष का भी बहुत महत्व माना गया है। इस प्रकार कुंतक ने वक्रोक्ति को समस्त कवि-व्यापार या कौशल से एक रूप करके देखा है।

इस विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) वक्रोक्ति के लिए वैचित्र्य अनिवार्य है। उसमें किसी न किसी प्रकार की असाधारणता अवश्य होनी चाहिए।

(२) वक्रोक्ति की इस परिभाषा में प्रायः सभी प्रकार का काव्य आ जाता है। सिद्धांत रूप से यद्यपि कुतंक ने स्वभावोक्ति मे काव्यत्व का निषेध किया है, परन्तु व्यवहार रूप में वक्रोक्ति की व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि वस्तुओ के स्वभाव का सफल अंकन प्रायः बाह्य अलंकारो से सज्जित वर्णन की अपेक्षा अधिक आह्लादकारी होता है। परन्तु वे इस बात पर बल देते हैं, कि वस्तु [स्वभाव] के तत्वों का चयन साधारण दृष्टि से न होकर कवि-दृष्टि से ही होना चाहिए। अर्थात् यह वर्णन वस्तु परिगणन मात्र न होकर कवि-व्यापार-जन्य होना चाहिए। मै समझता हूँ स्वभावोक्ति को स्पष्ट रूप से अलंकार और काव्य के अन्तर्गत मानने वाले पंडितों को भी इस परिभाषा में कोई आपत्ति नही हो सकती; क्योकि लगभग सभी ने साधारण वस्तु-परिगणना का तिरस्कार करते हुए उसमें कवि-कौशल को ही अनिवार्य माना है।

(३) सिद्धांत रूप में ध्वनि-रसवादियों से कुंतक का एक मतभेद है। ध्वनि-वादी वक्रोक्ति को ध्वनि के अन्तर्गत मानते है। कुंतक ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत मानते हैं और ध्वनि तथा रस से रहित भी वक्रोक्ति एवं तदनुसार काव्यत्व की स्थिति स्वीकार करते हैं परन्तु यदि आप गहराई में जाकर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि यह भेद भी केवल सिद्धांत का है व्यवहार का नहीं—व्यवहार में वक्रोक्ति और ध्वनि को एक दूसरे से सर्वथा

रहित नही पाया जा सकता, क्योंकि इन दोनों की अपनी अपनी परिभाषाएँ इतनी व्यापक है कि किसी का भी कोई रूप दूसरे से बाहर नहीं पड़ सकता। वास्तव में कुंतक की वक्रोक्ति अतिव्याप्त तो अवश्य मानी जा सकती है, परन्तु अव्याप्त नहीं, अर्थात् विश्लेषण करने पर कोई भी ऐसा उदाहरण न मिलेगा, जिसमें काव्यत्व तो असंदिग्ध हो परन्तु कुंतक की वक्रोक्ति या वक्रता न हो। कारण स्पष्ट है—जहाँ रसत्व है वहाँ कवि-व्यापार अनिवार्यतः वर्तमान होगा। और जहाँ कवि-व्यापार होगा वहाँ वक्रोक्ति का अभाव कैसे हो सकता है ? इसी दृष्टि से कुंतक ने रस को पूर्ण महत्त्व दिया है।

(४) कुन्तक में अब एक शब्द रह जाता है जो आज के आलोचक की समझ में नहीं आता—कवि-व्यापार। उन्होंने कवि-व्यापार को विधि-व्यापार की भाँति व्याख्यातीत मानते हुए उसकी परिभाषा तो नहीं की परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर किया है। कवि-व्यापार के तीन विभाग हैं:—शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास जिनकी अभिव्यक्ति के माध्यम हैं क्रमशः सुकुमार, विचित्र और मध्यम मार्ग। इन मार्गों के आधार है गुण जिनमे माधुर्य्य, प्रसाद लावण्य और आभिजात्य को हम विशेष गुण कह सकते हैं; तथा औचित्य और सौभाग्य को सामान्य गुण। इस प्रकार कुन्तक ने (रीति सिद्धांत को भी अन्तभू त करते हुए) कवि-व्यापार के वाह्य-रूप का वर्णन तो किया है परन्तु उसके आंतरिक स्वरूप की व्याख्या नहीं की। वास्तव मे भारतीय विचार-परम्परा के अनुसार वे भी कवि को एक असाधारण (Abnormal) व्यक्ति समझते थे और कवि प्रतिभा को जन्मांतर-गत पुण्यो के फल-स्वरूप प्राप्त एक दैवी-शक्ति।

विवेचन—कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धांत यद्यपि स्वीकार्य नही हुआ परन्तु फिर भी उसका तिरस्कार इतनी सरलता से नहीं हो सकता जितनी सरलता से कि आचार्य शुक्ल ने कर दिया है। उसके दो पक्ष हैं—१. प्रत्येक वक्रोक्ति काव्य है २. प्रत्येक काव्योक्ति में वक्रता अनिवार्यत: होती है। इनमें से पहला पक्ष तो आज मान्य नही हो सकता क्योकि इस प्रकार तो ऐसी उक्तियों को भी जिनमें साधारण बौद्धिक चमत्कार के कारण एक प्रकार की वक्रता वर्तमान रहती है काव्य मानना पड़ेगा। किसी प्रकार का भी बौद्धिक चमत्कार उक्ति को वक्रता प्रदान तो सदैव कर सकता है परन्तु उसे सरस सदैव नहीं बना सकता। इसी लिए तो बाद के रस-वादियों ने चित्र-काव्य को काव्य की सीमा से वहिष्कृत कर दिया, यद्यपि ध्वनि-कार ने उसे अधम काव्य की पदवी अवश्य दे दी थी। अतएव कम से कम ऐसी वक्रता को जिसका रस से दूर का भी सम्बन्ध न हो काव्य नहीं माना जा सकता। वक्रोक्ति सिद्धांत का दूसरा पक्ष है कि प्रत्येक काव्योक्ति में वक्रता अनिवार्य्यतः होगी। यह

पक्ष वाह्यतः अधिक विश्वसनीय न होते हुए भी, वक्रता का वास्तविक आशय स्पष्ट होने पर, किसी प्रकार असंगत नहीं कहा जा सकता। इधर तो वक्रता में कुन्तक ने (बात को घुमा-फिरा कर कहने को ही नहीं) सभी प्रकार के वैचित्र्य-वैशिष्ट्य अथवा असाधारणत्व को अन्तर्भूत कर लिया है, और उधर यह एक स्वतः-स्पष्ट मनोवैज्ञानिक तथ्य है प्रत्येक भाव-दीप्त या रसदीप्त उक्ति साधारण इतिवृत्तात्मक कथन की अपेक्षा कुछ विशिष्टता या विचित्रता अवश्य लिए होगी। हिन्दी के एक विद्वान का कथन है कि इस वक्रोक्ति में स्वभावोक्ति और इस वक्रता में तीव्रता के लिए स्थान नहीं है। परन्तु यह असत्य है। जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कुन्तक ने स्वभावोक्ति के केवल इतिवृत्त-वर्णन रूप को ही अस्वीकृत किया है। उनकी वक्रता का इति-वृत्तात्मकता से ही विरोध है तीव्रता से नही क्योंकि उन्होंने रस को निश्चय ही वक्रोक्ति के उपादान तत्वों मे से माना है। उक्ति की तीव्रता रस (या भाव) के आश्रित है और रस वक्रोक्ति के अन्तर्गत है अतः तीव्रता भी उसके अन्तर्गत हुई।

कुन्तक सेह मे केवल क्रम विषयक मतभेद हो सकता है—उनका मत है कि काव्य का आह्लाद (रस) उक्ति वक्रताजन्य है, परन्तु वास्तविकता यह है कि आह्लाद के कारण ही उक्ति में वक्रता आतहै। अपने उद्दीप्त मनोविकारो का भावन करने मे कवि को एक विशेष प्रकार के आह्लाद अथवा रस का अनुभव होता है—और इसी आह्लाद या रस के कारण उसकी उक्ति में वक्रता आ जाती है। इस तथ्य का विस्तृत विवेचन रस-प्रसंग मे हो चुका है। अतएव काव्य का प्राण रस ही रहेगा—वक्रोक्ति उसका अनिवार्य्य माध्यम होती हुई भी उसका जीवन नहीं हो सकती। कुन्तक धुर मूल तक न पहुँच कर उससे एक मंजिल पहले ही रुक गये हैं और उसी को आखिरी मंजिल मान बैठे हैं—उनके सिद्धांत का यही दोष है। पश्चिमीय आलोचना की शब्दावली में कहें तो यह कह सकते हैं कि उन्होंने कल्पना तत्व को भाव तत्व को अपेक्षा अधिक महत्व दिया है—वैदग्ध्य कवि-कौशल आदि पर जो इतना बल दिया गया है वह वास्तव मे कल्पना-तत्व को ही महत्व दिया गया है।

वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद :—कुन्तक के वक्रोक्तिवाद के साथ क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की चर्चा की जाती है। आचार्य शुक्ल ने तो अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान ही कह दिया है। शुक्लजी की इस उक्ति को भी हम साधारण अर्थवाद के रूप मे ही ग्रहण कर सकते हैं, इससे आगे नहीं; क्योंकि इन दोनों में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानना अर्थात् क्रोचे को किसी प्रकार भी कुन्तक का ऋणी मानना हास्यास्पद होगा। वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद

के सापेक्षिक अध्ययन के लिए पहले क्रोचे का मूल सिद्धान्त स्पष्ट हो जाना चाहियेः—

क्रोचे मूलतः आत्मवादी दार्शनिक है जिसने अपने ढंग से उन्नीसवीं शताब्दी की भौतिकता के विरुद्ध आत्मा की अन्तःसत्ता की प्रतिष्ठा की है। वह आत्मा की दो क्रियायें मानता है एक विचारात्मक और दूसरी व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के दो रूप हैं—सहजानुभूति और तर्क। व्यवहारात्मक के भी दो रूप हैं—आर्थिक और नैतिक। कला का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सहजानुभूति से है। किसी वस्तु के संसर्ग से हमारी आत्मा में कतिपय अरूप झंकृतियाँ उत्पन्न हो जाती है जिनको वह अपनी सहज शक्ति कल्पना द्वारा समन्वित कर एक पूर्ण विम्ब रूप दे देती है और इस प्रकार हमें उस वस्तु की सहजानुभूति हो जाती है जो बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा स्वतन्त्र होती है।

यह सहजानुभूति अभिव्यंजना भी है अथवा केवल अभिव्यंजना ही है। क्योंकि उससे पृथक् इसका कोई आकार नहीं। जो अभिव्यंजना द्वारा व्यक्त नही होता उसका सहजानुभव ही नही होता—वह संवेदन या ऐसा ही कोई व्यक्तिगत विकार मात्र होता है। हमारी आत्मा के पास सहजानुभव करने का केवल एक ही साधन है—अभिव्यंजना। सफल अभिव्यंजना या केवल अभिव्यंजना ही—क्योंकि असफल अभिव्यञ्जना तो अभिव्यञ्जना ही नहीं है—कला अथवा कलात्मक सौंदर्य है। कलात्मक सौन्दर्य में श्रेणियाँ नही हो सकतीं क्योंकि उसका तो केवल एक ही रूप होता है अतएव उसमे अधिक सुन्दर अथवा अधिक व्यंजक की कल्पना ही सम्भव नहीं। हाँ कुरूपता—जो असफल व्यंजना का दूसरा नाम है—श्रेणी-सापेक्ष है; उसको कुरूप से लेकर कुरूपातिकुरूप तक अनेक श्रेणियाँ हो सकती है। इसी कारण क्रोचे अभिव्यंजना अथवा कला के वर्गीकरण को निरर्थक समझता है—अभिव्यंजना तो एक स्वतंत्र इकाई है जो वर्ग कभी नहीं बन सकती। इसलिए वह अलंकार और अलंकार्य के भेद का निषेध करता है और अलंकारों के नामकरण आदि को भ्रामक मानता है—इसी लिए वह अनुवाद को भी असम्भव मानता है क्योंकि अनुवादक की सहजानुभूति कवि की सहजानुभूति कैसे हो सकती है? उसके लिए शैली और कवि-व्यापार का भी इसो कारण कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अपने इसी तर्क के आधार पर क्रोचे काव्य में वस्तु और अभिव्यंजना में अभेद मानता है। वह वस्तु की सत्ता का निषेध तो नही करता परन्तु उसको अरूप झंकृतियो से अधिक और कुछ नहीं मानता। काव्य-वस्तु का महत्व हमारे लिए तभी है जब वह आकार धारण कर लेती है—अपने अमूर्त रूप मे वस्तु जड है—निष्क्रिय है, हमारी आत्मा इसका अनुभव तो करती

है पर सृजन नहीं कर पाती। सृजन बिना आकार के सम्भव नहीं है, अतएव कला में आकार से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व हमारे सामने नहीं होता। यह ठीक है कि वस्तु वह तत्व है जो आकारमे परिणत होता है,परन्तु आकार में परिणत होने से पूर्व उसकी कोई निश्चित रूप-रेखा तो होती ही नहीं। इस प्रकार वस्तु और आकार का कला में पृथक अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

यहाँ तक तो हुई अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप की बात। पर क्रोचे अभिव्यंजना के आन्तरिक रूप और बाह्य रूप में अर्थात् कला और कला-कृति में अंतर मानता है। कला आध्यात्मिक क्रिया है, कला-कृति उसका मूर्त प्राकृतिक रूप जो सदैव अनिवार्य नहीं होता। कला-सृजन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पाँच चरणों में विभक्त की जा सकती है—(अ) अरूप संवेदन (आ) अभिव्यंजना अर्थात् संवेदनों की आंतरिक समन्विति (इ) आनन्दानुभूति (सौन्दर्य-जन्य आनन्द की अनुभूति) (ई) सौन्दर्यानुभूति का ध्वनि, रंग, रेखा आदि प्राकृतिक तत्वों में अनुवाद और अंतिम (उ) काव्य, चित्र इत्यादि कलाकृति। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन पाँचों में मुख्य क्रिया दूसरी ही है।

सारांश यह है कि :—

(१) अभिव्यंजना एक सहज स्वतन्त्र आध्यात्मिक क्रिया है, जिसका आधार मूलतः कल्पना है।

(२) अभिव्यंजना की सफलता ही सौन्दर्य है। सौन्दर्य की श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं।

(३) व्यंजक उक्ति और व्यंग्य-भाव एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। व्यंग्य-भाव का व्यंजक उक्ति से पृथक् अस्तित्व नहीं है।

(४) अभिव्यंजना का केवल एक अविभाज्य रूप ही होता है। अतएव काव्य में शैली अलंकार आदि का पृथक् महत्व नहीं होता।

ऊपर के विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि शुक्ल जी कृत वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का एकीकरण दूरारूढ कल्पना पर आश्रित नहीं है। दोनों में पर्याप्त साम्य है, यद्यपि वैषम्य भी कम नहीं है।

साम्य—

१. क्रोचे और कुन्तक दोनों ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानते हैं, जो अनिर्वचनीय है।

२. दोनों ही वस्तु की अपेक्षा अभिव्यंजना को अधिक महत्व देते हैं अर्थात् उक्ति में काव्यत्व (सौन्दर्य) मानते हैं वस्तु या भाव में नहीं।

३. दोनों ही सौन्दर्य में श्रेणियाँ नहीं मानते क्योंकि सफल अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है और सफल अभिव्यंजना केवल एक हो सकती है।

कुन्तकः — न च रीतीनाम् उत्तमाधममाध्यमभेदेन वैविद्ध्यम् व्यवस्थापयितुम न्याय्यम्।

क्रोचे :—

The beautiful does not possess degrees, for there is no conceiving a more beautiful that is an expressive that is more expressive and adequate that is more adequate.

वैषम्य—

१. वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद का मुख्य अन्तर तो यह है कि वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध उक्ति-वक्रता से है, अभिव्यंजनावाद का केवल उक्ति से। वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिक वाद है। अभिव्यंजनावाद अभिव्यंजना की फ़िलासफी है। वक्रोक्ति जहाँ एक प्रकार का कवि-कौशल है वहाँ अभिव्यंजनावाद एक आध्यात्मिक आवश्यकता है।

"वक्रोक्तिकार नित्य की बोल चाल की रीति से सन्तुष्ट नही होते, 'वक्रत्व प्रसिद्ध-प्रस्थान-व्यतिरेक वैचित्र्यम्'। मै तो यह कहूँगा कि अभिव्यंजनावाद मे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का भेद ही नहीं है। उक्ति केवल एक ही प्रकार की हो सकती है। यदि पूर्ण अभिव्यक्ति वक्रोक्ति द्वारा होती है तो वही स्वभावोक्ति या उक्ति है। वही कला है। वाग्वैचित्र्य का मान वैचित्र्य के कारण नहीं है, वरन् यदि है तो पूर्ण अभिव्यक्ति के कारण। अभिव्यंजनावाद मे एक ही उक्ति के लिए स्थान है, न उसमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत का भेद है न स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति का"।

२. वक्रोक्तिवाद अलंकार को लेकर चला है, अभिव्यंजनावाद में उसकी सत्ता ही अमान्य है, वहाँ यदि वह आ भी जाता है तो अलंकार रूप में नहीं सहज उक्ति के रूप में ही आता है।

३ वक्रोक्तिवाद में वस्तु की उक्ति (कवि-कौशल) से पृथक् सत्ता मानी गई है। कुन्तक ने वस्तु के सहज और आहार्य दो भेद किये है; प्रकरण-वक्रता अथवा प्रबन्ध-वक्रता का सम्पूर्ण विवेचन ही वस्तु और कवि-कौशल के पार्थक्य पर आश्रित है, परन्तु अभिव्यंजनावाद वस्तु को उक्ति से अभिन्न मानता है।

४. वक्रोक्तिवाद में कला की समस्या को बाहर से छेड़ा गया है, अभिव्यंजनावाद मे भीतर से। इसीलिए वक्रोक्तिवाद जहाँ काव्य अर्थात् कला के मूर्त रूपों

पर ही केन्द्रित है, वहाँ अभिव्यंजनावाद उनके प्रति उदासीन होकर केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक क्रिया को ही सब कुछ मानता है।

४. अभिव्यंजनावाद सहजानुभूति अर्थात् भाव-झंकृतियों की अन्विति पर आश्रित है, अतएव रस (भाव) से उसका सम्बन्ध अन्तरंग और तात्विक है, परन्तु वक्रोक्तिवाद कवि-कौशल पर आश्रित है इसलिये उसका रस से सम्बन्ध बहिरंग एवं औपाधिक है। अभिव्यंजनावाद का तत्व-रूप में रसवाद से कोई विरोध हो ही नहीं सकता।

आचार्य शुक्ल की आलोचना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वक्रोक्तिवाद और अभिव्यंजनावाद को एक करते हुए उन पर कुछ कठिन प्रहार किये हैं। उनमें सब से मुख्य यह है कि ये "अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वाग्वैचित्र्य को लेकर चले हैं, पर वाग्वैचित्र्य का हृदय की गम्भीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह केवल कौतूहल उत्पन्न करता है"। अभिव्यंजनावाद तो बेचारा अभिव्यंजना को छोड़ किसी वाग्वैचित्र्य की बात ही नही करता। हाँ, वक्रोक्तिवाद अवश्य उसका गुनहगार है, परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर स्पष्ट किया है, उसके वैचित्र्य का स्वरूप इतना व्यापक है कि उसके अंतर्गत सभी प्रकार की उक्ति-रमणीयता आ जाती है। वास्तव में कुन्तक की 'वक्रता' या 'वैचित्र्य' और शुक्ल जी की प्रिय 'रमणीयता' मे कोई भी अन्तर नहीं है। कौतूहल-जनक चमत्कार का कुन्तक ने बहिष्कार तो नहीं किया, परन्तु उसे अत्यन्त हेय माना है। फिर, ऐसी उक्ति जिसमे रस हो परन्तु वक्रता न हो सामने लाना भी तो आसान नहीं है। शुक्ल जी द्वारा उद्धृत पद्माकर की यह रमणीय उक्ति 'नैन नचाय, कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी'—सीधी-सादी नहीं है, इसकी वक्रता की कैफ़ियत तो उन लला से पूछिए जिनसे नैन नचा कर और मुसका कर यह कहा गया था कि 'फिर आइयो खेलन होरी'।

फाग के भीर अभीरनि त्यों गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पद्माकर ऊपर नाय अबीर की बोरी।
छीन पितम्बर कम्मर तैं सु बिदा दई मीड़ कपोलनि रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय लला फिर आइयो खेलन होरी।

[जगद्विनोद]

हमे आश्चर्य है कि व्यंग्य से वक्र इस उक्ति को आचार्य सीधी-सादी कैसे मान बैठे?

शुक्ल जी का दूसरा आक्षेप यह है कि इनमें अभिव्यंजना या उक्ति ही सब कुछ है, वस्तु जिसकी अभिव्यंजना की जाती है वह कुछ नहीं, परन्तु यह तो शुक्ल जी स्वयं भी मानते हैं कि काव्यत्व उक्ति में रहता है, व्यंग्य वस्तु या भाव मे नहीं। रही वस्तु के महत्त्व की बात तो उक्ति-वक्रता अथवा अभिव्यंजना को महत्त्व देते हुए भी इन दोनो वादों में वस्तु का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया गया। कुन्तक ने तो वस्तु को निश्चय ही पर्याप्त महत्व दिया है, स्वयं उसका पृथक विवेचन किया है। उधर क्रोचे ने भी प्राकृतिक वस्तु* को कला का उद्दीपक तथा कला-वस्तु अर्थात् अरूप भाव-झंकृतियों या संवेदनो को कला का मूल उद्गम अथवा मूलाधार मानते हुए उसे गौरव से सर्वथा वंचित नहीं किया। अन्तर केवल यही है कि शुक्ल जी काव्य को वस्तु-दृष्टि से परखते हुए उसमें वस्तु और अभिव्यंजना का निश्चित पार्थक्य मानते है, क्रोचे दोनों में निश्चित भेद असम्भव मानते हैं। पर क्रोचे शुक्ल के इस विवाद में आज का साहित्यिक शायद क्रोचे को ही अपनी वोट देगा।

---

*Natural objects.

(उ) ध्वनि-सम्प्रदाय

अन्य सम्प्रदायो की भाति ध्वनि-सम्प्रदाय का जन्म भी उसके प्रतिष्ठापक अथवा प्रतिष्ठापकद्वय (?) के जन्म से बहुत पूर्व ही हुआ था। स्वयं ध्वनि-कार ने ही अपने पहले छंद में इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—"काव्य-स्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः [ध्वन्यालोक १,१] अर्थात् काव्य की आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानों का भी मत है।" वास्तव में इस सिद्धांत के मूल संकेत उनके समय से बहुत पहले वैय्याकरणों के सूत्रो में स्फोट आदि के विवेचन में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन में भी व्यंजना एवं अभिव्यक्ति (दीपक से वर) की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकार से पूर्व रस, अलंकार और रीतिवादी आचार्य अपने अपने सिद्धांतों का पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे, और यद्यपि वे ध्वनि-सिद्धांत से पूर्णतः परिचित नही थे, परन्तु फिर भी आनन्दवर्द्धन का कहना है कि वे कम से कम उसके सीमान्त तक अवश्य पहुँच गये थे। अभिनव गुप्त ने पूर्ववर्ती आचार्यों में उद्भट और वामन को साक्षी रूप माना है। उद्भट का ग्रन्थ भामह-विवरण आज उपलब्ध नहीं है, अतएव हमे सबसे प्रथम ध्वनि-संकत वामन के वक्रोक्ति विवेचन में ही मिलता है—"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति।" लक्षणा मे जहां सादृश्य गर्भित होता है, वहाँ वह वक्रोक्ति कहलाती है। सादृश्य की यह व्यंजना ध्वनि के अन्तर्गत आती है, इसीलिए वामन को साक्षी माना गया है।

विद्वानों का मत है कि ईसा की ६ वीं शताब्दी के मध्य मे ध्वन्यालोक की रचना हुई, ध्वन्यालोक एक ही लेखक आनन्दवर्द्धन की कृति है, अथवा आनन्द-वर्द्धन केवल वृत्तिकार थे, कारिका उनके पूर्ववर्ती या समसामयिक किसी अन्य आचार्य ने रची है; इस विषय पर पण्डितो के विभिन्न मत हैं। डाक्टर बुह्लर और उनके अनुसरण पर डा० डे, तथा प्रोफ़ेसर काणे आदि का मत है कि मूल ध्वनिकार और वृत्तिकार आनन्दवर्द्धन दो भिन्न व्यक्ति थे, उधर डा० संकरन ने अनेक प्रकार

के अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर संस्कृत आचार्यों की मान्यता को ही स्वीकार करते हुए दोनो को एक माना है—यह विवाद अभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा। अतएव हिन्दी के विद्यार्थी को इसमें उलझने की आवश्यकता नही है—यहाँ हम इस समय तो बहुमत के सिद्धांतानुसार दोनो को पृथक् ही मान लेते हैं।

ध्वन्यालोक एक-युग प्रवर्त्तक ग्रन्थ था। उसके रचयिता ने अपनी असाधारण मेधा के बल पर एक ऐसे सार्वभौम सिद्धांत की प्रतिष्ठा की जो युग युग तक सर्वमान्य रहा। अब तक जो सिद्धांत प्रचलित थे वे प्रायः सभी एकांगी थे—अलंकार और रीति तो काव्य के बहिरंग को ही छूकर रह जाते थे, रस सिद्धांत भी ऐन्द्रिय आनन्द को ही सर्वस्व मानता हुआ बुद्धि और कल्पना के आनन्द के प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त उसमे दूसरा दोष यह था कि प्रबन्ध-काव्य के साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छंदो के विषय में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि का संघटन सर्वत्र न हो सकने के कारण कठिनाई पडती थी, और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदो को भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकार ने इन त्रुटियों को पहचाना और सभी का उचित परिहार करते हुए शब्द की तीसरी शक्ति व्यंजना पर आश्रित ध्वनि को काव्य की आत्मा घोषित किया। ध्वनिकार ने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं—१. ध्वनि-सिद्धांत की निर्भ्रान्त शब्दो में स्थापना करना, तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धांत के अन्तर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता। २. रस, अलंकार, रीति, गुण, और दोष-विषयक सिद्धांतो का सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनि के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना, और इस प्रकार काव्य के एक सर्वांग-पूर्ण सिद्धांत की रूप-रेखा बाँधना। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति मे ध्वनिकार अपने वृत्ति-लेखक आनन्दवर्द्धन की सहायता से सर्वथा सफल हुए है।

संक्षेप में ध्वनि-सिद्धांत इस प्रकार है। काव्य की आत्मा ध्वनि है, अर्थात् काव्य मे मुख्यतः वाच्यार्थ का नही वरन् व्यंग्यार्थ का सौन्दर्य होता है। व्यंग्यार्थ की महत्ता के अनुपात से काव्य के तीन भेद हो सकते हैं—उत्तम अथवा ध्वनि-काव्य, मध्यम अथवा गुणीभूत-व्यंग्य काव्य, और अधम अर्थात् चित्र-काव्य। ध्वनि स्वयं तीन प्रकार की होती है—वस्तु-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रस-ध्वनि। इन तीनों मे रस-ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार इन आचार्यों ने भी रस को ही सर्वश्रेष्ठ काव्य-तत्व माना है, और जहाँ रस सर्वथा निःशेष है, जैसे चित्र-काव्य मे—वहाँ केवल वाग्-विकल्प को ही स्थिति मानी है। इसीलिए तो आधुनिक विद्वान् ध्वनि-सिद्धांत को रस-सिद्धांत का ही विस्तार-सूत्र मानते है, और यह बहुत अंशो में ठीक भी है।

यह सब होते हुए भी ध्वनि-सम्प्रदाय इतना लोक-प्रिय न होता यदि अभिनव गुप्त की प्रतिभा का वरदान उसे न मिलता। उनके लोचन का वही गौरव है जो महाभाष्य का है। अभिनव ने अपनी अतलदर्शी प्रज्ञा और प्रौढ विवेचना के द्वारा ध्वनि-विषयक समस्त भ्रान्तियों और आपेक्षों को निर्मूल कर दिया—और उधर रस की प्रतिष्ठा को अकाट्य शब्दों में स्थिर किया। अभिनव एक प्रकार से रसवादी ही थे। उन्होंने ध्वनि को प्रायः रस के सम्बन्ध से ही महत्व दिया है।

परन्तु यह समझना असंगत होगा कि ध्वनि-सिद्धांत निर्विरोध स्थापित हो गया था। आनन्दवर्द्धन के उपरांत ही भट्ट नायक ने व्यंजना के अस्तित्व का निषेध करते हुए भावकत्व और भोजकत्व दो काव्य-शक्तियों की उद्भावना की। किन्तु अभिनव गुप्त ने सबल तर्कों द्वारा उनको अनर्गल प्रमाणित किया, एवं व्यंजना की ही पुष्टि की। भट्टनायक के पश्चात् ध्वनिवाद को कुंतक और महिमभट्ट जैसे पराक्रमी विरोधियों का सामना करना पड़ा। कुंतक ने ध्वनि को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही ग्रहण कर उसको काव्य की आत्मा मानने से इन्कार कर दिया; उधर महिम भट्ट ने कहा कि व्यंजना की उद्भावना ही तर्क-सम्मत नहीं है। शब्द की केवल दो ही शक्तियाँ मानी गई हैं। अभिधा और लक्षणा—यह तीसरी शक्ति व्यंजना कहाँ से आ गई। वे स्वयं तो शब्द की केवल एक ही शक्ति मानते हैं—अभिधा वास्तव मे जिसे व्यंजना कहा गया है, वह स्वतन्त्र शब्द-शक्ति न होकर केवल अनुमान का ही एक विशेष भेद है—जिसे उन्होंने नाम दिया 'काव्यानुमिति'। इसी काव्यानुमिति के द्वारा सहृदय को रसानुभूति होती है। महिम भट्ट का यह सिद्धांत स्पष्टतः ही श्री शंकुक के अनुमितिवाद से प्रभावित था—और उसी की तरह यह भी ग्राह्य न हो सका। भट्टनायक, कुंतक और महिम भट्ट के परास्त हो जाने पर ध्वनि का राज्य एक प्रकार से अकण्टक ही हो गया। परवर्ती आचार्यों मे मम्मट ने लगभग सभी प्रचलित विचारों का खण्डन मंडन करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया। ध्वनि के भेद-प्रभेद बढते बढते अब १०,४,५५ तक पहुँच गए थे। विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस को अधिक महत्व देने का प्रयत्न किया—परन्तु उनका विरोध पंडितराज जगन्नाथ द्वारा बडे ज़ोर से हुआ। पण्डितराज ने ध्वनिकार-कृत काव्य के तीन भेदों से सन्तुष्ट न होकर उनमें एक भेद 'उत्तमोत्तम' की और वृद्धि की—इस प्रकार गुणीभूत-व्यंग्य को, जिसे कि ध्वनिकार ने निश्चित ही मध्यम काव्य-श्रेणी मे रख दिया था, उत्तम काव्य का गौरव प्राप्त हो गया। वास्तव मे ध्वनि और रस सिद्धांतों का समन्वय—जिसका आरम्भ अभिनव ने ही कर दिया था—इस समय तक आते-आते पूर्ण हो चुका था—और अब आचार्य दोनोंमें विशेष भेद नहीं करते थे। हिन्दी रीति-ग्रन्थों को जो परम्परा प्राप्त हुई, उसमें ध्वनि का रस में बहुत कुछ

अन्तर्भाव हो चुका था; इसीलिए हिन्दी के आचार्यों ने ध्वनि का साधारण रूप से उल्लेख करते हुए रस का ही विवेचन किया है। फिर भी कुलपति प्रतापसाहि आदि ने काव्य का जीव ध्वनि को ही माना है रस को नहीं।

ध्वनि का आधार और स्वरूप :—ध्वनिकार ने अपने सिद्धांत का आधार वैयाकरणों के स्फोट से ग्रहण किया है। जिसके द्वारा अर्थ का प्रस्फुटन हो वही स्फोट है। यह स्फोट शब्द, वाक्य और समस्त प्रवन्ध तक का होता है। शब्द-स्फोट का एक उदाहरण लीजिये—गौः शब्द में ग्, औ और विसर्ग ये तीन वर्ण हैं—इन तीनों वर्णों में से गौः का अर्थ-बोध किसके द्वारा होता है? यदि यह कहें कि प्रत्येक वर्ण के उच्चारण द्वारा तो एक वर्ण ही पर्याप्त होगा। शेष दो व्यर्थ हैं। और यदि यह कहे कि तीनों वर्णों के समुदाय के उच्चारण द्वारा तो वह असम्भाव्य है, क्योकि कोई भी वर्ण-ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहर सकती, अर्थात् विसर्ग तक आते आते ग की ध्वनि का लोप हो जायगा, जिसके कारण तीनों वर्णों के समुदाय की ध्वनि का एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा। अतएव अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन के उपरांत वैयाकरणो ने स्थिर किया कि अर्थ-बोध शब्द में स्फोट द्वारा होता है—अर्थात् पूर्ण पूर्व वर्णों के संस्कार अन्तिम वर्ण के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द का अर्थबोध कराते है : यही स्फोट है—जिसका दूसरा नाम 'ध्वनि' भी है। जिस प्रकार पृथक पृथक वर्णों की आवाज़ सुनकर भी अर्थ-बोध नहीं होता, वह केवल स्फोट या ध्वनि के द्वारा ही होता है, इसी तरह शब्दों का वाच्यार्थ ग्रहण करके भी काव्य के सौन्दर्य का अनुभव नहीं होता—वह केवल व्यंग्यार्थ या ध्वनि द्वारा ही होता है; और व्यंग्यार्थ का बोध शब्द की अभिधा लक्षणा से इतर एक तीसरी विशिष्ट शक्ति व्यंजना द्वारा होता है। शब्द-साम्य और व्यापार-साम्य के आधार पर इस प्रकार स्फोट से प्रेरित होकर ध्वनिकार ने अपने ध्वनि-सिद्धांत की उद्भावना की। जैसे घण्ट पर चोट लगने से पहले टंकार होती है फिर उसमें से मीठी झंकार ध्वनि निकलती है, उसी प्रकार वाच्यार्थ को टंकार और व्यंग्यार्थ को झंकार समझना चाहिए। ध्वनि के दो मुख्य भेद है। (१) अभिधा-मूलक (२) लक्षणा-मूलक। अभिधा-मूलक ध्वनि को विवक्षित-अन्य-परवाच्य ध्वनि कहते हैं जिसके दो भेद है : असंलक्ष्य-क्रम और संलक्ष्य-क्रम, रसादि असंलक्ष्य-क्रम के अन्तर्गत आते है। लक्षणा-मूलक ध्वनि को अविवक्षित-वाच्य ध्वनि कहते हैं—उसके भी दो भेद हैं—(१) अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। आगे इनके अनेक भेद प्रभेद हुए हैं।

व्यंजना शक्ति :—ध्वनि-सिद्धान्त का सम्पूर्ण भवन व्यंजना-शक्ति के आधार पर खड़ा हुआ है, परन्तु पूछा जा सकता है कि इस नवीन उद्भावित

शक्ति का भी कोई आधार है या नहीं। और वास्तव में ध्वनि के विरोधियों ने—भट्ट नायक और महिम भट्ट ने—पहला आक्रमण व्यंजना पर ही किया भी। परन्तु व्यंजना का आधार अत्यन्त सुदृढ़ था और वह इन सभी आघातों के उपरान्त भी अटल रहा। एक तो व्यंजना की उद्भावना और नामकरण चाहे ध्वनिकार ने ही किया हो, परन्तु उसका प्रयोग आरम्भ से ही हो रहा था। पर्यायोक्त, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याज-स्तुति जैसे वक्रता-मूलक अलंकारों में अर्थ-बोध व्यंजना के ही द्वारा सम्भव था। उदाहरण के लिए 'न स संकुचितः पन्था येन बाली हतो गतः' में अभिधा तो इतना ही कह कर मौन हो जाती है कि जिस पथ से बाली यमपुर गया है वह संकुचित नहीं हुआ; लक्षणा संकुचित का आशय अधिक से अधिक स्पष्ट कर देगी, परन्तु वास्तविक अर्थ की कि 'जिस प्रकार बाली मारा गया है उसी प्रकार तुम भी मारे जा सकते हो' प्रतीति कैसे होती है? इसके लिए व्यंजना की सत्ता मानना अनिवार्य है क्योंकि इसका ज्ञान शब्द के द्वारा ही होता है। यह तो रही अभाव-मूलक युक्ति। भाव-मूलक तर्कों द्वारा भी व्यंजना की मान्यता स्थापित की जा सकती है: शब्द शक्ति के इस प्रचलित उदाहरण को ही लीजिये 'गङ्गायां घोषः'। यहाँ अभिधा द्वारा वाच्यार्थ है—'गंगा पर घर' परन्तु चूँकि गंगा के प्रवाह पर घर की स्थिति अकल्पनीय है, अतः अभिधा का बोध होने पर लक्षणा की सहायता से सामीप्य के कारण इसका अर्थ हुआ गंगा के किनारे। परन्तु वक्ता ने 'गंगा के किनारे न कह कर' 'गंगा पर' कहा इसका क्या प्रयोजन है? इसका प्रयोजन यह है कि वह ऐसा कह कर उस घर के शैत्य, पवित्रता आदि गुणों का बोध कराना चाहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो यह प्रयोग ही निष्प्रयोजन है, और यदि ऐसा होता है तो उसका बोध कराने के लिये अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त तीसरी शब्द-शक्ति व्यंजना की भी सत्ता माननी पड़ेगी।

ध्वनिकार अभिनव-गुप्त और बाद में मम्मट आदि आचार्यों ने अनेक अकाट्य तर्कों द्वारा व्यंजना का प्रतिपादन किया है जिसका सारांश सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के शब्दों में यह है—

१. जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है लक्षणा में जो प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है, जिसके लिए लक्षणा की जाती है, उसका बोध लक्षणा द्वारा न होकर केवल व्यंजना द्वारा ही हो सकता है।

२. असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य में रस भावादि व्यंग्य रहते हैं जो न तो अभिधा के वाच्यार्थ हैं और न लक्षणा के लक्ष्यार्थ।

३. समान अर्थ के बोधक शब्दों का अभिधेयार्थ सर्वत्र एक ही होता है परंतु व्यंग्यार्थ भिन्न हो सकते हैं।

४. प्रकरण, वक्ता, बोधक, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक ही होगा परन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न भिन्न रूप में प्रतीत होगा।

५. वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में काल-भेद सर्वत्र रहता है: अर्थात् वाच्यार्थ का बोध प्रथम और व्यंग्यार्थ का बाद मे होता है।

६. वाच्यार्थ केवल शब्द में ही रहता है पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना-विशेष मे भी रहता है।

७. वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, परन्तु व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य मार्मिको को ही भासित हो सकता है।

८. वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनन्द का आस्वादन) उत्पन्न होता है।

महिम भट्ट ने व्यंग्यार्थ को स्वतन्त्र न मान कर केवल अनुमेय ही माना है। वे कहते हैं कि जिस व्यंग्यार्थ की सिद्धि व्यंजना के द्वारा कही जाती है, वह वास्तव में अनुमान के द्वारा ही होती है अर्थात् वाच्यार्थ और तथाकथित व्यंग्यार्थ मे लिंग-लिंगी सम्बन्ध है। इसके उत्तर में मम्मट का कथन है कि सर्वत्र ऐसा नही होता, ऐसा भी प्रायः होता है कि यह वाच्यार्थ रूप लिंग (साधन-हेतु) निश्चयात्मक न होकर अनैकांतिक (व्यभिचारी) ही हो और उससे लिंगी (साध्य) की सिद्धि न हो। अतएव व्यंग्यार्थ को सर्वत्र अनुमेय कैसे मान सकते हैं ? (देखिये काव्यप्रकाश पंचम उल्लास का उत्तरार्ध)। वैसे भी इसका स्पष्ट प्रतिवाद यही है कि अनुमान मे साधन से साध्य की सिद्धि तर्क के आधार पर होती हैं, पर ध्वनि मे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति तर्क के सहारे नहीं होती। यह प्रत्यक्ष है इसमे प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

ध्वनि और रस :—भरत ने रस की परिभाषा की है: विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य मे केवल विभाव, अनुभाव आदि का ही कथन होता है। उनके संयोग के परिपाक रूप रस का नही—अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नही, रस का वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रस-दोष भी माना जाता है, रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसे कि अभी व्यंजना के विषय में कहा गया किसी उक्ति का वाच्यार्थ रस-प्रतीति नही

करता। केवल अर्थ-बोध कराता है। रस सहृदय की हृदय-स्थिति वासना की आनन्दमय परिणति है जो अर्थ-बोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में 'व्यंजना' या 'ध्वनन' होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मान कर रस-ध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने गये हैं उनमें उत्तम काव्य के तीन भेद हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि, और अलंकार-ध्वनि इनमें रस-ध्वनि सर्व-श्रेष्ठ है। इस प्रकार रस ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्व है। शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनि और रस का यही सम्बन्ध है।

अब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखिये। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि कवि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थ-बोध ही नहीं होता, वरन् उसके हृदय में समान रागात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय रस का बोध न कराकर संवेदन कराता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की दृष्टि से रस-संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्य नहीं। यह एक साध्य सिद्ध हो जाने के उपरान्त, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय-रस को सहृदय के लिए संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है भाषा के द्वारा, परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न कर (क्योंकि हम देख चुके है कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थ-बोध ही कराता है) विशेष प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् शब्दों को साधारण 'वाचक-रूप' में प्रयुक्त न कर विशेष 'चित्र-रूप' मे प्रयुक्त करना पड़ता है। चित्र-रूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन मे भावना का जो चित्र जगाएं वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो; और यह कार्य कवि की कल्पना-शक्ति की अपेक्षा करता है क्योंकि कवि-कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना मे यह चित्र साकार कैसे होगा?

दूसरे शब्दों मे हम कह सकते है कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पना शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा-शब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उनक सुन कर सहृदय को केवल अर्थ-बोध ही नहीं होता वरन् उसके मन मे एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है, जो परिणति की अवस्था में पहुँच कर रूप-संवेदन में विशेष रूप से सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रस-ध्वनि' कहा है। ध्वनि-स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना-तत्व के महत्व की ही प्रतिष्ठा की है।

ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार :—जैसा कि आरम्भ में ही कहा जा चुका है ध्वनिकार जिन दो उद्देश्यो को लेकर चले थे, उनमें से एक अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तो का ध्वनि मे समाहार करना भी था और वास्तव में बाद मे ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमे न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण-रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति गुण-रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदिक अलंकारो का और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनि-रूप में ही उपस्थित रहते है। दूसरे गुण, रीति, अलंकार आदि तत्व प्रत्यक्षतः अर्थात् सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद नहीं देते हैं। अतएव ये सभी उसीके सम्बन्ध से, उसीका उपकार करते हुए अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। इसके अतिरिक्त इन सबका महत्त्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नही है वरन् ध्वन्यार्थ के ही कारण है क्योंकि जहाँ ध्वन्यार्थ नहीं होगा वहाँ ये आत्मा-विहीन पंचतत्वो अथवा आभूषण आदि के समान ही निरर्थक होंगे। इसीलिए ध्वनिकार ने इन्हें ध्वन्यार्थ रूप अंगी के अंग माना है। इनमे गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति, दीप्ति आदि से है, अतएव वे ध्वन्यार्थ के साथ (जो मुख्यतया रस ही होता है) अंतरंग रूप से सम्बद्ध है जैसे कि शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पद-संघटना का सम्बन्ध शब्द-अर्थ से है; इसलिए वह काव्य के शरीर से सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार कि सुन्दर शरीर-संस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व को शोभा बढाता हुआ वास्तव मे उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्ततः काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलंकारो का सम्बन्ध भी शब्द-अर्थ से ही है, परन्तु रीति का सम्बन्ध स्थिर है, अलंकारों का अस्थिर, अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक काव्य-शब्द मे अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालंकार का और प्रत्येक प्रकार क काव्यार्थ मे उपमा या किसी अन्य अर्थालंकार का चमत्कार नित्य रूप से वर्तमान ही हो। अलंकारो की स्थिति आभूषणो की-सी है, जो अनित्य रूप से शरीर की शोभा बढाते हुए अन्ततः आत्मा के सौंदर्य में ही वृद्धि करते है। क्योकि शरीर-सौन्दर्य की स्थिति आत्मा के बिना सम्भव नहीं है। शव के लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलङ्कार को अत्यन्त संकुचित अर्थ मे ग्रहण किया है। अलङ्कार को व्यापक रूप मे ग्रहण करने पर अर्थात् उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के उक्ति-चमत्कार को ग्रहण करने पर चाहे उसका नामकरण हुआ हो या नही, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यंजना का—जैसा कि

कुन्तक ने वक्रोक्ति के विषय मे किया है, उसको न तो शब्द-अर्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलङ्कार-अलङ्कार्य मे इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।)

उपसंहार :—वास्तव मे हमारे साहित्य-शास्त्र मे सम्प्रदायो की जो यह प्रतिद्वन्द्विता खडो हो गई, उसका मूल कारण यही था कि हमारे आचार्य अलङ्कार्य-अलङ्कार—आत्मा शरीर मे न केवल व्यवहार रूप से ही वरन् तत्व रूप से भी अत्यन्त स्पष्ट भेद मानकर चले हैं। रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति—ये पॉच पृथक् सिद्धान्त नहीं है वरन् मूलत: केवल दो ही सिद्धान्त है—रस और रीति अथवा रस और अलंकार। एक केवल आत्मा को ही सम्पूर्ण महत्व दे देता है दूसरा केवल शरीर को। रस और ध्वनि मूलतः रस के ही अन्तर्गत आ जाते है और ये आत्मवादी हैं, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति तत्वतः रीति अथवा अलंकार के अन्तर्गत आते हैं। (शुक्लजी ने 'रीति' नाम ही अधिक उपयुक्त माना है, जो वास्तव मे अलंकार की अपेक्षा अधिक संगत एवं स्पष्ट है।) और ये शरीरवादी हैं। आत्मा और शरीर की सापेक्षिक अनिवार्यता स्वतः-सिद्ध है, यदि आत्मा के बिना शरीर निरर्थक है तो शरीर के बिना आत्मा का भी कोई मूर्त अस्तित्व नही है। यही बात रस और रीति के सम्बन्ध में भी घटती है। भाव का सौंदर्य्य उक्ति के सौंदर्य्य से निरपेक्ष कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार उक्ति का सौंदर्य्य भी भाव के सौंदर्य्य से निरपेक्ष नही हो सकता। उक्ति के सौंदर्य्य मे मै केवल कौतूहल या तमाशा खडा करने वाले चमत्कार को, जिसे वामन, कुन्तक आदि ने भी अत्यन्त हेय माना है, परिगणित नहीं करता क्योंकि वह सभी दशाओं में सहृदय का अनुरंजन नहीं कर सकता। इसलिए तत्व रूप मे रस और रीति सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी किसी प्रकार भी नहीं हो सकते। ये तो एक दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित है और इसीलिए प्रतिवाद करते हुए भी ये एक दूसरे के महत्व को किसी न किसी रूप में स्वीकार ही करते रहे हैं।)

नायिका-भेद

पूर्व-वृत्त—नायिका-भेद को लेकर संस्कृत साहित्य-शास्त्र में कोई नवीन चर्चा नहीं उठ खड़ा हुआ। उसका कोई विशेष महत्व भी नहीं था। आरम्भ में केवल नाट्य-शास्त्रों मे ही नायक-नायिका का वर्गीकरण एवं उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन होता था, जिससे कि नाटककार अपने पात्रों के शील, मर्यादा का आदि से अंत तक उचित रीति से निर्वाह कर सके। परन्तु बाद में जब रस की प्रतिष्ठा हो गई और रसों मे भी शृंगार को रस-राजत्व प्राप्त होगया तो शृंगार के आलम्बन-रूप नायक-नायिका को भी विशेष महत्व दिया जाने लगा और उनका विस्तृत वर्णन होने लगा। नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थ तो मुख्यतः दो ही है—एक भरत का नाट्य-शास्त्र दूसरा धनन्जय का दश-रूपक। साहित्य-शास्त्र के अन्य अंगो की भांति नायिका-भेद का भी प्रथम निरूपण भरत ने ही किया है। नाट्य-शास्त्र के बाईसवें अध्याय मे नायिका-भेद की लगभग समस्त सामग्री किसी न किसी रूप मे मिल जाती है। उसमें मुख्य विषय के अतिरिक्त हाव, मानमोचन के उपाय, दूती आदि अन्य सब प्रसंगों का भी विस्तृत वर्णन है। भरत के अनुसार प्रकृति के विचार से स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा :—

> सर्वासामेव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिः स्मृता।
> उत्तमा मध्यमा चैव तृतीया चाधमा स्मृता॥
>
> [नाट्य-शास्त्र-अ २१०२२]

फिर (उनको अवस्थानुसार) आठ भेदों में विभक्त किया जा सकता हैं—

> तत्र वासकसज्जा वा विरहोत्कण्ठिता वा।
> खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषित-भर्तृका।
> स्वाधीन-पतिका वापि कलहांतरितापि वा।
> तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिकाः स्मृता.।
>
> [नाट्य-शास्त्र अ० २२

इसके आगे भरत ने स्त्रियों के फिर तीन भेद किये हैं:—वेश्या, कुलजा और प्रेष्या (जो वास्तव में सामान्या, स्वकीया और परकीया के प्रकारांतर ही हैं)। उधर नायक के धीर-ललित आदि भेदों के समानान्तर भी उन्होंने नायिकाओं के चार भेद माने हैं। अन्त मे, राजाओं के अन्तःपुर का वर्णन करते हुए महादेवी, देवी, स्वामिनी से लेकर अनुचारिका, परिचारिका आदि तक का विस्तृत उल्लेख है। परवर्ती आचार्यों ने प्रकृति-भेद, अवस्था-भेद तथा कर्म-भेद को तो ज्यो का त्यों ग्रहण कर लिया है। हॉ, धीर-ललित आदि भेदों को उन्होने नायकों तक ही सीमित रखा है। अन्तःपुरवासिनी महादेवी, देवी आदि भी धीरे-धीरे किसी न किसी व्याज से नायिका-भेद मे अंतर्भूत होगईं।

धनञ्जय का विवेचन स्वभावतः ही भरत की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और पूर्ण है—वास्तव मे उनसे पूर्व रुद्रट और रुद्रभट्ट उसको व्यवस्था और विधान दे चुके थे। धनञ्जय ने भरत के प्रकृति, कर्म और अवस्था—भेदों के अतिरिक्त धीरादि भेद भी दिए है, और वय-भेद का भी पूरा विस्तार किया है।

वय-भेद— मुग्धा—१. वयोमुग्धा
२. काममुग्धा
३. रतिवामा
४. कोपमृदु
मध्या—१. यौवनवती
२. कामवती
प्रगल्भा—१. गाढ-यौवना
२. भाव-प्रगल्भा
३. रति-प्रगल्भा

[देखिये दशरूपक]

इनके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी रस-प्रसंग के अन्तर्गत नायिका-भेद का उपयुक्त वर्णन किया है—उनमे क्षेमेन्द्र, केशवमिश्र और विशेषरूप से विश्वनाथ उल्लेखनीय हैं। विश्वनाथ का विवेचन धनंजय की भी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और विस्तृत है। (शायद धनञ्जय से ही संकेत ग्रहण कर) उन्होंने मुग्धा, मध्या और प्रौढा के और भी सूक्ष्म अवान्तर भेद किये हैं—

मुग्धा—(१) प्रथमावतीर्ण-यौवना (२) प्रथमावतीर्णमदनविकारा (३) रतिवामा (४) मानमृदु (५) समधिक लज्जावती।

मध्या—(१) विचित्र-सुरता (२) प्ररूढ-स्मरा (३) प्ररूढयौवना (४) ईषत्-प्रगल्भ-वचना (५)मध्यम-व्रीडिता।

प्रगल्भा–(१) स्मरान्धा (२) गाढ-तारुण्या (३) समस्त-रत-कोविदा (४) भावोन्नता (५) दरव्रीड़ा (६) आक्रांता।

नायिका के अलंकारों की संख्या विश्वनाथ ने दस से अठारह तक पहुँचा दी है।

परन्तु ये ग्रन्थ तो आधार मात्र रहे––नायिका-भेद की जो परिपाटी चली, उसका आदिम ग्रन्थ रुद्रभट्ट का श्रृङ्गार-तिलक ही माना जा सकता है, क्योंकि वही काव्य-शास्त्र का सबसे प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें श्रृंगार को मुख्य रस मानकर उसके अंग-उपांगों अर्थात् संभोग, विप्रलम्भ, नायक-नायिका, कामदशा, मान-मोचन के उपाय आदि की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या मिलती है। श्रृंगार-तिलक के बाद इस प्रकार का दूसरा ग्रन्थ भोज का श्रृंगार-प्रकाश है, जिसमे श्रृंगार ही एक रस माना गया है। भोज ने भी उपर्युक्त सभी प्रसंगों का अपनी विस्तार-प्रिय शैली मे अग्नि-पुराण के अनुसरण पर बीस परिच्छेदों में विस्तृत विवेचन किया है। इसके बाद तो इन श्रृंगार-परक ग्रन्थों की झडी लग गई और न जाने कितने छोटे-मोटे ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, जिनमे शारदातनय का भाव-प्रकाश, शिंग भूपाल का रसार्णव और भानुदत्त के दो ग्रन्थ रसतरंगिणी और रसमञ्जरी विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमें सबसे व्यवस्थित ग्रन्थ है रसमञ्जरी, जो हिन्दी नायिका-भेदका मूलाधार है।

भानुदत्त ने अपने पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थों का उचित परीक्षण करने के उपरांत नायिका-भेद को सर्वांगपूर्ण बना दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उसका अत्यधिक विस्तार किया है, परन्तु साथ ही विश्वनाथ आदि के कतिपय अनावश्यक भेदों को यथास्थान काँट-छाँट भी दिया है। भानुदत्त का काव्य-शास्त्र के उन्नायक आचार्यों में तो कोई स्थान नहीं है किन्तु उनकी दृष्टि अत्यंत विशद और स्वच्छ थी। उनका रस और नायिका-भेद का विवेचन अधिक मौलिक न होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट और संगोपांग है, इसीलिए तो उत्तरकालीन कवि शिक्षा-प्रणेताओ मे वे सबसे अधिक लोक-प्रिय होगए। हिंदी में आरम्भ से ही उनका प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। कृपाराम की हिततरंगिणी, नन्ददास की रसमंजरी, चिंतामणि का कविकुल-कल्पतरु, मतिराम का रस-राज, देव का भाव-विलास, रसलीन का रस-प्रबोध, बेनीप्रवीन का नवरस-तरंग, पद्माकर का जगद्विनोद आदि, प्रायः समस्त शुद्ध रस-ग्रन्थ रस-तरंगिणी और रस-मञ्जरी से अत्यन्त स्पष्ट रूप में प्रभावित हैं। इनमें स्थान-स्थान पर भानुदत्त का उल्लेख और कहीं-कहीं सीधा अनुवाद मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुग में भानुदत्त के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में पढे जाते थे। रसमञ्जरी में मुग्धा के केवल तीन भेद माने गए हैं:–

१. अंकुरित-यौवना [ज्ञात-यौवना और अज्ञात-यौवना]

२. नवोढा

३. विश्रब्ध-नवोढा ।

मध्या का कोई अवान्तर भेद स्वीकार नहीं किया गया और प्रगल्भा के केवल दो ही भेद ग्रहण किये गए हैं:—(१) रति प्रीता, (२) आनन्दात्संमोहा ।

विश्वनाथ ने परकीया के केवल दो भेद माने हैं:—(१) परोढा (२) कन्यका; परंतु भानुदत्त ने परोढा के प्रमुख ६ भेद और उनमे से कई भेदों के अवान्तर-भेद कर दिए हैं:—

परोढा १. गुप्ता [(अ) भूत, (आ) भविष्यत, (इ) वर्तमान]

२. विदग्धा [(अ) वाग्विदग्धा, (आ) क्रिया-विदग्धा]

३. लक्षिता, ४. कुलटा, ५. अनुशयना :—

{ १. वर्तमान स्थान-विघट्टना
२. भावी स्थान ,,
३. संकेत स्थल नष्टा }

६. मुदिता

इसी प्रकार अवस्था-भेदों में मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया और सामान्या सभी का समाहार करते हुए—उनमे से अभिसारिका के तीन अवान्तर भेद कर डाले है :—

अभिसारिका—[१. ज्योत्स्नाभिसारिका, २. दिवाभिसारिका,
३. तमोभिसारिका]

और प्रोषित-भर्तृका के अन्तर्गत प्रोत्स्य-भर्तृका का भी उल्लेख किया है। उधर वर्गक्रम मे भी विस्तार हुआ है । उदाहरण के लिए—

दशानुसार—१. अन्य-संभोग-दुःखिता, २. वक्रोक्ति-गर्विता [प्रेम-गर्विता],
३. मानवती । [सौन्दर्य-गर्विता]

पति-प्रेमानुसार—१. ज्येष्ठा, २. कनिष्ठा ।

अंशानुसार—१. दिव्य, २. अदिव्य, ३. दिव्यादिव्य ।

आगे चलकर श्री रूप गोस्वामी ने श्रृंगार रस के इन प्रसंगो की भक्तिपरक व्याख्या करते हुए उनको एक नया रूप ही दे डाला । उन्होंने वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार जीवन में मुख्य रस माना उज्ज्वल या माधुर्य्य । भक्ति के पाँच भेद हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य्य । इनमे माधुर्य्य सबसे प्रमुख है—इसीको उन्होंने भरत के अनुसार उज्ज्वल रस कहा है, जो वास्तव मे श्रृंगार का ही धार्मिक रूप है । इसका स्थायीभाव हैकृष्ण-रति, और आस्वादयित क्त । श्रृंगार के

भेद-प्रभेदो और समस्त नायिकाभेद को लेखक ने राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला के अनुसार ही घटाया है। यह उज्ज्वल रस लौकिक अथवा ऐन्द्रिय अनुभूतियो से सम्बन्ध न रखकर-आध्यात्मिक अनुभूतियो से सम्बन्ध रखता है।

इन लेखको ने रस-शास्त्र के विवेचन में किसी प्रकार की मौलिक उद्भावनाएं नही कीं। वास्तव मे इनका सम्बन्ध भी काव्य-शास्त्र की अपेक्षा काम-शास्त्र से ही अधिक था। फिर भी आलोचक चाहे ये अच्छे न रहे हों, परन्तु इनकी रसिकता में सन्देह नहीं किया जा सकता। इन्होने वैसे भी आलोचना की अपेक्षा वर्गीकरण ही अधिक किया है। अपनी और लोक की रुचि के अनुसार इन्होंने श्रृंगार रस को ले लिया और उसीके विभिन्न अगो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद और अवान्तर भेद करते रहे। इनका मूल उद्देश्य, जैसा कि रुद्रभट्ट ने स्वयं कहा है, उदीयमान कवियो को श्रृंगार के छंद रचने की शिक्षा देना और उससे भी अधिक साधारण रसिको का मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन करते हुए गोष्ठी की शोभा बढाना था—"किं गोष्ठी-मंडनं हन्त श्रृंगार-तिलकं विना"।

नायिका-भेद का मनोवैज्ञानिक आधार—सबसे पूर्व नायिका के साधारण लक्षण को ही लीजिए—"नायक की ही भांति, त्याग, कृतित्व, कुलीनता, लक्ष्मी, रूप यौवन, चातुर्य्य, विदग्धता, तेज और उसके साथ ही शील आदि गुण से युक्त, अनुराग की पात्र स्त्री काव्य की नायिका होती है।" नायिका को उपर्युक्त गुणों से अलंकृत मानने का मूल कारण हमें रस के साधारणीकरण सिद्धांत में मिलेगा। साधारणीकरण मुख्यतः आलम्बन का ही होता है। अतएव श्रृंगार की आलम्बन नायिका का स्वरूप ऐसा होना चाहिये कि वह सभी के रति-भाव की आलम्बन हो सके। इसी दृष्टि से उसमें उपर्युक्त गुणो को अनिवार्य्य मानकर उसके अन्तर्वाह्य को आकर्षक रूप दिया गया है। इस प्रकार काव्य में स्थूलतः किसी प्रकार वाणी अथवा कर्म द्वारा मर्यादा-उल्लंघन की आशंका नहीं रहती।

जैसाकि मैने ऊपर कहा है, नायिका के इन भेद-प्रभेदो का आधार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक पुष्ट नहीं है, परन्तु उसे सर्वथा अनर्गल फिर भी नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य्य यह है कि यह विभाजन नारी की आंतरिक मनोवृत्तियो से सम्बद्ध किसी एक निश्चित एवं सर्वव्याप्त आधार को लेकर नहीं किया गया, परन्तु उसके पीछे कोई आधार या संगति ही न हो यह बात भी नहीं है। वास्तव मे यहाँ हमे विभिन्न आधारो की संसृष्टि मिलती है, जो अधिकांश में जीवन के वाह्य रूपो पर आश्रित हैं। प्राचीन आचार्यों ने नायिका-भेद के विभिन्न आधार माने हैं:—

१. जाति—पद्मिनी, शंखिनी इत्यादि ।

२. कर्म—स्वकीया, परकीया, सामान्या ।

३. पति का प्रेम—ज्येष्ठा, कनिष्ठा ।

४. वय—मुग्धा, मध्या, प्रौढा ।

५. मान—धीरा, अधीरा, धीराधीरा ।

६. दशा—अन्य-सुरति-दुःखिता, मानवती और गर्विता ।

७. काल (अवस्था)—प्रोषित-पतिका, कलहांतरिता, खण्डिता, अभिसारिका आदि ।

८. प्रकृति या गुण—उत्तमा, मध्यमा, अधमा ।

आइये इनकी एक एक कर परीक्षा करें । पहले आधार को नाम दिया गया है जाति । वास्तव में नायिकाओं का यह वर्ग और इसका यह नाम दोनों ही काम-शास्त्र से लिए गये हैं । काम-शास्त्र मे यह भेद स्त्री की काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को लेकर, जो कि उसकी प्रकृति और शारीरिक स्थिति पर निर्भर रहती है, किए गये है। साधारणतः संस्कृत में जाति एक अत्यन्त व्यापक शब्द है, यहाँ उसका प्रयोग शास्त्र के पारिभाषिक रूप में किया गया है जिसमें आपत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है । वैसे यह जाति-विभाजन बहुत कुछ प्रकृति के ही आधार पर किया हुआ है । वर्ग और जातिका अर्थ है यहाँ 'प्राकृतिक वर्ग'। दूसरे वर्गके लिए कर्म शब्द का प्रयोग है । यह शब्द वास्तव में अर्ध-व्यक्त है । कर्म से तात्पर्य शायद नारी-धर्म की दृष्टि से अनुचित-उचित कर्म का है । अपने पति में अनुरक्त होना नारी का धर्म है और यह उसके लिए उचित कर्म है, दूसरे पति से प्रेम करना अनुचित कर्म है, और धन के लिए वार-विलास करना नीच कर्म है । इस प्रकार अर्थ बैठ तो जाता है, परन्तु शब्द मे सम्यक् अर्थ-ध्वनन् की शक्ति नहीं है । कर्म शब्द से कुछ व्यवसाय-कर्म (profession) की गन्ध आती है, जो कि सामान्या के लिए तो ठीक है परंतु स्वकीया, परकीया के लिए उपयुक्त नहीं है । वस्तुतः नायिका के ये तीन भेद नायक-नायिका के सामाजिक सम्बन्ध को लेकर चले है । यदि यह सम्बन्ध वैध अर्थात लोक-वेद-सम्मत वैवाहिक सम्बन्ध है तो नायिका स्वीया है; यदि अवैध अर्थात लोक-वेद-विरुद्ध स्वतन्त्र प्रेम का सम्बन्ध है तो नायिका परकीया है; और यदि यह सम्बन्ध प्रेम का आदान-प्रदान न होकर व्यवसायिक है तो वह सामान्या है । कर्म शब्द की इसी अव्याप्ति के कारण कृपाराम ने लोकरीति और दास ने धर्म शब्द का प्रयोग किया है, जो निस्संदेह दोनो ही अधिक सार्थक हैं । ज्येष्ठा-कनिष्ठा का एकमात्र आधार नायिका के प्रति पति के प्रेम की न्यूनता-अधिकता ही है, परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त गौण है । चौथे वर्ग का आधार माना गया है वय-भेद ।

यहाँ वय का आधार तो एक प्रकार से स्वतः स्पष्ट ही है, परन्तु वय के साथ-साथ रति-प्रसंग के प्रति नायिका के दृष्टिकोण मे जो परिवर्तन होता जाता है वास्तविक महत्व उसका है। फिर भी वय से अधिक उपयुक्त एक शब्द शायद और नही मिलेगा। आगे धीरादि भेद हैं जिनका आधार माना गया है नायिका का मान अथवा ईर्ष्या-कोप, जिसका सम्बन्ध नायक के अपराध से है। यह विभाजन अधिक मूलगत न होकर बहुत कुछ संयोग और परिस्थिति पर आश्रित है, और फिर यह खण्डिता आदि की सीमा में भी पहुँच जाता है। इससे भी अधिक शिथिल और अनावश्यक है दशानुसार विभाजन, जिसके अन्तर्गत अन्य-सुरति-दुःखिता, मानवती और गर्विता नायिकाओ को लिया गया है। इनमे से अन्य-सुरति-दुःखिता और मानवती का तो खण्डिता तथा धीरादि मे पूर्णतः अन्तर्भाव हो जाता है, और गर्विता भी स्वाधीन-पतिका मे सरलता से अन्तर्भूत कर ली जा सकती है। अब दो वर्ग शेष रह जाते हैं जो सर्वथा मौलिक एवं सर्वमान्य हैं—एक में अवस्था या काल के अनुसार स्वाधीन भर्तृका आदि अष्ट नायिकाओ का वर्णन आता है, दूसरे मे प्रकृति या गुण के अनुसार उत्तमा मध्यमा तथा अधमा का। ये दोनो वर्ग भरत के समय से ही चले आ रहे हैं और बाद के सभी आचार्यों ने ज्यो के त्यों स्वीकृत कर लिए हैं। स्वाधीन-भर्तृका आदि का आधार प्रायः 'काल' माना जाता है। भरत ने 'अवस्था' की ओर संकेत किया है, और अवस्था शब्द अधिक उपयुक्त है भी। वास्तव मे ये भेद नायक के दृष्टिकोण, व्यवहार अथवा स्थिति पर निर्भर नायिका की तत्कालीन मनोदशा के आश्रित है। यदि नायक पूर्णतः अपने आधीन है तो सर्वथा सुखी और संतुष्टमना नायिका 'स्वाधीन-पतिका' कहाती है; अन्य स्त्री के संसर्ग-चिन्हो से युक्त नायक जिसके पास जाय वह ईर्ष्या से कलुषित चित्तवाली नायिका 'खण्डिता' कहाती है; जो नायक से मिलने के लिए संकेत-स्थान पर जाए ऐसी कामातुरा नायिका को 'अभिसारिका' कहते हैं; जो क्रोध के मारे पहले तो प्रार्थना करते हुए नायक को निरस्त कर दे फिर पीछे से पछताए उसे 'कलहांतरिता'; और संकेत करके भी प्रिय जिसके पास न जाए उस नितान्त अपमानिता को 'विप्रलब्धा' कहते हैं। अनेक कार्यों मे फंसकर जिसका पति परदेश चला गया है वह काम-पीडिता नायिका 'प्रोषित-पतिका' कहाती है, प्रियसमागम का निश्चय होने से जो वस्त्रालंकारो से सुसज्जित हो रही हो, उसे 'वासकसज्जा' और आने का निश्चय करके भी दैव वश जिसका प्रिय न आ सके वह खिन्नमना नायिका विरहोत्कंठिता कहाती है। 'काल' शब्द से अभिप्राय समय—और स्पष्ट कर कहे तो | सामयिक स्थिति अर्थात् नायिका की तत्कालीन मनोदशा का है। थोडा वक्र करके कुछ लोगों ने इससे पूर्वापर क्रम का भी आशय निकालने का प्रयत्न किया है, और हिन्दी के एक आधुनिक लेखक ने उपर्युक्त

आठ भेदों में क्रम बाँधने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह न अभिप्रेत है और न संगत; क्योंकि स्पष्टतः ही ये अवस्थाएं पूर्वापर नही है। यह भ्रांति वास्तव मे 'काल' शब्द के प्रयोग से ही फैली है। अन्तिम आधार है गुण, जिसे भरत ने प्रकृति कहा है। यद्यपि इन दोनो मे गुण ही अधिक प्रचलित है, परन्तु यदि आप परिभाषा का विश्लेषण करेंगे तो प्रकृति (स्वभाव) ही अधिक संगत बैठेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नायिका-भेद का विशाल भवन जिस मूलाधार पर खड़ा हुआ है उसमें अनेक प्रकार के समान-असमान अवांतर आधारों की संसृष्टि है—जो कहीं सामाजिक सम्बन्ध, कही स्वभाव, कहीं मनोदशा, कही काम-प्रवृति, कहीं आभ्यंतर और शारीरिक प्रकृति, कहीं केवल नायक के प्रेम की न्यूनता-अधिकता पर ही आश्रित हैं। इनमें कुछ आधार मूलगत और कुछ नितांत स्थूल हैं। इतना अवश्य है कि इन सभी मे नायक-नायिका की पारस्परिक रति-भावना मूल सूत्र के रूप में अनिवार्यतः अनुस्यूत है और यही नायिका-भेद का मूलाधार है। इस वर्गीकरण में चरित्र-चित्रण एवं शील-निरूपण का अत्यन्त स्थूल प्रयत्न मिलता है। स्थूल इसलिए कि यह सर्वथा वर्गगत ही है, व्यक्ति-गत नही। यह वर्गीकरण इस सिद्धांत को लेकर चला है कि मानव-प्रकृति मूलतः एक है, एक विशेष परिस्थिति में वह एक विशेष रूप मे ही प्रतिक्रिया करेगी। वास्तव मे यह सिद्धांत आत्यन्तिक रूप में चाहे ठीक भी हो, परन्तु सामान्यतः अधिक व्यवहार्य्य नहीं है क्योंकि प्रकृति की एकता प्रायः दुर्लभ है। ऊपर से एक दिखने वाली परि-स्थितियो मे कितनी आंतरिक गुत्थियाँ हैं, यह हम साधारणतः नहीं जान पाते। इसकी तह में जनन-विज्ञान, समाज-विज्ञान और इनके परिणाम-स्वरूप मनोविज्ञान के जाल उलझे हुए है। इसीलिए मानव-मन का वर्ग-गत विश्लेषण साधारणतः सफल नहीं होता, व्यक्तिगत विश्लेषण ही व्यवहार्य्य होता है। इसके अतिरिक्त इस विभाजन मे एक और स्पष्ट दोष यह है कि एक तो यह प्रेम अथवा काम-वृत्ति के बाह्य रूप को ही लेकर, दूसरे उसको स्वतः परिमित भी मान कर चला है। काम-वृत्ति अपने मूल रूप में स्वतन्त्र वृत्ति अवश्य है, पर जीवन के व्यवहार-तल पर उस पर अन्य प्रवृत्तियो की भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है यह असंदिग्ध है। हमारे नायिका-भेद में इसका ध्यान नहीं रखा गया। उसका तो मुख-वाक्य यही है कि सब कुछ होते हुए भी स्त्री केवल स्त्री ही है—'A woman is a woman for all that', इसीलिए वह शास्त्रीय विवेचन मे इतना योग नही दे सका, जितना काव्य-सृष्टि में। नायिका-भेद सिद्धान्त-शास्त्र न बन कर चित्र-संग्रह ही बन गया।

रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति शब्द का अर्थ और इतिहास—हिन्दी में रीति का प्रयोग साधारणत: लक्षण ग्रन्थो के लिए होता है : जिन ग्रन्थो मे काव्य के विभिन्न अंगो का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हें रीति-ग्रन्थ कहते है, और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर—जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीति-शास्त्र कहते है। संस्कृत मे इसे अलंकार-शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र ही प्रायः कहा गया है। रीति का वहाँ एक विशेष अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। रीति का अर्थ वहाँ है विशिष्ट पद-रचना। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि से स्पष्ट है रीति-सम्प्रदाय रचना अथवा वाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मान कर चला है—सम्भव है आरम्भ में हिन्दी में रीति शब्द का मूल संकेत रीति-सम्प्रदाय से ही लिया गया हो, परन्तु वास्तव में यहां इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एवं व्यापक अर्थ में ही हुआ है। यहाँ काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमो के विधान को ही समग्रत: रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ में रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीति ग्रन्थ, और जिस काव्य की रचना इन नियमो से आवद्ध हो वह रीति-काव्य है। स्वभावतः इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है।

इस प्रकार रीति शब्द का यह विशिष्ट प्रयोग हिन्दी का अपना प्रयोग है, और यह नया नहीं है। रीति-काल के अनेक कवियों ने प्रायः आरम्भ से ही काव्य की रीति, अलकार-रीति, कवित-रीति आदि का प्रयोग स्पष्ट रूप से इसी अर्थ में किया है।

(१) अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति।

[देव, शब्द-रसायन]

(२) काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों, देखी सुनी बहु लोक की बातें।
[दास, काव्य-निर्णय]

(३) कवित-रीति कछु कहत हो व्यंग्य अर्थ चित लाय।
[प्रतापसाहि, व्यंग्यार्थ-कौमुदी]

इसी प्रकार पद्माकर ने अपने पद्माभरण मे अलंकार-विवेचन को अलंकार-रीति कहा है। रीति से इनका तात्पर्य्य स्पष्टतः है प्रकार—प्रणाली का। रीति-काल के उत्तरार्ध में यह शब्द काफी प्रचलित हो गया था, और उसकी समाप्ति तक तो इसका मुक्त प्रयोग हो चला था। सरदार आदि कवियों के समय में यह शब्द इस रूप में सर्वसाधारण मे स्वीकृत था। इसी के अनुसार तो मिश्र-बन्धुओं ने युग का नाम 'अलंकृत-काल' रखते हुए भी इन कवियो के ग्रन्थो को रीति-ग्रन्थ और उनके विवेचन को रीति-कथन ही कहा है। मिश्रबन्धु-विनोद मे एक स्थान पर रीति के तत्कालीन प्रयोग की बडी स्वच्छ व्याख्या की गई है। "इस प्रणाली के साथ रीति-ग्रन्थों का भी प्रचार बढा और आचार्य्यता की वृद्धि हुई।...आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रन्थों से प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनों वाले ग्रन्थो के सहायक मात्र हैं न कि उनके स्थानापन्न"। कहने का तात्पर्य्य यह है कि रीति शब्द जैसा कि कुछ लोगो का विचार है, शुक्लजी का आविष्कार नहीं है। वह बहुत पहले से हिन्दी में प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिए तो शुक्लजी ने कहीं भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नही की। शब्द स्वयं इतना सर्व-परिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नही हुई। फिर भी शुक्लजी की शास्त्र-निष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था एवं वैज्ञानिक विधान दिया, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उनसे पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षण-ग्रन्थों के लिए भी, जिनमें रीति-कथन तो नहीं है, परन्तु रीति-बन्धन निश्चित रूप से हैं, रीति संज्ञा शुक्लजी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्लजी ने कुछ अंशो मे वामन के रीति शब्द का अर्थ-संकेत भी ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक प्रकार न मान कर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में, जिसने रीति-ग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति-कवि नहीं है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीति-बद्ध हो वह भी रीति-कवि है। शुक्लजी के उपरान्त कुछ आलोचकों ने इस काल को रीति-काल की अपेक्षा अलंकार-काल या शृङ्गार-काल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिन्दी में उनका अनुसरण नही हुआ। फलतः आज हिन्दी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक एवं इतिहासकार केशव,

४. प्रकरण, वक्ता, बोधक, स्वरूप, काल; आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय आदि के अनुसार व्यंग्यार्थ प्राय: वाच्यार्थ से भिन्न हो जाता है। उदाहरण के लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्य का वाच्यार्थ तो सभी के लिए एक ही होगा परन्तु व्यंग्यार्थ प्रकरण आदि के अनुसार भिन्न भिन्न रूप मे प्रतीत होगा।

५. वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ मे काल-भेद सर्वत्र रहता है: अर्थात् वाच्यार्थ का बोध प्रथम और व्यंग्यार्थ का बाद में होता है।

६. वाच्यार्थ केवल शब्द मे ही रहता है पर व्यंग्यार्थ शब्द के एक अंश शब्द के अर्थ और वर्णों की स्थापना-विशेष में भी रहता है।

७. वाच्यार्थ केवल व्याकरण आदि के ज्ञान-मात्र से ही हो सकता है, परन्तु व्यंग्यार्थ केवल विशुद्ध प्रतिभा द्वारा काव्य मार्मिकों को ही भासित हो सकता है।

८. वाच्यार्थ से केवल वस्तु का ही ज्ञान होता है, पर व्यंग्यार्थ से चमत्कार (आनन्द का आस्वादन) उत्पन्न होता है।

महिम भट्ट ने व्यंग्यार्थ को स्वतन्त्र न मान कर केवल अनुमेय ही माना है। वे कहते हैं कि जिस व्यंग्यार्थ की सिद्धि व्यंजना के द्वारा कही जाती है, वह वास्तव मे अनुमान के द्वारा ही होती है अर्थात् वाच्यार्थ और तथाकथित व्यंग्यार्थ मे लिंग-लिंगी सम्बन्ध है। इसके उत्तर में मम्मट का कथन है कि सर्वत्र ऐसा नही होता, ऐसा भी प्राय: होता है कि यह वाच्यार्थ रूप लिंग (साधन-हेतु) निश्चयात्मक न होकर अनैकांतिक (व्यभिचारी) ही हो और उससे लिंगी (साध्य) की सिद्धि न हो। अतएव व्यंग्यार्थ को सर्वत्र अनुमेय कैसे मान सकते हैं? (देखिये काव्यप्रकाश पंचम उल्लास का उत्तरार्ध)। वैसे भी इसका स्पष्ट प्रतिवाद यही है कि अनुमान मे साधन से साध्य की सिद्धि तर्क के आधार पर होती हैं, पर ध्वनि में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति तर्क के सहारे नहीं होती। यह प्रत्यक्ष है इसमे प्रमाण की आवश्यकता नहीं।

ध्वनि और रस :—भरत ने रस की परिभाषा की है: विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्य में केवल विभाव, अनुभाव आदि का ही कथन होता है। उनके संयोग के परिपाक रूप रस का नहीं—अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नही, रस का वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रस-दोष भी माना जाता है, रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसे कि अभी व्यंजना के विषय में कहा गया किसी उक्ति का वाच्यार्थ रस-प्रतीति नहीं

करता। केवल अर्थ-बोध कराता है। रस सहृदय की हृदय-स्थिति वासना की आनन्दरूप परिणति है जो अर्थ-बोध से भिन्न है। अतएव उक्ति द्वारा रस का प्रत्यक्ष वाचन नही होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दों में 'व्यंजना' या 'ध्वनन' होता है। इसी तर्क से ध्वनिकार ने उसे केवल रस न मान कर रस-ध्वनि माना है। ध्वनि के अनुसार जो उत्तम, मध्यम और अधम काव्य माने गये हैं उनमें उत्तम काव्य के तीन भेद हैं—रस-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि, और अलंकार-ध्वनि इनमे रस-ध्वनि सर्व-श्रेष्ठ है। इस प्रकार रस ध्वनि सिद्धांत के अनुसार काव्य का सर्वश्रेष्ठ तत्व है। शास्त्रीय दृष्टि से ध्वनि और रस का यही सम्बन्ध है।

अब मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखिये। मनोविज्ञान के अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूति को सहृदय के प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनाने का अर्थ यह है कि कवि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदय को केवल उसका अर्थ-बोध ही नही होता, वरन् उसके हृदय में समान रागात्मक अनुभूति का संचार भी हो जाता है। इस रीति से कवि सहृदय को अपने हृदय रस का बोध न कराकर संवेदन कराता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदय की दृष्टि से रस-संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्य नहीं। यह एक साध्य सिद्ध हो जाने के उपरान्त, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदय-रस को सहृदय के लिए संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है भाषा के द्वारा, परन्तु उसे भाषा का साधारण प्रयोग न कर (क्योंकि हम देख चुके है कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थ-बोध ही कराता है) विशेष प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् शब्दों को साधारण 'वाचक-रूप' मे प्रयुक्त न कर विशेष 'चित्र-रूप' में प्रयुक्त करना पड़ता है। चित्र-रूप से तात्पर्य यह है कि वे श्रोता के मन मे भावना का जो चित्र जगाएं वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो; और यह कार्य कवि की कल्पना-शक्ति की अपेक्षा करता है क्योकि कवि-कल्पना की सहायता के बिना सहृदय की कल्पना मे यह चित्र साकार कैसे होगा?

दूसरे शब्दो मे हम कह सकते हैं कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषा का कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पना शक्ति का नियोजन करके कवि भाषा-शब्दों को एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उनको सुन कर सहृदय को केवल अर्थ-बोध ही नहीं होता वरन् उसके मन में एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है, जो परिणति की अवस्था मे पहुँच कर रूप-संवेदन में विशेष रूप से सहायक होती है। शब्द की इस अतिरिक्त कल्पना जगाने वाली शक्ति को ही ध्वनिकार ने 'व्यंजना' और रस के इस संवेद्य रूप को ही 'रस-ध्वनि' कहा है। ध्वनि-स्थापना के द्वारा वास्तव में ध्वनिकार ने काव्य में कल्पना-तत्व के महत्त्व की ही प्रतिष्ठा की है।

ध्वनि में अन्य सिद्धान्तों का समाहार :—जैसा कि आरम्भ में ही कहा जा चुका है ध्वनिकार जिन दो उद्देश्यों को लेकर चले थे, उनमें से एक अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तो का ध्वनि में समाहार करना भी था और वास्तव मे बाद में ध्वनि-सिद्धान्त की सर्वमान्यता का मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनि को उन्होने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके पूर्ववर्ती रस, गुण-रीति, अलंकार आदि का ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकार से हुई—एक तो यह कि रस की भाँति गुण-रीति, अलंकार, वक्रता आदि भी व्यंग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणों का कथन होता है न वैदर्भी आदि रीतियों का, न उपमा आदिक अलंकारों का और न वक्रता का ही। ये सब ध्वनि-रूप में ही उपस्थित रहते हैं। दूसरे गुण, रीति, अलंकार आदि तत्व प्रत्यक्षतः अर्थात् सीधे वाच्यार्थ द्वारा मन को आह्लाद नहीं देते हैं। अतएव ये सभी उसीके सम्बन्ध से, उसीका उपकार करते हुए अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। इसके अतिरिक्त इन सबका महत्व भी अपने प्रत्यक्ष रूप के कारण नही है वरन् ध्वन्यार्थ के ही कारण है क्योंकि जहाँ ध्वन्यार्थ नहीं होगा वहाँ ये आत्मा-विहीन पंचतत्वों अथवा आभूषण आदि के समान ही निरर्थक होगे। इसीलिए ध्वनिकार ने इन्हें ध्वन्यार्थ रूप अंगी के अंग माना है। इनमें गुणों का सम्बन्ध चित्त की द्रुति, दीप्ति आदि से है, अतएव वे ध्वन्यार्थ के साथ (जो मुख्यतया रस ही होता है) अंतरंग रूप से सम्बद्ध हैं जैसे कि शौर्यादि आत्मा के साथ। रीति अर्थात् पद-संघटना का सम्बन्ध शब्द-अर्थ से है; इसलिए वह काव्य के शरीर से सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार कि सुन्दर शरीर-संस्थान मनुष्य के बाह्य व्यक्तित्व की शोभा बढ़ाता हुआ वास्तव मे उसकी आत्मा का ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्ततः काव्य की आत्मा का ही उपकार करती है। अलंकारों का सम्बन्ध भी शब्द-अर्थ से ही है, परन्तु रीति का सम्बन्ध स्थिर है, अलंकारों का अस्थिर, अर्थात् यह आवश्यक न ीहै कि प्रत्येक काव्य-शब्द मे अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालंकार का और प्रत्येक प्रकार क काव्या में उपमा या किसी अन्य अर्थालंकार का चमत्कार नित्य रूप से वर्तमान ही हो। अलंकारो की स्थिति आभूषणों की-सी है, जो अनित्य रूप से शरीर की शोभा बढाते हुए अन्ततः आत्मा के सौंदर्य्य में ही वृद्धि करते है। क्योंकि शरीर-सौन्दर्य्य की स्थिति आत्मा के बिना सम्भव नहीं है। शव के लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। (यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकार ने अलङ्कार को अत्यन्त संकुचित अर्थ में ग्रहण किया है। अलङ्कार को व्यापक रूप मे ग्रहण करने पर अर्थात् उसके अन्तर्गत सभी प्रकार के उक्ति-चमत्कार को ग्रहण करने पर चाहे उसका नामकरण हुआ हो या नहीं, चाहे वह लक्षणा का चमत्कार हो अथवा व्यंजना का—जैसा कि

कुन्तक ने वक्रोक्ति के विषय मे किया है, उसको न तो शब्द-अर्थ का अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलङ्कार-अलङ्कार्य में इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।)

उपसंहार :—वास्तव में हमारे साहित्य-शास्त्र मे सम्प्रदायो की जो यह प्रतिद्वन्द्विता खड़ी हो गई, उसका मूल कारण यही था कि हमारे आचार्य अलङ्कार्य-अलङ्कार—आत्मा शरीर मे न केवल व्यवहार रूप से ही वरन् तत्व रूप से भी अत्यन्त स्पष्ट भेद मानकर चले है। रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति—ये पाँच पृथक् सिद्धान्त नहीं हैं वरन् मूलतः केवल दो ही सिद्धान्त हैं—रस और रीति अथवा रस और अलंकार। एक केवल आत्मा को ही सम्पूर्ण महत्व दे देता है दूसरा केवल शरीर को। रस और ध्वनि मूलतः रस के ही अन्तर्गत आ जाते है और ये आत्मवादी हैं, अलंकार, रीति और वक्रोक्ति तत्वतः रीति अथवा अलंकार के अन्तर्गत आते हैं। (शुक्लजी ने 'रीति' नाम ही अधिक उपयुक्त माना है, जो वास्तव मे अलंकार की अपेक्षा अधिक संगत एवं स्पष्ट है।) और ये शरीरवादी हैं। आत्मा और शरीर की सापेक्षिक अनिवार्यता स्वतः-सिद्ध है, यदि आत्मा के बिना शरीर निरर्थक है तो शरीर के बिना आत्मा का भी कोई मूर्त अस्तित्व नही है। यही बात रस और रीति के सम्बन्ध मे भी घटती है। भाव का सौंदर्य्य उक्ति के सौंदर्य्य से निरपेक्ष कैसे हो सकता है? इसी प्रकार उक्ति का सौंदर्य्य भी भाव के सौंदर्य्य से निरपेक्ष नही हो सकता। उक्ति के सौंदर्य्य मे मै केवल कौतूहल या तमाशा खड़ा करने वाले चमत्कार को, जिसे वामन, कुन्तक आदि ने भी अत्यन्त हेय माना है, परिगणित नहीं करता क्योंकि वह सभी दशाओं मे सहृदय का अनुरंजन नहीं कर सकता। इसलिए तत्व रूप में रस और रीति सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी किसी प्रकार भी नहीं हो सकते। ये तो एक दूसरे के पूरक एवं अन्योन्याश्रित हैं और इसीलिए प्रतिवाद करते हुए भी ये एक दूसरे के महत्व को किसी न किसी रूप मे स्वीकार ही करते रहे है।

नायिका-भेद

पूर्व-वृत्त—नायिका-भेद को लेकर संस्कृत साहित्य-शास्त्र में कोई नवीन वर्ग नही उठ खडा हुआ। उसका कोई विशेष महत्व भी नही था। आरम्भ मे केवल नाट्य-शास्त्रों मे ही नायक-नायिका का वर्गीकरण एवं उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन होता था, जिससे कि नाटककार अपने पात्रों के शील, मर्यादा का आदि से अत तक उचित रीति से निर्वाह कर सके। परन्तु बाद मे जब रस की प्रतिष्ठा हो गई और रसो में भी शृंगार को रस-राजत्व प्राप्त होगया तो शृंगार के आलम्बन-रूप नायक-नायिका को भी विशेष महत्व दिया जाने लगा और उनका विस्तृत वर्णन होने लगा। नाट्य-सम्बन्धी ग्रन्थ तो मुख्यत: दो ही है—एक भरत का नाट्य-शास्त्र दूसरा धनञ्जय का दश-रूपक। साहित्य-शास्त्र के अन्य अंगो की भांति नायिका-भेद का भी प्रथम निरूपण भरत ने ही किया है। नाट्य-शास्त्र के बाईसवे अध्याय मे नायिका-भेद की लगभग समस्त सामग्री किसी न किसी रूप मे मिल जाती है। उसमें मुख्य विषय के अतिरिक्त हाव, मानमोचन के उपाय, दूती आदि अन्य सब प्रसंगो का भी विस्तृत वर्णन है। भरत के अनुसार प्रकृति के विचार से स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा :—

सर्वासामेव नारीणां त्रिविधा प्रकृतिः स्मृता।
उत्तमा मध्यमा चैव तृतीया चाधमा स्मृता॥

[नाट्य शास्त्र-अ २१०२२]

फिर (उनको अवस्थानुसार) आठ भेदो मे विभक्त किया जा सकता है—

तत्र वासकसज्जा वा विरहोत्कण्ठिता वा।
खण्डिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोषित-भर्तृका।
स्वाधीन-पतिका वापि कलहांतरितापि वा।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिका स्मृताः।

[नाट्य-शास्त्र अ० २२

इसके आगे भरत ने स्त्रियों के फिर तीन भेद किये हैं:—वेश्या, कुलजा और प्रेष्या (जो वास्तव मे सामान्या, स्वकीया और परकीया के प्रकारांतर ही हैं)। उधर नायक के धीर-ललित आदि भेदो के समानान्तर भी उन्होंने नायिकाओ के चार भेद माने हैं। अन्त मे, राजाओ के अन्तःपुर का वर्णन करते हुए महादेवी, देवी, स्वामिनी से लेकर अनुचारिका, परिचारिका आदि तक का विस्तृत उल्लेख है। परवर्ती आचार्यों ने प्रकृति-भेद, अवस्था-भेद तथा कर्म-भेद को तो ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया है। हाँ, धीर-ललित आदि भेदो को उन्होने नायकों तक ही सीमित रखा है। अन्तःपुरवासिनी महादेवी, देवी आदि भी धीरे-धीरे किसी न किसी व्याज से नायिका-भेद मे अंतर्भूत होगईं।

धनञ्जय का विवेचन स्वभावतः ही भरत की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और पूर्ण है—वास्तव में उनसे पूर्व रुद्रट और रुद्रभट्ट उसको व्यवस्था और विधान दे चुके थे। धनञ्जय ने भरत के प्रकृति, कर्म और अवस्था—भेदो के अतिरिक्त धीरादि भेद भी दिए हैं, और वय-भेद का भी पूरा विस्तार किया है।

वय-भेद— मुग्धा—१. वयोमुग्धा
२. काममुग्धा
३. रतिवामा
४. कोपमृदु
मध्या—१. यौवनवती
२. कामवती
प्रगल्भा—१. गाढ-यौवना
२. भाव-प्रगल्भा
३. रति-प्रगल्भा

[देखिये दशरूपक]

इनके अतिरिक्त काव्य-शास्त्र के अन्य आचार्यों ने भी रस-प्रसंग के अन्तर्गत नायिका-भेद का उपयुक्त वर्णन किया है—उनमें क्षेमेन्द्र, केशवमिश्र और विशेषरूप से विश्वनाथ उल्लेखनीय है। विश्वनाथ का विवेचन धनंजय की भी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और विस्तृत है। (शायद धनञ्जय से ही संकेत ग्रहण कर) उन्होंने मुग्धा, मध्या और प्रौढा के और भी सूक्ष्म अवान्तर भेद किये है—

मुग्धा—(१) प्रथमावतीर्ण-यौवना (२) प्रथमावतीर्णमदनविकारा (३) रतिवामा (४) मानमृदु (५) समधिक लज्जावती।

मध्या—(१) विचित्र-सुरता (२) प्ररूढ-स्मरा (३) प्ररूढयौवना (४) ईषत्-प्रगल्भ-वचना (५)मध्यम-व्रीड़िता।

प्रगल्भा-(१) स्मरान्धा (२) गाढ-तारुण्या (३) समस्त-रत-कोविदा (४) भावोन्नता (५) दरव्रीड़ा (६) आक्रांता।

नायिका के अलंकारो की संख्या विश्वनाथ ने दस से अठारह तक पहुँचा दी है।

परन्तु ये ग्रन्थ तो आधार मात्र रहे---नायिका-भेद की जो परिपाटी चली, उसका आदिम ग्रन्थ रुद्रभट्ट का श्रृङ्गार-तिलक ही माना जा सकता है, क्योंकि वही काव्य-शास्त्र का सबसे प्रथम ग्रन्थ है, जिसमे शृंगार को मुख्य रस मानकर उसके अंग-उपांगो अर्थात् संभोग, विप्रलम्भ, नायक-नायिका, कामदशा, मान-मोचन के उपाय आदि की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या मिलती है। शृंगार-तिलक के बाद इस प्रकार का दूसरा ग्रन्थ भोज का शृंगार-प्रकाश है, जिसमे शृंगार ही एक रस माना गया है। भोज ने भी उपर्युक्त सभी प्रसंगो का अपनी विस्तार-प्रिय शैली मे अग्नि-पुराण के अनुसरण पर बीस परिच्छेदो मे विस्तृत विवेचन किया है। इसके बाद तो इन शृंगार-परक ग्रन्थो की झडी लग गई और न जाने कितने छोटे-मोटे ग्रन्थो का प्रणयन हुआ, जिनमे शारदातनय का भाव-प्रकाश, शिंग भूपाल का रसार्णव और भानुदत्त के दो ग्रन्थ रसतरंगिणी और रसमञ्जरी विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमें सबसे व्यवस्थित ग्रन्थ है रसमञ्जरी, जो हिन्दी नायिका-भेदका मूलाधार है।

भानुदत्त ने अपने पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थो का उचित परीक्षण करने के उपरांत नायिका-भेद को सर्वांगपूर्ण बना दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होने उसका अत्यधिक विस्तार किया है, परन्तु साथ ही विश्वनाथ आदि के कतिपय अनावश्यक भेदों को यथास्थान काँट-छाँट भी दिया है। भानुदत्त का काव्य-शास्त्र के उन्नायक आचार्यों में तो कोई स्थान नही है किन्तु उनकी दृष्टि अत्यंत विशद और स्वच्छ थी। उनका रस और नायिका-भेद का विवेचन अधिक मौलिक न होते हुए भी अत्यन्त स्पष्ट और संगोपांग है, इसीलिए तो उत्तरकालीन कवि शिक्षा-प्रणेताओं मे वे सबसे अधिक लोक-प्रिय होगए। हिंदी में आरम्भ से ही उनका प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। कृपाराम की हिततरंगिणी, नन्ददास की रसमंजरी, चिंतामणि का कविकुल-कल्पतरु, मतिराम का रस-राज, देव का भाव-विलास, रसलीन का रस-प्रबोध, बेनीप्रवीन का नवरस-तरंग, पद्माकर का जगद्विनोद आदि, प्रायः समस्त शुद्ध रस-ग्रन्थ रस-तरंगिणी और रस-मञ्जरी से अत्यन्त स्पष्ट रूप मे प्रभावित हैं। इनमे स्थान-स्थान पर भानुदत्त का उल्लेख और कहीं-कहीं सीधा अनुवाद मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुग मे भानुदत्त के उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में पढ़े जाते थे। रसमञ्जरी मे मुग्धा के केवल तीन भेद माने गए हैं:-

१. अंकुरित-यौवना [ज्ञात-यौवना और अज्ञात-यौवना]

२. नवोढा

३. विश्रब्ध-नवोढा।

मध्या का कोई अवान्तर भेद स्वीकार नहीं किया गया और प्रगल्भा के केवल दो ही भेद ग्रहण किये गए हैः—(१) रति प्रीता, (२) आनन्दात्संमोहा।

विश्वनाथ ने परकीया के केवल दो भेद माने हैः—(१) परोढा (२) कन्यका; परंतु भानुदत्त ने परोढा के प्रमुख ६ भेद और उनमें से कई भेदों के अवान्तर-भेद कर दिए हैं—

परोढा : १. गुप्ता [(अ) भूत, (आ) भविष्यत, (इ) वर्तमान]
२. विदग्धा [(अ) वाग्विदग्धा, (आ) क्रिया-विदग्धा]
३. लक्षिता, ४. कुलटा, ५. अनुशयना :—
{ १. वर्तमान स्थान-विघट्टना
२. भावी स्थान ,,
३. संकेत स्थल नष्टा }
६. मुदिता

इसी प्रकार अवस्था-भेदों में मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, परकीया और सामान्या सभी का समाहार करते हुए—उनमें से अभिसारिका के तीन अवान्तर भेद कर डाले हैं :—

अभिसारिका—[१. ज्योत्स्नाभिसारिका, २. दिवाभिसारिका,
३. तमोभिसारिका]

और प्रोषित-भर्तृका के अन्तर्गत प्रोत्स्य-भर्तृका का भी उल्लेख किया है। उधर वर्गक्रम में भी विस्तार हुआ है। उदाहरण के लिए—

दशानुसार—१. अन्य-संभोग-दुःखिता, २. वक्रोक्ति-गर्विता [प्रेम-गर्विता], ३. मानवती। [सौन्दर्य-गर्विता]

पति-प्रेमानुसार—१. ज्येष्ठा, २. कनिष्ठा।

अंशानुसार—१. दिव्य, २. अदिव्य, ३. दिव्यादिव्य।

आगे चलकर श्री रूप गोस्वामी ने श्रृंगार रस के इन प्रसंगो की भक्तिपरक व्याख्या करते हुए उनको एक नया रूप ही दे डाला। उन्होंने वैष्णव सिद्धान्त के अनुसार जीवन में मुख्य रस माना उज्ज्वल या माधुर्य। भक्ति के पाँच भेद हैं—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इनमे माधुर्य सबसे प्रमुख है—इसीको उन्होंने भरत के अनुसार उज्ज्वल रस कहा है, जो वास्तव में श्रृंगार का ही धार्मिक रूप है। इसका स्थायीभाव हैकृष्ण-रति, और आस्वादयिता है भक्त। श्रृंगार के

भेद-प्रभेदों और समस्त नायिकाभेद को लेखक ने राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला के अनुसार ही घटाया है। यह उज्ज्वल रस लौकिक अथवा ऐन्द्रिय अनुभूतियो से सम्बन्ध न रखकर-आध्यात्मिक अनुभूतियों से सम्बन्ध रखता है।

इन लेखको ने रस-शास्त्र के विवेचन में किसी प्रकार की मौलिक उद्भावनाएं नही कीं। वास्तव मे इनका सम्बन्ध भी काव्य-शास्त्र की अपेक्षा काम-शास्त्र से ही अधिक था। फिर भी आलोचक चाहे ये अच्छे न रहे हों, परन्तु इनकी रसिकता मे सन्देह नहीं किया जा सकता। इन्होंने वैसे भी आलोचना की अपेक्षा वर्गीकरण ही अधिक किया है। अपनी और लोक की रुचि के अनुसार इन्होंने शृंगार रस को ले लिया और उसीके विभिन्न अंगो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद और अवान्तर भेद करते रहे। इनका मूल उद्देश्य, जैसा कि रुद्रभट्ट ने स्वयं कहा है, उदीयमान कवियो को शृंगार के छंद रचने की शिक्षा देना और उससे भी अधिक साधारण रसिको का मनोरंजन एवं ज्ञानवर्द्धन करते हुए गोष्ठी की शोभा बढाना था—"किं गोष्ठी-मंडनं हन्त शृंगार-तिलकं विना"।

नायिका-भेद का मनोवैज्ञानिक आधार—सबसे पूर्व नायिका के साधारण लक्षण को ही लीजिए—"नायक की ही भांति, त्याग, कृतित्व, कुलीनता, लक्ष्मी, रूप यौवन, चातुर्य्य, विदग्धता, तेज और उसके साथ ही शील आदि गुण से युक्त, अनुराग की पात्र स्त्री काव्य की नायिका होती है।" नायिका को उपर्युक्त गुणों से अलंकृत मानने का मूल कारण हमें रस के साधारणीकरण सिद्धांत मे मिलेगा। साधारणीकरण मुख्यतः आलम्बन का ही होता है। अतएव शृंगार की आलम्बन नायिका का स्वरूप ऐसा होना चाहिये कि वह सभी के रति-भाव की आलम्बन हो सके। इसी दृष्टि से उसमें उपर्युक्त गुणो को अनिवार्य्य मानकर उसके अन्तर्बाह्य को आकर्षक रूप दिया गया है। इस प्रकार काव्य में स्थूलतः किसी प्रकार वाणी अथवा कर्म द्वारा मर्यादा-उल्लंघन की आशंका नहीं रहती।

जैसाकि मैंने ऊपर कहा है, नायिका के इन भेद-प्रभेदो का आधार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक पुष्ट नहीं है, परन्तु उसे सर्वथा अनर्गल फिर भी नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य्य यह है कि यह विभाजन नारी की आंतरिक मनोवृत्तियों से सम्बद्ध किसी एक निश्चित एवं सर्वव्याप्त आधार को लेकर नहीं किया गया, परन्तु उसके पीछे कोई आधार या संगति ही न हो यह बात भी नहीं है। वास्तव में यहाँ हमें विभिन्न आधारों की संसृष्टि मिलती है, जो अधिकांश में जीवन के बाह्य रूपो पर आश्रित हैं। प्राचीन आचार्यों ने नायिका-भेद के विभिन्न आधार माने हैं:—

१. जाति—पद्मिनी, शंखिनी इत्यादि ।

२. कर्म—स्वकीया, परकीया, सामान्या ।

३. पति का प्रेम—ज्येष्ठा, कनिष्ठा ।

४. वय—मुग्धा, मध्या, प्रौढा ।

५. मान—धीरा, अधीरा, धीराधीरा ।

६. दशा—अन्य-सुरति-दुःखिता, मानवती और गर्विता ।

७. काल (अवस्था)—प्रोषित-पतिका, कलहांतरिता, खण्डिता, अभिसारिका आदि ।

८. प्रकृति या गुण—उत्तमा, मध्यमा, अधमा ।

आइये इनकी एक एक कर परीक्षा करें । पहले आधार को नाम दिया गया है जाति । वास्तव में नायिकाओं का यह व° और इसका यह नाम दोनों ही काम-शास्त्र से लिए गये हैं । काम-शास्त्र में यह भेद स्त्री की काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को लेकर, जो कि उसकी प्रकृति और शारीरिक स्थिति पर निर्भर रहती हैं, किए गये है । साधारणतः संस्कृत मे जाति एक अत्यन्त व्यापक शब्द है, यहाँ उसका प्रयोग शास्त्र के पारिभाषिक रूप में किया गया है जिसमें आपत्ति के लिए कोई स्थान नहीं है । वैसे यह जाति-विभाजन बहुत कुछ प्रकृति के ही आधार पर किया हुआ है । वर्ग और जातिका अर्थ है यहाँ 'प्राकृतिक वर्ग'। दूसरे वर्गके लिए कर्म शब्द का प्रयोग है । यह शब्द वास्तव में अर्ध-व्यक्त है । कर्म से तात्पर्य शायद नारी-धर्म की दृष्टि से अनुचित-उचित कर्म का है । अपने पति में अनुरक्त होना नारी का धर्म है और यह उसके लिए उचित कर्म है, दूसरे पति से प्रेम करना अनुचित कर्म है, और धन के लिए वार-विलास करना नीच कर्म है । इस प्रकार अर्थ बैठ तो जाता है, परन्तु शब्द मे सम्यक् अर्थ-ध्वनन् की शक्ति नहीं है । कर्म शब्द से कुछ व्यवसाय-कर्म (profession) की गन्ध आती है, जो कि सामान्या के लिए तो ठीक है परंतु स्वकीया, परकीया के लिए उपयुक्त नहीं है । वस्तुतः नायिका के ये तीन भेद नायक-नायिका के सामाजिक सम्बन्ध को लेकर चले हैं । यदि यह सम्बन्ध वैध अर्थात लोक-वेद-सम्मत वैवाहिक सम्बन्ध है तो नायिका स्वीया है; यदि अवैध अर्थात् लोक-वेद-विरुद्ध स्वतन्त्र प्रेम का सम्बन्ध है तो नायिका परकीया है; और यदि यह सम्बन्ध प्रेम का आदान-प्रदान न होकर व्यवसायिक है तो वह सामान्या है । कर्म शब्द की इसी अव्याप्ति के कारण कृपाराम ने लोकरीति और दास ने धर्म शब्द का प्रयोग किया है, जो निस्संदेह दोनो ही अधिक सार्थक हैं । ज्येष्ठा-कनिष्ठा का एकमात्र आधार नायिका के प्रति पति के प्रेम की न्यूनता-अधिकता ही है, परन्तु यह वर्गीकरण अत्यन्त गौण है । चौथे वर्ग का आधार माना गया है वय-भेद ।

यहाँ वय का आधार तो एक प्रकार से स्वतः स्पष्ट ही है, परन्तु वय के साथ-साथ रति-प्रसंग के प्रति नायिका के दृष्टिकोण में जो परिवर्तन होता जाता है वास्तविक महत्व उसका है। फिर भी वय से अधिक उपयुक्त एक शब्द शायद और नही मिलेगा। आगे धीरादि भेद हैं जिनका आधार माना गया है नायिका का मान अथवा ईर्ष्या-कोप, जिसका सम्बन्ध नायक के अपराध से है। यह विभाजन अधिक मूलगत न होकर वहुत कुछ संयोग और परिस्थिति पर आश्रित है, और फिर यह खण्डिता आदि की सीमा में भी पहुँच जाता है। इससे भी अधिक शिथिल और अनावश्यक है दशानुसार विभाजन, जिसके अन्तर्गत अन्य-सुरति-दुःखिता, मानवती और गर्विता नायिकाओ को लिया गया है। इनमे से अन्य-सुरति-दुःखिता और मानवती का तो खण्डिता तथा धीरादि में पूर्णतः अन्तर्भाव हो जाता है, और गर्विता भी स्वाधीन-पतिका मे सरलता से अन्तर्भूत कर ली जा सकती है। अब दो वर्ग शेष रह जाते हैं जो सर्वथा मौलिक एवं सर्वमान्य हैं—एक मे अवस्था या काल के अनुसार स्वाधीन भर्तृका आदि अष्ट नायिकाओं का वर्णन आता है, दूसरे मे प्रकृति या गुण के अनुसार उत्तमा मध्यमा तथा अधमा का। ये दोनो वर्ग भरत के समय से ही चले आ रहे हैं और बाद के सभी आचार्यों ने ज्यों के त्यों स्वीकृत कर लिए हैं। स्वाधीन-भर्तृका आदि का आधार प्रायः 'काल' माना जाता है। भरत ने 'अवस्था' की ओर संकेत किया है, और अवस्था शब्द अधिक उपयुक्त है भी। वास्तव मे ये भेद नायक के दृष्टिकोण, व्यवहार अथवा स्थिति पर निर्भर नायिका की तत्कालीन मनोदशा के आश्रित हैं। यदि नायक पूर्णतः अपने आधीन है तो सर्वथा सुखी और संतुष्टमना नायिका 'स्वाधीन-पतिका' कहाती है; अन्य स्त्री के संसर्ग-चिन्हों से युक्त नायक जिसके पास जाय वह ईर्ष्या से कलुषित चित्तवाली नायिका 'खण्डिता' कहाती है, जो नायक से मिलने के लिए संकेत-स्थान पर जाए ऐसी कामातुरा नायिका को 'अभिसारिका' कहते है, जो क्रोध के मारे पहले तो प्रार्थना करते हुए नायक को निरस्त कर दे फिर पीछे से पछताए उसे 'कलहांतरिता'; और संकेत करके भी प्रिय जिसके पास न जाए उस नितान्त अपमानिता को 'विप्रलब्धा' कहते हैं। अनेक कार्यों मे फंसकर जिसका पति परदेश चला गया है वह काम-पीडिता नायिका 'प्रोषित-पतिका' कहाती है, प्रियसमागम का निश्चय होने से जो वस्त्रालंकारो से सुसज्जित हो रही हो, उसे 'वासकसज्जा' और आने का निश्चय करके भी दैव वश जिसका प्रिय न आ सके वह खिन्नमना नायिका विरहोत्कंठिता कहाती है। 'काल' शब्द से अभिप्राय समय—और स्पष्ट कर कहें तो | सामयिक स्थिति अर्थात् नायिका की तत्कालीन मनोदशा का है। थोड़ा वक्र करके कुछ लोगो ने इससे पूर्वापर क्रम का भी आशय निकालने का प्रयत्न किया है, और हिन्दी के एक आधुनिक लेखक ने उपर्युक्त

आठ भेदों में क्रम बाँधने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह न अभिप्रेत है और न संगत; क्योंकि स्पष्टतः ही ये अवस्थाएं पूर्वापर नहीं हैं। यह भ्रांति वास्तव मे 'काल' शब्द के प्रयोग से ही फैली है। अन्तिम आधार है गुण, जिसे भरत ने प्रकृति कहा है। यद्यपि इन दोनों में गुण ही अधिक प्रचलित है, परन्तु यदि आप परिभाषा का विश्लेषण करेंगे तो प्रकृति (स्वभाव) ही अधिक संगत बैठेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नायिका-भेद का विशाल भवन जिस मूलाधार पर खड़ा हुआ है उसमें अनेक प्रकार के समान-असमान अवांतर आधारों की संसृष्टि है—जो कहीं सामाजिक सम्बन्ध, कहीं स्वभाव, कहीं मनोदशा, कहीं काम-प्रवृत्ति, कहीं आभ्यंतर और शारीरिक प्रकृति, कहीं केवल नायक के प्रेम की न्यूनता-अधिकता पर ही आश्रित हैं। इनमें कुछ आधार मूलगत और कुछ नितांत स्थूल हैं। इतना अवश्य है कि इन सभी में नायक-नायिका की पारस्परिक रति-भावना मूल सूत्र के रूप में अनिवार्यतः अनुस्यूत है और यही नायिका-भेद का मूलाधार है। इस वर्गीकरण में चरित्र-चित्रण एवं शील-निरूपण का अत्यन्त स्थूल प्रयत्न मिलता है। स्थूल इसलिए कि यह सर्वथा वर्गगत ही है, व्यक्ति-गत नही। यह वर्गीकरण इस सिद्धांत को लेकर चला है कि मानव-प्रकृति मूलतः एक है, एक विशेष परिस्थिति मे वह एक विशेष रूप मे ही प्रतिक्रिया करेगी। वास्तव मे यह सिद्धांत आत्यन्तिक रूप में चाहे ठीक भी हो, परन्तु सामान्यतः अधिक व्यवहार्य्य नहीं है क्योंकि प्रकृति की एकता प्रायः दुर्लभ है। ऊपर से एक दिखने वाली परि-स्थितियों में कितनी आंतरिक गुत्थियाँ हैं, यह हम साधारणतः नहीं जान पाते। इसकी तह मे जनन-विज्ञान, समाज-विज्ञान और इनके परिणाम-स्वरूप मनोविज्ञान के जाल उलझे हुए हैं। इसीलिए मानव-मन का वर्ग-गत विश्लेषण साधारणतः सफल नही होता, व्यक्तिगत विश्लेषण ही व्यवहार्य्य होता है। इसके अतिरिक्त इस विभाजन मे एक और स्पष्ट दोष यह है कि एक तो यह प्रेम अथवा काम-वृत्ति, के वाह्य रूप को ही लेकर, दूसरे उसको स्वतः परिमित भी मान कर चला है। काम-वृत्ति अपने मूल रूप में स्वतन्त्र वृत्ति अवश्य है, पर जीवन के व्यवहार-तल पर उस पर अन्य प्रवृत्तियों की भी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है यह असंदिग्ध है। हमारे नायिका-भेद में इसका ध्यान नही रखा गया। उसका तो मुख-वाक्य यही है कि सब कुछ होते हुए भी स्त्री केवल स्त्री ही है—'A woman is a woman for all that', इसीलिए वह शास्त्रीय विवेचन मे इतना योग नहीं दे सका, जितना काव्य-सृष्टि मे। नायिका-भेद सिद्धान्त-शास्त्र न बन कर चित्र-संग्रह ही बन गया।

रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति-काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ

रीति शब्द का अर्थ और इतिहास—हिन्दी में रीति का प्रयोग साधारणतः लक्षण ग्रन्थों के लिए होता है : जिन ग्रन्थो मे काव्य के विभिन्न अंगो का लक्षण-उदाहरण सहित विवेचन होता है उन्हें रीति-ग्रन्थ कहते हैं, और जिस वैज्ञानिक पद्धति पर—जिस विधान के अनुसार यह विवेचन होता है उसे रीति-शास्त्र कहते हैं। संस्कृत में इसे अलंकार शास्त्र अथवा काव्य-शास्त्र ही प्रायः कहा गया है। रीति का वहाँ एक विशेष अर्थ है और उसे एक विशेष सम्प्रदाय के लिये ही प्रयुक्त किया गया है। रीति का अर्थ वहाँ है विशिष्ट पद-रचना। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि से स्पष्ट है रीति-सम्प्रदाय रचना अथवा वाह्याकार को ही काव्य का सर्वस्व मान कर चला है—सम्भव है आरम्भ में हिन्दी में रीति शब्द का मूल संकेत रीति-सम्प्रदाय से ही लिया गया हो, परन्तु वास्तव में यहां इसका प्रयोग सर्वथा सामान्य एवं व्यापक अर्थ में ही हुआ है। यहाँ काव्य-रचना-सम्बन्धी नियमो के विधान को ही समग्रतः रीति नाम दे दिया गया है। जिस ग्रन्थ में रचना-सम्बन्धी नियमों का विवेचन हो वह रीति ग्रन्थ, और जिस काव्य की रचना इन नियमो से आबद्ध हो वह रीति-काव्य है। स्वभावतः इस काव्य में वस्तु की अपेक्षा रीति अथवा आकार की, आत्मा के उत्कर्ष की अपेक्षा शरीर के अलंकरण की प्रधानता मिलती है।

इस प्रकार रीति शब्द का यह विशिष्ट प्रयोग हिन्दी का अपना प्रयोग है, और यह नया नहीं है। रीति-काल के अनेक कवियों ने प्रायः आरम्भ से ही काव्य की रीति, अलकार-रीति, कवित-रीति आदि का प्रयोग स्पष्ट रूप से इसी अर्थ में किया है।

(१) अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि-रीति।

[देव, शब्द-रसायन]

(२) काव्य की रीति सिखी सुकवीन सों, देखी सुनी बहु लोक की बातें।
[दास, काव्य-निर्णय]

(३) कवित-रीति कछु कहत हों व्यंग्य अर्थ चित लाय।
[प्रतापसाहि, व्यंग्यार्थ-कौमुदी]

इसी प्रकार पद्माकर ने अपने पद्माभरण में अलकार-विवेचन को अलंकार-रीति कहा है। रीति से इनका तात्पर्य्य स्पष्टतः है प्रकार—प्रणाली का। रीति-काल के उत्तरार्ध में यह शब्द काफ़ी प्रचलित हो गया था, और उसकी समाप्ति तक तो इसका मुक्त प्रयोग हो चला था। सरदार आदि कवियों के समय मे यह शब्द इस रूप में सर्वसाधारण में स्वीकृत था। इसी के अनुसार तो मिश्र-बन्धुओ ने युग का नाम 'अलंकृत-काल' रखते हुए भी इन कवियों के ग्रन्थों को रीति-ग्रन्थ और उनके विवेचन को रीति-कथन ही कहा है। मिश्रबन्धु-विनोद में एक स्थान पर रीति के तत्कालीन प्रयोग की बडी स्वच्छ व्याख्या की गई है। "इस प्रणाली के साथ रीति-ग्रन्थों का भी प्रचार बढा और आचार्य्यता की वृद्धि हुई।...आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते है, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयो के वर्णनो में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी। ऐसे ग्रन्थों से प्रत्यक्ष प्रकट है कि वह विविध वर्णनो वाले ग्रन्थो के सहायक मात्र हैं न कि उनके स्थानापन्न"। कहने का तात्पर्य्य यह है कि रीति शब्द जैसा कि कुछ लोगो का विचार है, शुक्लजी का आविष्कार नहीं है। वह बहुत पहले से हिन्दी में प्रयुक्त हो रहा था, इसीलिए तो शुक्लजी ने कहीं भी उसकी व्याख्या करने की चेष्टा नही की। शब्द स्वयं इतना सर्व-परिचित था कि व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर भी शुक्लजी की शास्त्र-निष्ठ प्रतिभा ने ही उसे शास्त्रीय व्यवस्था एवं वैज्ञानिक विधान दिया, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। उनसे पूर्व रीति शब्द का स्वरूप निश्चित और व्यवस्थित नहीं था। ऐसे लक्षण-ग्रन्थो के लिए भी, जिनमें रीति-कथन तो नही है, परन्तु रीति-बन्धन निश्चित रूप से हैं, रीति संज्ञा शुक्लजी से पहले अकल्पनीय थी। शुक्लजी ने कुछ अंशो में वामन के रीति शब्द का अर्थ-संकेत भी ग्रहण करते हुए रीति को केवल एक प्रकार न मान कर एक दृष्टिकोण माना। यह उनकी विशेषता थी। उनके विधान में, जिसने रीति-ग्रन्थ रचा हो, केवल वही रीति-कवि नहीं है वरन् जिसका काव्य के प्रति दृष्टिकोण रीति-बद्ध हो वह भी रीति-कवि है। शुक्लजी के उपरान्त कुछ आलोचकों ने इस काल को रीति-काल की अपेक्षा अलंकार-काल या शृङ्गार-काल कहना अधिक उपयुक्त माना, परन्तु हिन्दी में उनका अनुसरण नहीं हुआ। फलतः आज हिन्दी के लगभग सभी विद्वान्, आलोचक एवं इतिहासकार केशव,

अशक्त शब्द है। दास ने 'प्रीति' नामक भाव और माना है, परन्तु उसका आधार रुद्रट का प्रयान् ही है। देव ने तेतीस संचारियो के अतिरिक्त एक और संचारी छल माना है, और वितर्क के अवांतर भेद कर दिये हैं : (१) विप्रतिपत्ति, (२) विचार, (३) सशय, (४) अध्यवसाय। परन्तु यह भी रसतरंगिणी का ही अनुवाद है। कामदशाओं मे भी विस्तार-प्रिय देव ने भेदो की शृंखला जोड दी है और अभिलाषा, स्मरण, चिंता, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, आदि के अनेक भेद करके रख दिये हैं। इनमे सब से अधिक मनोरंजक है आठो सात्विको के अनुसार स्मरण के भेद—स्वेद, रोमांच, अश्रु आदि सभी का अन्तर्भाव आपने स्मरण मे कर दिया है। एक दूसरे स्थान पर देव ने इन्ही सात्विकों की गणना संचारियों के अन्तर्गत की है। भाव-विलास में संचारी भाव दो प्रकार के माने गये हैं :—एक शारीर, दूसरे आंतर। शारीर हैं स्वेद, स्तम्भ आदि सात्विक भाव और आंतर हैं निर्वेद, ग्लानि आदि प्रसिद्ध व्यभिचारी। सात्विको को व्यभिचारी या संचारी के अन्तर्गत शारीर सज्ञा देकर अन्तभूर्त करना यह देव की मौलिक सूक्ष हैं, ऐसा भ्रम हो सकता है; परन्तु जैसाकि देव ने स्वयं स्वीकार किया है। भरत आदि मे भी इस प्रकार का वर्णन है।भरत ने वास्तव मे स्थायी के अतिरिक्त संचारी और सात्विको को भाव के अन्तर्गत गिना है व्यभिचारी-के अन्तर्गत नही। बाद के आचार्य मम्मट, विश्वनाथ आदि ने सात्विको को अनुभाव माना है। किंतु देव का मूल आधार यहां भी भानुदत्त की रस-तरंगिणी ही है। साधारणतः इसमे कोई नवीनता नही नज़र आती फिर भी यह व्यवस्था मनोविज्ञान की दृष्टि से असंगत नही है। सात्विक भाव भी रस के परिपाक मे शरीर मे संचरण कर स्थायी को पुष्ट करते ही हैं, इस दृष्टि से उनको व्यभिचारी का 'शरीर' रूप मान लेने में कोई हर्ज भी नही है। सात्विक की स्थिति मनोविज्ञान की दृष्टि से शुद्ध सवेदन अर्थात् ऐसे संवेदन की है जिसमे शारीरिक स्पनन्दन अधिक से अधिक और मानसिक कम से कम होता है। परन्तु अनुभूति का अंश उनमें है अवश्य, इसलिये अनुभाव के साथ उसका सम्बन्ध संचारी से भी मानने मे कोई आपत्ति नही की जा सकती। इन्ही (भानुदत्त और देव) के अनुसरण पर रसलीन ने भी अपने रस-प्रबोध में व्यभिचारी के दो भेद किए हैं : तन-व्यभिचारी और मन-व्यभिचारी, और सात्विको को तन व्यभिचारी माना है।

दास ने इसी प्रकार हावो की संख्या में वृद्धि की है—प्रचलित दस भावों मे उन्होने दस और जोड दिए हैं परन्तु उनमे से आठ तो, जैसा कि शुक्ल जी ने निर्देश किया है, साहित्य-दर्पण मे वर्णित नायिका के कृति-साध्य अठारह अलंकारो मे से अंतिम आठ अलंकार हैं। शेष दो बोधक और हेला भी उनके अपने नहीं हैं। उनसे पूर्व केशव ने भी विश्वनाथ के दो 'अंगज अलंकार' हाव और हेला और

एक कृति-साध्य अलंकार 'मद' को अपने भेदों में जोड़ दिया है। इनके अतिरिक्त उन्होंने एक और हाव माना है : 'बोध'–यह बोध ही ज्ञान का बोधक हाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह प्रपंच न विशेष मनोवैज्ञानिक ही है और न आत्यंतिक ही। इस तरह तो साहित्य के भेद-प्रभेदों का कितना ही आडम्बर रचा जा सकता है। वास्तव में बखेड़ा खड़ा करते समय ये कवि-आचार्य विश्वनाथ के इस स्पष्ट सिद्धांत-वाक्य को भूल गये कि "एते च त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिभेदा इति यदुक्तं तदुपलक्षणमित्याह।" अर्थात् ये गिनाये हुए भाव इत्यादि उपलक्षण मात्र हैं। इनका और भी विस्तार हो सकता है।

अब नायिका-भेद को लीजिए। हिन्दी का नायिका-भेद संस्कृत की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। आखिर पूरे दो सौ वर्षों तक हिन्दी के कवियों ने किया ही क्या? परन्तु यह विस्तार और व्यवस्था उदाहरणों की दृष्टि से ही अधिक मान्य है—निरूपण की दृष्टि से नहीं। इस क्षेत्र में भी इन कवियों ने लक्षण और रीति-विवेचन के लिए संस्कृत के ही ग्रन्थों का आश्रय लिया है। कुछ लोगों का विचार है कि मुग्धा, मध्या और प्रौढा के अवान्तर-भेद हिन्दी कवियों की कल्पना की उद्भूति है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। ये भेद प्रायः सभी विश्वनाथ तथा भानुदत्त में मिल जाते है। केशव और देव ने मुग्धा के चार भेद माने हैं :— १. नव-वधू, २. नवयौवना, ३. नवल-अनंगा और ४. लज्जा-प्राय-रति (सलज्ज-रति)। इनमें नव-यौवना, नवल-अनंगा और लज्जा-प्राय-रति क्रमशः विश्वनाथ के प्रथमावतीर्ण-यौवना, प्रथमावतीर्ण-मदनविकारा, और समधिक-लज्जावती के पर्याय हैं; नव-वधू मुग्धा का सामान्य रूप है।—देव मुग्धात्व को वयःसन्धि तक खींच ले गये हैं, और उधर रसलीन ने भेदों के भी भेद कर डाले हैं। मुग्धा का विभाजन एक दूसरी रीति से भी किया जाता है: अज्ञात-यौवना, ज्ञात-यौवना (नवोढा, विश्रब्धनवोढा)—और ये भेद अधिक संगत भी हैं। हिंदी के चिंतामणि, मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर, आदि ने इन्हीं को माना है। परन्तु ये भी उनकी नवीन उद्भावना नहीं है—इनका भी आधार संस्कृत का लोक-प्रिय ग्रन्थ रस-मंजरी ही है। हिंदी कवियों ने ये समस्त भेद और इनके अवान्तर रूप ज्यों के त्यों भानुदत्त से उद्धृत कर लिए हैं। इसके अतिरिक्त नवोढा विश्वनाथ के रतिवामा का ही दूसरा नाम है—और विश्रब्धनवोढा समधिक-लज्जावती का। केशव और देव ने मध्या के भी चार भेद किए हैं :–(१) आरूढयौवना (केशव) अथवा रूढ-यौवना (देव), (२) प्रादुर्भूत-मनोभवा, (३) प्रगल्भ-वचना, (४) सुरति-विचित्रा ये भी विश्वनाथ के प्ररूढ़-यौवना, प्ररूढस्मरा, इषत्प्रगल्भवचना और विचित्र-सुरता के ही नामान्तर मात्र हैं। विश्वनाथ का मध्य-व्रीडिता इन्होंने छोड़ दिया है। इसी

प्रकार प्रौढा के भी चार अवान्तर भेद हैं, १. समस्त-रत-कोविदा २. आक्रमित-नायका (आक्रांतनायका—देव) ३. लब्धापति, ४. विचित्र-विभ्रमा (सविभ्रमा)। यहाँ समस्त-रत-कोविदा और आक्रांत-नायका तो विश्वनाथ के ही भेद है—और विचित्र-विभ्रमा भावोन्नता का रूपान्तर है। लब्धापति शायद स्वतंत्र है (?) रसलीन ने पति-दुःखिता नायिकाएँ भी कही हैं—जिनमे से कोई बेचारी मूढमति कोई बालपति और कोई वृद्धपति के कारण दुःखी है। इनकी मान्यता घोषित करते हुए रसलीन कहते है कि—

इन भेदन मे जो कोऊ रसाभास विख्यात।
मुग्धा, कुलटा हू विषे सो पुनि पायौ जात॥

[रसप्रबोध]

परकीया के विश्वनाथ आदि मान्य आचार्यों ने दो ही वर्णन किए है—ऊढा और अनूढा। हिंदी मे छः भेद और दृष्टिगत होते है '–गुप्ता, विदग्धा, (१ वचन, २ क्रिया), लक्षिता, कुलता, मुदिता, और अनुशयना।केशव को छोडकर चितामणि, मतिराम, देव, पद्माकर आदि बाद के सभी कवियो ने इनका व्यवस्थित और स्पष्ट वर्णन किया है। परन्तु यह भी रसमंजरी के भेदो का ही शुद्ध अनुवाद है—'गुप्ता विदग्धा लक्षिता कुलटा अनुशयना मुदिता प्रभृतीनां परकीयायामेवान्तर्भावः।' दास ने इस क्षेत्र में भी कुछ मौलिकता लाने का प्रयत्न किया है—उन्होंने परकीया के उद्बुद्धा और उद्बोधिता दो नवीन भेद किए है। उद्बुद्धा जिसके हृदय मे प्रीति स्वयं उत्पन्न हो। उद्बोधिता जिसके हृदय में नायक द्वारा प्रीति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाए। उद्बुद्धा प्रेम की मात्रा के अनुसार दो प्रकार की कही गई है : १. अनुरागिनी २. प्रेमाशक्ता। उद्बोधिता के तीन भेद है—असाध्या, दुःखसाध्या और साध्या [जब कि वह पूर्णतः उद्बोधिता हो जाती है]। रसलीन ने इस विस्तार को और भी बढाया है—उन्होंने असाध्या, दुःखसाध्या और साध्या आदि के अनेक भेद किये हैं। ये भेद शास्त्रीय दृष्टि से विशेष स्वतंत्र महत्व न रखते हुए भी कम से कम उस युग के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश डालते है, और साथ ही इन कवियों के आलोचनात्मक पर्य्यवेक्षण का प्रमाण भी उपस्थित करते है। परन्तु दास का महत्व भेद-विस्तार के लिए इतना नही है—जितना कि व्यवस्था के लिए है। उन्होंने काफी स्वच्छ रीति से नायिका-भेद की असंगतियो को सुलझाया है। उदाहरण के लिए उन्होंने गर्विता के विभिन्न भेदों को स्वतन्त्र न मान कर स्वाधीनपतिका के अंतर्गत, धीरा आदि को खण्डिता के अन्तर्गत और अन्य-संभोग दुःखिता को उत्कण्ठता के अन्तर्गत माना है। इसके अतिरिक्त

तत्कालीन परिस्थिति के अनुकूल उन्होने देव मे संकेत ग्रहण कर, रक्षिता (रखैल) आदि की भी स्वकीया के अन्तर्गत ही गणना करते हुए रसाभास से मुक्ति पा ली है। संस्कृत में और हिन्दी मे भी सामान्या का साधारणतः एक ही रूप माना गया है, परन्तु रसलीन की तृप्ति उससे नही हुई—और उन्होंने अपने समय की 'सामान्याओं' की गति विधि का निरीक्षण करते हुए उसके भी चार भेद कर दिए—१. स्वतंत्र, २. जननी अधीना, ३. नियमिता और ४. प्रेम-दुःखिता।

अवस्था के अनुसार संस्कृत मे भरत के समय से ही आठ प्रकार की नायिकाएँ कही गई हैं; हिन्दी मे प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका, ये दो भेद और मिलते है। इनमे प्रवत्स्यत्पतिका तो भानुदत्त की रसमंजरी मे वर्णित प्रोत्स्यत्-पतिका है। जिसका उन्होने प्राचीनो के अनुसार स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित किया है, "प्राचीनलेखनादग्रिमक्षणे देशान्तरनिश्चितगमने प्रेयसि प्रोत्स्यत्पतिका नवमी नायिका भवितुमर्हति।" उन्होने स्पष्ट लिखा है कि इसका अंतर्भाव खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा आदि मे नहीं किया जा सकता; अतएव इसका स्वतंत्र अस्तित्व ही स्वीकार करना अनिवार्य है। हमारे विचार मे ऐसी ही युक्ति आगत-पतिका के लिए भी दी जा सकती है। प्रोषित-पतिका और आगतपतिका के संयोग से अर्थात् पति के गमनागमन के आश्रित देव ने गनागतपतिका (गमनागौन) नायिका की भी कल्पना करली है। वास्तव मे नायिका की यह मनःस्थिति है तो अत्यन्त मार्मिक।—बिहारी ने दो एक दोहों मे इसका अत्यन्त सुन्दर अंकन किया हैं, परन्तु यहाँ दो आपत्तियाँ हो सकती है: एक तो यह कि अवस्था इतनी स्थायी नहीं है कि इसके आधार पर एक स्वतन्त्र भेद की कल्पना की जा सके। दूसरे, यह उपर्युक्त दोनो अवस्थाओ पतिगमन और पति आगमन का संयोग ही तो है। थोड़े अन्तर से ऐसा ही तर्क आगमिष्यत्पतिका के लिए भी उपस्थित किया जा सकता है, उसकी स्थिति मे भी एक विशेष भाव-सौंदर्य वर्तमान रहता हैं। पर इस विस्तार का कही अन्त भी होगा या नही—इस प्रकार तो न जाने कितने भेद हो जाएंगे?

फिर भी यह विस्तार रुका थोड़े ही, भाव-शास्त्र की सीमा का अतिक्रमण कर अन्य शास्त्रो मे भी इसने प्रवेश कर ही लिया। काम-शास्त्र में दिए हुए जाति-भेद का विश्वनाथ ने विस्तार तो नही किया, परन्तु संकेत अवश्य दे दिया है। उसी को केशव और उनके उपरांत देव आदि ने लक्षण और उदाहरणो से परिपुष्ट कर हमारे सामने रख दिया। चिंतामणि ने अंशानुसार तीन भेद और दिए हैं:—दिव्य, अदिव्य और दिव्यादि, परन्तु ये भी रसमंजरी से अनूदित है। देव केवल जाति और अंश-भेद से ही संतुष्ट नही रहे। उन्होंने गुण-भेद, प्रकृति-भेद देश-भेद न जाने कितने भेद और और कर डाले हैं। परन्तु ये भेदान्तर न तो नवीन

हैं और न महत्वपूर्ण। देव ने भी इनका नियोजन मात्र ही किया है, सृष्टि नहीं, क्योंकि इस प्रकार कुछ भेदों के संकेत तो साहित्य-ग्रन्थो मे ही मिल जाते है। उदाहरण के लिए देश-भेद की ओर मम्मट ने काव्य-प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में संकेत किया है :—

"तत्रापि देशकालावस्थादिभेदा" . ;उधर प्रकृति, गुण, सत्व इत्यादि के लिए भी काम-शास्त्र, वैद्यक आदि मे प्रचुर सामग्री भरी पडी है।

रीतिकाल का दूसरा मुख्य वर्ण्य विषय है अलंकार। इस युग मे नायिका-भेद के बाद सबसे अधिक ग्रन्थ अलंकारों पर मिलते हैं। इस क्षेत्र मे भी सबसे पहले केशव ने ही चमत्कार दिखाया है। उन्होंने अलंकारो का सामान्य और विशेष दो भेदों मे विभाजन किया है, जो हिन्दी-पाठक के लिए एक नवीन योजना अवश्य है परन्तु यह विभाजन वास्तव मे संस्कृत के पूर्व-ध्वनि-काल की विचारधारा पर आश्रित है—जब कि भामह, दण्डी, वामन आदि समस्त काव्य-सौन्दर्य्य को ही अलंकार के अन्तर्गत मानते थे, जब अलंकार काव्य के अस्थिर-धर्म नही थे। स्थिर शोभाकारक धर्म थे। दण्डी ने अलंकारों को काव्य को ही शोभित करने वाले धर्म कहा है, विश्वनाथ आदि की तरह शोभा की वृद्धि मात्र करने वाले अस्थिर धर्म नही कहा। अतएव उनकी दृष्टि में रस, रीति, गुण, आदि काव्य के समस्त अंग, जिनसे उसके सौन्दर्य्य की सृष्टि होती है, अलंकार के ही अन्तर्गत आ जाते है। इसी परम्परा के अनुसरण पर केशव ने सभी कवि-प्रौढोक्ति-सिद्ध-बातों को अलंकार मानकर उनके सामान्य अर्थात् वर्ण्य से सम्बद्ध और विशेष अर्थात् वर्णन-शैली से सम्बद्ध दो भेद कर दिये हैं। जैसा कि आचार्य शुक्ल और उनके उपरांत पं० कृष्ण-शंकर शुक्ल ने विस्तारपूर्वक दिखाया है केशव ने अपना सभी विवेचन संस्कृत ग्रन्थो से लिया है। सामान्य अलंकारों का वर्णन संस्कृत के उत्तरकाल मे रचे हुए दो कवि शिक्षा-ग्रन्थो से—अमर की काव्य-कल्पलता-वृत्ति तथा केशव मिश्र के अलंकार-शेखर से—अनूदित किया गया है, और विशेष अलंकारों का वर्णन दण्डी के काव्यादर्श पर आश्रित है। केशव के भेद, लक्षण आदि ही नहीं अनेक उदाहरण तक दण्डी से लिए गये है। उनके द्वारा दिये गए उपमा के विभिन्न भेदों मे से कुछ तो दण्डी से ज्यो के त्यों ले लिए गये है, कुछ नामान्तर करके रख दिये गये हैं। विपरीतोपमा आदि एकआध भेद, जो उनकी अपनी कल्पना है, उपमा ही नहीं बन पाये हैं। यही बात आक्षेप, दीपक और हेतु के भेदो के विषय मे कही जा सकती है। अर्था-न्तरन्यास के भेद दण्डी से भिन्न है, परन्तु उनमे प्रायः अलंकारत्व ही नहीं आ-पाया। कहीं कही ऐसा भी हुआ है कि दण्डी का वास्तविक आशय न समझ सकने के कारण ही केशवकृत उपभेदों मे नवीनता दिखलाई पडने लगती है। इनके

[illegible] एक अलंकार माना है : गणना जिसमे एक से लेकर दस तक संख्या वाली वस्तुएं गिनाई हैं। यह वास्तव में विशेष अलंकार न होकर उनके सामान्य अर्थात् वर्ण्य विषय से सम्बद्ध अलंकारो मे ही आता, है। इसका भी आधार अमर और केशव मिश्र के ग्रन्थ ही हैं।

भूषण ने काफी गडवड करने पर भी दो नये अलंकार दिये है---सामान्य-विशेष और भाविक-छवि। इनमे सामान्य-विशेष तो, जिसमे कि विशेष के द्वारा सामान्य का बोध कराया जाता है, निश्चय ही अप्रस्तुत-प्रशंसा का 'विशेष-निबंधना रूप मात्र है। भाविक-छवि भाविक का रूपातर है जिसमे कालगत दूरी की जगह स्थानगत दूरी को आधार माना गया है। फिर भी भाविक-छवि की उद्भावना मे अत्किंचित स्वातन्त्र्य मानना और उसीके अनुपात से भूषण को भी उसका श्रेय देना उचित होगा : क्योकि शुक्ल जी और उनके अनुयायियो की यह युक्ति कि रीतिकाल के कवियो की अमुक उद्भावना अमुक भाव अथवा अमुक अलंकार का रुपांतर है सर्वत्र बहुत संगत नही है। रूपातर की बात की जाएगी तो संस्कृत शास्त्रो मे दिए हुए काव्यांगो के अनेक भेद निरर्थक सिद्ध हो जाएंगे, अलंकारो मे ही अनेक प्रधान अलंकार ऐसे हैं जिनको रूपांतर कहकर अन्य अलंकारो मे अंतर्भूत किया जा सकता है।

देव ने अलंकार-निरूपण बहुत ही चलते ढंग पर किया है। उन्होने नाम और लक्षण प्रायः केशव के ही अनुकरण पर दे दिये हैं, इसीलिए दो-एक नाम संस्कृत से भिन्न मालूम पडते है। उदाहरण के लिए इनका संकीर्ण तो संकर और संसृष्टि दोनो का स्थूल रूप है और सुक्रमोक्ति 'क्रम' या 'यथा-संख्य' से भिन्न नहीं है। कुछ लोग नाम-वैभिन्य देखकर इनको नवीन उद्भावना ही मान बैठे हैं। इस प्रसंग मे भी जो कुछ थोडा-बहुत कार्य है, वह दास ने ही किया है। उनके द्वारा प्रतिष्ठापित वीप्सा और सिंहावलोकन चाहे कोई महत्वपूर्ण एवं सर्वथा नवीन अलंकार न हो—सिंहालोकन जिसका उल्लेख चित्र काव्य के अन्तर्गत देव ने भी किया है—न्याय से लिया गया है, वीप्सा व्याकरण से---परन्तु वे इस बात का परिचय अवश्य देते है कि दास को भाषा की प्रकृति की पहचान थी और साथ ही उनमें स्वतन्त्र आलोचना की शक्ति अवश्य थी। वास्तव मे कहीं कही छन्द का सौन्दर्य्य बहुत कुछ वीप्सा आदि पर ही आश्रित रहता है :—उदाहरण-स्वरूप देव का प्रसिद्ध 'पद रीझि-रीझि, रहसि रहसि, हँसि, हँसि उठै'—पेश किया जा सकता है। दास की व्यावहारिक आलोचन-प्रतिभा का एक दूसरा प्रमाण यह है कि उन्होने शब्दालंकारों को गुणों के आश्रित मानकर उनका साथ साथ वर्णन किया है। जैसा कि शास्त्रीय पृष्ठ-भूमि से स्पष्ट है, संस्कृत मे गुणों की परिभाषा और सैद्धांतिक

रूप चाहे कितना ही निर्भ्रांत क्यो न हो, परन्तु जहां उनके व्यावहारिक रूप का प्रश्न आता है, वहाँ उनका अस्तित्व वर्ण-योजना से सर्वथा पृथक करना सम्भव नहीं हो पाता। इसलिए प्राचीन आचार्यों के निषेध की उपेक्षा करके भी जगन्नाथ ने उनको वर्णों के आश्रित भी मान लिया है। दास ने भी शायद इसी उलझन को दूर करने के लिए, गुणो को रस का सहज धर्म मानते हुए भी उनको शब्दालंकार से सम्बद्ध माना है। इसके अतिरिक्त एक लेखक ने उनके दो अलंकारो के योग की कल्पना को भी, जिसके द्वारा उन्होंने अतिशयोक्ति के कुछ नवीन भेदो की सृष्टि की है, मिश्रालंकार मानकर बहुत कुछ महत्व दिया है। उनका कहना है कि ये मिश्रालंकार संकर से भिन्न है क्यो कि संकर मे केवल शब्दालंकार और अर्थालकार का योग रहता है, पर मिश्रालंकार में दो अर्थालंकारो का ही योग होता है। परन्तु भला इस भयंकर भ्रांति पर आश्रित उनकी प्रशसा का क्या महत्व हो सकता है? वास्तव में ये मिश्रालंकार मम्मट द्वारा वर्णित संकर के उस रूप मे आजाते है जिसमे अर्थालंकार अंगांगि भाव से संयुक्त रहते है—उनका स्वतंत्र अस्तित्व नही माना जा सकता।

अलंकार-क्षेत्र में होने वाली वास्तविक अथवा तथाकथित उद्भावनाओ की सूची लगभग यही समाप्त हो जाती है। बाद मे एक-आध लेखक ने अवश्य प्रत्यक्ष प्रमाण के ज्ञानेन्द्रियो के अनुसार पांच सर्वथा हास्यास्पद भेद कर डाले है, परन्तु अधिकांश ने पाठ्य-ग्रन्थो की रचना ही अपना मूल उद्देश्य माना है। अतएव उन्होंने नवीन भेद-प्रभेदो के पचड़े में न पड़ कर परिपाटी-भुक्त प्रचलित अलंकारो का ही निरूपण किया है। बहुत-से अप्रचलित स्वतन्त्र अलंकारो को भी उन्होने काट-छाँट दिया है।

इस द्रौपदी के चीर को अब यही समाप्त कर दिया जाए। हमारे पास एक पृष्ठ-भूमि तैयार हो गई है, जिसके आधार पर उपर्युक्त उद्भावनाओ की परीक्षा करते हुए, अब हम रीति-कालीन आचार्यों की आलोचन-प्रतिभा का मूल्य आंक सकते हैं। जैसा कि ऊपर के विवरण से सिद्ध है इनके द्वारा वास्तव मे जो कुछ नवीन उद्भावनाएँ हुई है वे प्रायः महत्वहीन ही है। हिंदी के इन समीक्षक कवियों ने हमारे रीति-विवेचन में कोई गम्भीर मौलिक योग नहीं दिया। इसका कारण स्पष्ट है। संस्कृत का रीति-शास्त्र अठारहवीं शताब्दी तक इतना व्यापक और पूर्ण हो चुका था कि उसका, कम से कम, विस्तार अब सम्भव नहीं था, उत्तर कालीन संस्कृत के आचार्य भी केवल पिष्ट-पेषण करते हुए कवि-शिक्षा के सरल ग्रन्थ ही तैयार कर पाए थे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अब किसी प्रकार का मौलिक विवेचन हो नहीं हो सकता था। हम देख चुके है कि संस्कृत में कवि के व्यक्तित्व

के अनुसार काव्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण सर्वथा उपेक्षित रहा है। उसको लिया जा सकता था; और कुछ नहीं तो कम से कम बरसाती नदी की तरह फैले हुए, इस सिद्धांत-विस्तार की व्यवस्था हो ही सकती थी। इसके अतिरिक्त हिंदी के समीक्षकों पर तो एक और गुरुतर दायित्व था:—हिंदी भाषा तथा हिन्दी साहित्य की प्रकृति की परीक्षा करते हुए उसके अनुकूल रीति-निरूपण करना—उदाहरण के लिए अलंकार के क्षेत्र में यह कितना आवश्यक था कि उचित वर्गीकरण कर उनमें काट छांट कर दी जाती और कम से कम उन अलंकारों को, जो वर्णन-शैली से सम्बन्ध न रखकर अलकार-विषय से सम्बन्ध रखते हैं, हटा दिया जाता। परन्तु ये लोग वास्तविक रूप मे आलोचक नहीं थे, इनका रीति-निरूपण भी वास्तविक आलोचन न होकर आलोचनाभास ही कहा जा सकता है। इसीलिए इन्होंने अपने दायित्व को गंभीरतापूर्वक नहीं ग्रहण किया। संस्कृत के पतन-काल की वर्णनात्मक परिपाटी को अनुकूल पाकर उसका अनुसरण करना ही इन्हें सुगम प्रतीत हुआ। परिणामत: ये बेचारे उचित व्यवस्था भी नहीं कर पाये, मौलिक उद्भावनाएँ करना तो दूर की बात थी। व्यवस्था की दृष्टि से श्रीपति, और उनसे अधिक दास का ही थोड़ा-बहुत आभार माना जा सकता है—दास ने एक ओर समान अलंकारो के वर्ग बनाने का स्थूल प्रयत्न किया है और नायिका आदि के विवरण में समयानुकूल थोड़ा संशोधन किया है, तो दूसरी ओर भाषा की प्रकृति के अनुसार कुछ अलंकारों की उद्भावना तथा तुक का सर्वथा मौलिक विवेचन भी किया है। इनके अतिरिक्त थोड़े बहुत गौरव के पात्र हैं वे आचार्य जिन्होने काव्य के सर्वांग-विवेचन का प्रयत्न किया है। यद्यपि इनका मौलिक योग कोई नही है क्योंकि इन्होने प्रायः काव्य-प्रकाश, साहित्य-दर्पण आदि का अनुवाद ही किया है। फिर भी कम से कम इनका साहित्य-ज्ञान गम्भीर अवश्य था और हिंदी में संस्कृत की गम्भीर-विवेचन-परम्परा को अवतरित करने के लिये हमे इनके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। ये आचार्य हैं: कुलपति, श्रीपति, दास, सोमनाथ, प्रतापसाहिं और रसिक गोविन्द। केवल शृंगार के क्षेत्र मे यह श्रेय मतिराम, सुखदेव, बेनीप्रवीन और पद्माकर आदि को दिया जा सकता है—और केवल अलंकार के क्षेत्र मे जसवंतसिंह, मतिराम, दलपतिराय बंसीधर, रघुनाथ सदृश कवियो को। इन सभी की चिंतनपद्धति इतनी स्वच्छ और विवेक-संगत थी कि इन्होंने किसी प्रकार की मौलिकता के चक्कर में न पड़ते हुए सरल और स्वच्छ-निरूपण तक ही अपनी दृष्टि को सीमित रखा। इसी लिए तो इनके ग्रन्थ अपने विषय का ज्ञान कराने में हिन्दी पाठको के लिये इतने उपयोगी सिद्ध हो सके। मौलिक विस्तार की सब से अधिक आकांक्षा थी केशव और उनसे भी अधिक उनके अनुयायी देव को। परन्तु वास्तव में इन दोनों का

पाण्डित्य विस्तृत होते हुए भी, चिंता-धारा बहुत सुलझी हुई नहीं थी। केशव की भ्रांतियाँ उनकी उलझी विचार-धारा का अतर्क्य प्रमाण हैं। देव की विस्तार-प्रियता की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, परन्तु विस्तार स्वयं अपने में महत्वपूर्ण नहीं है। उसके पीछे यदि प्रौढ़-तर्क का आधार और अनिवार्यता का आग्रह नहीं है, तो वह एक वाग्जाल मात्र रह जाती है। देव की तबीयत इतनी ज़्यादा मीज़ान-पसन्द थी कि वे अकसर विवेक और सुरुचि तक को ताक में रख देते थे। वात, पित्त, कफ प्रकृति, और नाग, खर आदि के अंशो पर आश्रित नायिकाओं का वर्णन हमारे कथन की पुष्टि करेगा। देव काव्य के सूक्ष्म-मर्मी कवि थे। रस के मूल-तत्व की थाह उन्होने पा ली थी इसमें सन्देह नहीं, इसके अतिरिक्त उनकी एक आध संगति भी ठीक बैठी है। परन्तु यह व्यक्ति कुछ अतिवादी था; इसीलिए अपनी असाधारण प्रतिभा का उचित उपयोग न कर पाया। केशव को यह गौरव भी नहीं दिया जा सकता, उनकी मर्मज्ञता सीमित थी। वे काव्य की सूक्ष्म तरल वृत्तियो को नही पकड पाते थे, अतएव उनका महत्व वैयक्तिक से अधिक ऐतिहासिक ही माना जाएगा।

सारांश यह है कि इस युग मे काव्य-मर्मज्ञ अनेक हुए। प्रकाण्ड विद्वानो की भी कमी नही थी। परन्तु एक तो युग की रुचि ही गम्भीर नहीं रह गयी थी; लोग मीमांसा का नही रसिकता का आदर करते थे—इसलिये उनको दृष्टि संस्कृत के उत्तर-कालीन अधोगत साहित्य-शास्त्र से ऊपर नही जा पाती थी। दूसरे, सब से बडा अभाव गद्य का था जिसके कारण सूक्ष्म-विश्लेषण सम्भव ही नही था। परिणाम यह हुआ कि इनका रीति-निरूपण वर्णनात्मक ही रह गया विवेचनात्मक नहीं हो पाया।

काव्य-सिद्धान्त और सम्प्रदाय :—संस्कृत में काव्य के पाँच मुख्य सम्प्रदाय स्थापित हुए थे। रस, अलकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति, जिनमें सर्व-मान्य हुआ ध्वनि-सम्प्रदाय। रीति और वक्रोक्ति तो अधिक जीवित ही न रह सके, अलंकार का भी तिरस्कार हुआ परन्तु उसका अस्तित्व अंत तक बना रहा। बाद मे यद्यपि अभिनव और मम्मट में द्वारा रस-ध्वनि का एकीकरण सा ही हो गया था, परन्तु फिर भी इन दोनो का थोडा सा मौलिक अन्तर अवश्य मानना पड़ेगा। ध्वनि मे बौद्धिक तत्व और रस में ऐंद्रिय तत्व की अपेक्षाकृत प्रधानता अनिवार्यतः निहित है। इसी आधार पर विश्वनाथ ने ध्वनि की महत्ता स्वीकृत करते हुए भी शुद्ध रस को ही काव्य की आत्मा माना। इस प्रकार हिन्दी के रीति-कवियों के सामने तीन काव्य-सम्प्रदाय थे—ध्वनि, रस और अलंकार, इन तीनो का ही अनुसरण उन्होने किया। हम देख चुके हैं कि रीतिकाल के वे आचार्य जिन्होने सर्वाङ्ग-विवेचन

किया है प्रायः मम्मट के अनुयायी थे। कुलपति, श्रीपति, दास, प्रतापसाहि आदि, जिनकी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक अधिक थी, स्पष्टतः मम्मट की भाँति ध्वनि अथवा रस-ध्वनिवादी थे। उनके काव्य की पद्धति और रीति-सिद्धांत दोनो ही इसके प्रमाण है। कुलपति ने स्पष्ट ही ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है—

व्यंग्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ हैं देह,
गुन गुन, भूषन भूषनैं, दूषन दूपन देह।

[रस-रहस्य]

दास ने यद्यपि आरम्भ से रस को कविता का अंग, अर्थात् प्रधान अंग माना है—

रस कविता को अंग, भूषन, है भूषन सकल,
गुन सरूप औ रंग दूपन करै कुरूपता।

[काव्य-निर्णय]

परन्तु फिर भी उनके ग्रन्थ मे इस प्रकार के स्पष्ट संकेत है कि रस से उनका तात्पर्य रस-ध्वनि का ही है।

भिन्न भिन्न यद्यपि सकल, रस भावादिक दास,
रसै व्यंगि सब को कह्यो, ध्वनि को जहाँ प्रकास।

[का० नि०]

इसके अतिरिक्त मम्मट की ही तरह इन्होने अलंकार को भी बहुत महत्व दिया है—

अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृति छंडि,
सुकवि बचन रचनान सो देत दुहुन को मंडि।

[का० नि०]

प्रतापसाहि तो स्वीकृत रूप मे ध्वनिवादी थे ही—

व्यंग्य जीव है कवित में, शब्द, अर्थ गति अंग,
सोई उत्तम काव्य है बरनै व्यंग्य प्रसंग।

[व्यंग्यार्थ कौमुदी]

उन्होने व्यंग्य पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रचा है जिसमे सारे रस-प्रसंग का व्यंग्य—ध्वनि के द्वारा वर्णन किया गया है।

हिंदी रीति काव्य मे ध्वनिवाद का सर्वोत्कृष्ट रूप बिहारी और प्रतापसाहि

मे मिलता है। बिहारी ने यद्यपि लक्षण ग्रन्थों की रचना नही की परन्तु उनके काव्य की प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवाद के ही अनुकूल थी। उनके दोहो के काव्य-गुण का विश्लेषण करने पर यह संदेह नहीं रह जाता कि वे रसवाद के शुद्ध मानसिक-प्राकृतिक आनंद की अपेक्षा ध्वनिवाद के बौद्धिक आनन्द को ही अधिक महत्व देते थे।

उपर्युक्त कवियों मे स्पष्टतया भिन्न दृष्टिकोण है मतिराम, देव, रसलीन, बेनीप्रवीन जैसे कवि-आचार्यों और उनमे भी अधिक घनानन्द, ठाकुर, नेवाज, बोधा आदि रीति-मुक्त कवियों का जो असंदिग्ध रूप मे रसवादी थे। काव्यगत रसमग्नता के अतिरिक्त इनके रीति-संकेत भी इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। इन सभी ने रस का, विशेषकर शृंगार रस का ही, वर्णन किया है, अन्य अङ्गो को तो प्रायः छुआ तक नहीं है। मतिराम ने रसराज की रचना कवियो और रसिको के लिए ही की है पण्डितो के लिए नहीं :—

रसिकन के रस को किया नयो ग्रन्थ रसराज।

देव के विषय मे तो कहना ही क्या? वे तो रसवाद के सब से बडे पृष्ठ-पोषक थे—

काव्यसार शब्दार्थ को, रसु तेहि काव्य सुसार,
सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।
ताते काव्य सु मुख्य रस, जामे दरसत भाव,
अलंकार शब्दार्थ के छंद अनेक सुभाव।

[शब्द-रसायन]

उन्होंने काव्य की सृष्टि और श्रवण दोनो मे ही हृदयोल्लास की स्थिति को अनिवार्य माना है : 'कहत लहत उलहत हियो, सुनत सुनत चित प्रीति'; और रस-कुटिल केवल व्यंग्य-लीन काव्य को स्पष्ट शब्दो मे अधम घोषित किया है। उन्होने अभिधा-आश्रित काव्य को इसी लिए उत्तम माना है कि उसके द्वारा सहृदय काव्य-रस का सीधा संवेदन कर सकता है—उसमे किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता जो लक्षणा अथवा व्यंजना के अधीन काव्य में थोडा बहुत सर्वथा अनिवार्य होता है। और यही कारण है कि इस रस-सिद्ध कवि ने अलकारो मे भी स्वभाव और उपमा को ही प्रधानता दी है, तथा चित्र-काव्य की रचना के लिये 'वायस चाम चबात' कहा है। इन कवियों की काव्य-पद्धति के विषय में तो अधिक कहना व्यर्थ हैं। ये सभी रस-सिद्ध एवं शुद्ध हृदयग्राही कवि थे जो प्रेम को जीवन का सार मान कर चले थे। उधर, घनानन्द, ठाकुर आदि में, जो रीति के बन्धन से सर्वथा

मुक्त हो गये थे, यह प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी। उन्होंने तो अपनी कविता रसिकों के लिए भी नहीं रसज्ञ 'नेहियों' के लिए लिखी थी।

तीसरे सम्प्रदाय अलंकारवाद का भी प्रभाव हिन्दी में उपेक्षा योग्य नहीं कहा जा सकता। अलंकार ग्रन्थों की इतनी वृहत् संख्या ही उसका महत्व प्रतिपादन करने के लिए पर्याप्त है। यह ठीक है कि इन सभी के रचयिताओं को अलंकारवादी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने न तो रस का तिरस्कार ही किया है और न अलंकार को ही काव्य का प्राण माना है। परन्तु जिन्होंने अपने रस-प्रेम का कोई विशिष्ट परिचय न देकर केवल अलङ्कार-ग्रन्थों का ही प्रणयन किया है, उनको अलङ्कार-सम्प्रदाय से बाहर नहीं माना जा सकता। केशव का यह सिद्धान्त-वाक्य :—

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त,
भूषन बिन न बिराजही, कविता, बनिता मित्त।

[कवि-प्रिया]

उनका दण्डी का अनुकरण और सब से अधिक उनका काव्यगत अलङ्कार-मोह सभी यह सिद्ध करते हैं कि वे मूलतः श्रृंगार-रसिक होते हुए भी अलङ्कारवादी थे। राजा जसवन्तसिंह और उनके अनुयायियों की प्रवृत्ति, किसी स्पष्ट सिद्धान्त-वाक्य के अभाव में भी, इसी ओर संकेत करती है। बाद के कवियों में उत्तमचन्द भण्डारी और ग्वाल की भी रुचि अलंकारों में ही रमी थी। भण्डारी ने तो केशव के सिद्धान्त-वाक्य को ही प्रतिध्वनित करते हुए स्पष्ट कहा है :—

कविता बनिता रस-भरी, सुन्दर होइ सुलाख।
बिन भूषन नहि भूषहीं, यहै जगत की साख॥

[अलंकार-आशय]

इन के अतिरिक्त कुछ लक्ष्य-ग्रन्थकार भी स्पष्टतः ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी थे : जैसे यमक-शतक के रचयिता रहमान और चित्र-चन्द्रिका के लेखक काशीराज इत्यादि।

इस प्रकार रीति-युग में ध्वनि, रस और अलंकार इन तीन ही वादों का अनुसरण हुआ। रीति और वक्रोक्ति का तो किसी ने नाम ही नहीं लिया क्योंकि वैसे भी वे उस समय तक काव्य-शास्त्र से बहिष्कृत हो चुके थे। उपर्युक्त तीनों वादों में भी प्रधानता रही—रस-सम्प्रदाय की और रस में भी श्रृंगार-रस की। वास्तव में हिन्दी में रुद्रभट्ट और भोज के अनुकरण पर 'श्रृंगारवाद' की स्वतन्त्र रूप में ही प्रतिष्ठा हो गई थी।

शृङ्गारिकता

शृङ्गारिकता के कारण:—रीति-काव्य की दूसरी प्रधान प्रवृत्ति है शृङ्गारिकता। उसे तो वास्तव में रीति-काव्य की स्नायुओं में बहने वाली रक्त-धारा कहना चाहिए, क्योंकि इस वृहत् युग की कविता का नवदशांश से भी अधिक शृङ्गारैक प्रधान है। शृङ्गार की इस अतिशयता को तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति और परम्परागत साहित्यिक प्रभावों के प्रकाश में अत्यन्त सरलता से समझा भी जा सकता है। भारतीय इतिहास में यह घोर अधःपतन का युग था—मुसलमानों का जीवन तो ऐहिक शक्ति और सुख के अतिचार के कारण जर्जर हो गया था और हिन्दू-जीवन पराभव से जीर्ण था। भक्ति-युग में हिन्दुओं को केवल राजनीतिक पराभव ही सहना पड़ा था, आर्थिक स्थिति अधिक चिंताजनक नहीं थी। इसके अतिरिक्त उस समय के लोक-नायक महात्माओं ने आध्यात्मिक विश्वासों का ऐसा मांगलिक प्रकाश विकीर्ण कर दिया था कि हिन्दुओं ने सब कुछ खोकर भी जीवन का उत्साह नहीं खोया था। परन्तु रीति-काल तक आते आते आर्थिक स्थिति भी सर्वथा भ्रष्ट हो गई थी, और वह आध्यात्मिक प्रकाश भी विलुप्त हो चुका था। अब जीवन को न तो स्वस्थ वाह्य अभिव्यक्ति का ही अवसर था और न सूक्ष्म आंतरिक (आध्यात्मिक) अभिव्यक्ति का ही। उसकी समस्त प्रवृत्तियां घर की चहार-दीवारी में ही सीमित रह गईं। घर में ही जो कुछ कृत्रिम अथवा अकृत्रिम उपकरण सम्भव थे, उनको जुटा कर लोग जीवन का निर्वाह कर रहे थे। निदान विलास की सरिता दोनों कूलों को तोड़कर बह रही थी। विलास का केन्द्र-बिन्दु थी नारी जिसके चारों ओर अनेक कृत्रिम उपकरण एकत्र थे। इन सबके विस्तृत विवरण के लिए रीति-काल की सामाजिक पृष्ठ भूमि में उद्धृत बर्नियर का उद्धरण पर्याप्त होगा। आखिर जीवन को आत्मरक्षण के लिए अभिव्यक्ति चाहिए। इस युग में यह अभिव्यक्ति केवल घर के भीतर ही सम्भव थी जहाँ उसकी समस्त आकांक्षाएँ नारी के शरीर के चारों ओर ही मंडरा सकती थीं। पराभव के और भी युग भारतीय जीवन में आए, पर उन सभी में काम की ऐसी सार्वभौम उपासना नहीं हुई। कारण यह था कि उन युगों में नैतिक आदर्श दृढ और कठोर थे, जो इस प्रवृत्ति के प्रतिकूल पड़ते थे। परन्तु रीति-काल में कृष्णभक्ति की परम्परा से नैतिक अनुमति भी एक प्रकार से इसे प्राप्त हो गई थी। अतएव अब किसी प्रकार के अप्राकृतिक संकोच अथवा दमन की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। काम की उपासना जीवन के स्वीकृत सत्य के रूप में होती थी। वातावरण के अतिरिक्त साहित्यिक परम्पराएँ और प्रभाव भी इसके अनुकूल थे। फ़ारसी संस्कृति और साहित्य की शृङ्गारिकता अब तक भारतीय संस्कृति में घुल मिल कर उसका एक अंग बन गई थी। वह

नागरिकता का एक प्रधान अलंकार थी, अतएव इसका प्रभाव चेतन और अचेतन दोनों रूपों से हिन्दी कविता पर पड़ रहा था। तीसरे, संस्कृत और प्राकृत-काव्य की जो परम्परा रीति-काव्य को उत्तराधिकार में मिली वह भी एकांत शृङ्गारिक ही थी। ऐसे सामाजिक वातावरण और साहित्यिक प्रभावों में पल्लवित और पुष्पित होने वाली रीति-कविता यदि अतिशय शृङ्गारिकता से अभिभूत है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

शृङ्गारिकता का स्वरूप:—नैतिक आदर्शों की अनुमति होने के कारण रीति-काल में काम-वृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण स्वच्छन्दता थी। अतएव रीति-काव्य की शृङ्गारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्पन्न ग्रन्थियाँ नहीं हैं। उसमें स्वीकृत रूप से शरीर-सुख की साधना है, जिसमें न आध्यात्मिकता का आरोप है न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की वृत्तियाँ उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति से चाहे वंचित रही हों, परन्तु शृङ्गारिक कुंठाओं से वे मुक्त थीं। इसीकारण इस युग की शृङ्गारिकता में घुमड़न-अथवा मानसिक छलना नहीं है। परन्तु इस निर्बाध वासना-तुष्टि का एक दुष्परिणाम भी हुआ : वह यह कि काम-जीवन का अंतरंग साधक तत्व न रहकर बहिरंग साध्य बन गया। इसीलिए रीति-काव्य की शृङ्गारिकता में प्रेम की एक-निष्ठता न होकर विलास की रसिकता ही प्रायः मिलती है। और उसमें भी सूक्ष्म आंतरिकता की अपेक्षा स्थूल शारीरिकता का प्राधान्य है। प्रेम भावना-प्रधान एवं एकोन्मुखी होता है, विलास या रसिकता उपभोग-प्रधान एवं अनेकोन्मुखी होती है। तभी तो प्रेम में तीव्रता होती है, रसिकता में केवल तरलता। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि बिहारी, मतिराम, पद्माकर, रसिक ही थे, प्रेमी नहीं। कहने आवश्यकता नहीं कि इनकी रसिकता या सौन्दर्य्य-भावना भी बहिरंग ही थी, अंतरंग नहीं थी। इन रसिकों की दृष्टि प्रायः शरीर के सौन्दर्य पर ही अटकी रहती थी। मन के सूक्ष्म सौन्दर्य तक कम ही पहुँच पाती थी, और आत्मा का सात्विक सौन्दर्य तो उसकी परिधि से बाहर था ही। अतएव इनकी सौन्दर्य्य-भावना, छायावाद की सौन्दर्य्य भावना के बिल्कुल विपरीत—विषयीगत न होकर प्रधानतः विषय-गत ही थी। परन्तु जहाँ तक रूप, अर्थात् विषयगत-सौन्दर्य्य का सम्बन्ध था, वहाँ इन नयनों की प्यास अमिट थी। वास्तव में इन कवियों से अधिक रूप पर रीझने की आदत और किस में हो सकती थी ? एक ओर बिहारी जैसे सूक्ष्मदर्शी कवि की निगाह सौन्दर्य्य के बारीक से बारीक संकेत को पकड़ सकती थी, तो दूसरी ओर मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर जैसे रस-सिद्ध कवियों की तो सम्पूर्ण चेतना ही जैसे रूप के पर्व में ऐन्द्रिय आनन्द का पान कर उत्सव मनाने लगती थी। नय-

नोत्सव का ऐसा रंग विद्यापति को छोड़ प्राचीन साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ ही है :—

मतिराम:—

होत रहै मन यों मतिराम, कहूँ बन जाय बडो तप कीजै,
ह्वै वनमाल हिए लगिए अरु, ह्वै मुरली अधरा रस पीजै ॥

[रसराज]

देव :

"धार में धाय धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न उवेरी ।
री ! अँगराय गिरी गहरी, गहि फेरि फिरी न, घिरी नहिं घेरी ॥
देव कछु अपनो बस ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी,
वेगिही बूडि गईं पंखिया, अँखियाँ मधु की मँखियाँ भईं मेरी ।

[प्रेमचन्द्रिका]

घनानन्द:—

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै,
हँसि बोलनि मैं छबि-फूलनि की, बरषा उर ऊपर जात है ह्वै ।
लट लोल कपोल कलोल करैं, कलकण्ठ बनी जलजावली ह्वै,
अंग-अङ्ग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै ।

[सुजान-सागर]

पद्माकर:—

पैरें जहाँ ही जहाँ वह बाल, तहां तहां ताल में होत त्रिवेनी ।

[जगद्विनोद]

शृङ्गार का गार्हस्थिक रूप :—इस शृंगारिकता के विषय में दूसरी बात यह ज्ञातव्य है कि इसका स्वरूप प्रायः सर्वत्र ही गार्हस्थिक है। इसका कारण यह है कि रीतिकाव्य भारतीय शृंगार-परम्परा का ही स्वाभाविक विकास है। उस पर वाह्य प्रभाव बहुत कुछ पडा जरूर, लेकिन उसके मूल तत्व सर्वदा भारतीय ही रहे। भारतीय शृंगार-परम्परा का इतिहास साक्षी है कि वह पूर्वानुराग, संयोग, प्रवास, करुण विप्रलम्भ—सभी दशाओं में अपने गार्हस्थ्य-तत्व को बनाए रहा है—यहां तक कि वन्य जीवन की स्वच्छन्दता में भी उसकी गार्हस्थिकता नष्ट नहीं हुई। इसी परम्परा में होने के कारण रीति-कविता का शृंगार दरबारी प्रभाव में रहते हुए भी अपना सहज स्वरूप बनाए रहा। उसमें नागरिकता तो आई परन्तु दरबारी वेश्या-विलास अथवा बाजारी हुस्न-परस्ती की बू नहीं आ पाई। यद्यपि एक एक राजा या रईस के यहां अनेकों वेश्यायें थीं, पातुरें रहती थीं, केशव के आश्रयदाता इंद्रजीत

सिंह के यहां छः वेश्यायें तो नियमित रूप से थीं—अनियमित रूप से आने जाने वाली तो न जाने कितनी होंगी, परन्तु फिर भी उनके आश्रित कवि स्वकीया प्रेम का ही माहात्म्य-गान करते रहे। उन्होंने परकीया के नेह तक को निरुत्साहित किया—गणिका की तो बात ही क्या।

पात्र मुख्य सिंगार को सुद्ध स्वकीया नारि।

× × × ×

पर-रस चाहै परकिया तजै आपु गुन गोत,
आपु औटि खोत्रा मिलै खात दूध फल होत।
काची प्रीति कुचालि की विना नेह रस-रीति,
मार-रंग मारू-मही बारू की-सी भीति।

[देव, प्रेम-चन्द्रिका]

गणिका के प्रेम को उन्होंने स्पष्ट रूप से रसाभास माना, और अत्यन्त अरुचि के साथ उसका वर्णन किया। 'प्रेम हीन त्रिय वेश्या है शृंगाराभास'। इसी धर्म-संकट से बचने के लिये बेचारे दास को घर मे रखी हुई परकीयाओं—अथवा गणिकाओं को स्वकीयात्व का फ़तवा देना पडा। परिणाम स्वरूप यह शृंगार-विलास उच्छृंखल होते हुए भी गार्हस्थिक वातावरण से बाहर कभी नहीं हुआ—कुल और शील को छाया उस पर किसी न किसी रूप मे सदैव रही। और इसीलिये तो इसमें अभिसारिका के एक आध रूप को छोडकर रोमानी साहसिकता का भी प्रायः सर्वत्र ही अभाव मिलता है। परकीया की प्राप्ति भी यहां दूती, दासी, आदि की सहायता से सर्वथा घरेलू रीति से ही होती है। न यहां किसी अर्जुन को मत्स्य-भेदकर अपने शौर्य का परिचय देना पडता है, न किसी पृथ्वीराज को युद्ध में विजय प्राप्त करनी पडती है, और न किसी मजनूं को सहरा की ख़ाक छाननी पड़ती है। रोमानी प्रेम की असाधारणता-जो एक ओर बलिदान और साहसिकता पर आश्रित होती है, दूसरी ओर एक अलौकिक आदर्शवादिता पर—रीतिकाल के शृंगार मे अप्राप्य है। उपभोग-प्रधान होने से उसमे बलिदान की गंभीरता और साहसिकता की शक्ति नहीं है, और न उसके धरातल को उदात्त करने वाली आदर्शवादिता ही है।

नारी के प्रति दृष्टिकोण :—हम कह चुके है कि रीति कविता शुद्ध सामन्तीय वातावरण की सृष्टि है—स्वभावतः रीतिकालीन कवियों का नारी के प्रति दृष्टिकोण भी सर्वथा सामन्तीय है जिसके अनुसार वह समाज की एक चेतन इकाई न होकर बहुत-कुछ जीवन का एक उपकरण मात्र है:—

क्षुधा-काम वश गत युगने पशु बल से कर जन-शोषित,
जीवन के उपकरण-सदृश नारी भी कर ली अधिकृत ! (पन्त)

यह शृंगार, एक चेतन व्यक्ति का दूसरे चेतन व्यक्ति के प्रति सक्रिय आकर्षण, वास्तव में कम है—व्यक्ति का एक सुन्दर उपभोग्य वस्तु के प्रति निष्क्रिय आकर्षण अधिक है। यह ठीक है कि रस-प्रसंगो मे नारी भी कम सक्रिय नहीं दिखाई गई। एक प्रकार से वह पुरुष की अपेक्षा अधिक सक्रिय है-पुरुष को हम प्रायः उसके चरणो पर सिर रखते हुए देखते हैं, परन्तु इस सब का अर्थ फिर भी यह नहीं होता कि रीति युग की नारी का कोई स्वतन्त्र प्रेरक अस्तित्व है। उसकी समस्त सक्रियता—सभी चेष्टायें वास्तव मे उसकी उपभोग्यता मे श्री-वृद्धि करने के ही निमित्त प्रदर्शित की गई हैं—उनको इसलिए तो नायिका के अलंकारो के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। नारी के व्यक्तित्व—उसके प्रेम-विरह, सुख-दुःख, हाव-भाव, लीला-विलास का एक ही उद्देश्य है, उसके आकर्षण को समृद्ध करते हुए उसको अधिक से अधिक उपभोग्य बना देना। इसीलिए तो उसने व्यक्ति की व्यक्ति के प्रति एक-निष्ठता नहीं है। नायिका भेद का विस्तार नारी के भोग्य रूपो का विस्तार ही तो है-रीति काल के पुरुष को नारी विशेष की वैयक्तिक सत्ता (Individuality) से प्रेम नहीं था—उसके नारीत्व मे ही प्रेम था। देव ने निस्संकोच रूप मे स्वीकृत किया है :—

काम अन्धकारी जगत लखै न रूप कुरूप
हाथ लिए डोलत फिरै, कामिनि छरी अनूप
तातै कामिनि एक ही, कहन सुनन को भेद
राचै पागै प्रेम रस मेटै मन के खेद।
रची राम संग भीलनी, जदुपति संग अहीरि।
प्रबल सदा बनबासिनी, नवल नागरिन पीर ॥
कौन गनै पुर, बन, नगर, कामिनि एकै रीति।
देखत हरै विवेक को चित्त हरै करि प्रीति ॥ [देव, रस-विलास]

उपर्युक्त उद्धरण ही यह कहने का अवकाश नहीं देता कि रीति-काल के कवि के मन में नारी के प्रति कितना आदर-भाव था। उसके व्यक्तित्व का गौरव पुरुष के सुख भोग के साधन से अधिक और क्या था ? इसीलिए परिस्थिति बदलते ही ये लोग दूसरे ही सांस मे उसकी छवि को छाया-ग्रहिणी अथवा विवेक को हरने-वाली कहने से नहीं चूकते थे। नारी का सामाजिक अस्तित्व तो इनकी दृष्टि में कुछ था ही नहीं। गृहस्थ-जीवन के अन्तर्गत भी सुख-दुःखो की समभोक्ता सहचरी, माता, बहिन, पुत्री, मित्र सचिव आदि उसके अन्य महत्त्वपूर्ण रूप हो सकते थे—

परन्तु उनकी स्वीकृति भी इनमें नहीं है। उसकी सात्विकता स्वकीया की 'कुल कानि' से, उसका आत्माभिमान खण्डिता की मान दशा से, और उसकी बौद्धिक शक्तियां विदग्धा की चातुरी से आगे नहीं जा सकती थीं।

रीति काव्य की शृंगारिकता का स्वरूप-विश्लेषण करने पर ये निष्कर्ष निकलते हैं:—

(१) उसका मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं। यह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रिय अतएव उपभोग-प्रधान है। उसमें पार्थिव एवं ऐन्द्रिय सौन्दर्य्य के आकर्षण की स्पष्ट स्वीकृति है—किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य के रहस्य-संकेत नहीं।

(२) इसीलिए वासना को उसमे अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम-रूप में स्वीकार किया गया है—उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है न उदात्त और परिष्कृत करने का।

(३) यह शृंगार उपभोग-प्रधान एवं गार्हस्थिक है जो एक ओर बाज़ारी इश्क या दरबारी वेश्या-विलास से भिन्न है, दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान-भावना भी प्रायः उसमें नही मिलती।

(४) इसीलिये इसमे तरलता और छटा अधिक है आत्मा की पुकार एवं तीव्रता कम।

जीवन-दर्शन :—रूढ़िबद्ध एवं अवैयक्तिक दृष्टिकोण

रीति-युग का जीवन-दर्शन स्वस्थ नही था। जिस युग मे राजनीतिक और आर्थिक पराभव अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया हो—उस युग का दृष्टिकोण स्वस्थ कैसे हो सकता है? वांछित अभिव्यक्ति के अभाव मे जीवन की वृत्तियों का वह संतुलन नष्ट हो गया था—जो जीवन-दर्शन को स्वस्थ और परिपुष्ट बनाता है। कार्य-क्षेत्र की परिधि अत्यन्त संकुचित हो जाने से उनको उचित व्यायाम का अवकाश ही नहीं मिलता था—जीवन का स्वस्थ संघर्ष जो मानव-शक्तियों को विकसित और पुष्ट करता है समाप्त ही हो चुका था। एक बँधा हुआ रुग्ण जीवन शेष था—जिसमें अब सामन्तवाद की शक्ति और अहंता छाया-शेष हो चुकी थी, काम और अर्थ पर आश्रित केवल स्थूल भोग-वुद्धि ही बच रही थी। इसीलिये तो रीति कवियों का दृष्टिकोण बद्ध और संकुचित है। भौतिक जीवन के आर-पार देखने वाली दृष्टि तो उन्हें प्राप्त थी ही नहीं—भौतिक जीवन के अन्तर्गत भी उनकी गति अत्यन्त सीमित और परिबद्ध थी। एक ओर तो उनमें वह प्रबल अहंकार नहीं था जो भौतिक उच्चाकांक्षाओं

को जन्म देता है, दूसरी ओर वह सामाजिक भावना भी नहीं थी जो भौतिक जीवन को व्यवस्था देती है। रीतिकाव्य आध्यात्मिक तो है ही नहीं, परन्तु वस्तु रूप मे भौतिक भी नही है— अर्थात् उसमें न आत्मा की अतुल जिज्ञासा है न प्रकृति की दृढ कठोरता। वह तो जैसे जीवन का एक विराम-स्थल है जहाँ सभी प्रकार की दौड़-धूप से श्रांत होकर मानव नारी की मधुर अंचल-छाया मे बैठ अपने दु:खों और पराभवों को भूल जाता है। उसका आधार-फलक इतना सीमित है कि जीवन की अनेकरूपता के लिए उसमें स्थान ही नहीं है। उस पर अंकित जीवन-चित्र भी स्वभावतः एकांगी ही है, परन्तु उसमें एक मधुर रमणीयता—मन को विश्राम देने का गुण— अवश्य है। घोर निराशा के उस युग में जीवन में किसी न किसी प्रकार ये कवि रस-संचार करते रहे; मै समझता हूँ कम से कम इसके लिए तत्कालीन समाज को उनका कृतज्ञ अवश्य होना चाहिए। व्यापक जीवन के धरातल पर बस, इससे अधिक श्रेय उनको देना असंगत होगा क्योंकि यह तो मानना ही पडेगा कि यह जीवन-दर्शन बहुत कुछ हल्का पड़ता है। जीवन के मूलगत गभीर प्रश्नो का स्पर्श भी वह नही करते—उनका गहन विवेचन और समाधान करना तो दूर रहा। काममय होते हुए भी रीति-काव्य काम को प्रवृत्ति से अधिक कुछ नहीं मानता—उसके द्वारा उद्बुद्ध जीवन की गहन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समस्याओं से वह अनभिज्ञ है। दृष्टिकोण क विस्तार और गाम्भीर्य का यही अभाव तो उसकी रीति-बद्धता एवं अलंकरण प्रियता के लिए उत्तरदायी है। जो व्यक्ति एक संकुचित दायरे में जीवन की सतह को ही छूकर रह जायगा उसकी वाह्य-क्रिया-शक्तियाँ स्वभावतः अलंकरण की ओर ही प्रेरित होगी क्योंकि उनके लिए विस्तार और गहराई मे तो कोई अवकाश है ही नहीं। यही कारण था कि इन कवियो को अलंकारो से इतना अधिक मोह हो गया—और वे रीति के बंधनों से प्रेम करने लग गये। मुख्यत· इसीलिए उनका दृष्टिकोण अवैयक्तिक और उनका काव्य अव्यक्तिगत हो गया।

जीवन की वास्तविकताओ से आमने सामने खडे होकर टक्कर लेने मे व्यक्ति की सम्पूर्ण चेतना—उसकी समस्त शक्तियों की परीक्षा होती है—तभी व्यक्तित्व का विकास होता है। वह इस युग मे नहीं था। घोर अव्यवस्था से क्षत-विक्षत सामंतवाद के भग्नावशेष की छाया में त्रस्त और क्षीण जीवन एक बंधी लीक पर पड़ा हुआ यंत्रवत् चल रहा था। क्या राजनीतिक क्षेत्र में और क्या सामाजिक क्षेत्र में सर्वत्र ही वैयक्तिक स्फूर्ति और उत्साह नि:शेष हो चुका था—मौलिक सृजन-क्षमता नष्ट हो चुकी थी, केवल रीतियों की दासता मात्र रह गई थी जो कि रीतिकाव्य में स्पष्टत: प्रतिफलित है। कवियो के सम्मुख तो व्यक्तिगत-

जीवन संघर्ष का प्रश्न और भी नहीं था—उनका जीवन-पथ तो सर्वथा सरल एवं निश्चित बन गया था। उनकी आजीविका का साधन केवल एक ही था राजाश्रय,—उनका कर्त्तव्य-कर्म केवल एक ही था काव्य-रचना, उनका लक्ष्य केवल एक ही था रस-प्राप्ति। ऐसे कवियों की कविता भला अवैयक्तिक एवं रीति-बद्ध क्यों न होती ?

रीतिकालीन धार्मिकता और भक्ति का स्वरूप—रीतियुग की धार्मिकता और भक्ति भी रुढ़ि-बद्ध ही थी—वास्तव मे धर्म इस युग मे आकर धर्माभास मात्र रह गया था। धर्म के उस स्वस्थ और नैतिक रूप का जो आत्मबल के द्वारा जीवन को धारण करता है अभाव हो चुका था, परन्तु विश्वास अभी ज्यों त्यों बना ही हुआ था। ऐन्द्रिय प्रेम में आकण्ठ मग्न होकर भी ये कवि हरि-राधिका की तन-द्युति मे अनुराग बनाये हुए थे—

> तजि तीरथ हरि-राधिका, तन-द्युति कर अनुरागु,
> जेहि ब्रज-केलि निकुंज मग, पग पग होतु प्रयागु [बिहारी सतसई]

वास्तव मे यह भक्ति भी उनकी श्रृंगारिकता का ही एक अंग थी। जीवन की अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्म-भीरु मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरण-भूमि के रूप मे इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये किसी न किसी तरह उसका आँचल पकड़े हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति भावना से हीन नहीं है—हो ही नहीं सकता था क्योंकि भक्ति उसके लिये एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी, उनके विलास-जर्जर मन में इतना नैतिक बल नहीं था कि भक्ति रस मे अनास्था प्रकट करते, या उसका सैद्धान्तिक निषेध करते। इसी लिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य मे भक्ति का आभास अनिवार्यत: वर्तमान है और नायक-नायिका के लिए बारबार 'हरि' और 'राधिका' शब्दों का प्रयोग किया गया है।

रीति काव्य का रूप-आकार

रीतिकाल भाषा का अलंकृत काल है। भक्तिकाल मे तुलसी, जायसी सूर जैसे कवियों के सशक्त हाथों मे पड़ कर जो भाषा प्रौढ़ि के चरमरूप को प्राप्त कर चुकी थी, वह रीति-काल तक आते आते स्वभावत: अलंकरण की ओर झुकने लगी। उसकी शक्तियों का पूर्ण विकास तुलसी और सूर कर चुके थे, वह विराट, तीव्र, सूक्ष्म और तरल सभी प्रकार की अभिव्यक्ति में पूर्ण समर्थ थी। उसके लिये अब केवल दो विकास-पथ थे : एक

व्यवस्था दूसरा अलंकरण। समय की रुचि और तदाश्रित काव्य-प्रेरणा चूंकि अलंकरण के ही अनुकूल थी, निदान उसने अलंकरण में ही विशेषता प्राप्त की। अपने काव्य के रूप-आकार को उन्होंने कई प्रकार से अलंकृत किया है—एक तो प्रत्यक्षतः शब्द और अर्थ के अलंकारों का प्रयोग करके, दूसरे भाषा की व्यंजनात्मक शक्ति और कहीं कहीं लक्षणा का भी उपयोग करके, और तीसरे, माधुर्य्य-गुणोचित शब्दों तथा कोमला वृत्ति का सयत्न प्रयोग करके।

अलंकारों का प्रयोग :—कविता और अलंकार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भक्त कवियों के उद्‌गार भी उक्ति चमत्कार से हीन नहीं हैं। परन्तु यदि उनकी आत्मा का विश्लेषण किया जाए तो वे उक्तियाँ भाव की ऊष्मा से ही चमत्कृत हैं। आवेश अथवा अन्तर्प्रेरणा के क्षणों में वाणी अपने आप ही उद्दीप्त हो गई है। उसको अलंकृत करने का प्रयत्न नहीं किया गया। रूपकों का जाल तुलसी और सूर में केवल वहीं मिलता है, जहाँ भाव क्षीण है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्त-कवियों में अलंकृति की कमी नहीं है, परन्तु वह प्रायः अयत्नज है। रीति-काल के कवियों ने सचेत होकर और प्रायः यत्न-पूर्वक अपनी वाणी को अलंकृत किया है—और उनके काव्य-विषयक दृष्टि-कोण को देखते हुए ऐसा सर्वथा स्वाभाविक भी था। कविता उनके लिए जैसा कि आरम्भ में ही कहा है एक कला थी—व्यक्तित्व को अलंकृत करने वाला शृंगार अथवा गोष्ठी-मण्डन थी। स्वभावतः अलंकरण उसका एक मौलिक तत्व था। दूसरे, शृंगार और उसमें भी रसिकता एवं वस्तु-गत दृष्टि का प्राधान्य होने के कारण रूप-आकार की सजावट भी अनिवार्य्य ही थी। प्रेमाहत कवियों के उद्‌गार तो सीधे और अपनी अभिव्यक्ति में नग्न हैं। उनको तो अलंकरण का धैर्य ही नही था। परन्तु रीति-काल के अधिकांश कवि रूप-रसिक नागरिक थे, अतएव वे अपनी कविता के रूप को निराभरण कैसे देख सकते थे? इसके अतिरिक्त अलंकार-सम्प्रदाय भी तो उस समय अत्यन्त लोक-प्रिय था। मतिराम और देव जैसे रस-सिद्ध कवियों को भी उसका प्रभाव व्यक्त-रूप मे स्वीकार करना पड़ा था।

सिद्धांत रूप से तो इस युग मे अर्थालंकार की प्रभुता इतनी अधिक थी कि शब्दालंकार की उपेक्षा सी होने लगी, परन्तु प्रयोग में सभी कवियो ने उनका सम्मान किया है। वास्तव मे दोनों प्रकार के अलंकारो का जितना प्राचुर्य्य इस काव्य में मिलता है, उतना अन्यत्र नहीं। रीति-काव्य एक तरह से अलंकारों का समृद्ध कोष है जिसमें बढ़िया से बढ़िया और घटिया से घटिया नमूने मिल सकते हैं। संयत और संतुलित रुचि के कवियो मे अलंकारों का अत्यन्त कोमल और सूक्ष्म-तरल प्रयोग मिलता है—वर्ण-मैत्री तथा अर्थ और शब्द के स्वारस्य के इतने

सुन्दर उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ हैं। चमत्कारी कवियों ने अलंकारों को साधक न मानकर साध्य माना है—इनमें सुरुचि और कुरुचि का अनमेल मिश्रण पाया जाता है—इन्होंने एक ओर अनुप्रास, यमक, श्लेष, प्रहेलिका तथा चित्र आदि सभी से खिलवाड़ किया है, दूसरी ओर रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अनोखे ठाठ बाँधे हैं।

उपमानों और प्रतीकों का प्रयोग :—यह तो मानना ही पड़ेगा कि जिस क्षेत्र से रीति-कवियों ने अपनी अलंकरण-सामग्री का चयन किया है, वह अपेक्षाकृत संकुचित है। प्रकृति और भौतिक जीवन दोनों क्षेत्रों में उनकी गति सीमित थी, उन्होंने केवल कामोपभोग की दृष्टि से इनको देखा है—अतएव उनके प्रतीक और उपमान प्रायः विलास से सम्बद्ध हैं। प्रकृति के क्षेत्र में रति के उद्दीपन—चन्द्रमा, चाँदनी, पूनम, नक्षत्र, मेघ, विद्युत, जमुना, वासन्ती, लता-गुल्म, कमल, चम्पक, कुंद, चकोर, हंस, कोकिल, चक्रवाक, मयूर, खंजन, भ्रमर आदि ही उनके उपमान और प्रतीक हैं। भौतिक जीवन में नागरिक विलास की वस्तुओं से ये आगे नहीं गये—मणि-मोती, कुन्दन, दीपक, चन्दन, घनसार, अंजन आभूषण, और कामदेव के धनुष-बाण आदि ही उनके प्रिय उपकरण रहे हैं। बिहारी ने जल-चादर, क़िब्लनुमा, फ़ानूस, शीशमहल, ताफ़ता जैसे नूतन उपमानों का प्रयोग करते हुए उनकी संख्या में वृद्धि की है, परन्तु ये उपमान भी रीति-भुक्त चाहे न हों नागरिक विलास के उपकरण तो हैं ही। सारांश यह है कि रीति-काल के उपमान प्रायः काम-विलास के उद्दीपन अथवा उपकरण ही हैं। और उनके प्रयोग मे इस युग के कवियों ने नूतन संयोजनाएँ प्रायः नहीं कीं वरन् परम्परा का ही अनुसरण अधिक किया है। संस्कृत मे कालिदास का कौशल यही तो था कि वे प्रचलित उपमानों के विभिन्न संयोगों द्वारा सर्वत्र एक नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देते थे। छायावाद-युग में प्रसाद, पंत, और महादेवी ने इसी कला की ही तो वृद्धि की है। रीति-काल के कवियों ने नवीन प्रयोगों द्वारा नवीन रुचि और नवीन सौन्दर्य-बोध जागृत नहीं किया, समृद्ध उपमानों के प्राचुर्य से जगमगाहट उत्पन्न की है। प्रतीकों का प्रयोग रीति कविता में अत्यन्त विरल है। जो प्रतीक प्रयुक्त हुए हैं वे रूढ़ हैं; और वैसे वे सभी स्वीकृत रूप में सभी काम-प्रतीक हैं। मनोविश्लेषण के विशेषज्ञों ने मुख्य प्रतीक सृजन और नाश के माने हैं—सृजन के प्रतीक विकास-शील और प्रसन्न तथा नाश के गति-रूढ और गुरु-गंभीर होते हैं। काम में वास्तव में सृजन और नाश दोनों का सम्मिलन हो जाता है। संयोग शृंगार के प्रतीकों मे प्रसन्नता और वियोग के प्रतीकों में घनता रहती है। रीति-काल के प्रतीक अधिकांश में प्रसन्न और विकच हैं—जो संयोग के प्रभुत्व के द्योतक हैं।

रीति-कला का दूसरा प्रयोग कौशल था कोमल शब्द-चयन, इन कवियों

ने प्रयत्न-पूर्वक सभी कठोर और श्रुतिकटु शब्दों का बहिष्कार किया है—अथवा कठोर शब्दों की हड्डियाँ तोड कर उन्हें अत्यन्त लचीला और उनके खुरदरेपन को खराद कर चिकना कर दिया है, भले ही ऐसा करने मे उन्हें अपने शब्द-भाण्डार को सीमित करना पड़ा हो। यहाँ संयुक्ताक्षरों का प्रयोग अत्यन्त विरल है, पद प्रायः असमस्त हैं; समास यदि आये भी हैं तो छोटे हैं, और उनमें वर्ण-मैत्री और भाषा की प्रकृति का पूरा पूरा ध्यान रखा गया है। भाषा के प्रयोग में इन कवियो ने एक ख़ास नाज़ुक-मिज़ाजी बरती है। इनके काव्य में किसी भी ऐसे शब्द की गुंजायश नहीं है, जो माधुर्य-गुण के अनुकूल न हो—अक्षरों के संगुफन में इन्होंने कभी त्रुटि नहीं की। संगीत के रेशमी तारों मे इनके शब्द माणिक-मोती की तरह गुंथे हुए हैं—ऐसी रंगोज्ज्वल शब्दावली अन्यत्र दुर्लभ है। इस प्रकार अंग्रेज़ी की अठारहवीं शताब्दी की भाँति रीति-काल में काव्य-भाषा का एक विशिष्ट रूप बन गया था जिसके दो मुख्य तत्व थे : नागरिकता और मसृणता। ये ही दो तत्व इस भाषा के शब्द-चयन का नियमन करते हैं—ब्रज के अतिरिक्त अवधी, बुन्देलखण्डी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी--सभी के शब्दों के लिए यदि उनमे उपर्युक्त दोनों गुण विद्यमान हैं, द्वार उन्मुक्त था। उसमें सभी प्रकार के ग्राम्य अथवा अभद्र स्पर्शों का अभाव तो है ही, बोलचाल के चलते और कामकाजी प्रयोगों को भी कभी बढ़ावा नहीं मिला—इसीलिए उर्दूदां रसिकों को रीति-भाषा से यह शिकायत रही है कि उसमें मुहावरों की क़द्र नहीं की गई। इस भाषा के लिए शब्दों अथवा पदो की सबसे बडी विशेषता थी रस-सिक्तता एवं संगीत—बस। इस प्रकार यह केवल काव्य की भाषा थी, जन-जीवन की भाषा नहीं थी—इसीलिए उसमें रसात्मकता मात्र थी, महाप्राणता और व्यापकता नहीं रह गई थी।

रीति-काव्य का साहित्यिक आधार

जिस साहित्यिक दृष्टि-कोण की रूप-रेखा हिंदी में चितामणि के उपरान्त बंध कर निश्चित हुई—वह कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। उसका एक विशेष साहित्यिक पृष्ठाधार था। वह एक प्राचीन परम्परा का नियमित विकास थी—जिसके अन्तंतत्व प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिंदी के भक्ति-काव्य में धीरे धीरे ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में विकसित होते रहे थे। यह प्राचीन परम्परा थी मुक्तक कविता की जो काव्य की अभिजात परिपाटी और उसमें निर्णीत उदात्त 'काव्य-वस्तुओं' को छोड नित्य प्रति के सरल ऐहिक जीवन के छोटे छोटे चित्रो को आँक रही थी। स्वदेश और विदेश के पण्डितों का अनुमान है कि जब आभीर जाति भारत में आ कर बस गई—और आर्य्यों की शिक्षा-संस्कृति का आभीरों के उन्मुक्त जीवन से संयोग हुआ तो भारतीयों के मन में परलोक की चिंता से मुक्त नित्य प्रति के गृहस्थ जीवन के प्रति आकर्षण बढने लगा। जीवन से बढकर इस प्रवृत्ति का प्रभाव काव्य पर भी पड़ा और वहाँ भी कवि की कल्पना आकाश अथवा आकाश-चुम्बी राज-महलों से उतर कर साधारण जीवन के सुख-दुःखो मे रमने लगी। इस दृष्टि-परिवर्तन की सबसे पहली अभिव्यक्ति हमें हाल की सत्तसई में मिलती है जिसकी रचना चिंतामणि से कम से कम १३ शताब्दी पूर्व और अधिक से अधिक १६ शताब्दी पूर्व हुई थी। हाल की सत्तसई रीति-काव्य का सबसे प्रथम प्रेरक ग्रन्थ है। प्राकृत में रची हुई ये गाथायें प्राकृत जीवन के सरल-सहज घात-प्रतिघातों को चित्र-बद्ध करती हैं। इनका वातावरण सर्वथा गार्हस्थिक है और यौन सम्बन्धों के वर्णन मे बेहद स्पष्टता पाई जाती है। अभिव्यक्ति मे सहज गुण और स्वभावोक्ति ही इनकी विशेषता है—अतिशयोक्ति को कहीं भी महत्व नहीं दिया गया। इसी से इन गाथाओं में एक भोली सुकुमारता है जैसी कि मतिराम आदि में मिलती है।

जस्स जहँ विश्र पठमं तिस्सा, अंगम्मिणिवडिआ दिट्ठी।
तस्स तहिं चेश्र ठिआ सव्वङ्ग केण विण दिट्ठम्।

यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अंगे निपतिता दृष्टिः
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वांगं केनापि न दृष्टम्।

सत्तसई के उपरान्त इस प्रकार के शृंगार-मुक्तकों के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत में मिलते हैं। एक अमरुक कवि का अमरु-शतक—दूसरी गोवर्धन की आर्या-सप्तशती। इनकी रचना निश्चित ही प्राकृत सत्तसई के आधार पर हुई है, परन्तु वातावरण मे अंतर है।—संस्कृत के इन छन्दो में गाथाओ मे अंकित प्राकृत जीवन का वह सहज सौन्दर्य्य नही है। इनमें नागरिक जीवन की कृत्रिमता आगई है। हाल की गाथाओं और गोवर्धन की आर्याओं को साथ रखकर पढ़ने से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। गाथाओं का सहज गुण—और उस पर आश्रित वन्य-सुकुमारता इन आर्याओं मे नहीं है—अभिव्यक्ति मे अलंकरण और अतिशयोक्ति की ओर स्पष्टत: ही इनका आग्रह बढ चला है। यह परम्परा संस्कृत और प्राकृत से अपभ्रंश में भी अवश्य चली होगी, परन्तु उसके प्रमाण रूप कोई विशेष स्वतन्त्र ग्रन्थ नही मिलते—केवल जयवल्लभ और हेमचन्द्र के काव्यानुशासन मे स्फुट गीत-छन्द मिलते हैं। हेमचन्द्र के ग्रन्थ में उद्धृत मुंज के दोहे अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की कडी हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में ऐहिक मुक्तक काव्य के कतिपय और भी ग्रन्थों की रचना हुई जिनमे कालिदास के नाम से प्रचलित शृंगार-तिलक, घटकर्पर, भर्तृहरि-रचित शृंगार-शतक, बिल्हण की चौर-पंचाशिका आदि अपने शृंगार-माधुर्य्य के लिए प्रसिद्ध हैं। परन्तु ये ग्रन्थ उपर्युक्त परम्परा से थोड़े भिन्न हैं, यद्यपि इसमें संदेह नही कि उस परम्परा पर इनका यथेष्ट प्रभाव अवश्य पड़ा है। इनकी आत्मा में जो आभिजात्य की गंध है वह उन्हे सत्तसई, आर्या-सप्तशती और अमरु-शतक के साधारण धरातल से पृथक कर देती है। संस्कृत साहित्य में शृंगार के इन मुक्तको के समानान्तर ही भक्ति-परक मुक्तकों की भी एक परिपाटी चल पडी थी जिसके अन्तर्गत दुर्गा-सप्तशती, चण्डी-शतक, वक्रोक्ति पंचाशिका (शिव-पार्वती-वन्दना) और कृष्ण जीवन से सम्बद्ध कृष्ण-लीलामृत आदि अनेक स्तोत्र ग्रन्थ आते हैं। इन स्तोत्रों की आत्मा में भक्ति की प्रेरणा होते हुए भी वाह्य रूप में प्राय: शृंगार की प्रधानता मिलती है—इनमे शिव-पार्वती और राधाकृष्ण की शृंगार-लीलाओं का जो वर्णन मिलता है वह किसी भी शृंगार काव्य को लज्जित कर सकता है। बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और बिहार मे जो राधाकृष्ण की भक्ति के छन्द रचे गए वे काम के सूक्ष्म रहस्यो से ओत-प्रोत हैं—विद्यापति के गीत इन्हीं का तो हिंदी संस्करण हैं। इन ग्रन्थों के विषय मे भी ठीक वही कहा जा सकता है जोकि शृंगार-तिलक आदि के विषय मे कहा गया है—अर्थात् इनका प्रभाव उपर्युक्त परिपाटी पर असंदिग्ध रूप में स्वीकार करते हुये भी इनकी आत्मा को उसकी आत्मा से भिन्न

मानना पड़ेगा। परन्तु हिंदी रीति काव्य में जो "राधा कन्हाई सुमिरन" के बहाने का एक निरन्तर मोह तथा—नायक के लिये कृष्ण और नायिका के लिए राधा शब्द का सप्रयास प्रयोग मिलता है उसके लिए इन स्तोत्रों का प्रभाव बहुत कुछ उत्तर-दायी है। वास्तव में रीति-काव्य की आत्मा का सम्बन्ध यदि ऐहिक मुक्तकों की उपयुक्त परम्परा से मानें तो उसके वाह्य रूप (Form) [जिसमें कि राधा कृष्ण के प्रतीकों का प्रयोग हुआ है] के विधान में इन स्तोत्रों के कुछ स्पर्श अनिवार्यतः मानने पड़ेंगे। इस सत्य को स्वीकार करने के लिए इसलिये और भी बाध्य होना पड़ता है कि स्वयं रीतियुग में चण्डी-शतक चरण-चन्द्रिका आदि स्तोत्र-नुमा ग्रन्थों की रचना यदा-कदा होती रही थी।

इन दोनों श्रेणी के काव्यो को प्रभावित करने वाली एक तीसरी चिंता-धारा थी काम-शास्त्र की जो वैसे तो बहुत पहले से ही प्रभावशाली थी, परन्तु संस्कृत काव्य की अन्तिम शताब्दियों में अत्यधिक लोक-प्रिय हो गई थी। इस चिंताधारा की सब से महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति हुई वात्स्यायन के काम-सूत्र में जो विज्ञान की अपेक्षा विचार और काव्य के अधिक निकट था। काम-सूत्र के उपरान्त रति-रहस्य, अनंग-रंग आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। यौन विज्ञान और आयुर्वेद पर इनका प्रभाव जो कुछ भी पड़ा हो, परन्तु काव्य के वर्णन और मनो-विज्ञान को इन्होने निश्चित-रूप से प्रभावित किया। ऐहिक श्रृंगार-मुक्तकों, शिव और कृष्ण भक्ति के स्तोत्रों और नायिका-भेद के ग्रन्थों पर इनकी स्पष्ट छाप थी। उनमें अंकित श्रृंगार भावनाओं तथा केलि-क्रीड़ाओ के चित्रों एवं नायिकाओं के भेद-प्रभेदो में स्थान स्थान पर उपयुक्त ग्रन्थो की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

संस्कृत की ये ही तीन मुख्य साहित्यिक परम्परायें थीं जिनसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे हिन्दी रीति-काव्य ने अपने अन्तर्तत्वों को ग्रहण किया। इसके उपरांत तो हिन्दी साहित्य का ही उदय हो गया।

हिन्दी का आदिम युग वीर गीतो और वीर गाथाओ से मुखरित था। वीर गीतों का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता, परन्तु वीर-गाथा के कवियो में कुछ कवि—विशेष कर चन्दवरदाई काव्य-रीति के प्रति निश्चय ही सावधान थे। पृथ्वीराज-रासो के श्रृंगार-चित्रों मे अनेक चित्र ऐसे मिल जाते हैं जिनमें रूप के उपमानो को बहुत कुछ उसी प्रकार रीति मे जकड़ कर उपस्थित किया है जैसा रीति युग में हुआ है। उदाहरण के लिए एक परिचित नखशिख लिया जा सकता है :—

(१) मनहु कल्प ससि भान कला सोलह सो वन्निय,
बाल वैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।

बिगसि कमल मृग भ्रमर नैन खंजन मृग लुट्टिय,
हीर कीर अरु बिम्ब मोति नख-सिख अहि घुट्टिय ।
छत्रपति गयन्द हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिय ।
पद्‌मिनिय रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनि रचिय ॥
[चन्द, पद्मावती समय पृ० रा०

(२) देखि बरन रति रहस । बुंद कन स्वेद सम्भुवर ॥
चन्द किरन मनमथ्थ । हथ्थ कुट्टे जडु डुक्कर ॥
सुकवि चन्द बरदाय । कहिय उप्पय श्रुति चालह ॥
मनो मयंक मनमथ्थ । चन्द पूज्यो मुत्ताहय ॥
कर किरनि रहसि रति रंग दुति । प्रफुलि कली कलि सुन्दरिय ॥
सुक कहै सुकिय इंछनि सुनत्रि । पै पंगानिय सुन्दरिय ॥
[चन्द]

परन्तु इस प्रकार के रीति-ग्रथित वर्णन कहीं भी पाये जा सकते हैं। इसी लिए इनमें या इस प्रकार के अन्य वर्णनों में रीति-तत्व खोजना विशेष अर्थ नहीं रखता। हिन्दी में वास्तव मे सब से पहले कवि विद्यापति हैं, जिनमें रीति-संकेत असंदिग्ध रूप में मिलते हैं। रीति-काव्य की ऐन्द्रिय श्रृंगारिकता का तो विद्यापति मे अपार वैभव ही है। उसकी रीतियों का भी उनको अत्यन्त मोह था। विद्यापति के श्रृंगार-चित्र सभी अलंकृत है और प्रायः उन सभी के पीछे नायिका-भेद का पृष्ठाधार स्पष्ट है। ऊपर गिनाई हुई काव्य-परम्पराओं में ऐहिक मुक्तकों की परम्परा स्तोत्रो के भक्ति-रस में रंग कर जो रूप धारण कर सकती है बहुत कुछ वही हमे विद्यापति मे मिलता है। इसी लिए विद्यापति के सब चित्र ऐन्द्रिय उल्लास से दीपित होते हुए भी अधिक स्थूल नही हो पाये हैं। उनमें एक सूक्ष्म तरलता है। दूसरे रूप के प्रति भी उनका दृष्टिकोण सर्वथा भावगत ही है—वस्तुगत नहीं है। उनका धरातल नित्य-प्रति के गार्हस्थ जीवन तक नही उतरा। इसलिए उनमे वह मूर्तता नहीं है जो रीति-काल के श्रृंगार-चित्रों मे अनिवार्यतः मिलती है। इन ही दो कारणों से विद्यापति रीति-काव्य की परम्परा से थोड़ा बच जाते हैं। अन्यथा उनमे रीति संकेतों का प्राचुर्य असंदिग्ध है ही। उनके छन्द रीति-काव्य के किसी भी संग्रह में उठा कर रखे जा सकते हैं।

किछु किछु उतपति अंकुर भेल।
चरन चपल गति लोचन लेल ॥
अब सब खन रह आंचर हात ।
लाजे सखिगन न पुछए बात ॥

कि कहब माधव वयस क संधि।
हेरतहँ मनसिज मन रहु बंधि॥
तइअओ काम हृदय अनुपाम।
रोपल घट अचल कए ठाम॥
सुनइत रस-कथा थापय चीत।
जइसे कुरंगिनि सुनये संगीत॥
सैसव जौवन उपजल बाद।
केओ न मानय जय-अवसाद॥
[विद्यापति पदावली]

उपर्युक्त पद की प्रतिध्वनि आप न जाने कितने रीति छन्दों में सुन सकते हैं।

चन्द, विद्यापति आदि के काव्य से यह सर्वथा स्पष्ट है कि इनको रीति-शास्त्र का पूरा पूरा ज्ञान था और उस समय रीति ग्रन्थों का बहुत कुछ प्रचार हिन्दी मे भी निश्चित रूप से था। कृपाराम-कृत "हित तरंगिणी" इस अनुमान को सार्थक करती है। एक तो स्वयं उसकी ही रचना हिन्दी काव्य के अत्यन्त आरम्भिक काल सम्वत् १५९८ में हुई।

सिधि निधि शिवमुख चन्द्र लखि माघ शुद्ध तृतियासु।
हित तरंगिणी हो रची कविहित परम प्रकासु॥

इसके अतिरिक्त कृपाराम ने असंदिग्ध शब्दों मे अपने पूर्व रचे हुए रीति-ग्रन्थों की ओर संकेत किया है—

बरनत कवि सिंगार-रस छन्द बड़े विस्तारि।
मैं बरन्यों दोहान बिच याते सुघरि बिचारि॥
[हित तरंगिणी]

अतएव इसमें कुछ भी सन्देह नही रह जाता कि हिन्दी में रीति-काव्य की परम्परा लगभग उसके जन्म से ही आरम्भ हो जाती है—पुष्य या पुष्ट का अस्तित्व चाहे रहा हो या नहीं। हित तरंगिणी शुद्ध रीति-ग्रन्थ है। वह रीति का लक्ष्य-ग्रन्थ भी नहीं व्यक्त रूप से लक्षण-ग्रन्थ है, जिसमे सम्पूर्ण नायिका-भेद अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णित है। कृपाराम ने जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, इस ग्रन्थ का प्रणयन अनेक ग्रन्थ पढ़ने के उपरान्त, फिर आप विचार कर कवियों और नागरिकों के लिए किया है। उनका मूल आधार यद्यपि भरत-ग्रथ है, परन्तु उन्होंने सभी परवर्ती ग्रन्थों का अनुशीलन किया है और अत्यन्त स्वच्छ

लक्षण उदाहरणों के द्वारा बडी सुथरी भाषा मे नायिका-भेद के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदो का निरूपण किया है। विस्तार की दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी के अनेक परवर्ती ग्रन्थों से अधिक समृद्ध है। बाद मे मतिराम, बेनी प्रवीन, पद्माकर आदि ने भी इतने सूक्ष्म भेद नही किये। इसके अतिरिक्त दूसरा गुण इस ग्रन्थ मे यह है कि इसकी शैली सर्वत्र वर्णनात्मक ही नहीं है, स्थान स्थान पर विवेचनात्मक भी है। कवि ने भिन्न भिन्न भेदो का समन्वय और संघटन करने का प्रयत्न किया है।

सूर कृपाराम के सम-सामयिक ही थे। सूर सागर में भी रीति-बद्ध शृ गार चित्रों की कमी नही है। विद्यापति की भाँति संयोग और वियोग के सभी पहलुओ का सूक्ष्म वर्णन तो सूर में है ही, उनके चित्रों मे अलंकरण का प्राचुर्य है और नायिका-भेद का पृष्ठाधार भी। यहाँ तक कि सूर ने विपरीत रति को भी नही छोडा। भक्त कवि सूर की खण्डिता का एक चित्र देखिये—

तहंइ जाहु जहँ रैनि बसे।
अरगज अंग मरगजी माला वसन सुगंध भरे से है।
काजर अधर कपोलनि चन्दन लोचन अरुन ढरे से है।

[सूर-सागर]

और रीति-कवि बिहारी के प्रसिद्ध दोहे से मिलाइये :—

पलक पीक, अंजन अधर, लसत महावर भाल।
आजु मिले सु भली करी, भले बने हो लाल॥

[बिहारी-सतसई]

इस प्रकार सूर के अनेक चित्रो का रीति-कवियों ने रस, भाव, हाव, नायिका और अलंकार के उदाहरणो मे बिना किसी कठिनाई के रूपान्तर करके रख दिया है।

सूर का दूसरा ग्रन्थ साहित्य-लहरी दृष्टकूट और चित्रालंकारो का चक्रव्यूह है, इसलिए एक तरह से वह रीति-अन्तर्गत अलंकार-परम्परा मे आता है। सूर के उपरान्त तुलसीकृत बरवै-रामायण पर रीति का प्रभाव स्पष्ट है, उसके अनेक बरवै प्राय. अलंकारों के उदाहरण से लगते है। उधर रहीम और नन्ददास ने तो नायिका-भेद पर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे हैं। रहीम का प्रसिद्ध ग्रन्थ है बरवै-नायिका-भेद जिसमे विभिन्न नायिकाओ के लक्षण न देकर अत्यन्त सरस और स्वच्छ उदाहरण ही दिए हुए है। यह ग्रन्थ निश्चय ही एक मधुर रीति-ग्रन्थ है।—इसमें नायिकाओं के देश-भेद भी दिये गये हैं। बाद में देव ने रस-विलास आदि में इसी का अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त रहीम के अनेक फुटकर

शृंगार दोहो को भी बडी सरलता से रीति-काव्य के अन्तर्गत माना जा सकता है।

नन्ददास ने अपना ग्रन्थ 'रसमंजरी' भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर लिखा है—

'रसमंजरि' अनुसारि कै, नंद सुमति अनुसार।
बरनत बनिता-भेद जहँ, प्रेम सार बिस्तार॥

रहीम ने जहाँ केवल उदाहरण ही दिये है, वहाँ नन्ददास ने उदाहरण न देकर बस लक्षण मात्र ही दिये हैं। नन्ददास का नायिका-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और विशद है—उन्होंने अपने लक्षणो को सूत्र बनाकर नहीं छोड दिया, वरन भिन्न-भिन्न नायिकाओ के स्वरूप का स्वच्छता और विस्तार के साथ वर्णन किया है। वास्तव मे जैसा कि एक हिंदी के लेखक ने कहा है—रसमंजरी नायिका-भेद पर एक सुन्दर पद्यबद्ध निबन्ध है।

इस प्रकार रीति-परिपाटी गिरती पडती किसी न किसी रूप में आरम्भ से ही चल रही थी परन्तु अभी हिंदी मे कोई ऐसा आचार्य न हुआ था जिसके व्यक्तित्व से उसको बल प्राप्त होता। कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' यद्यपि एक शुद्ध रीति-ग्रन्थ थी—परन्तु एक तो उसका क्षेत्र केवल नायिका-भेद तक ही सीमित था, दूसरे कृपाराम के व्यक्तित्व मे इतनी शक्ति नहीं थी कि रीति-परम्परा को काव्य की अन्य प्रचलित परम्पराओं के समकक्ष प्रतिष्ठित कर सके। यह कार्य केशवदास ने किया। केशवदास हिंदी के पहले आचार्य है जिन्होंने काव्य-रीति के प्रति सचेत होकर उसके विभिन्न अंगो का गंभीर और पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया। यह तो ठीक है कि उनका सिद्धान्त-वाक्य रूप यह दोहा कि:—

जदपि जाति सुलच्छिनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कबिता बनिता मित्त॥

और व्यावहारिक रूप में भी अलंकार के प्रति उनका अनुचित मोह दोनों ही उन्हें दण्डी आदि अलंकार-वादियो की कोटि में रखते हैं—परन्तु उनकी रसिक-प्रिया रस और नायिका भेद का प्रौढ़ ग्रन्थ है। यदि हम केशव की रसिक-प्रिया को ही लें, कवि-प्रिया को न देखें तो—उन्हें रसवादी कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। उन्होंने भी उसी आग्रह से शृंगार को रस-राज माना है और उसी तन्मयता के साथ नायिका के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों का वर्णन किया है। कहने का तात्पर्य है कि केशव ने वास्तव में पूर्व-ध्वनि तथा उत्तर-ध्वनि दोनों कालों की विचार-धाराओं को हिन्दी मे अवतरित किया। कविप्रिया मे अलंकार्य्य और अलंकार में अभेद करने वाली पूर्वध्वनि काल की विचारधारा की

अभिव्यक्ति है और शृंगार को एकमात्र रस स्वीकृत करने वाली रसिक-प्रिया पर उत्तर-ध्वनि काल की सिद्धान्त-परम्परा का गहरा प्रभाव है। अतएव केशवदास हिंदी रीति-परम्परा के सबसे पहले मार्ग-स्तम्भ हैं। केशव के उपरान्त दूसरा महत्वपूर्ण नाम प्रसिद्ध कवि सेनापति का है जिन्होंने अपने काव्य-कल्पद्रुम में काव्य के अंग-उपांगों का विवेचन किया है। काव्य-कल्पद्रुम आज अप्राप्य है—परन्तु उसके नाम और एकाध स्थान पर उसके प्रति किए हुए संकेतों से अनुमान किया जाता है कि वह काव्य-प्रकाश की शैली पर काव्य की सम्पूर्ण रीतियों पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ होगा। फिर तो चिन्तामणि और उनके बन्धुद्वय का ही युग आ जाता है। और, रीति-ग्रन्थों की क्षीण रेखाधारा जो हिन्दी के जन्मकाल से ही दबती-छिपती चली आ रही थी शत-शत मुखी होकर प्रवाहित होने लगती है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त साधारणतः यही परिणाम निकाला जा सकता है कि हिंदी मे रीति-परम्परा का आरंभ तो उसके जन्मकाल से ही मानना पड़ेगा—पुष्प या पुण्ड कवि-विशेष का अस्तित्व चाहे मानें या नहीं। जन-समाज में जहाँ समय-प्रभाव के अनुकूल वीरभाव अथवा निर्गुण-सगुण भक्ति की भावनाएं काव्यरूप मे अभिव्यक्त हो रही थी, वहाँ साहित्यविद् पण्डितो की गोष्ठियों में आरभ से ही रीति-परम्परा का किसी न किसी रूप मे पोषण होरहा था। [वीर-गाथा और भक्ति काल के शास्त्र-निष्ठ कवियो की कविता मुक्तात्मा होकर भी रीति के रेशमी बन्धनों का मोह नहीं छोड पाती थी—चन्द, नरपति नाल्ह, सूर, तुलसी, नन्ददास सभी की रीति के प्रति जागरूकता इसका असंदिग्ध प्रमाण हैं]। कुछ इतिहास-कारों का यह तर्क है कि हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ में ही रीति-ग्रंथों का किस प्रकार निर्माण हो सकता है—लक्षण-ग्रंथ तो लक्ष्यग्रंथो की समृद्धि के उपरान्त ही सम्भव हैं—अत्यन्त स्थूल है। क्योंकि हिन्दी-साहित्य स्वतन्त्र रूप से फूटा हुआ कोई सर्वथा नवीन स्रोत नहीं है। वह संस्कृत और प्राकृत-अपभ्रंश की प्रवहमान काव्यधारा का एक रूपान्तर मात्र है। संस्कृत-काव्य का पर्य्यवसान रीति-ग्रंथों में ही हुआ था—अत एव हिन्दी के आरम्भ में रीति-ग्रंथो की रचना सर्वथा स्वभाविक और सहज थी। हिन्दी की इस रीति-परम्परा का पहला निश्चित स्फुरण है हिततरंगिणी,—परन्तु फिर भी उसकी वास्तविक गौरव-प्रतिष्ठा हुई कवि-प्रिया और रसिक-प्रिया की रचनाओं के साथ। केशव के पूर्व और केशव के समय में भी चूंकि जन-रुचि अनुकूल नहीं थी—(केशव का युग भी आखिर तुलसी और सूर के सर्व-व्यापी प्रभाव से आक्रांत था)—इसलिये रीति-परम्परा में बल नहीं आ पाया। चिन्तामणि के समय तक उसे जन-रुचि का भी बल प्राप्त

हो गया, और बस तभी से यह धारा शत-सहस्रमुखी होकर बहने लगी। अतएव चिंतामणि का महत्व केवल आकस्मिक और संयोग-जन्य है—यह एक संयोग मात्र ही तो था कि उनके समय से जनरुचि भी उनके साथ हो गई और रीति-ग्रंथों का ताँता बंध गया। युग-प्रवर्तन का गौरव उनको नहीं दिया जा सकता—परवर्ती रीति-कवियों मे से किसी ने भी उनका इसरूप में स्मरण नहीं किया। यह गौरव उन्होंने केशव को ही दिया है और वास्तव मे केशव ही इसके अधिकारी भी हैं, क्योंकि उन्होंने विचार-पूर्वक संस्कृत रीति-काव्य की परम्परा को हिन्दी में अवतरित किया और साथ ही अपने व्यवहार मे भी उसको वांछित महत्व दिया।

———

देव-विषयक सामग्री और उसकी परीक्षा

रीतिकालीन कवियों में देव को यद्यपि उतना लोकप्रिय होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ जितना कि बिहारी और केशव को, परन्तु फिर भी काव्य-विद् पण्डितों और शास्त्रविद् कवियों में देव का नाम मध्य-युग से ही अत्यंत आदर के साथ लिया जाता था। दास जैसे आचार्य्य कवि ने जिन सुकवियों की ब्रजभाषा को प्रमाण माना है, उनमें देव के नाम का भी सादर उल्लेख है :

" लीलाधर, सेनापति, निपट, निवाज, निधि,
नीलकण्ठ, मिश्र सुखदेव, देव, मानिए।" —(काव्य-निर्णय)

इसके बाद सूदन कवि ने सुजानचरित्र के आरम्भ में अपने पूर्ववर्ती १७५ सत्कवियों को प्रणाम किया है—उस सूची में भी देव का नाम यथा-स्थान आता है।

इनके अतिरिक्त कालिदास त्रिवेदी ने रतन-हजारा में संवत् १७५५ के लगभग और दलपतिराय, बंशीधर ने अलंकार-रत्नाकर में संवत् १७९२ के लगभग, देव-कृत छन्दों को गौरव-पूर्वक सत्काव्य के उदाहरण रूप संकलित एवं उद्धृत किया है। ये दोनों ग्रन्थ देव के समय में ही सम्पादित किए गए थे, फिर भी दोनों में देव की प्रतिभा की महत्वपूर्ण स्वीकृति है। इनके उपरांत फिर तो जितने भी प्रसिद्ध संग्रह हुए उनमें देव को उचित स्थान मिला—जैसे प्रतापसाहि के काव्य-विलास में या गोकुलप्रसाद के दिग्विजै-भूषण में अथवा सरदार के शृंगार-संग्रह आदि में। उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों के कर्त्ता या संपादक रीतिकाल के गंभीर आचार्यों में से हैं—अतएव उनका मत देव के महत्व पर यथोचित प्रकाश डालता है, इसमें सन्देह नहीं। इधर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के देव अत्यन्त प्रिय कवि थे। उन्होंने मुख्यतः शब्द-रसायन और साधारण रूप से जाति-विलास के आधार पर देव के कतिपय उत्कृष्ट छन्दों का संकलन सुन्दरी-सिन्दूर नाम से प्रकाशित किया।

ऊपर जिन विद्वानों अथवा कवियों का उल्लेख है उनको केवल देव के गौरव के साक्षी रूप में ही पेश किया जा सकता है। उन्होंने या तो उनके छन्द उद्धृत कर उसकी अभावात्मक स्वीकृति दी है, अथवा अधिक से अधिक कवि-कीर्त्तन किया है। देव के व्यक्तित्व अथवा उनके काव्य के विषय में ये सभी मौन हैं। इस

दृष्टि से प्राचीन कवियों में सबसे अधिक महत्व है देव के प्रपौत्र भोगीलाल का और आधुनिक लेखकों में ठा० शिवसिंह का। भोगीलाल ने अपने रस-ग्रन्थ बखतविलास में कविकुल-वर्णन करते हुए अपने और अपने पूर्वज देव के वंश, वर्ण, गोत्र आदि का निश्चित एवं प्रामाणिक विवरण दिया है :

"काश्यप गोत्र द्विवेदी कुल कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में भये देव रमनीय॥"

इस विवरण से पता चलता है कि देव को सरस्वती सिद्ध थी। उनके पुत्र का नाम पुरुषोत्तम था, और पौत्र शोभाराम भी सत्कवि थे। ठा० शिवसिंह सेंगर कृत शिवसिंह-सरोज प्रथम बार संवत् १९३४ में प्रकाशित हुआ था। शिवसिंह के विषय में इतना कहना पर्याप्त होगा कि वे उन आरंभिक काव्यरसिकों में से थे जिनकी ऐतिहासिक बुद्धि विदेशी शिक्षा-सभ्यता के सम्पर्क से थोड़ी थोड़ी जागरित हो रही थी। वे न तो कोई शास्त्रविद् पण्डित थे और न कवि ही। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि इस संग्रह को प्रस्तुत करने का कारण केवल कवियों के देश, सन्-संवत् बताना है। फिर भी ग्रन्थ हिन्दी की गौरव-गाथा का पहला लेखा है और इस दृष्टि से उसका महत्व अक्षुण्ण रहेगा। देव के विषय में उनका मत था :

"देव कवि प्राचीन, देवदत्त ब्राह्मण, समनि गांव, जिले मैनपुरी के निवासी सं० १६६१ में उ०।

यह महाराज अद्वितीय कवि अपने समय के भामह, मम्मट के समान भाषा काव्य के आचार्य्य हो गये हैं। शब्दों में ऐसी समाई कहाँ कि उनमें इनकी प्रशंसा की जाय? इनके बनाये ग्रन्थों की संख्या आज तक ठीक ठीक ७२ हमको मालूम हुई है। उनमें केवल ११ ग्रन्थों के नाम, जो हमको मालूम है, लिखे जाते हैं; जिनमें से कुछ को अक्सर हमने देखा भी है। १ प्रेम-तरङ्ग, २ भावविलास, ३ रसविलास, ४ रसानन्द-लहरी, ५ सुजान-विनोद, ६ काव्य-रसायन पिंगल, ७ अष्टयाम, ८ देव-माया-प्रपंच नाटक, ९ प्रेमदीपिका, १० सुमिल-विनोद, ११ राधिका-विलास।"

× × × ×

'अब इस समय बहुधा कवि लोग नीचे लिखे हुए ग्रन्थों को पढते हैं।...

साहित्य में काव्य-विभूषण...काव्यकल्पद्रुम...कविकुलकल्पतरु भाषा भूषण, रसरहस्य, रसिकप्रिया, कविप्रिया,...काव्यरसायन, काव्यविलास... इत्यादि'—इसी उद्धरण की ज्यों की त्यों प्रतिलिपि नकछेदी तिवारी कृत कविकीर्तिकलानिधि में कर दी गई है। संवत् १९४० में डा० ग्रियर्सन का ग्रन्थ 'भारत की आधुनिक भाषाओं का साहित्य' प्रकाशित हुआ, उसमें

उन्होंने देव को मुक्त-कण्ठ से अपने युग का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हुए उन्हें भारत के सत्कवियों में स्थान दिया।

देवविषयक दूसरा उपादेय विवरण मिलता है सुखसागर-तरङ्ग की भूमिका में; जो पं० बालदत्त मिश्र द्वारा शिवसिंह सरोज के ठीक बीस वर्ष बाद लिखी गई। देव के व्यक्तित्व और काव्य का इसे पहला विवेचन कहना चाहिए। देव के जन्म और जाति आदि का प्रथम प्रामाणिक अनुसन्धान इसी में किया गया। इसके अतिरिक्त हम इस भूमिका में वयोवृद्ध मिश्र जी को आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व देव की काव्य-गत विशेषताओं के विवेचन का भी अपने ढंग से प्रयत्न करते हुए पाते हैं—और इसमें सन्देह नहीं कि उनके द्वारा निर्दिष्ट कई बातें आज भी ज्यों की त्यों स्वीकृत की जा रही हैं चाहे उनके तुलनात्मक अध्ययन को कोई न माने। सुखसागर तरङ्ग से हमें निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं:—

(१) भावविलास के आधार पर देव जी का जन्म-संवत् १७३० मे सिद्ध होता है। अतएव शिवसिंह जी का दिया हुआ संवत् १६६१ अशुद्ध है।

(२) स्वयं देव के ही कथनानुसार यह प्रमाणित होता है कि वे इटावा के रहने वाले थे, और धौसरिया ब्राह्मण थे—"धौसरिया कविदेव को नगर इटायो वास।"

इस प्रकार शिवसिंह की यह स्थापना भी कि देव, समाने जिला मैनपुरी के निवासी थे, अधिक विश्वसनीय नहीं है। "परन्तु यदि यह समाने के निवासी हैं तो भी उस गाँव मे अधिक नहीं रहे, क्योंकि जब इस महाकवि ने कुल षोड़श ही वर्ष की बाल्यावस्था मे भावविलास व अष्टयाम से ग्रन्थ बनाए, कि जिनमे काव्य व लालित्य कूट कूटकर भर दी है तो इससे ज्ञात होता है कि इन्होंने दस-बारह वर्ष की ही अवस्था से भाषा-काव्य सीखनें का प्रारम्भ कर दिया होगा।"

(३) देव के गुरु श्री हितहरिवंश थे—जो वृन्दावन में रहते थे। अतः यही संभावना है कि देव ने उनके स्थान पर ही विद्याध्ययन किया होगा। हितहरिवंशजी के १२ शिष्य थे, और उनमें देवजी मुख्य थे।

[इस निराधार स्थापना का मूल वास्तव में भारतेन्दु जी द्वारा सम्पादित सुन्दरी-सिन्दूर के मुखपृष्ठ पर लिखे हुए इस आशय के शब्द ही हैं।]

(४) शिवसिंह द्वारा उल्लिखित ७२ ग्रन्थों में से २५, ३० अवध प्रान्त के अंतर्गत ही उपलब्ध थे—और मिश्र जी ने स्वयं उन्हे देखा सुना था। नीति-शतक का सबसे पूर्व उल्लेख उनकी भूमिका में ही मिलता है।

(५) देव-काव्य की मुख्य विशेषताएं हैं—१. सूक्ष्म दृष्टि, २. मिष्ट-भाषण, जो प्रसाद और माधुर्य गुणों पर आश्रित है, ३. अनुप्रास-सौन्दर्य

४. शृंगार के अतिरिक्त शांतरस और भक्तिविषयक भावनाओं पर भी इनका पूर्ण अधिकार था।

सुखसागर तरंग के लगभग १२ वर्ष उपरान्त पं० बालदत्त जी मिश्र के पुत्ररत्न मिश्रबन्धु-त्रय का नवरत्न प्रकाशित हुआ। देव के गौरव को पूर्ण रूप मे प्रतिष्ठित करने वाला ग्रन्थ वास्तव मे यही है। इसमें देव को सूर और तुलसी के साथ स्थान दिया गया और सम्यक् विस्तार के साथ देव के जीवन-चरित्र, उनके प्रमुख ग्रन्थो और उनकी काव्यगत विशेषताओ का विवेचनात्मक परिचय दिया गया। देव के जीवन-चरित के विषय मे मिश्रबन्धुओ ने कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यो का अनुसन्धान किया जो कि इस प्रकार है—

(१) देव जी धौसरिया नही द्योसरिया (दुसरिहा) कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। वे पंसारी टोला बलालपुरा (शहर इटावा) मे रहते थे। इनके वंशज अब भी कुछ इटावा मे और अधिकतर कुसमरा गॉव मे मौजूद हैं।

(२) कुसमरा मे देव के वंशजो में एक सज्जन मातादीन मास्टर भी हैं, जिनके पास उनका वंश-वृक्ष सुरक्षित है। उसके अनुसार देव के पिता का नाम बिहारीलाल था और देव के दो पुत्रो का नाम भवानीप्रसाद और पुरुषोत्तम था। पुरुषोत्तम जी के पौत्र अर्थात् देव के प्रपौत्र भोगीलाल एक सत्कवि थे जिन्होंने सं० १८४७ मे 'बखतविलास' की रचना की। बखतविलास के अनुसार देव काश्यप गोत्र मे उत्पन्न द्विवेदी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। बखतविलास की प्रति भी पं० मातादीन के पास है। उपर्युक्त वंश-वृक्ष के अनुसार ये सज्जन देव के प्रपौत्र भोगीलाल के भाई खुशालचन्द्र के प्रपौत्र है।

(३) देव की मृत्यु का समय लगभग स० १८२४ माना जा सकता है क्योंकि उन्होंने अपना सुखसागर-तरंग ग्रन्थ जो अन्य ग्रन्थो का संग्रह होने के कारण कवि का अन्तिम ग्रन्थ प्रतीत होता है पिहानी के अकबर अलीखाँ (समय सं० १८२४) को समर्पित किया है। [यह मत बाद में शायद कृष्णबिहारी जी की सहायता से स्थिर किया गया है, पहले मिश्र-बन्धु देव का मृत्यु-संवत् १८०२ ही मानते थे]।

(४) देव का व्यक्तित्व अत्यन्त अभिमानी था। अतिरसिक होने के कारण इनका चरित्र थोड़ा गड़बड़ रहा होगा यद्यपि चारित्र्य और कर्त्तव्य को वे जीवन का बहुत ही महत्वपूर्ण अंग मानते थे।

(५) देव के ग्रन्थो की संख्या ७२ या ५२ कही जाती है। यह देखते हुये कि ये वही छंद इधर उधर उलट-पुलट कर नया ग्रन्थ तैयार कर लेते थे, ५२ बहुत बड़ी संख्या नहीं है। इनके प्राप्य ग्रन्थ है—१—भावविलास,

२-अष्टयाम, ३-भवानीविलास, ४-सुन्दरी-सिंदूर, ५-सुजानविनोद, ६-प्रेम-तरंग, ७-रागरत्नाकर, ८-कुशलविलास, ९-देवचरित्र, १०-प्रेमचन्द्रिका, ११-जातिविलास, १२-रसविलास, १३-काव्यरसायन या शब्दरसायन, १४-देवमायाप्रपंच नाटक, १५-सुखसागर-तरंग। इनके अतिरिक्त श्री युगलकिशोर मिश्र, 'ब्रजराज' के साक्ष्यानुसार : १६-वृत्तविलास, १७-पावसविलास, १८-देवशतक; नई खोज के अनुसारः १९-प्रेमदर्शन, (जो शायद प्रेमपच्चीसी हो) शिवसिंह सरोज के साक्ष्यानुसार; २०-रसानन्द लहरी, २१-प्रेमदीपिका, २२-सुमिलविनोद, और २३-राधिकाविलास; तथा [रत्नाकर जी के अनुसंधान के अनुसार] २४ शिवाष्टक ये नौ ग्रन्थ हैं। सुन्दरीसिन्दूर संग्रह-ग्रन्थ मात्र है, अतएव साधारणत: २२ हैं और शिवाष्टक को मिलाकर २३, देवकृत ग्रन्थों का उल्लेख नवरत्न में मिलता है।

(६) जैसा कि देव के ही कतिपय ग्रन्थों से स्पष्ट है, जीवन मे उन्हे आजमशाह और अकबर अलीख़ाँ के अतिरिक्त दादरी के रईस भवानीदत्त वैश्य, फफूंद के कुशलसिंह, मरदनसिह के पुत्र राजा उद्योतसिंह वैस, और राजा भोगीलाल का आश्रय प्राप्त हुआ था। सबसे अधिक प्रशंसा उन्होने भोगीलाल की की है, अतएव यह परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है कि इनके यहाँ कवि का अच्छा सम्मान हुआ होगा। फिर भी वास्तव मे कुल मिलाकर देव को कोई ऐसा आश्रयदाता नही मिला जो उन्हे ऐहिक चिंता से मुक्त कर देता। अतएव ये बेचारे बहुत दिनो तक इधर उधर भ्रमण करते रहे। इसका और कुछ परिणाम निकला या नहीं, परन्तु कवि का अनुभव अवश्य ही समृद्ध हो गया।

(७) समस्त हिन्दी-काव्य मे देव का स्थान तुलसी और सूर के उपरांत तीसरा है—और शृंगार-काव्य मे सबसे पहला। इनके कवित्व मे अजायबघर की भाँति अच्छे से अच्छे छंद देखते चले जाइए। इनके साहित्य मे अभूतपूर्व कोमलता, रसिकता, सुन्दरता आदि गुण कूट कूट कर भरे हैं। प्रसाद, समता, माधुर्य्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, समाधि, कान्ति और उदारता नामक गुण देव की रचना मे पाये जाते हैं। कही कही ओज का भी चमत्कार है। पर्य्यायोक्ति सुघभिता, सुशब्दता, संक्षिप्त प्रसन्नतादि गुणो की भी आपकी रचनाओ में बहार है। कुल मिलाकर जैसी सुहावनी भाषा यह महाकवि लिखने मे समर्थ हुए हैं, उससे आधी सोहावनी भी कोई अन्य कवि नहीं लिख सका। भाषा-सम्बन्धी काव्याङ्गों के साथ, इन कवि ने अन्य काव्यांग भी अपनी रचना मे बड़ी प्रचुरता से रखे हैं। इनके एक एक छंद मे अनेकानेक अलंकार, गुण, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि, भाववृत्ति, पात्र, रस आदि के उदाहरण मिलते हैं, और मानुषीय प्रकृति

के निरीक्षण का फल प्रायः सर्वत्र प्रकट है। भाव-शबलता और तल्लीनता इनकी रचना का मुख्यांग है।

मिश्रबन्धुओं ने नवरत्न के उपरान्त देवग्रन्थावली, मिश्रबन्धुविनोद, और अभी कुछ दिन हुए देव-सुधा का सम्पादन किया। इसमें कहीं-कहीं कुछ भेद मिलता है, परन्तु यह सब भेद नवरत्न के छठे [अंतिम] संस्करण में मिट गया है। इसी के आस-पास कविता-कौमुदी [पहला भाग], और कोए महोदय का हिन्दी साहित्य का इतिहास सामने आया। जहाँ तक देव का सम्बन्ध है इन दोनों ग्रन्थों में नवरत्न और विनोद के ही तथ्यों को ग्रहण किया गया है। संवत् १९७७ में पं० कृष्णविहारी मिश्र कृत 'देव और विहारी' में देव और विहारी के तुलनात्मक अध्ययन के अतिरिक्त स्वयं देव-सम्बन्धी अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री उपलब्ध हुई। पं० कृष्णविहारी का विवेचन अत्यन्त व्यवस्थित और मार्मिक है—उन्होंने देव के अध्ययन में सम्यक् श्रीवृद्धि की, इसमें संदेह नहीं है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार हैं :—

[१] देवशर्मा [द्योसरिहा या दुसरिहा] ब्राह्मण थे। [धौसरिहा पाठ को उन्होंने अशुद्ध माना है]।

[२] मातादीन से प्राप्त वंश-वृक्ष को संदिग्ध मानते हुए उन्होंने यही स्वीकार किया है कि "देव के पिता का नाम क्या था यह विदित नहीं है"। पं० बालदत्त जी के इस अनुमान को कि देव के विद्यागुरु गो० हितहरिवंश रहे होंगे अधिक संगत नहीं माना।

[३] कुछ समय तक इटावा और मैनपुरी जिले एक में सम्मिलित रहे हैं—अतएव सम्भव है कि देव के समय में भी वे एक ही हों। इस प्रकार, यद्यपि देव जी इटावा के ही निवासी थे—यही अधिक प्रमाण-सम्मत है, फिर भी उन्हें मैन-पुरी जिले का निवासी मानने वालों की धारणा भी सर्वथा भ्रान्त नहीं है।

[४] देव के आश्रयदाताओं में भरतपुर-नरेश महाराज जवाहिरसिंह का भी नाम आता है। कहते हैं वहाँ जाकर देव ने एक कठोर भविष्यत्वाणी की थी जो बिल्कुल ठीक उतरी।

[५] देव का मृत्यु-काल महमदी राज्य के अकबर अलीखाँ और भरत-पुर के राजा जवाहिरसिंह के समय का विचार करते हुए सं० १८२५ के लगभग ठहरता है।

[६] देव के स्वभाव में रसिकता और आत्माभिमान के साथ, शान्ति और वैभवप्रियता का भी योग था। कहते हैं वे जो जामा पहनते थे वह इतना

विशाल और घेरदार होता था कि राजदरबारों में जाते समय कई सेवक उसे घसिटने से बचाए रखने के लिए उठाए रहते थे।

[७] देव के ग्रन्थों की संख्या और नाम प्रायः वे ही हैं जो मिश्र-बन्धुओं ने नवरत्न मे दिए हैं। केवल १-शृङ्गार-विलासिनी, २-नखसिख-प्रेमदर्शन और वैद्यक ग्रन्थ–ये तीन नाम और जोड दिये गये हैं। [परन्तु आज कृष्ण-बिहारी जी का मत है कि शृंगारविलासिनी देवकृत ग्रन्थ नहीं है। शिवाष्टक के विषय में भी उनकी यही सम्मति है।

[८] देव जी ने भी उत्तम भाषा में प्रेम का सन्देश दिया है। हिन्दी कवियो में उन्होने ही सबसे पहले यह मत दृढता-पूर्वक प्रकट किया कि शृंगार रस सब रसों में श्रेष्ठ है।

[९] हिन्दी भाषा के कवियो में केशवदास जी प्राचीन अलकार-प्रधान प्रणाली के कवि थे, तथा देव जी उसके बाद की–रस [भाव] को सर्वस्व मानने वाली–प्रणाली के।

'देव और बिहारी' का जवाब ला० भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' में दिया है। यह पुस्तक देवविषयक कोई सूचना हमको नही देती, परन्तु उनके दोषों—विशेषकर भाषा-सम्बन्धी अव्यवस्थाओं के अध्ययन के लिए इसका महत्व अस्वीकृत नही किया जा सकता। लाला जी की भाषा-विषयक पकड अचूक होती थी और इस दृष्टि से देव के अध्ययन मे हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

इस प्रकार वास्तव में देव-विषयक अनुसंधान एक तरह से 'देव और बिहारी' पर आकर समाप्त हो जाता है। इसके उपरान्त पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० श्यामसुन्दरदास के इतिहासों में देव का प्रासंगिक विवेचन आता है। शुक्ल जी ने उन्हें अत्यन्त दृढता-पूर्वक सनाढ्य घोषित किया है, केवल इस आधार पर कि इटावा प्रायः सनाढ्यों की बस्ती है। इसके अतिरिक्त अन्य तथ्यों के विषय मे वे या तो मौन हैं-या फिर नवरत्न की धारणा को ही उद्धृत कर संतोष कर लेते हैं। शुक्ल जी देव की प्रतिभा का लोहा मानते हुए भी यह समझते हैं कि देव ने पेचीले मजमून बांधने में उसका दुरुपयोग किया है। उन्होंने देव की तथाकथित मौलिक उद्भावनाओ का सप्रमाण निषेध किया है, और उन्हें आचार्यत्व का श्रेय नहीं दिया। शुक्लजी के कथन मे सत्य का अंश स्वीकार करते हुए भी; यह तो मानना ही पड़ेगा कि उन्होंने देव के आचार्य्य और कवि दोनों रूपों के साथ अन्याय किया है। रायबहादुर श्यामसुन्दरदास का विवेचन अधिक सहानुभूति-पूर्ण अतएव संगत है। उन्होंने इटावा में सनाढ्यो की बहुसंख्या मानते हुए भी देव के विषय में मिश्रबन्धुओं के निष्कर्षों को ही (जो कि माता-

दीन आदि के साक्ष्य पर आश्रित हैं) ग्रहण किया है । उन्होंने देव के दोनो पक्षों के साथ पूरा पूरा न्याय करते हुए उनकी सौंदर्य-विवृति, तन्मयता, काव्यक्षेत्र की व्यापकता और तदनुसार शब्द-भण्डार एवं कल्पना-कोष की समृद्धि की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है । हिन्दी में अन्य इतिहास भी समय समय पर निकले, परन्तु उनमें उपर्युक्त तथ्यों को ही उद्धृत किया गया ।

संवत् १९६१ से फिर देव के भाग्य ने जोर मारा और उनके कुछ ग्रन्थों का छोटी-बडी भूमिकाओ के साथ प्रकाशन हुआ । संवत् १९६१ मे पं० लक्ष्मीनिधि चतुर्वेदी ने 'भाव-विलास' का सम्पादन किया । उन्होंने आरम्भ मे एक अत्यन्त संक्षिप्त प्रवचन दिया है, परन्तु उसका आधार सौ फीसदी नवरत्न ही हैं । इसी वर्ष भरतपुर के सिद्धान्त-वाचस्पति पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित ने एक बृहत् भूमिका के साथ देवकृत शृंगारविलासिनी का, जो एक वार पहले भी पं० अम्बिकादत्त व्यास की कृपा से संवत् १९४४ में प्रकाशित हो चुकी थी, सम्पादन किया । दीक्षित जी ने १५० पृष्ठ देव पर लिखे हैं—जिनमे उन्होंने अनेक प्रकार की बातें हमारे सम्मुख प्रस्तुत की हैं :—

[१] देव का जन्म संवत् १७३० वि० मे हुआ । वे इटावा में लालपुरा के निकट अस्तल मुहल्ले में रहा करते थे । इनके वंशज बहुत दिनों से लालपुरा, अस्तल, छिपैटी और घटिया आदि मुहल्लो मे रहते आये थे । देव के इटावा-वास का प्रमाण ये :—

द्यौसरिया कवि देव को नगर इटाये वास ।

इस दोहार्ध के अतिरिक्त शृंगार-विलासिनी के अन्त में उद्धृत निम्नलिखित संस्कृत के दोहे को भी मानते है :—

'देवदत्त कविरिष्टिका पुरवासी स चकार ।
ग्रन्थमिमं वंशीधर, द्विजकुल धुरं वभार ॥

[२] देव जी के पिता का नाम वंशीधर था । इसका अकाट्य प्रमाण भी वे उपर्युक्त दोहे को तथा देवकृत संस्कृत ग्रन्थ 'लक्ष्मी-दामोदर-स्तवन' की निम्नलिखित शिखरिणी को मानते हैं :—

इयं लक्ष्मी-दामोदर-नुति "इटेरा" भिधपुरा-
लयेनेत्थं वंशीधर-तनुज-देवाख्य-कविना ।
कृता.... ....(??)

[३] देव के आश्रयदाताओं की सूची में दीक्षित जी ने भरतपुर-नरेश जवाहिरसिंह के अतिरिक्त दिल्ली के कायस्थ रईस श्री पातीराम के पुत्र सुजानमणि,

गोहद के महाराणा बखतसिंह, इनके उत्तराधिकारी राणा माधवसिंह, तथा लखुना के राव खड्गराव के पुत्र राव छत्रसाल का नाम और जोड़ा है। इनमें प्रसिद्ध ग्रन्थ सुजानविनोद सुजानमणि को, बखतविलास आदि राणा बखतसिंह को, माधवगीत राणा माधवसिंह को, तथा वृत्तमंजरी राव छत्रसाल को समर्पित हैं।

(४) देव की मृत्यु संवत १८४६ में हुई होगी। संवत् १८४१ के पश्चात् तक वे जीवित थे— इसमें कोई सन्देह नहीं; क्योंकि उन्होंने स्वयं भट्टोत्पली नामक ज्योतिष ग्रन्थ पर लिखा है :

'संवत् १८४१ मार्गशुक्लप्रतिपदायां लक्ष्मणपुरे दीक्षितदेवदत्तेन स्वपाठार्थ लिखितेयं भट्टोत्पली समाप्तिमगात्'। राजा उद्योतसिंह के यहाँ से चलकर देवजी पुरावली चले आये थे और यहाँ बड़े आमोद-प्रमोद से रहते थे। परन्तु सहसा रुग्ण हो जाने से राव छत्रसाल ने उन्हें दलीपनगर की गढ़ी में, जो यमुना के किनारे है और जलवायु की दृष्टि से अच्छा स्थान है, भेज दिया था। कहा जाता है कि वहीं वे संवत् १८४६ में वृत्तमंजरी रच कर पंचतत्व को प्राप्त हुए।*

(५) 'नवरत्न', 'देव और विहारी' आदि में उल्लिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त देव के निम्नलिखित ग्रन्थों के नाम दीक्षितजी ने और दिये हैं :—

व्रजभाषा— बखत-विलास (रचनाकाल १८३१), बखतविनोद (रचनाकाल सं० १८३५), बखतशतक, कालिका-स्तोत्र, श्रीनृसिंहचरित्र, प्रज्ञान-शतक, माधव-गीत (सं० १८३९), वृत्तमंजरी (सं० १८४६)।

संस्कृत—शृंगार-विलासिनी, रघुनाथलहरी, शक्तिविलास, लक्ष्मीनृसिंह-पंचाशिका, श्रीलक्ष्मीनृसिंहाष्टक, मनोभिनन्दिनी, महावीरमल्लारी-स्तोत्र, शिव-पंचाशिका, साम्बशिवाष्टकम्, लक्ष्मीदामोदरस्तोत्र।

ये सभी देवदत्त कवि की कृति हैं। इसके प्रमाण में प्रायः ऐसे उद्धरण दिये गए हैं, जिनमें कवि का नाम आता है और बहुत से उद्धरणों में समाप्तिकाल भी दिया हुआ है।

दीक्षित जी की भूमिका का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि दीक्षित जी ने गम्भीरतापूर्वक मनन करने के उपरान्त ये निष्कर्ष नहीं निकाले। इनमें बहुत जल्दबाजी की गई है। जैसा उन्होंने लिखा है, यह ठीक है कि लखुना राज्य का इतिहास लिखते समय अथवा अन्य राजकीय कामों के सिलसिले में

---

* संवत् १८४६ आश्विन विजया दशमी वृत्तमंजरी पूर्णाकृता।

उनको कुछ अच्छी हस्तलिखित सामग्री प्राप्त हो गई थी, परन्तु उसकी उचित परीक्षा करने का धैर्य्य उनमें नहीं रहा। साथ ही वांछित ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण की भी उनमे निर्धनता दिखाई देती है, इसी लिए उनका विवेचन बिखरा हुआ तथा असंगत है, उसमें काफी कच्ची-पक्की बातों का समावेश कर दिया गया है। कहीं वे सन् को संवत् पढ गए हैं—उदाहरण के लिए ला० भगवानदीन ने मिश्रबन्धु-विनोद के आधार पर देव का जन्म सन् १६७३ और मृत्यु सन् १७४९ में मानी है, परन्तु दीक्षित जी ने उन्हें संवत् ही मान लिया है। कहीं बिना ग्रन्थ को देखे हुए ही उनके विषय में सम्मति दे गये हैं—जैसे "काव्य रसायन और सुखसागरतरंग मे कृति-सादृश्य है।" अथवा "राग-रत्नाकर के अनेक पद ज्यो के त्यों माधवगीत मे आ गये हैं।" माधवगीत मैंने देखा नहीं है, परन्तु स्वयं दीक्षित जी ने उसका वर्णन करते हुए जो उदाहरण दिये हैं—उनसे स्पष्ट है कि वह ग्रन्थ 'पदो' मे लिखा गया है, जब कि इसके विपरीत रागरत्नाकर पूरा देव के प्रिय चन्द कवित्त, सवैया, दोहा और छप्पय से ही समाप्त हुआ है। देव की प्रशस्ति-विषयक "सूर सूर, तुलसी सुधाकर, नक्षत्र केसौ"—इस प्रसिद्ध कवित्त को आपने वेखटके देव का ही मान लिया है। सर्वश्री ब्रजराज, मिश्रबन्धु और कृष्णविहारी जी का साक्ष्य है कि यह छन्द बहुत नवीन है—और ब्रजराज जी के समय के ही आस-पास किसी अज्ञात कवि द्वारा रचा गया था। देव के किसी ग्रन्थ मे यह छन्द नही मिलता। भवानीदत्त वैश्य को जिन्हे भवानी-विलास समर्पित किया गया है, एक जगह औरैया जिला इटावा का रईस माना गया है—दूसरी जगह नादरी जिला बुलन्दशहर का; जबकि देव ने स्पष्ट ही उन्हें दादरीपति लिखा है। इसी प्रकार आप सुजानविनोद को संवत् १८०७ की रचना मान बैठे हैं—यद्यपि आपकी प्रति के प्रतिलिपिकार वेनीधर त्रिपाठी ने उस पर अपना नाम देते हुए स्पष्ट ही स्वपठनार्थ लिख दिया है जिससे सिद्ध है कि वह प्रति संवत् १८०७ की लिखी हुई है न कि सुजानविनोद। ऐसे ही कच्चे-पक्के निष्कर्षों के आधार पर उन्होने (अ) छः ब्रजभाषा ग्रन्थ, और तेरह संस्कृत ग्रन्थों को देव पर और लाद दिया है, (आ) देव की अवस्था ११६ वर्ष की मान ली है। भाव-विलास से लेकर सुखसागर तरंग तक देव के सभी ग्रन्थों का अध्ययन करने वालों को यह तुरन्त ग्राह्य हो जायगा कि देव की शैली में उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप है—आप मतिराम, घनानन्द, पद्माकर, बेनीप्रवीन—किसी के छन्दों के साथ उन्हें रख दीजिए, उनके विषय मे भ्रम नहीं हो सकता। अतएव देव के ग्रन्थों की प्रामाणिकता का निर्णय करने मे उसकी भाषा-शैली हमारे पास एक अत्यन्त विश्वस्त मानदण्ड है। इस शैली में और वखत-विलास, ग्राम-विनोद, माधवगीत आदि की शैली में आकाश पाताल का अन्तर है।

[इसका सप्रमाण विवेचन देव के ग्रन्थों के प्रसंग में किया जाएगा ।]

अतएव हमारी निश्चित धारणा है कि उपर्युक्त अतिरिक्त ग्रन्थ किन्हीं दूसरे देवदत्त कवि के है । प्रतिभा उनमें इतनी साधारण थी कि देव के भाषा-काव्य में उनकी रचनायें किसी भी प्रकार नहीं खपाई जा सकतीं । अतएव दीक्षित जी के निष्कर्ष अधिकांशत: इन्हीं ग्रन्थों पर आधृत होने के कारण अमान्य हैं ।

श्रृंगार-विलासिनी के चार वर्ष उपरान्त व्रजभाषा के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि श्री हरिदयालुसिंह द्वारा सम्पादित 'देवदर्शन' प्रकाशित हुआ । इसमें देव के प्रसिद्ध ग्रन्थों के चुने हुए छन्दों का संग्रह किया गया है । अन्त मे जो 'स्फुट छन्द' दिए गये है वे भी प्रायः इन्हीं ग्रन्थों में या प्रेमतरंग, प्रेमपचीसी आदि में अन्त-भूत है, स्वतन्त्र नहीं हैं । ग्रन्थ के आरम्भ में ८६ पृष्ठ की एक भूमिका है, परन्तु उसमे न कोई नवीन अनुसंधान है, और न नवीन दृष्टिकोण है । देव के जीवन-चरित्र के नाम पर तो हरदयालु जी ने पं० कृष्णबिहारी मिश्र के 'महाकवि देव' लेख के तद्विषयक अंश का गद्यांतर मात्र दे दिया है ।

देव-विषयक ग्रन्थों की सूची अन्त मे सम्मेलन द्वारा प्रकाशित शब्द-रसायन (सं० २०००) पर आकर समाप्त होती है । इसके सम्पादक हैं श्री जानकीनाथ-सिंह 'मनोज' एम० ए० । मनोज जी ने चौसठ पृष्ठ की भूमिका मे रीति-काव्य का सक्षिप्त ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक विवेचन देने के उपरान्त देव के जीवन-वृत्त, देव के काव्य-गत गुण-दोष तथा शब्द-रसायन की विशेषताओं पर दृष्टिपात किया है । इन्होंने रीति-काव्य के अध्ययन के लिए तो अवश्य एक नवीन दृष्टिकोण हमारे सम्मुख रखा है, परन्तु देव के विषय में मिश्रबन्धुओं के अनुसंधान को ही ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है ।

देव का जीवन-चरित्र

देव नामधारी अनेक कवि:—हिन्दी साहित्य में ६-७ देव अथवा देवदत्त कवियों के नाम आते हैं । श्रीयुत शिवसिंह सेंगर ने अपने सरोज में प्रसिद्ध कवि देव के अतिरिक्त जिनको कि उन्होंने प्राचीन समनि जिला मैनपुरी वाले कहा है, तीन और देव अथवा देवदत्त नाम के कवियों का उल्लेख किया है । इनमें एक का नाम देव काष्ठ-जिह्वा है । ये विरक्त साधु थे तथा संस्कृत साहित्य के उद्भट विद्वान् थे । ये प्राय: काशी में ही रहा करते थे । काशी-नरेश महाराज ईश्वरीनारायणसिंह इनके परम भक्त थे । इनकी कविता का विषय भगवद्भक्ति था । इन्होंने निम्न-लिखित ग्रन्थों की रचना की है :—

विनयामृत, रामलगन, रामायण-परिचर्या, वैराग्य-प्रदीप और पदावली। पदावली का रचनाकाल संवत् १८६७ है।

वास्तव में देव के और इनके काव्य-व्यक्तित्व और समय में इतना अन्तर है कि दोनों के विषय में किसी प्रकार की भ्रांति के लिए स्थान नहीं है। देव काष्ठ-जिह्वा की कविता भाषा और भाव दोनो की दृष्टि से अत्यन्त हीन है।

जय मंगल सिय जू के पद हैं।
जस तिरकोण यन्त्र-मंगल के अस तरिवन के कद हैं।
मलहिं गलावहिं जे तन मन के जिनकी अटक विरद हैं।
मंगल हू के मंगल हरि जहँ सदा बसे ये हद है॥

शेष दो कवियों का पूरा नाम भी देवदत्त था।—इनमे एक का जन्म शिवसिंह ने संवत् १७५२ माना है—इनकी मुख्य रचना है योगतत्व। मिश्र-बन्धुओं ने इन्हें कन्नौज के पास कुसवारा ग्राम का निवासी लिखा है और इनका जन्म संवत् १७०३ तथा कविता-काल १७३० के आस-पास माना है। ये कवि प्रसिद्ध कवि देव से एक पीढ़ी बड़े थे—फिर भी ये उनके समसामयिक अवश्य रहे होंगे। दोनों के वास-स्थान भी बहुत दूर नहीं थे। कन्नौज मैनपुरी और इटावा पास ही पास हैं। परन्तु इन दोनो की काव्यशैली और काव्य-विषय में भी आकाश पाताल का अन्तर है।

पुहुमी पवन अकास वारि पावक ससि दिनमनि।
अरु कपोत अजगर समुद्र मृग वे मतंग गनि॥
लखि पतंग अरु मीन भ्रमर जुग विधि मधुमाछी।
कै पिंगला निरास बाल लीला-रुचि आछी॥
द्विज-कुमार कामु क विरंचि मनिधर सुन लीन्हो।
मकरी भृंगी जोग जान अपनो तनु चीन्हो॥
चौबिस गुरु सिच्छा प्रगट भेदु-बाद सब परिहरौ।
मध्य सच्चिदानन्द घन, देवदत्त हरि पगु धरौ॥

तीसरे देवदत्त के विषय में शिवसिंह को कोई विशेष जानकारी नहीं मालूम-पड़ती। सरोज में इनका एक ही छन्द उद्धृत है :—

सूने केलि मन्दिर मे नायक नवीने साथ नायका रसीली रस बात को छुवा गई।
देवदत्त कौन हूँ प्रसंग तें सुने ते नाद भाँति सौं रिसाइ प्यारी पिय को विदा दई।
ताही समै पापी पपिहा की धुनि कान परी आँसुई उमंग ऋतु पावस की ह्वै गई।
छूटे बेस छटा देखि देखि मेघ-घटा, बाल फिरै अटा अटा बाजीगर को बटा भई।

इनका जन्म संवत् १७०९ दिया हुआ है, काव्य के विषय में लिखा हुआ है कि ललित-काव्य है—बस।

यदि शिवसिंह जी की मान्यता को विश्वस्त मान लिया जाय तो ये कवि भी देव के समसामयिक रहे होगे। यह ठीक है कि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर देव के छन्दों की अपेक्षा इस छन्द के बंदो में शिथिलता अस्पष्ट है, फिर भी इनकी शैली में कुछ स्पर्श ऐसे हैं कि इसके विषय में देव की आरम्भिक रचना होने का यत्किंचित् भ्रम हो सकता है। "बाजीगर को बटा भई" सुन्दर उपमा है। बिहारी ने तो इसका उपयोग किया ही है :—

'भई रहत नट को वटा अटकी नागर नेह।'

देव को भी ऐसी उपमाएं प्रिय थीं।

मिश्रबन्धु इस कवि के विषय मे सर्वथा मौन हैं—उन्होंने कोई विशेष सामग्री उपलब्ध न होने के कारण उसका उल्लेख तक नहीं किया। खोज मे भी इस विषय की सामग्री हस्तगत नहीं हुई। ऐसी दशा मे इस एक छन्द के आधार पर दो प्रकार की कल्पनाएं की जा सकती हैं। एक तो यह कि यह छन्द देव के ही किसी प्रारम्भिक अप्राप्य ग्रंथ में से ही न हो। दूसरी यह कि इसका रचयिता कोई दूसरा देवदत्त कवि था जो हमारे आलोच्य से अवस्था में लगभग २९ वर्ष बडा था। वह भी रीतिकार कवि था और उसने भी नायिका-भेद पर कोई ग्रंथ लिखा था—प्रस्तुत छन्द उसी मे कलहांतरिता के उदाहरण रूप दिया गया होगा। कविता मे यह अपना उपनाम न लिखकर पूरा नाम 'देवदत्त' ही लिखता था जबकि देव ने एक भी छन्द में 'देव' या 'देवजू' को छोड कहीं देवदत्त नहीं लिखा। हमारी धारणा यह दूसरी ही है। इस कवि के छन्दो की देव के छन्दों के साथ कुछ गड़बड हो सकती थी परन्तु देव के ग्रंथ स्फुट छन्दों के संकलन नही है क्रमबद्ध विवेचन ग्रंथ हैं। इसलिए यह खतरा भी नहीं रहता है।

इनके अतिरिक्त दो कवि और शेष हैं जिनका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन मिश्रबन्धु-विनोद के द्वितीय भाग मे मिलता है। इनमे एक अपने को देव कवि लिखते थे। इनका रचनाकाल संवत् १७६७ था। इनका केवल एक ही ग्रन्थ उपलब्ध है "रागमाला"। इनके आश्रयदाता कोई अमीरखाँ थे। दूसरे कवि का नाम देवदत्त था, ये काश्मीर के महाराज-कुमार व्रजराज के आश्रित थे। उन्हीं के कहने से इन्होंने संवत् १८१८ के आस-पास द्रोणपर्व की रचना की थी। उपर्युक्त दोनों कवि देव के जीवन के उत्तरार्ध मे उनके समसामयिक अवश्य रहे होंगे, परन्तु साधारणतः देव और इनके समय में काफी अन्तर है।

अब केवल एक या दो कवि और इस नाम के रह जाते हैं। इनका उल्लेख, 'सरोज' 'विनोद' अथवा 'खोज' किसी में भी नहीं है। इनके जीवन-वृत्त

और काव्य-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री हमको पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित द्वारा सम्पादित श्रृङ्गार-विलासिनी की भूमिका में मिलती है। दीक्षित जी को यह सामग्री लखना-राज्य के इतिहास का अन्वेषण करते हुए दलीपनगर के एक रईस से प्राप्त हुई थी। दीक्षित जी ने इनको और प्रसिद्ध कवि देव को एक ही मानते हुए इनके रचे हुए २० अतिरिक्त ग्रन्थों के नाम दिये हैं जिनमें कुछ संस्कृत के हैं—जैसे श्रृङ्गार विलासिनी, लक्ष्मीदामोदर-स्तुति, शक्ति-विलास, ममोभिनन्दिनी, शिवाष्टक आदि और लगभग दस हिंदी के हैं—उदाहरण के लिए कालिका-स्तोत्र, नृसिंह-चरित, बखत-विलास, बखत-विनोद, बखत-शतक, माधव-गीत और वृत्त-मंजरी इत्यादि। दीक्षित जी के दिये हुए संवतों के ही आधार पर श्रृङ्गार-विलासिनी की रचना सम्वत् १७५७ में और वृत्तमंजरी १८४६ में हुई थी। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि देव का कविता-काल ९० वर्ष तक विस्तृत था और वृत्तमंजरी की रचना के समय कवि की अवस्था कम से कम १०७, १०८ के आस-पास अवश्य थी। जैसाकि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है कि प्रसिद्ध देव कवि के तो वे ग्रंथ हैं ही नहीं—उनके अतिरिक्त भी इनके रचयिता एक न होकर दो व्यक्ति थे। दीक्षित जी ने अनेक दीर्घजीवी स्त्री-पुरुषों के उदाहरण देकर यह प्रमाणित किया है कि ११६ वर्ष की अवस्था प्राप्त करना असम्भव नहीं है, ठीक है, परन्तु १०७, १०८ की अवस्था में वृत्तमञ्जरी जैसा ३०० पृष्ठों का विशालकाय ग्रन्थ लिखना अवश्य विश्वसनीय नहीं है। दुर्भाग्यवश दीक्षित जी आज जीवित नहीं है और उनके सुपुत्र उक्त ग्रन्थों का पता लगा कर हमें देने मे असमर्थ हैं, इसलिए हम विस्तृत प्रमाण देकर अपनी धारणा की पुष्टि नहीं कर सकते। परन्तु उन्होंने जो उदाहरण दिए हैं (और वे अपर्याप्त नहीं हैं) उनसे यह स्पष्ट है कि दीक्षित जी यहाँ भी भूल कर गये है। उनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों के रचयिता भी दो पृथक् देवदत्त कवि थे। दोनों की कविता मे विषय तथा उसके प्रतिपादन की दृष्टि से कोई समानता नही है। श्रृंगार-विलासिनी तथा अन्य संस्कृत ग्रंथ एक देवदत्त कवि के हैं: ये वंशीधर दीक्षित के पुत्र थे और इटावा इनका निवास-स्थान था। दूसरे देवदत्त भी दीक्षित थे क्योंकि इन्होंने बखतविलास, माधवगीत आदि में परिच्छेदों की समाप्ति पर अपने को सदीक्षित लिखा है। ये भी इटावा के ही आस-पास कहीं रहते थे। वहीं के कुछ राजा-रईस जिनमें गोहद के बखतसिंह, उनके पुत्र माधवसिंह और पुरावली के राव छत्रसाल मुख्य थे, इनके आश्रयदाता थे। कविता में ये देव और देवदत्त दोनों ही नाम थे। ये दोनों ही व्यक्ति अत्यन्त साधारण श्रेणी के कवि थे, दोनों बहुत समय तक सम-सामयिक रहे होंगे, परन्तु वैसे संस्कृत-ग्रन्थकार का रचना-काल कुछ पहिले था।

प्रसिद्ध कवि देव का व्यक्तित्व इन सभी से पृथक् था।

नाम :—कवि का पूरा नाम देवदत्त था। 'देव' उनका उपनाम था जिसका उपयोग वे छन्दों में—प्राय: प्रत्येक कवित्त और सवैया में करते थे। विभिन्न ग्रंथों के परिच्छेदों के अन्त में उन्होंने अपना पूरा नाम सर्वत्र देवदत्त ही लिखा है। भोगीलाल ने भी उनका नाम देवदत्त ही लिखा है—

देवदत्त कवि जगत में भये देव रमणीय।

साधारण व्यवहार में लोग इनको दुबे जी कहते थे।

जन्म :—देव का जन्म उनके अपने साक्ष्य के अनुसार सम्वत् १७३० वि० में हुआ था :—

शुभ सत्रह से छियालिस, चढत सोरहीं वर्ष।
कढी.देव मुख देवता, भाव-विलास सहर्ष॥

उपर्युक्त दोहा भाव-विलास के उपसंहार रूप में लिखे हुए तीन दोहों में से दूसरा है। इससे स्पष्ट है कि सम्वत् १७४६ मे देव ने सोलहवें वर्ष में पदार्पण किया था अर्थात् उनका जन्म सम्वत् १७३०-३१ मे हुआ था। ठाकुर शिवसिंह ने देव का जन्म-काल सम्वत् १६६१ लिखा है, परन्तु देव की साक्षी के सामने उनका जन-श्रुति पर आश्रित यह मत सर्वथा निराधार ठहरता है।

वर्ण, गोत्र आदि :—देव ने स्वयं अपने आपको द्यौसरिया ब्राह्मण कहा है। भाव-विलास की हस्तलिखित प्रति मे इसका प्रमाण मिलता है :—

द्यौसरिया कवि देव को, नगर इटायो बास।
जोवन नवल सुभाव रस, कीन्हो भावविलास॥

आरम्भ मे पण्डित बालदत्त जी मिश्र तथा मिश्रबन्धुओ ने द्यौसरिया को धौसरिया पढकर देव को सनाढ्य ब्राह्मण मान लिया था। धौसरिया सनाढ्य ब्राह्मणों की एक अल्ल होती है, इधर इटावा प्रान्त में सनाढ्यों की अधिक संख्या होने के कारण यह धारणा और भी पुष्ट हो गई। रायबहादुर श्यामसुन्दर की भी राय सनाढ्य पक्ष में ही थी। शुक्ल जी ने तो निश्चित रूप से ही देव को सनाढ्य मानते हुए मिश्रबन्धुओं पर व्यंग भी किया है। परन्तु वास्तव में इस भ्रम का मूल कारण उपर्युक्त पाठ-दोष ही था। द्यौसरिया दुसरिहा का रूपान्तर है—यह शब्द ब्रजभाषा का ही है और 'देवसर' या 'देवसरिया' में 'हा' प्रत्यय लगाने से बनता है। देवसर या देवसरि का अर्थ है देव-तुल्य; 'हा' ब्रजभाषा में वाला के अर्थ में प्रयुक्त होता है जैसे 'मिसहा', 'टलिहा' आदि। इटावा प्रान्त और नगर में भी देवसर या दुसरिहा ब्राह्मण अनेक रहते हैं जो कान्य-कुब्ज (द्विवेदी) ब्राह्मण

हैं। इस प्रकार हमारी धारणा है कि यह शब्द 'देव शर्मा' का रूपान्तर न होकर देवसर का ही प्रचलित रूप है। इटावे मे सनाढ्य अवश्य है, परन्तु नगर में कान्यकुब्जो की ही संख्या अधिक है। लालपुरा, बटिया आदि में उनके बहुत से घर हैं जिनमे दो तीन तो देव के वंशजों के ही हैं। इनमे श्री नीलकण्ठ आज भी इटावे के प्रतिष्ठित पण्डित हैं और श्री रामप्रसाद शास्त्री भी संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं।

देव के कान्यकुब्ज ब्राह्मण होने का दूसरा अकाट्य प्रमाण उनके प्रपौत्र भोगीलाल का दिया हुआ वंश-परिचय है जिसमें उन्होने देव तथा अपने को स्पष्ट शब्दो मे काश्यपगोत्री द्विवेदी कान्यकुब्ज माना है।

> काश्यप गोत्र द्विवेदी कुल कान्यकुब्ज कमनीय।
> देवदत्त कवि जगत मे भये देव रमनीय॥

अतएव देव द्विवेदी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे—उनका गोत्र काश्यप था और अल्ल 'दुसरिहा' थी।

पिता का नाम तथा वंश-परम्परा :—कवि के पिता का नाम क्या था इस विषय मे किसी ग्रंथ में दिया हुआ प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। न तो देव ने और न भोगीलाल ने ही इस विषय में कुछ लिखा है। अतएव जिज्ञासुओं को केवल प्रासंगिक प्रमाणो पर ही संतोष करना पडता है। इन प्रासंगिक प्रमाणो के आधार हैं पं० मातादीन दुबे और उनके पास सुरक्षित देव का वंश-वृक्ष। मातादीन जी से मैं स्वयं मिला हूँ। वे अर्ध-शिक्षित ग्रामीण पण्डित हैं, उनमें आलोचनात्मक अथवा ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव है, परन्तु स्वभाव से वे खरे और स्पष्टवादी हैं। देव के कुछ ग्रंथो की पूर्ण एवं खण्डित प्रतियाँ उनके यहाँ है ही, भोगीलाल के दो ग्रंथ बखत-विलास और अलंकार-प्रदीप भी उनके पास मौजूद हैं—देव के विषय में कुछ विश्वस्त सूचनाएं और किम्वदंतियाँ भी उनसे प्राप्त हो सकती हैं। मैंने उनसे घंटों बातचीत की है, निर्धनता-जन्य दो एक दोष उनके स्वभाव मे अवश्य आ गये हैं, परन्तु लम्बी चौडी हाँकने वाले आदमी वे नहीं है। उनकी बातचीत में देव अथवा अपने वंश की शान बढाने का प्रयत्न बिलकुल नहीं होता। जो बात उन्हें नही मालूम हैं, उसके विषय मे वे स्पष्ट ही अपनी असमर्थता प्रकट कर देते हैं। उनको अधिकांश सूचना अपने पितामह पण्डित बुद्धिसेन से प्राप्त हुई है जो ६६ वर्ष की आयु भोग कर सम्वत् १६५६ में स्वर्गवासी हुए थे। इस प्रकार बुद्धिसेन का जन्म सम्वत् १८६० ठहरता है। देव की मृत्यु को तब केवल ३५, ३६ वर्ष हुए थे, भोगीलाल उस समय जीवित थे, उन्होंने तीन वर्ष पूर्व ही बखत-विलास को समाप्त किया था। अतएव पं० बुद्धिसेन से प्राप्त सूचना को अविश्वस्त मानने के लिए विशेष स्थान नहीं है। इन्हीं सज्जनों के वंश-वृक्ष के साक्ष्य के

अनुसार देव के पिता का नाम बिहारीलाल दुबे था। ये लोग इनसे ही अपने वंश-वृक्ष का आरम्भ करते हैं :—

दुबे बिहारीलाल भये निज कुल मँह दीपक।
तिनके भे कवि देव कविन मँह अनुपम रोचक॥
पुरुषोत्तम के छत्रपती बाबा-कृति लेखक।
भये खुलासी चन्द्र पुत्र बुद्धिसेनहु जी तक॥
जिनके राजाराम सुत पितु हमरे मतिमान।
तासुत मातादीन यह, दास रावरो जान॥

(एक मौखिक रूप में प्रचलित छन्द)

इसके विरुद्ध केवल 'शृंगार-विलासिनी' और 'लक्ष्मी-दामोदर-स्तवन' आदि के प्रमाण हैं जिनमें देव के पिता का नाम वंशीधर स्पष्ट शब्दों में दिया हुआ है।

इयं लक्ष्मी दामोदरनुति-रटेरा-भिधपुरा
लयेनेत्थं वंशीधर-तनुज-देवाख्य-कविना–
कृता ... ..

दीक्षित जी ने इसे ही स्वीकृत किया है; परन्तु हम पहले प्रसङ्ग में ही निवेदन कर आये है कि ये ग्रन्थ किसी अन्य देवदत्त कवि के हैं जो इटावा में ही रहते थे, परन्तु प्रस्तुत देव कवि से अवस्था में छोटे और कवित्व मे अत्यन्त हीन थे। (इसका विस्तृत विवेचन आगे देव के ग्रन्थो के विवेचन के साथ भी किया गया है।)

इस वंश-वृक्ष के अनुसार देव के कोई भाई नहीं था। पुत्र दो थे भवानीप्रसाद और पुरुषोत्तम। भवानीप्रसाद के वंशज इटावे मे हैं और पुरुषोत्तम के कुसमरा मे। देव के पुत्र तो कदाचित् साहित्यिक नहीं थे परन्तु उनके पौत्र छत्रपति अवश्य काव्य से अनुराग रखते थे। मातादीन जी के पास देवमायाप्रपंच की जो प्रति सुरक्षित है वह इन्हीं की लिखी हुई है जिसकी प्रतिलिपि शायद इन्होंने अपने वृद्ध पितामह के आदेश पर की होगी। कुसमरा-निवासियों में भोगीलाल प्रसिद्ध कवि थे। मातादीन, रामबाबू आदि वहाँ अब भी मौजूद है। इटावा में भी पं० नीलकण्ठ ज्योतिषी और श्री रामप्रसाद शास्त्री आदि देव के वंशज जीवित हैं। इस प्रकार देव की आजकल सातवीं और आठवी पीढियाँ चल रही हैं।

वास-स्थान :—डा० शिवसिंह ने और उनके अनुकरण पर कुछ लोगों ने देव को समनि गाँव जिला मैनपुरी का निवासी माना है परन्तु देव ने भाव-विलास मे अपना वास-स्थान इटावा लिखा है :

द्योसरिया कवि देव को नगर इटायें बास।

इससे स्पष्ट है कि कम से कम भाव-विलास के रचनाकाल अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था तक देव इटावा में ही रहते थे। इटावा के पं० रामप्रसाद शास्त्री आदि का कथन है कि वे लालपुरा में रहते थे, (जहाँ उनके वंशजों के पुराने खानदानी मकान अब भी खडे हैं) और २६ वर्ष की अवस्था में इटावा छोड़कर कुसमरा चले गये थे। यह बात कहीं लिखी हुई नहीं है—कवि के वंशजों में मौखिक रूप से चली आती है। लालपुरा के आस-पास ही घटिया मुहल्ला है जो यमुना के किनारे पर थोड़ी ऊँचाई पर बसा हुआ है। यहाँ से यमुना का दृश्य अत्यन्त भव्य प्रतीत होता है, लोगों का कथन है कि यह स्थान देव को अत्यन्त प्रिय था। इस प्रकार देव के आरम्भिक ग्रन्थ भाव-विलास और अष्टयाम इटावा मे ही रचे गये थे और यहीं से वे उन्हे लेकर आज़मशाह की सेवा में उपस्थित हुए थे। कुछ वर्ष दिल्ली में और फिर कुछ वर्ष चर्खी-दादरी में रहकर फिर इटावा लौटे और वहाँ कुछ दिन अर्जित सम्पत्ति का उपभोग करने के उपरान्त कुसमरा में जा बसे। प्रेमतरङ्ग की रचना कवि ने अनुमानतः इसी अवकाश काल मे इटावा रह कर की होगी।

कवि ने इटावा क्यों छोड़ा और कुसमरा में जाकर वह क्यों बसा? इस विषय में उनके वंशजों को कुछ नहीं मालूम। किम्वदंतियाँ भी इस विषय में मौन हैं। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इसका कारण साधारण ही रहा होगा, कोई विशेष घटना नहीं। कुसमरा इटावा-फर्रुखाबाद की सड़क पर इटावा से लगभग ३० मील की दूरी पर है। गाँव पुराना है, सड़क से दो फ़र्लांग हट कर मातादीन दुवे का मकान है। यह मकान बहुत पुराना नहीं है। लोगों का विचार है कि इसके पीछे वाले मकान में, जिसमें आज उनके अन्य वंशज रहते हैं, देव जी रहा करते थे। मातादीन जी के मकान के सामने ही एक बगीची के खण्डहर हैं जो आज भी देव जी की बगीची के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें एक छोटे-से टूटे-फूटे चबूतरे पर शिवलिंग स्थापित है और ऊपर एक पुराना नीम का पेड़ है। ये दोनों ही देव के हाथ के कहे जाते हैं। कवि जीवन के अन्त तक कुसमरा में ही रहा, ऐसा प्रचलित किम्वदंती आदि से सिद्ध है। आश्रयदाताओं के पास अथवा यात्रा के लिए वह बराबर आता जाता रहा, परन्तु उसका गृहस्थ कुसमरा में ही रहा।

आश्रयदाता—भक्तिकाल के सन्तों को छोड़ जो केवल भगवान् के दरबार में ही अपने को पेश कर सकते थे, हिन्दी के प्राचीन कवियों का सम्बन्ध किसी न किसी रूप में राजदरबार से अवश्य था। वास्तव में मध्य युग के आरम्भ से ही अन्य वर्गों की भाँति कवियों का भी एक पृथक् वर्ग बन गया था।

जिनके लिए कविता एक पैतृक व्यवसाय थी। आज का कवि दफ़्तर या विश्व-विद्यालय में नौकरी कर सकता है, खाँड और सुँघनी का व्यापार कर सकता है, इसके अतिरिक्त प्रेस की सुविधाओं के कारण साहित्य का भी थोड़ा बहुत व्यवसाय कर सकता है, परन्तु उस युग में कवि के लिए जीविका का केवल एक ही साधन था : राजाश्रय। अतएव वीर-गाथा-काल और रीति-काल के कवियों का जीवनवृत उनके आश्रयदाताओं से भी बहुत कुछ प्रभावित है।

देव की प्राथमिक रचनाएँ—हैं भावविलास और अष्टयाम, जिनको वे आज़मशाह के यहाँ लेकर उपस्थित हुए थे। आज़मशाह ने उन्हें पसन्द किया था और निश्चय ही पुरस्कृत भी किया होगा।

दिल्लीपति अवरंग के आजमसाहि सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रंथ यह अष्टयाम-संजूत॥

परन्तु देव ने स्थिर रूप से अधिक समय तक उसका राज्याश्रय भोगा था, इस विषय में संदेह है। संवत् १७४६ से लेकर अपनी मृत्यु पर्यन्त आज़मशाह का जीवन अस्थिर ही था। पहले वह पिता का स्नेह-भाजन होने के कारण उसकी ओर से दक्षिण में लड़ता रहा, फिर उसके संदेह का शिकार रहा, और अन्त में उसकी मृत्यु के उपरांत तो कुछ समय तक अंतिम संघर्ष कर वह बेचारा सदैव के लिये ही संसार से उठ गया। आजमशाह केवल आश्रयदाता ही नहीं था, वह उस युग का प्रतिष्ठित साहित्य-पारखी भी था। काव्य के प्रति उसे गहरा अनुराग था—उसके आश्रय में काव्य की सृष्टि के अतिरिक्त काव्य का सम्पादन भी हुआ। बिहारी-सतसई का आज़मशाही क्रम उसीने किया-कराया था (?)* इसीलिए तो उदीयमान कवि देव उसकी सराहना को एक बड़े प्रमाणपत्र के रूप में उपस्थित करते हैं। गुणी और गुणज्ञ का यह साक्षात्कार दिल्ली ही में हुआ होगा। यह ठीक है कि आज़मशाह इन दिनों दक्षिण में पिता के साथ युद्ध-संचालन में भाग ले रहा था, फिर भी देव का १६ वर्ष की अवस्था में इटावे से दक्षिण पहुँचना बहुत संगत नहीं जँचता। बीच में कुछ समय के लिये जब युवराज दिल्ली आया होगा-तभी देव उसकी सेवा में उपस्थित हुए होंगे।

ग्रंथों के रचनाक्रम के अनुसार देव के दूसरे आश्रयदाता दादरीपति राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य थे। दादरी दो हैं एक चर्खी-दादरी जो रेवाड़ी से आगे है, दूसरी धूम-दादरी जो जिला बुलन्दशहर में है। दोनों स्थानों से खोज-बीन करने पर यह निश्चित हो जाता है कि राजा सीताराम चर्खी-

---

* रत्नाकर जी का मत है कि इस क्रम का सम्बन्ध आज़मशाह से न होकर आज़मखाँ से है।

दादरी के रहने वाले थे। दिल्ली का बाज़ार सीताराम इन्हीं का बसाया हुआ है। ये शाहजहाँ के ख़ज़ान्ची थे और इन्हें राजा का भी ख़िताब हासिल था। इनके पिता का नाम साँवलसिंह था—देव ने इन्हें सॅवलसिंह लिखा है। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार है।
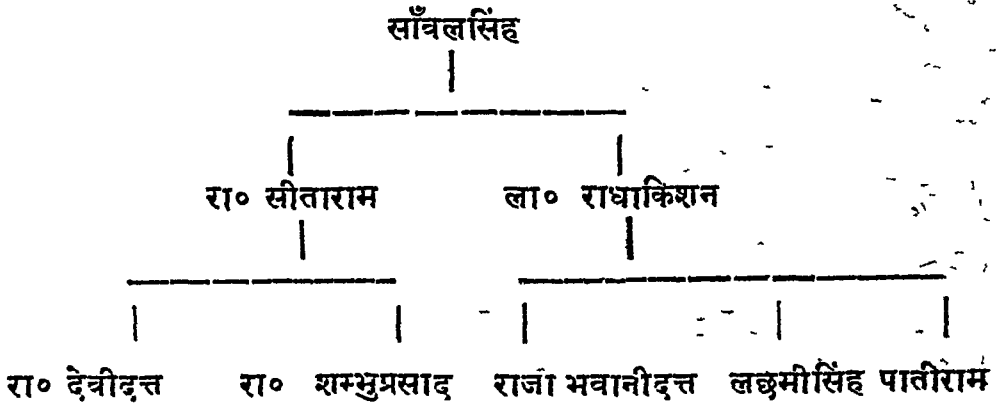
इस वंश के लोग आजकल भी सीताराम बाज़ार में रहते हैं। उपर्युक्त वंश-वृक्ष के अनुसार भवानीदत्त राजा सीताराम के पुत्र न होकर भतीजे ठहरते हैं—देवीदत्त उनके चचेरे भाई थे। परन्तु देव ने भवानीदत्त और देवीदत्त को राजा सीताराम का पुत्र माना है। इससे यही सिद्ध होता है कि राजा सीताराम भवानीदत्त को भी पुत्रवत् ही मानते थे। भवानीदत्त गुणज्ञ एवं काव्यरसिक व्यक्ति थे। जिन दिनों देव दिल्ली में रह रहे थे, उन दिनों भवानीदत्त भी सीताराम जी के साथ दरबार में आते जाते होंगे। वहीं उनका देव से साक्षात्कार हुआ होगा, और अनुमानतः जब आज़मशाह दक्षिण वापस चले गए होंगे तभी देव भवानी दत्त जी के साथ दादरी चले आये होंगे। भवानीदत्त की उन्होंने यथेष्ट प्रशंसा की है। सीताराम को 'धर्मधुज' कहा है, (और वास्तव में आज उनके विषय में जो सूचना मिलती है, उससे भी पता लगता है कि वे अत्यन्त धर्मभीरु व्यक्ति थे); भवानीदत्तको इन्द्र, कुबेर और देवतरु कहा है :—

ता सुत इन्द्र कुबेर सम वैश्य सुवंश महेन्द्र।

देव के तीसरे आश्रयदाता थे फफ़ूँद के कुशलसिंह। वे सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था में दिल्ली गए थे और आठ-दस वर्ष पश्चिम में रहकर इटावा लौटे होंगे जहाँ कुछ वर्ष रह कर उन्होंने अर्जित सम्पत्ति का भोग किया होगा। इसी अवकाश-काल में शायद प्रेमतरंग का प्रणयन हुआ था। इसी बीच ये इटावा से कुसमरा चले गए—और शायद वहीं से फिर फफ़ूँद गए। कुशलसिंह के विषय में कवि ने लिखा है : —

कुसल सरूप भूप भूपति कुसलसिंह,
नगर फफूंद धनी फूले जस जाहि के।
करन के करन सपूत सुभ करन के,
सेंगर महीप कुल दीप मधुसाहि के। (कुशलविलास)

इससे स्पष्ट है कि कुशलसिंह जी सेंगर क्षत्रिय थे, उनके पिता का नाम शुभ कर्णसिंह था और फफूंद उनके रियासत की राजधानी थी। देव ने उनके वैभव और दान दोनों की प्रशंसा की है जिससे यही धारणा होती है कि वे फफूंद मे कुछ समय तक अवश्य रहे थे।

देव की आयु ३० वर्ष के लगभग थी। अब तक वे कम से कम तीन आश्रयदाताओं के यहां जा चुके थे। परन्तु अभी तक कोई ऐसा गुणज्ञ नहीं मिला था, जो उनको जीवन की चिंताओं से मुक्त कर देता, जिसके यहाँ स्थिरतापूर्वक रहकर वे सरस्वती का आराधन कर सकते। तत्कालीन राजा और रईसों का उन्हें अच्छा अनुभव नहीं था। वर्षों तक अभीष्ट सरक्षक की खोज मे भटकते रहे, इसी बीच में उन्होंने देशव्यापी एक दीर्घयात्रा भी की। अन्त मे संवत् १७८३ के आस-पास उनकी एक उदार गुणज्ञ राजा भोगीलाल से भेंट हुई, जिन्होंने उनकी प्रतिभा का उचित आदर किया। रसविलास उन्हीं को समर्पित है। अपने आश्रयदाताओं में देव ने सबसे अधिक प्रशंसा भोगीलाल की हीं की है :—

पावस घन चातक तजै, चाहि स्वाति जलबिन्दु,
कुमुद मुदित नहि मुदित-मन जौ लौं उदित न इन्दु।
देव सुकवि तातें तजें, राइ, रान, सुलतान,
रसविलास सुनि रीझिहैं भोगीलाल सुजान॥
भूलि गयौ भोज, बाल विक्रम बिसरि गये,
जाके आगे और तन दौरत न दीदे हैं॥
राजा, राइ, राने, उमराइ उनमाने,
उन माने निज गुन के गरब गिरवी-दे है॥
सुयस बजाज जाके, सौदागर सुकवि,
चले हू आवै दसहू दिसान के उनीदे हैं॥
भोगीलाल भूप लख, पाखर लिवैया जिन,
लाखनि खरचि खरचि आखर खरीदे हैं॥

(रसविलास की एक हस्तलिखित प्रति)

भोगीलाल के विषय में उक्त छंदों से केवल इतना ही परिचय मिलता है कि वे अत्यन्त गुणग्राही धनिक थे। काव्य में उनकी रुचि थी, उनके यहाँ देव

के अतिरिक्त अन्य कवियों का भी मान होता था। बस इससे अधिक उनके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। वे शायद कोई शासक राजा नहीं थे। राजा या तो उनका खिताब था, या देव ने अपनी कृतज्ञता एवं भक्ति-भावनावश उन्हें 'भूप' लिख दिया है। देव ने अपनी समस्त कृतज्ञता उनके प्रति उंडेल दी है। उनको प्राप्त कर वे सुलतान आज़मशाह, राव कुशलसिंह और सेठ भवानीदत्त को भी भूल गये। जिसने लाख लाख देकर उनके अक्षरों को ख़रीदा हो, उसको पाकर, कोई आश्चर्य नहीं कि, कवि भोज, विक्रम और बलि जैसे दानियों को भी भूल जाये। परन्तु दुर्भाग्यवश यहां भी वे स्थिर होकर न रह पाये। मिश्रबन्धुओं ने इसके दो कारणों का अनुमान किया है, एक तो भोगीलाल की मृत्यु और दूसरा उनसे कवि की अनबन। ये दोनो ही बातें संभावना से परे नहीं हैं, परन्तु इनके अतिरिक्त भोगीलाल की असमर्थता भी तो एक कारण हो सकती है। विवरण से स्पष्ट है कि भोगीलाल इतने वैभव-सम्पन्न राजा महाराजा नही थे कि देव जैसे सम्भ्रांत व्यक्ति की जीविका का पूर्ण उत्तरदायित्व जीवन भर के लिये ले लेते। कुछ समय तक उन्होंने श्रद्धा और आदरपूर्वक कवि का स्वागत-सत्कार किया होगा, फिर उसे स्वयं ही अन्यत्र आश्रय की खोज करनी पडी होगी। बड़े बड़े राज्यो मे तो जीवन-वृत्ति की प्रथा चली आती है। वहां वह संभव भी थी, परन्तु छोटी रियासतो या ठिकानों मे ऐसा सर्वदा संभव नहीं था।

भोगीलाल के यहाँ यद्यपि देव को अत्यन्त आदर सत्कार प्राप्त हुआ था, परन्तु इतने दिनो तक इधर उधर भटकने के कारण उनको इस प्रकार के पराश्रित जीवन से ग्लानि होने लगी थी। अवस्था भी अब काफ़ी प्रौढ हो चुकी थी। रस-विलास की समाप्ति तक वे यह अनुभव करने लगे थे—

बीचु मरीचन के मृग लौं अब धावै न रे सुन काहू नरिन्द के।
इन्दु सौ आनन तू जु चितै अरविन्द-से पांयन पूजि गुविन्द के॥

फिर भी उस समय का सामाजिक वातावरण इस प्रकार का था कि कवि के लिये राज्याश्रय के अतिरिक्त और कोई जीविका का साधन नहीं था। अतएव देव को इसके उपरान्त भी आश्रयदाताओं की ही शरण मे जाना पडा। प्रेम-चन्द्रिका का समर्पण उन्होंने मर्दनसिंह के पुत्र उद्योतसिंह को किया है। उद्योत-सिंह बैस क्षत्रिय थे और इटावा के पास ड्योंड़ियाखेरा के राजा-ज़मीदार थे।

मरदनसिंह महीप सुत बैस वंश विद्योत।
करी सिंह उद्योत को राधा हरि उद्दोत। (प्रेमचन्द्रिका)

प्रेमचन्द्रिका के समर्पण में कोई विशेष भावुकता नहीं है, इससे यही व्यंजित होता है कि देव यहां बहुत समय तक नहीं रहे।

जैसा कि हमने आगे सिद्ध किया है— सुजानविनोद, प्रेमचन्द्रिका के बाद की कृति है। उसकी रचना पातीराम के पुत्र सुजानमणि के लिये की गई थी। पातीराम राजा नरोत्तमदास के पुत्र थे, वे जाति के कायस्थ और दिल्ली के रईस थे। कुछ लोगों का विचार है कि कूचा पातीराम इन्हीं का बसाया हुआ है, परन्तु यह ठीक नहीं है। कूचा पातीराम के बसाने वाले दूसरे ला० पातीराम थे, जो राजा सीताराम के भतीजे और भवानीदत्त के भाई थे। पातीराम के पुत्र राय सुजानमणि अत्यन्त काव्य-मर्मज्ञ तथा उदार थे। उनको धन-धाम पुत्र-कलत्र आदि सभी का सुख था।

रघु ज्यों मनु के वंश में, नृपति नरोत्तमदास।
ता सुत दशरथ ज्यों कियौ, पातीराम विलास ॥ ६ ॥
पातीराम विलास निधि, प्रगट पुण्य को धाम।
तेहि सुत राय सुजानजू, ज्यों दशरथ के राम ॥ १० ॥
राय सुजान सुजानमणि, धनि धनि धर्मविलास।
इन्द्र सकल कायस्थ कुल, इन्दरप्रस्थ निवास ॥ ११ ॥

कुंजर विराजैं द्वार गुंजरत भीर तीखे,
तरल तुरंग रंग रंग सुभ थान के।
दंपति सुफल बोलि संपति लहलहात,
बहुल विलास, ज्यों महल मघवान के।
कहालौं बखानें 'देव' सगुन उदारता के,
भूपति से भिच्छुक निवाजे दिन दान के।
पुन्य के प्रभाव लखि लखि श्री लुभाइ ऐसे,
साहिब-सुभाइ राइ साहिब सुजान के ॥ १२ ॥

पातीराम नन्दन प्रतापी संकेसापति की,
कीरत कहानी जोति जागती जलप की।
सत्रुन के सोखे परिपोखे परिवार तोखे,
'देव' गुन पितरनि राखै न कलप की।
दान झरि झंप चित चंपत कुबेर धन,
सम्पति अधीन कीन्ही दासी ज्यों तलप की।
श्रीपति के अंक सिय सोवे निःसंक सके,
मान के कलपतरु सोभा संकलप की ॥ १३ ॥

दो०—भूप स्वयं भूपर किये, तुच्छ भिच्छुकनि गोत।
नृप सुजान संकलप-सों, अल्प कलपतरु होत ॥ १४ ॥

परत सुजान सुजान की, कृपा 'देव' कवि हर्षि।
कियो सुजान विनोद को, रचन बचन-बसु वर्षि॥ १५॥
(सुजानविनोद की पं० मातादीन वाली प्रति)

उपर्युक्त छन्द मिश्रबन्धु-सम्पादित सुजान-विनोद में नहीं मिलते। उस प्रति से आरम्भ के वे २० छंद नहीं हैं, जो कुसमरा में पं० मातादीन जी और भरतपुर में श्री गोकुलचंद दीक्षित के यहां सुरक्षित प्रतियों में स्पष्ट मिलते हैं। कुसमरा की प्रति सं० १८०७ वि० में बेनीधर त्रिपाठी नाम के किसी व्यक्ति द्वारा अपने उपयोग के लिये लिखी हुई है। इससे यह तो निश्चित हो ही जाता है कि सुजानविनोद की रचना सं० १८०७ से पूर्व अवश्य हुई थी। किसी दूसरे व्यक्ति ने अपने पढने के लिए यह प्रति तैयार की है—इसका अभिप्राय यह हुआ कि उस समय तक यह ग्रन्थ पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। इधर इसकी प्रौढ़ शैली और अन्य अन्तर्साक्ष्यों के अनुसार यह निश्चित ही रसविलास (सं०१७८२) तथा प्रेमचन्द्रिका के भी बाद की रचना सिद्ध होती है। ऐसी दशा में हमारा अनुमान यही है कि सुजानविनोद की रचना सं० १७६०—१७६५ के आस-पास हुई है। समर्पण से ज्ञात होता है कि सुजानमणि ने देव को भली भांति संतुष्ट किया था। देव तीस चालीस वर्ष अपने देश में बिताकर दूसरी बार दिल्ली आये थे और कुछ वर्ष इनके यहाँ रहकर फिर कुसमरा लौट गये। वे अब काफ़ी वृद्ध हो चुके थे, शेष रचनायें जो या तो प्रौढ रीति ग्रन्थ हैं जैसे शब्दरसायन, या वैराग्यपरक ग्रन्थ हैं जैसे देवमायाप्रपंच देवशतक आदि, उन्होने किसी को समर्पित नहीं कीं। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि संवत् १८०० के आस-पास से वे अधिकतर कुसमरा में ही रहने लगे थे। जीवन बहुत कुछ ढल चुका था। जीवन के कठोर संघर्ष एवं आश्रयदाताओ के रूखे व्यवहार ने उनके हृदय में वैराग्य की गहरी भावना जागृत कर दी थी। जीवन के विकासकाल में ही नरनाहो की 'नाहीं' सुनकर जो ग्लानि के भाव हृदय मे अंकुरित हुये थे, वे अब परिपक्व हो चुके थे और वह अपने गाँव में ही रहकर जैसी भी कुछ स्थिति थी उसी से संतुष्ट होकर विरक्त भाव से जीवन-यापन कर रहा था। किंवदन्तियों से पता लगता है कि इस बीच में भरतपुर-नरेश के यहाँ वह एकाध बार अवश्य गया था किन्तु वहां का भी अनुभव अत्यन्त कटु रहा, और, अंतिम दिनों में शायद अलवर-नरेश से भी उसका कुछ सम्बन्ध रहा था।

इसके उपरान्त तो कवि ने बस एक ही बार और आश्रय की खोज की। उनके ये अन्तिम आश्रयदाता थे, अब्दुल्लाख़ाँ के पुत्र अकबरअलीख़ां। ये महमदी राज्य के अधिपति थे और पिहानी इनकी राजधानी

थी। अकबरअलीख़ां प्रतापी और वीर होने के अतिरिक्त काव्य और कवियों के प्रेमी तथा रस-मर्मज्ञ भी थे :

'ख़ानअली अकबरअली जानत जँह रस-पंथ।'

❀ ❀

सानी सिंह दलीप महीपति पुरी-पिहानी।
सदर जहानी सदरजही जू की रजधानी॥
जिहि सुपुत्र मुर्तजा मुहम्मद सैद तासु सुत।
सैद मुकद्दर तासु तासु खुर्रम अति अद्भुत॥
तिहि पुत्र अबादुल्ला सुखद जाकी जग महिमा भली।
तिहि तनय महमदी-महीपति खानवली अकबरअली॥

ऐसो कौन आज जाकी सोहत समाज जहाँ, सबको सुकाज साहिबी को सुख साज है।
देव गुण संत मंव, सामंत समाज राज-काज को जहाज दिल दरिया दराज है।
जा पै इतराज ता, गनीम सिर गाज बग-बैरिन पै बाज़, सैद वंश सिरताज है।
सानी सुर-राज, जो पिहानी-पुर राज करै मही मैं जहाज, महमदी महराज है।
(सुखसागर-तरंग)

अकबरअलीखां का समय संवत् १८२४ से आरम्भ होता है। उनके गद्दी पर बैठते ही कवि ने अपने समस्त ग्रन्थों का सार संगृहीत कर उन्हें समर्पित किया होगा। उसकी अवस्था अब ६४ वर्ष की हो चुकी थी। जीवन के कटु अनुभवों ने उसे आश्रयदाताओं की ओर से विरक्त कर दिया था; परन्तु फिर भी जीविका का प्रश्न सामने था। २०-२५ वर्ष घर पर रहने से कमाई पूंजी निःशेष हो चुकी थी निदान जीवन के अन्तिम दिनों में भी उसे आश्रय की खोज में पिहानी जाना पड़ा। नई रचना तो अब क्या सम्भव थी, पुराने ग्रन्थों के ही विशेष छन्दों का संग्रह कर ६४ वर्ष का वृद्ध कवि पिहानी जाकर अकबरअलीख़ां के दरबार में उपस्थित हुआ। उपर्युक्त छन्दों से स्पष्ट हे कि वहां उसका यथेष्ट स्वागत-सत्कार हुआ। इतनी अधिक अवस्था में पिहानी जाकर रहना तो संगत नहीं जान पडता, अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि उचित पुरस्कार प्राप्त कर वह तभी कुसमरा लौट आया और वहीं आकर एक-आध साल में उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार १६ वर्ष की अवस्था मे उचित आश्रय की खोज में जीवन का जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ था, वह ६४ वर्ष की अवस्था तक लगभग निरन्तर ही चलता रहा।

यात्रा :—कवि के अलमस्त स्वभाव और जाति-विलास तथा रस-विलास में दिये हुये विभिन्न-देशीय स्त्रियों के वर्णन के आधार पर मिश्रबन्धु तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों की धारणा है कि उसने अपने जीवन मे बहुत भ्रमण किया था। जातिविलास में अन्तर्वेद मगध, मालवा, आभीर, केरल, द्राविड़

भूटान, काश्मीर आदि सभी प्रान्तों की स्त्रियों की वाह्य विशेषताओं का, क्रम से कम उनकी आकृति तथा वेश-भूषा आदि का, सटीक चित्रण है ? जिससे यह अनुमान होता है कि यह यात्रा देश-व्यापी थी। इसका उद्देश्य आश्रय की खोज, तीर्थाटन अथवा परिभ्रमण इन तीनों में से कोई हो सकता है।—या वास्तव में तीनों ही मिले-जुले हो सकते हैं। क्योंकि यदि केवल आश्रय की खोज ही लक्ष्य होता तो अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों में जाने से क्या लाभ था; और यदि-तीर्थाटन होता तो भूटान में कौन-सा ऐसा तीर्थ था ? इस यात्रा का प्रभाव कवि के व्यक्तित्व और काव्य दोनों ही के लिए शुभ हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसके ज्ञान और अनुभव दोनो मे समृद्धि हुई, जीवन के प्रति दृष्टिकोण में विस्तार आया। काव्य पर भी उसका इन सभी बातों द्वारा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। परन्तु प्रत्यक्ष रूप मे इस यात्रा के फलस्वरूप जो काव्य सृष्टि हुई वह अधिक उत्कृष्ट नहीं है—अन्वीक्षण की दृष्टि से भी चित्रण विशेष सफल नहीं कहे जा सकते क्योंकि कवि की दृष्टि प्रायः साधारण वाह्य विशेषताओं से आगे नहीं जा सकी।

गुरु तथा सम्प्रदाय :—पं० बालदत्तजी मिश्र ने लिखा है कि देव राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे और स्वयं गोस्वामी हितहरिवंश जी ने ही उन्हें अपने सम्प्रदाय मे दीक्षित किया था। वे उनके द्वादश मुख्य शिष्यों के अन्तर्गत थे। इस मान्यता का आधार वास्तव मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित सुन्दरी-सिन्दूर के मुख-पृष्ठ पर उद्धृत निम्नलिखित शब्द ही हैं :—

"श्री राधाचरण-सरोज-राजहंस गोस्वामी हितहरिवंश हित जी के द्वादश मुख्य शिष्यों के अन्तर्गत श्री स्वामिनी जी के अनन्य उपासक कवि-शिरोमणि मान्यवर श्री देव कवि रचित······।" देव के और गोस्वामी हितहरिवंश के समय में लगभग एक शताब्दी का अन्तर है। हितहरवंश जी का जीवन अधिक-से अधिक संवत् १६४०—५० तक माना जाता है। ऐसी दशा में भारतेन्दु बाबू या सुन्दरी-सिंदूर के प्रकाशक बा० अमीरसिंह को [क्योंकि ये शब्द या तो सम्पादक के हैं या प्रकाशक के] ऐसी धारणा कैसे हुई यह समझ में नहीं आता। वैसे तो देव का समस्त काव्य राधाकृष्ण की माधुर्य-लीलाओं से भरा हुआ है स्वयं राधा-विषयक उनके अनेक छन्द हैं—परन्तु उन्होने राधावल्लभीय सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी ऐसा संकेत उनके ग्रन्थों मे या अन्यत्र नहीं मिलता। मिश्र बन्धुओं ने उपर्युक्त शब्दों को भारतेन्दु बाबू के माना है, और उनको गुरुत्व देते हुए यह कल्पना कर ली है कि देव हित जी के अपने ही सम्प्रदाय वाले १२ मुख्य शिष्यों के अन्तर्गत थे। परन्तु यह कल्पना दुरारूढ सी-ही लगती है, और हमारी धारणा है कि ये शब्द भारतेन्दु जी के न होकर अमीरसिंह के ही हैं; क्योंकि जैसा उन्होंने 'विज्ञापन' मे कहा है, सुन्दरी-सिंदूर का प्रकाशन भारतेन्दु जी

की मृत्यु के बाद हुआ था। परन्तु, शब्द-रसायन के मंगलाचरण में कवि ने गुरु की वन्दना में दो दोहे लिखे हैं जिनसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि उसके कोई गुरु थे अवश्य, जिनमें उसे गम्भीर श्रद्धा थी :

देव चरित गुरु देव की महिमा कहि जग भौन,
अघ-अजगर लीलै न तरु, जियत निकासै कौन ?
श्री गुरुदेव कृपालु की, कृपा-सुबुद्धि समीप,
तिमिरु मिटै प्रगटै हृदय-मंदिर अनुभव-दीप। (शब्द-रसायन)

'अघ-अजगर लीलै न तरु' आदि शब्दों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वन्दना धर्म अथवा दीक्षा-गुरु की है, विद्या-गुरु की नहीं। शब्द-रसायन कवि की वृद्धावस्था की कृति है—इसके उपरांत उसने वैराग्य-परक कविता ही की है। अब, ये गुरु कौन थे— कहाँ रहते थे इसके विषय में कुछ कहना कठिन है। सम्भव है राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय के कोई साधु हों, परन्तु इसका कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं मिलता। देव की राग-विराग की कविता पर भी राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय की कोई विशेष छाप नहीं है। देव के वंशज भी निश्चित ही इस सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं हैं, और न वृन्दावन आदि में पूछ-ताछ करने से ही उक्त मत की पुष्टि होती है। अतएव यह मानने में कोई विशेष कठिनाई नहीं होती कि किसी जनश्रुति पर आधृत होने के कारण ये शब्द ही भ्रान्त हैं।

किम्वदंतियाँ :—इटावा और कुसमरा में देव के विषय में कुछ किम्वदंतियाँ प्रचलित हैं। किम्वदंतियों में सत्य का कितना अंश होता है इस प्रश्न का एक सामान्य उत्तर देना कठिन है। प्रत्येक किम्वदंती की परीक्षा करने पर ही उसके सत्यांश का निर्णय किया जा सकता है। फिर भी यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जो किंवदंतियाँ सामूहिक मान्यताओं को वहन करती हुई सहज रूप में चली आती हैं, उनमें सत्य का आधार-अणु अवश्य रहता है, जो विवेकपूर्वक परीक्षा करने पर सरलता से ढूँढ निकाला जा सकता है। हमारे देश में धार्मिक विश्वास की प्रधानता होने के कारण किंवदंतियों में अतिप्राकृतिक तत्व का मिश्रण अनिवार्य्यतः हो जाता है। देव-विषयक किंवदंतियों में भी प्रायः यही हुआ है। इनमें दो किंवदंतियों का सम्बन्ध भरतपुर-नरेश से है। एक तो पहले ही पं० कृष्णविहारी मिश्र द्वारा देव-बिहारी में उद्धृत की जा चुकी है। एक बार देव जी भरतपुर नरेश के यहाँ गये। उस समय डीग के किले का निर्माण हो रहा था। महाराज ने कहा, "कवि जी कुछ सुनाइए।" इन्होंने कहा, "महाराज, इस समय सरस्वती कुछ कहने की आज्ञा नहीं देती।" महाराज ने आग्रह किया तो कवि ने कुछ छन्द पढ़े जिनमें एक का आशय यह भी था कि इस क़िले में खोपड़ियाँ लुढ़कती फिरेंगी। कहते हैं यह उक्ति बाद में बिलकुल सत्य

सिद्ध हुई। दूसरा अनुभव इससे कहीं अधिक कटु था। एक बार फिर भरतपुर नरेश ने कवि को आमन्त्रित किया और कविता सुनाने की प्रार्थना की। उन्होंने छन्द पढ़ कर सुनाए और मौन हो गए। राजा ने कुछ और कहने के लिए अनुरोध किया, तो उन्होंने कहा,—"बस अब सरस्वती की इच्छा नहीं है।" राजा ने कहा, "कवि जी, आप अपनी ही हानि कर रहे हैं—हमने निश्चय किया था कि आपको प्रत्येक छन्द पर एक एक लाख मुद्राएं दान करते।" इस पर स्वाभिमानी कवि ने हँस कर कुछ वैराग्य के छन्द सुनाए जो आज प्राप्त नहीं हैं। सम्भव है देव शतक के ही कुछ छन्द हों। इस स्पष्टवादिता से दोनों में कुछ तीखी बातचीत हो गई जिस पर कवि ने राजा को लक्ष्य करते हुए निम्नलिखित दोहा पढ़ा:

पीताम्बर फाट्यो भलो, साजो भलो न टाट।
राजा भयो तो का भयो, रह्यो जाट कौ जाट॥

इस पर राजा ने इन्हे क़ैद करने की आज्ञा दी, परन्तु यह किसी तरह रात मे ही भरतपुर की सीमा से बाहर दूसरे अन्य राज्य मे भाग गये। बाद में वहाँ के राजा ने बीच में पड़कर दोनों में समझौता करा दिया। एक-दो किंवदंतियों का सम्बन्ध अलवर-नरेश से भी है। कवि वृद्ध हो चुका था, अतएव अब वह अधिकतर कुसमरा मे ही रहने लगा था। परिवार की ओर से वह काफ़ी सुखी था। उसके पौत्र-प्रपौत्र सभी योग्य थे। प्रपौत्र भोगीलाल स्वयं एक सत्कवि थे। अलवर-नरेश की उन पर विशेष कृपा थी। एक बार वह कुसमरा पधारे। वहाँ वयोवृद्ध कवि देव को हीन अवस्था में देखकर उन्हें बड़ा क्लेश हुआ और दया दिखाते हुये बोले—"कविवर आपका मकान बड़ा जर्जर हो रहा है। आज्ञा हो, तो हम आपके लिये एक अच्छा-सा मकान बनवा दें।" इस पर देव ने उन्हे एक छन्द पढ कर सुनाया:—

काहू न संग गई गनिका जिमि को, को न कोपि गयो कुपरी कौं।
देव तू काको भयो बिगरै सठ, झूठौ फिरै फिगरैं झुपरी कौं॥
राखि मैं राखि सकैगो जु रावत जात न चंदन की चुपरी कौं।
खान मसान मैं खैचिहैं खोखरि, जंबुक खोहनि मैं खुपरी कौं॥

इसी प्रकार एक दिन राजा मछली का शिकार खेलने गये। देव भी साथ थे। एक तालाब में बंशी डाली गई तो किसी कारण वह फँस गई। राजा ने उनसे पूछा—"महाराज यह बंशी किसने पकड़ ली है? इसके भीतर कौन है?" देव ने झुँझलाकर कह दिया इसमें तीतर है। राजा को यह हरकत बडी बेजा लगी और उन्होंने कहा—"अच्छा हम पता लगवाते हैं। यदि तीतर न हुये, तो आपको दण्ड मिलेगा।" तालाब में घुसकर देखा गया, तो वास्तव में तीतर मिला। रात

को देवता ने स्वप्न दिया और कहा—आपके अविवेक के कारण हमें तीतर बनकर अपनी जीभ खिंचानी पड़ी, अब आप सोच समझ कर बात कहा कीजिए। प्रातः-काल स्वप्न की बात याद कर देव ने गद्‌गद् कंठ से निम्नलिखित छन्द देवता की स्तुति में पढ़ा—

> चाहै सुमेर को छारि करै, अरु छार को चाहै सुमेर बनावै।
> चाहै तो रंक को राव करै, चाहै राव को द्वार ही द्वार फिरावै॥
> रीति यही करुणाकर की कवि 'देव' कहै विनती मोहि भावै।
> चीटी के पाँय मे बाँधि कै हाथी, वह चाहै समुद्र के पार लगावै॥ ❀

कवि की वाक्‌सिद्धि के विषय मे कुसमरा में कुछ और भी किंवदंतियां प्रचलित हैं। एक तो बाल्यावस्था की है। देव जब विद्याध्ययन करने काशी गए, तो वे काफ़ी मन्दबुद्धि थे। एक दिन एक देवता को परितृप्त करने पर उन्हे वरदान मिला कि तुम्हारी जिह्वा पर सरस्वती नाचेगी। दूसरे दिन जब वे पाठशाला गए, तो सचमुच उन्हे सभी ग्रंथ कंठाग्र थे। यह देखकर उनके गुरु जी ने कहा कि आप तो वाक्‌सिद्ध पण्डित हैं—अब आपको पढ़ाने की सामर्थ्य किसमें है?—दूसरी, एक पड़ौसी ब्राह्मण परिवार के विषय मे आज भी कुसमरा में प्रचलित है। इनका नया घर बन रहा था। पाण्डेय जी ने देव को सामने देखकर पूछा—दुबे जी, आज सायत कैसी है? देव ने उत्तर दिया—"पाण्डे ठीक है, इस घर की संतति चार गांवों मे फैलेगी।" इस उक्ति के दो अर्थ हो सकते थे—एक तो यह कि यह परिवार खूब फूलेगा यहां तक कि इस गांव से बाहर तक इसका विस्तार हो जायेगा। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता था—यह घर बारह-बाट हो जायगा; परिवार बिखर कर चार गांवों में बस जायेगा। इस दूसरे अर्थ मे यह उक्ति ठीक बैठी और सचमुच यह परिवार आज चार गांवो में बिखर गया है।

उपर्युक्त प्रायः सभी किम्वदंतियां हमने कुसमरा में पण्डित मातादीन के मुंह से सुनी हैं—और मातादीन जी ने उन्हें अपने पितामह पं० बुद्धिसेन दुबे से सुना था। जैसा कि हमने अन्यत्र कहा है—बुद्धिसेन जी और देव के समय में ५० वर्ष से कम का ही अन्तर था। अतएव यदि मातादीन जी की स्मृति ने उन्हे अधिक धोखा नहीं दिया, तो ये किम्वदंतियां देव के कुछ ही समय पश्चात् से चली आ रही हैं। इनका परीक्षण कर तीन परिणाम सरलता से निकाले जा सकते है— (१) देव वाक्‌सिद्ध कवि थे। 'वाक्‌सिद्धि' को शब्दार्थ में ही ग्रहण कर लोगों ने उनके विषय में यह धारणा बनाली थी कि उनके मुख से जो कुछ निकलता था—सत्य होता था।

❀ [यह छन्द देव के नाम से केवल मौखिक रूप मे प्रचलित है।]

(२) उनका स्वाभिमान सदैव जागृत रहता था। उनकी जीवन-दृष्टि गम्भीर थी—राग के साथ विराग की भावना भी उनमें अत्यन्त पुष्ट थी।

(३) अन्तिम दिनों में भी उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी।

मृत्यु—देव के अन्तिम आश्रयदाता पिहानी के अकबर अलीख़ां थे। उनका समय संवत् १८२४ से आरम्भ होता है। अतएव देव का कम से कम सं० १८२४ तक जीवित रहना सिद्ध होता है। सुखसागरतरङ्ग उनका अन्तिम संग्रह-ग्रंथ है। इसके बाद उनका कोई भी अन्य ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। अतएव यही परिणाम निकाला जा सकता है कि संवत् १८२४-२५ के आस-पास ही कवि की मृत्यु हो गई थी। इस समय तक उसकी अवस्था ९४-९५ वर्ष की हो चुकी थी। देव जैसे व्यक्ति के लिए जिसने जीवन में रस का जी भरकर उपभोग किया हो—जिसका जीवन-संघर्ष इतना कठोर रहा हो, ९४-९५ वर्ष की अवस्था काफ़ी थी। उनकी मृत्यु किस रोग में और कहां हुई, यह निश्चितरूप से ज्ञात नहीं है। परन्तु उपर्युक्त परिस्थितियों और कतिपय किम्वदंतियों के आधार पर यही धारणा होती है कि कुसमरा में ही उनका शरीर छूटा। पण्डित गोकुलचन्द दीक्षित ने लिखा है कि देव की मृत्यु १२६ वर्ष की अवस्था में इटावा के पास जमुना के किनारे दलीपनगर ग्राम में हुई थी। जैसा कि हमने अन्यत्र सिद्ध किया है—दीक्षित जी ने दो देव कवियों को एक समझकर इस प्रकार की अनेक भ्रांतियों को जन्म दिया है। ये दूसरे देवदत्त कवि जिनकी मृत्यु संवत् १८४६ वि० में राव छत्रसाल के आश्रय में दलीपनगर में हुई थी—प्रस्तुत महाकवि देव से भिन्न थे।

देव का व्यक्तित्व

साधारणतः रीतिकाल की कविता अव्यक्तिगत है। फिर भी कविता, चाहे वह कितनी ही अव्यक्तिगत क्यों न हो, अपने मूलरूप में कवि के आत्म से ही उद्भूत होती है। कोई भी कवि अपनी कविता को व्यक्तिगत राग-द्वेषों से अलग नहीं रख सकता। आधुनिक कवि प्रत्यक्षरूप में ऐसा करता है, रीतिकाल का कवि अप्रत्यक्षरूप में करता था, बस यही अन्तर है। अतएव प्राप्त जीवन-तथ्यों के अतिरिक्त केवल काव्य के आधार पर भी देव के व्यक्तित्व की एक स्थूल रूप-रेखा अंकित की जा सकती है।

आकृति और वेशभूषा—आज देव का कोई चित्र प्राप्त नहीं है। नवरत्न का चित्र सर्वथा कल्पित है। अतएव उनकी आकृति वेश-विन्यास आदि के विषय में किसी प्रकार की निश्चित धारणा बनाना असम्भव है। केवल जनश्रुति के आधार पर यह कहा जाता है कि वे अत्यन्त स्वरूपवान् थे और वैभवपूर्ण वेश-

भूषा उनको प्रिय थी। वे एक लम्बा चोगा धारण करते थे, जिसे राजाओं के यहाँ आते जाते समय कुछ अनुचर उठाकर ले चलते थे। इसमें सत्य का कितना अंश है, यह कहना संगत नहीं है। ऐसी दशा में इस विषय में मौन ही रहना पडता है।

प्रकृति और स्वभाव—अपने समसामयिक अन्य कवियों की भाँति देव की भी प्रकृति स्पष्टतः शृंगारिक थी। परन्तु यह शृंगारिकता छिछली रसिकता नहीं थी, जो विलास मात्र से सम्बन्ध रखती है। इसमें एक विशेष गम्भीरता थी। रीतिकाल के प्रायः अन्य कवि केवल नारी के सौंदर्य के रसिक थे। परन्तु देव का मन उसके सौंदर्य से आगे उसके व्यक्तित्व तक जाता था। रसिकता की तरलता के साथ उसमें प्रेम की गम्भीर निष्ठा भी वर्तमान थी। प्रकृति की यही गम्भीरता देव के व्यक्तित्व का अनिवार्य अंग थी। जीवन के प्रति बिहारी के दृष्टि-कोण में जहाँ व्यंग्यमय सुख-सरलता है, वहाँ देव की दृष्टि में एक करुण गम्भीरता है। अवज्ञा से आहत होकर बिहारी मुस्कराकर व्यंग्य कर सकते थे, परन्तु देव के लिये यह सम्भव नहीं था। उनके आहत मन के लिये केवल एक ही शरण भूमि थी, "राधावर विरद को वारिधि" दूसरे शब्दों में 'प्रेम'। देव की कविता में इसीलिये हास्य का अभाव है। इस व्यक्ति के जीवन में ही उसका अभाव रहा होगा। राग के साथ ही वैराग्य के भी जो गहरे संस्कार उसके स्वभाव में मिलते हैं वे वास्तव में एक ही प्रवृत्ति के दो पक्ष हैं, जो परिस्थिति के अनुसार कवि के जीवन और काव्य में व्यक्त होते रहे थे। अपने रागात्मक जीवन में मन से "घनेरे-दुःख" पाकर देव के पास केवल एक ही उपचार रह जाता था, उसको मूंद कर मार देना। जीवन की विषमताओं से समझौता कर लेना उनकी शक्ति के बाहर था। क्योंकि उनका दृष्टिकोण गहन रागात्मक अथवा भावगत था, बौद्धिक अथवा वस्तुगत नहीं था। इसीलिये तो इस कवि को जीवन में सुख नहीं मिला, परन्तु इसीलिये ही इसकी राग-विराग की अभि-व्यक्तियों में गहराई है। स्वभाव का वह फक्कड़पन जो जगत एवं जगत्पति दोनों से मजाक कर सके, देव के लिये सम्भव नहीं था।

यौन सम्बन्धों में कठोर संयम का निर्वाह करना, रसिकता और विलास के वातावरण में रहने वाले रीति कवियों के लिये साधारणतः कठिन ही समझना चाहिये। देव में रसिकता पूरी मात्रा मे थी, विभिन्न देश-जाति की स्त्रियों का उन्होंने वर्णन किया है, सुरत के स्पष्ट चित्र अंकित किये हैं। परन्तु इससे तुरन्त ही यह निष्कर्ष निकाल लेना कि इनका चरित्र भ्रष्ट था, अन्याय होगा। जीवन के रस का, मन और शरीर के आनन्द का इन्होंने अच्छी तरह उपभोग किया होगा, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इस क्षेत्र में भी इनका दृष्टिकोण अनैतिक

नहीं हो पाया। जिस आग्रह के साथ इन्होंने स्वकीया के प्रेम पर बल देते हुए परकीया और सामान्या का तिरस्कार किया है, जिस आग्रह के साथ इन्होंने विषय और प्रेम का अन्तर स्पष्ट करते हुए विषयासक्ति को कुत्सित घोषित किया है, वह केवल परम्परा का पालन नहीं है। उससे आप इनकी ईमानदारी में सन्देह नहीं कर सकते। कवि का आदर्श देव के लिये वास्तव में ऊँचा था—

ॐ जाके न काम न क्रोध निरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ को छाँहौ।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर, मोल जवाहर ता अति चाहौ॥
बानी पुनीत ज्यों 'देव' धुनी, रस-आरद सारद के गुन गाहौ।
सील ससी सविता छविता कविताहि रचै कवि ताहि सराहौ॥

दृष्टिकोण की गम्भीरता और स्वभाव की अतिशय भावुकता के कारण ही देव में व्यवहार-कुशलता नहीं आ सकी। उस युग की परिस्थिति के अनुकूल जिस हलके मन और हलकी जबान की आवश्यकता थी, वह उसको प्राप्त नहीं थी। स्वभाव से ही यह कवि केशव और बिहारी की तरह दरबारी नहीं बन सकता था और इसी कारण इतना प्रतिभाशाली एवं रस-सिद्ध होते हुये भी वह उचित आश्रय प्राप्त करने में असमर्थ रहा। वैसे तो प्रायः सभी सत्कविता वस्तुतः स्वान्तः सुखाय लिखी जाती हैं, परन्तु देव की कृतियों के अध्ययन से आपको ज्ञात होगा कि उनकी अधिकांश कविता मूल रूप में आत्म-परितोष के निमित्त ही लिखी गई थी। जीविका का एकमात्र साधन राजा और रईसों का आश्रय होने के कारण देव को भी अनेक आश्रयदाताओं के 'विनोदार्थ' ग्रंथ लिखने पड़े थे इसमें संदेह नहीं, परन्तु इस प्रकार के ग्रंथ प्रायः स्वतंत्र नहीं हैं ? पूर्व-लिखित ग्रंथों के छन्दों को ही जोड़ जोड़ कर तैयार किये हुए हैं। या फिर ऐसा हुआ है कि स्वतन्त्र रूप में रचे हुये ग्रंथों को ही नाम बदल कर या उसी रूप में पीछे से आश्रयदाताओं को अर्पित कर दिया गया है। विभिन्न ग्रंथों में छन्दों की उलट-फेर का कारण कवि की परिस्थिति और प्रकृति की यही द्विविधा थी। उनकी प्रकृति कहती थी कि—

आपनी बड़ाई जाहि भावै सो हमे न भावै,
राम की बड़ाई सुनि देयगो सु देयगो। [देव-शतक]

परन्तु परिस्थिति उन्हें इसी के लिए विवश करती थी। इसी मानसिक संघर्ष के कारण उनमें आत्माभिमान की भावना आवश्यकता से अधिक तीव्र हो गई थी। वास्तव में आत्माभिमान ही यह अतिशय संवेदना बहुत कुछ लौकिक असफलताओं के कारण उत्पन्न हीन भाव की प्रतिक्रिया थी। वैसे वे अहंकारी व्यक्ति नहीं थे। अपने काव्य की प्रशंसा में एक पंक्ति भी उन्होंने नहीं लिखी। प्रेम के

ॐ (देवसुधा—मिश्रबन्धु-सम्पादित)

रंग में डूबा हुआ व्यक्ति अहंकारी हो ही कैसे सकता है ? उनका स्वभाव सहज द्रवणशील था—परहित की भावना उसमें निश्चित रूप से वर्तमान थी—

पैये असीस लचैये जो सीस, लची रहिये तब ऊँची कहैये [देव-शतक]

जीवन को फल जग-जीवन को हितु करि,
जग में भलाई कर लेयगो सु लेयगो। [देव-शतक]

धार्मिक संकीर्णता इस व्यक्ति को छू तक नहीं गई थी। देव को भक्त कहना तो अतिशयोक्ति होगी, परन्तु कृष्ण और राधा के प्रति उन्हें सच्चा अनुराग था इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। भक्ति-परक उनकी अनेक उक्तियां वास्तव में उनकी आत्मा की पुकार हैं।

प्रतिभा और विद्वत्ता :—हृदय की इन विभूतियों के साथ, देव का व्यक्तित्व मस्तिष्क की भी असाधारण विभूतियों से मंडित था। सोलहवें वर्ष में भाव-विलास सदृश ग्रंथ की रचना कर लेना लोकोत्तर-प्रतिभा के कारण ही संभव हो सकता था। इसीलिए तो उनके जीवनकाल में ही लोग कहने लगे थे कि इन्हें सरस्वती सिद्ध है। परन्तु वे प्रतिभा पर ही निर्भर नहीं रहे। अध्ययन भी उनका व्यापक और गंभीर था। संस्कृत और प्राकृत के साहित्य तथा साहित्य-शास्त्र में उनकी गहरी पैठ थी। तुलसी, सूर, केशव, बिहारी आदि का उन्होंने गम्भीर मनन किया था। वैष्णव साहित्य के साथ वेदांत तथा अन्य दर्शन और उधर तंत्राचार आदि का भी उनको विशद ज्ञान था, ज्योतिष और शायद आयुर्वेद से भी वे परिचित थे। यह विस्तृत पांडित्य जीवन के व्यापक अनुभव से परिपुष्ट था। इस प्रकार देव का व्यक्तित्व, भावुकता, प्रतिभा, अध्ययन और अनुभव से समृद्ध तो था, परन्तु उसमें बौद्धिक शक्ति और कर्म के समुचित काठिन्य का अभाव था। इसलिये वह न तो जीवन में और न साहित्य में ही उदात्त एवं महान् बन पाया—कोमल तथा भावमय ही रहा। परन्तु इसके लिए शायद आप परिस्थिति को भी दोष देना पसन्द करेंगे।

—:o:—

देव के ग्रन्थ

[उनकी प्रामाणिकता, रचना-क्रम तथा वर्ण्य विषय अथवा प्रतिपाद्य]

देव के ग्रन्थ :--देव के लिखे ५२ या ७२ ग्रन्थ कहे जाते हैं—इसका मूलाधार क्या है, यह निश्चय तो नहीं मालूम, परन्तु अनुमानतः पंडितों में प्रचलित जनश्रुति ही हो सकती है। देव के विषय मे उनके अपने उद्धरणों के अतिरिक्त पहला लिखित प्रमाण उनके प्रपौत्र भोगीलाल कृत कतिपय दोहे ही हैं, जो संवत् १८५७ के लगभग रचे गये बखतविलास में दिये हुये हैं। देव ने स्वयं तो कुछ कहा ही नहीं है, भोगीलाल भी इस विषय में मौन हैं। उन्होंने आज़मशाह का उल्लेख तो गर्व के साथ किया है, परन्तु ग्रंथों के विषय में कुछ नहीं कहा—

जिनको श्री नवरंग सुत आजमसाहि सुजान,
जाहर करो जहान मैं मान सहित सन्मान।

इस प्रकार ग्रंथ-संख्या का पहला उल्लेख शिवसिंह-सरोज मे ही मिलता है:—"इनके बनाये ग्रन्थों की संख्या आज तक ठीक ७२ हमको मालूम हुई है।" कहां से मालूम हुई है, यह कुछ नहीं लिखा गया। परन्तु इतना निश्चित है कि शिवसिंह जी ने स्वयं उनको नहीं देखा था। कहीं पढा था—ऐसी भी ध्वनि उनके शब्दों से नहीं निकलती। ऐसी दशा में उनकी धारणा का आधार पंडितों में प्रसिद्ध जनश्रुति ही मानी जा सकती है। शिवसिंह के उपरांत इसी संख्या को पं० बालदत्त जी मिश्र ने दुहराया है और उसको बहुत कुछ विश्वसनीय माना है: "एतद्देश ही में पचीस-तीस ग्रन्थ इन महाशय के रचे हुए प्रस्तुत हैं, और दृष्टिगोचर हुये हैं। देशांतरों में भी इनके और और ग्रन्थ सुने जाते हैं।" आगे चल कर हिन्दी नवरत्न में ७२ के साथ ५२ का विकल्प भी दे दिया गया है:— "कोई कहता है, इन्होंने ७२ ग्रन्थ बनाये और कोई इन्हे ५२ ग्रंथों का रचयिता बतलाता है। हम इतना अवश्य कहेंगे कि यदि इन्होंने ५२ ग्रंथ बनाये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं है, क्योंकि यह महाशय छन्द इधर-उधर उलट-पुलट कर रच कर नया ग्रन्थ तैयार कर देते थे।" पर देव को ५२ ग्रंथों का रचयिता कौन कहता है, इस विषय में मिश्रबन्धु मौन हैं। स्पष्टतः यहाँ भी पंडितों

में चली आई हुई जनश्रुति ही प्रमाण रही होगी। हाँ, ऊपर दिये हुये उद्धरण से यह निश्चित है कि स्वयं मिश्रबन्धुओं का मत ५२ संख्या के ही पक्ष में है। श्रीकृष्णबिहारी, पं० रामचन्द्र शुक्ल और उनके उपरांत अन्य सभी लेखक भी इन्हीं वैकल्पिक संख्या-द्वय को उद्धृत करते हैं। अस्तु।

वास्तविक संख्या कुछ भी हो, आज-कल मिलाकर देव के केवल १८ ग्रंथ प्राप्त हैं :—

मुद्रित

१ भावविलास (तरुण भारत ग्रंथावली, दारागंज, प्रयाग इत्यादि)
२ अष्टयाम (भारत जीवन प्रेस)
३ भवानी-विलास ,, ,,
४ रसविलास (भारत जीवन प्रेस)
५ प्रेम-चन्द्रिका (देव-ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा)
६ रागरत्नाकर ,, ,, ,,
७ सुजान-विनोद ,, ,, ,,
८ जगद्दर्शनपचीसी } वैराग्य-शतक (बालचंद यंत्रालय, जयपुर)
९ आत्मदर्शनपचीसी
१० तत्वदर्शन पचीसी ,, ,, ,,
११ प्रेम पचीसी ,, ,, ,,

कृष्णबिहारी जी की हस्तलिखित प्रति में इस संग्रह का नाम देवशतक है।

१२ शब्द-रसायन (साहित्य सम्मेलन)
१३ सुख-सागर-तरंग—पं० बालदत्त मिश्र सम्पादित

मुद्रित ग्रन्थों में सुन्दरी-सिंदूर भी है, पर वह स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है।

हस्त-लिखित

१४ प्रेम-तरंग श्री ब्रजराज पुस्तकालय गंधौली (तथा अन्यत्र प्राप्य)
१५ कुशल-विलास ,, ,, हिंदी एकेडेमी (तथा अन्यत्र प्राप्य)
१६ जाति-विलास ,, ,, (तथा अन्यत्र प्राप्य)
१७ देव-चरित्र ,, ,,
१८ देवमायाप्रपंच (नाटक) ,, तथा पं० मातादीन के पास

प्राप्त ग्रन्थों में दो ग्रन्थ और भी हैं, जो देवकृत कहे जाते हैं:

१ शृङ्गार-विलासिनी (जो सम्वत् १९९१ में दूसरी बार श्री गोकुलचन्द्र दीक्षित के सम्पादन में भरतपुर के प्रकाशित हुई है।)

२ शिवाष्टक (जो माधुरी में छप चुका है।)

परन्तु इनके विषय में अभी विद्वानों मे मतभेद है। फिर उपर्युक्त २० ग्रन्थो के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ भी कम से कम नाम-शेष रूप मे बहुत दिनों से पंडितों मे प्रसिद्ध चले आते है :—

१ रसानन्द-लहरी (शिवसिंह सरोज, 'भारत के धुरन्धर कवि' में उल्लिखित)
२ प्रेमदीपिका (शिवसिंह सरोज)
३ सुमिल-विनोद (शिवसिंहसरोज, भारत के धुरन्धर कवि)
४ राधिका-विलास ,, ,, ,,
५ पावस-विलास (ब्रजराज जी के साक्ष्यानुसार)
६ वृत्त-विलास ,, ,, ,,
७ नख-शिख-प्रेम-प्रदर्शन (?) (नागरी प्रचारिणी सभा की खोज)
८ नीतिशतक (पं० बालचन्द जी के साक्ष्यानुसार)
९ वैद्यक ग्रंथ (भिनगा पुस्तकालय)

इस प्रकार प्राप्त और उल्लिखित ग्रन्थो की संख्या २९-३० हो जाती है। इनमें यदि दीक्षित जी द्वारा माने हुये अतिरिक्त ग्रन्थों को और जोड दिया जाय, तो देव कृत ४८ ग्रन्थो के नाम प्रस्तुत किये जा सकते हैं। परन्तु ये सभी मान्य नहीं हैं। ऊपर की सूची के कतिपय ग्रन्थ और दीक्षित जी द्वारा उल्लिखित अतिरिक्त ग्रन्थ स्पष्टतः ही देवकृत नहीं है। अब हम इनकी सविस्तर परीक्षा करेंगे।

भाव-विलास—

देव का पहला ग्रन्थ :—देव का पहला ग्रन्थ कौन-सा है, इस विषय में अधिक विवाद नही है। देव ने स्वयं भावविलास के अन्त मे लिखा है—

शुभ सत्रह सै छयालिस, चढत सोलही वर्ष।
कढी देव मुख देवता, भाव-विलास सहर्ष॥
दिल्ली-पति अवरङ्ग के, आजम साहि सपूत।
सुन्यो सराह्यो ग्रन्थ यह, अष्टजाम संजूत॥

उपर्युक्त दोहे में यदि 'कढी देव मुख देवता' को साधारण अलंकारिक प्रयोग मानते हुये उसका केवल यही सीधा अर्थ किया जाय कि शुभ संवत्१७४६ में १६वे वर्ष में पदार्पण करते हुये देव ने भाव-विलास की रचना की, तो ऐसा अनुमान होता है कि अष्टयाम शायद उससे पहले बन चुका होगा। इस अनुमान के कुछ स्पष्ट कारण भी हैं। १—प्रायः ऐसा होता है कि कवि अपनी कृति को रचना के बाद फ़ौरन किसी सहृदय या गुणज्ञ के पास ले जाता है, अधिक विलम्ब नहीं करता। यदि ऐसा मान लिया जाए, तो यही कल्पना की

जा सकती है कि अष्टयाम पहले ही बन चुका था। देव भावविलास की रचना कर आज़मशाह के पास उपस्थित हुये। साथ ही अष्टयाम भी लेते गये, जो उनके पास पहले का रचा हुआ रखा था। इस पक्ष का समर्थन करने के लिये एक बात यह भी कही जा सकती है कि भावविलास जैसे बँधे हुये रीति-ग्रन्थ से पहले अष्टयाम के अपेक्षाकृत फुटकर छन्दों की रचना कवि के लिये अधिक सहज हुई होगी। इसके अतिरिक्त यह भी असंदिग्ध ही है कि अष्टयाम के छन्द भावविलास के छन्दों से हलके पड़ते हैं। अतएव इस दृष्टि से तो यह अनुमान होता है कि अष्टयाम देव की प्रथम कृति है। भावविलास की रचना उसके कुछ (कुछ महीने) बाद हुई थी।

परन्तु उसके विपरीत यदि 'कढी देव मुख देवता' के शब्दार्थ को पूरी सांकेतिकता के साथ ग्रहण करते हुए, दोहे का अर्थ यह किया जाये कि संवत् १७४६ में सोलहवें वर्ष के लगते हो देवी सरस्वती अत्यन्त हर्ष-पूर्वक (भाव-विलास के रूप में) देव के मुख से प्रकट हुईं तो इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि भाव-विलास ही कवि का पहला ग्रन्थ है। सारस्वती के सहर्ष प्रकट होने का तात्पर्य वाणी का प्रथम स्फुरण ही है। अष्टयाम भी तभी, उसी के आस-पास, रचा गया था। परन्तु उसका रचना-काल भाव-विलास के पश्चात् ही मानना पड़ेगा। अष्टयाम के पक्ष में जो तर्क दिये गये हैं, उनमें काफ़ी शक्ति है, परन्तु वे अकाट्य नहीं हैं, उनके विरुद्ध उनसे पुष्टतर युक्तियाँ दी जा सकती हैं। वास्तव में अष्टयाम इतना छोटा ग्रन्थ है कि उसकी रचना के लिये देव जैसे वाक्सिद्ध कवि को दस पन्द्रह दिन से अधिक नहीं लगे होंगे। अतएव यह बड़ी सरलता से कल्पना की जा सकती है कि भावविलास में शृंगार-रस के अंग-उपांगों का पूरा वर्णन करने के उपरांत, तभी, उसी के विस्तार रूप उन्होंने अष्टयाम की भी रचना कर डाली हो, और कुछ दिन बाद वे इन दोनों ग्रन्थों को लेकर ही तत्कालीन प्रसिद्ध गुणज्ञ आजमशाह के दरबार में उपस्थित हुए हों। दूसरे काव्य-युग के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि किसी कवि के लिये आरम्भ में ही बंधा हुआ रीति-ग्रन्थ लिखना सहज नहीं है, परन्तु रीति-काल की तो यह परम्परा ही थी। प्रत्येक कवि प्रायः पहले अपनी शक्ति रीति-ग्रन्थ पर ही परखता था। प्रमाण-स्वरूप रीति-काल के अनेक कवियों के नाम उपस्थित किये जा सकते हैं जिन्होंने केवल रीति-ग्रन्थ ही लिखे हैं, या जिनकी प्रथम कृति निश्चित ही शुद्ध रीति-ग्रन्थ हैं। देव ने अपने विद्याध्ययन-काल में संस्कृत के रीति-ग्रन्थों का पारायण किया ही होगा। तभी उसी अध्ययन-काल में ही उन्होंने भानुदत्त की रस-तरंगिणी को, जो संस्कृत के ह्रास युग में अत्यन्त लोक-प्रिय हो गई थी, आधार मान कर भाव-विलास की रचना कर डाली—यह अनुमान, मैं समझता हूँ, अत्यन्त सहज और निर्दोष है। भाव-विलास

का क्रम-विधान बहुत कुछ रस-तरंगिणी के आधार पर बनाया गया है। देव ने यद्यपि साहित्य के एक प्रतिभावान् विद्यार्थी की भाँति बड़े स्वच्छ रूप में अपने आधार का उपयोग किया है, तथापि उसमें किसी प्रकार की मौलिक रीति-उद्भावना कम से कम नहीं है। विवेचन का क्रम तथा भेद-प्रभेद सभी उसी के अनुकूल हैं। अब तीसरा तर्क यह रह जाता है कि भाव-विलास के छन्द अष्टयाम के छन्दों की अपेक्षा सुन्दर हैं—इसका उत्तर यह है कि वास्तव में जो भाव-विलास आज उपलब्ध है वह अनुमानतः जैसा कि मिश्र-बन्धुओं ने माना है, मूल भाव-विलास न होकर उसका संशोधित संस्करण है। अष्टयाम ही क्या, उसके कुछ छन्द तो 'भवानी-विलास', 'जाति-विलास', 'देव-चरित' आदि के अनेक छन्दों की अपेक्षा भी अधिक सुन्दर और प्रौढ हैं। तब क्या उसको इन सभी के पीछे की रचना थोड़े ही मान लिया जायेगा? सारांश यह है कि हम 'भाव-विलास' को ही देव की प्रथम-कृति मानते हैं, 'अष्टयाम' की रचना उसकी रचना के कुछ ही बाद सम्भवतः उसके अन्तिम विलास (जिसमें कि अलंकारों का प्रकरण है) से पूर्व ही हुई थी। 'भाव-विलास' में श्रृंगार के सभी अंगों का वर्णन करने के उपरांत, किशोर कवि ने उसी के विस्तार रूप अष्टयाम की भी रचना कर डाली, और कुछ दिन बाद युवराज आमजशाह के पास दिल्ली में जाकर उपस्थित हुआ। आजमशाह उस समय न केवल अपनी गुण-ग्राहकता वरन् साहित्यिक संस्कृति और अभिरुचि के लिए भी उत्तर-भारत में प्रसिद्ध था। आप देखिये कवि आजमशाह के दान का गुण-गान नहीं करता, उसकी सराहना पर अभिमान करता है।

प्रामाणिकता— भाव-विलास देवकृत ग्रन्थ है, इसमें तो सन्देह के लिये स्थान ही नहीं है, स्वयं देव की साक्षी है। परन्तु उसका काव्य इतना सुन्दर है, और देव के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा उसमें प्रौढता भी अधिक है, इसलिये यह प्रश्न अवश्य उठाया जा सकता है कि क्या भाव-विलास मूलतः इसी रूप में रचा गया था अथवा प्रस्तुत संस्करण उसका परिशोधित रूप है। देव १६ वर्ष की अवस्था में ही एक रीति-ग्रन्थ का प्रणयन कर सके, यह बात आश्चर्यजनक अवश्य हो सकती है, परन्तु अविश्वसनीय या असम्भव नहीं क्योंकि वे अत्यन्त प्रतिभावान् कवि थे। आधुनिक कवियों की कुछ आरम्भिक कृतियां भी इसकी साक्षी हैं। परन्तु इसके आगे यह प्रश्न भी तो उठता है कि यदि देव सचमुच इतने प्रतिभावान् थे तो उनकी बाद की रचनाएं भी उसी अनुपात से प्रौढ़तर होती जानी चाहियें। परन्तु हम देखते हैं कि ऐसा नहीं हुआ। 'भवानी-विलास' और 'जाति-विलास' निश्चित ही भाव-विलास से सुन्दर काव्य नहीं हैं। अष्टयाम की कविता तो स्पष्ट ही कहीं हलकी है। इसलिये भाव-विलास के विषय में हमारी भी वही धारणा

बनती है जो मिश्रबन्धुओं ने प्रकट की है। अर्थात प्रस्तुत भाव-विलास मूल भाव-विलास का संशोधित रूप है। देव छन्दों की उलट-पुलट तो करते ही रहते थे—भाव-विलास उनका पहला सर्वांगपूर्ण रीति-ग्रन्थ है, उसके प्रति उनका ममत्व होना स्वाभाविक ही था। अतएव उन्होंने उसके हलके छन्दों को निकाल कर बाद के रचे हुए उत्कृष्ट छन्दों को उसमें रख दिया होगा, परन्तु ऐसा एक विशेष सीमा के भीतर ही हुआ होगा। मूल ग्रन्थ भी पर्याप्त रूप में उत्कृष्ट रहा होगा यह नहीं भुलाया जा सकता, क्योंकि आज़मशाह जैसा व्युत्पन्न साहित्यिक किसी साधारण ग्रन्थ की प्रशंसा नहीं करता!

वर्ण्य विषय :—भावविलास का वर्ण्य विषय है :

"कवि देवदत्त शृंगार-रस सकल भाव-संयुत सॅच्यो,
सब नायकादि-नायक-सहित, अलङ्कार वर्णन रच्यो॥"

देव का सिद्धान्त है कि जीवन के चार पदार्थों में सब से प्रथम स्थिति है धर्म की, धर्म से अर्थ की उत्पत्ति होती है, अर्थ से सुख की। सुख का सर्वस्व रस है, और रस का कारण है भाव। रसों में मुख्य शृंगार है, इसलिये प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने केवल उसी का सर्वाङ्ग विवेचन किया है, अन्य रसों का स्पर्श भी नहीं किया। भाव-विलास में पांच विलास हैं। पहले विलास में स्थायी भाव रति का विवेचन है। रति दर्शन या श्रवण से उद्बुद्ध होती है। फिर विभाव अर्थात् आलम्बन और उद्दीपन का और अन्त में अनुभाव का वर्णन है। दूसरे विलास में शारीर और आंतर संचारियों का अर्थात् सात्विक भावों और प्रचलित निर्वेदादि संचारियों का विवेचन है। आन्तर संचारियों की संख्या देव ने छल को मिला कर ३४ मानी है और वितर्क के चार अवांतर भेद किये हैं—विप्रतिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय। तीसरा विलास रस का वर्णन करता है। रस दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। अलौकिक के तीन भेद हैं—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपायनिक; और लौकिक के ६ भेद हैं शृङ्गारादि। नाटक मे भरत आदि ने ८ रस ही माने है, परन्तु काव्य में शान्त सहित नौ रस होते हैं। शृङ्गार के साधारणतः दो भेद हैं संयोग और वियोग। परन्तु देव ने इनके अतिरिक्त दो अन्य भेद भी माने है प्रच्छन्न और प्रकाश। संयोग के अन्तर्गत हाव का उल्लेख किया गया है, और वियोग के अन्तर्गत दश अवस्थाओं तथा मान आदि का। चतुर्थ विलास में नायक-नायिकादि का वर्णन है: यह नायिका-भेद प्राचीन संस्कृत आचार्यों के अनुकूल ही है। देव ने जाति, सत्व, अंश, देश आदि का अपना प्रस्तार यहां नहीं फैलाया। पांचवें विलास में अलङ्कार हैं। देव ने अलङ्कारों की संख्या ३६ ही मानी है, और अलङ्कार जो भी हैं वे इनके भेद-प्रभेद ही कहे जा सकते हैं, स्वतन्त्र नहीं :

'अलङ्कार मुख्य उनतालिस हैं देव कहै,
येई पुराननि मुनि मतनि मैं पाइये।
आधुनिक कविन के संमत अनेक और,
इनहीं के भेद और विविध बताइये।'

इन ३९ में रसवत, ऊर्ज्जस्वल और प्रेम (प्रेय) के भी नाम हैं।

जैसा कि मैंने अभी कहा—वर्णन का यह क्रम–अर्थात् पहले स्थायी भाव, फिर विभाव, अनुभाव, सात्विक और संचारी, उसके उपरांत रस,—हाव का संयोग के अन्तर्गत वर्णन, इत्यादि, ज्यों का त्यों भानुदत्त की रसतरंगिणी के अनुकूल है। इसके अतिरिक्त अन्य मुख्य उद्भावनाएँ भी—उदाहरण के लिए सात्विक और साधारण संचारियों के 'शारीर' और 'आंतर' नाम, वितर्क के चार भेद, चौबीसवां संचारी 'छल', रस के लौकिक अलौकिक और फिर स्वाप्निक आदि भेद, सभी भानुदत्त से ही ग्रहण किए गये हैं। परन्तु लक्षण और उदाहरण दोनों में ही देव स्वतन्त्र हैं। लक्षण में कहीं-कहीं रसतरंगिणी की ध्वनि मिल भी जाए किन्तु उदाहरण सर्वथा मौलिक हैं। भानुदत्त के अतिरिक्त भावविलास का दूसरा आधार है केशव। शृंगार के प्रच्छन्न और प्रकाश भेद तथा अलङ्कारों के नाम और लक्षण प्रायः केशव के ग्रन्थों से लिए गये हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भाव-विलास वास्तव में बाल-कवि का पहला सफल अभ्यास है। रीति-ग्रन्थ की दृष्टि से उसमें विवेचन की मौलिकता निस्सन्देह नहीं है, परन्तु विवेक और स्वच्छता अवश्य है। भाव-विलास में लक्षण बहुत स्पष्ट हैं और उदाहरण अत्यन्त स्वच्छ। प्रस्तार का गोरख-धन्धा, जो देव के रीति-विवेचन का सब से बड़ा दोष है, इसमें नहीं है। काव्य की दृष्टि से प्रस्तुत छन्द अत्यन्त सरस और मधुर हैं—भावों की कोमलता और हलकी रंगीनी, जो किशोर वय का वरदान होती है, उसमें सर्वत्र झलकती है। शैली में अभी वह प्रौढता और गाढ़बन्धत्व नहीं आया जो देव के बाद के ग्रन्थों में मिलता है—परन्तु उनके अभाव में एक सुख-सरल गति, अर्थव्यक्ति एवं स्फीतता उसमें अनिवार्यतः मिलती है। उसमें देव के प्रौढ ग्रन्थों की वह दुरूहता और कष्टार्थ नहीं है, जो उनकी शैली का सब से बड़ा अभिशाप है। यही कारण है कि वह रसिकों को इतना अधिक प्रिय रहा है।

अष्टयाम—

अष्टयाम देव का दूसरा ग्रन्थ है। जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से प्रमाणित होता है, इसकी रचना भाव-विलास के कुछ ही समय बाद संवत् १७४६ में हुई होगी। तभी भाव-विलास और अष्टयाम को लेकर देव आज़मशाह के दरबार में उपस्थित हुए होंगे। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता तो निर्विवाद ही है—

स्वयं देव के शब्द ही उसके साक्षी हैं—'सुन्यौ सराह्यौ ग्रन्थ यह, अष्टजाम संजूत।' इसकी कविता मे सौन्दर्य एवं माधुर्य की अपेक्षाकृत न्यूनता है, इसलिए बड़ी सरलता से यह माना जा सकता है कि प्रस्तुत रूप ही इसका मूल रूप है।

इसका वर्ण्य विषय नाम से ही स्पष्ट है—इसमें नायक-नायिका के अष्ट-याम अथवा चौंसठ घडी के विविध विलास का क्रमबद्ध वर्णन है :—

*दंपति नीके देव कवि वरनत विविध विलास।
आठ पहर चौंसठ घरी पूरन प्रेम-प्रकास॥

अष्टयाम की यह परम्परा वैष्णव कवियों से ग्रहण की गई है, रीति-काव्य में इस प्रकार का विशेष प्रचलन नहीं था। वैष्णव कवियों ने जिस रीति और क्रम से भगवान् अथवा राधाकृष्ण का कार्यक्रम वर्णित किया है, उसी रीति और क्रम से देव ने नायिका या दम्पति के विविध विलासों का वर्णन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लगभग यह सम्पूर्ण कार्यक्रम शृंगारमय ही है, बस भोजन का केवल एक बार वर्णन है। यह वास्तव मे तत्कालीन धनपतियों के अकर्मण्य विलासी जीवन का चित्र है जो बर्नियर आदि के वर्णनो से ज्यों का त्यों मिल जाता है। रीति की दृष्टि से अष्टयाम को भी नख-शिख की भांति संयोग-शृंगार का एक अंग ही मानना चाहिए जिसमे स्वकीया के विविध विलासो का वर्णन होता है।

काव्य की दृष्टि से देव के ग्रंथों में अष्टयाम का महत्व शिवाष्टक को छोड, और सबसे कम है—उसमें उत्कृष्ट छंद न हों यह बात नहीं, यों तो देव के कतिपय प्रथम श्रेणी के छंद उसमें मिलते हैं, परन्तु उनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत थोडी है। अष्टयाम के बहुत थोड़े छंदों की ही देव ने अन्य ग्रन्थों में पुनरावृत्ति की है। वर्णन कहीं-कहीं सर्वथा इतिवृत्तात्मक हो गये हैं। शैली में अभी वह प्रौढ़ि, तथा भाषा में वह गभीर झंकार नहीं आई।

सब मिलाकर अष्टयाम में ६५ दोहे, ३२ सवैया और ३२ कवित्त घनाक्षरी हैं। सभी छंद नवीन हैं। भाव-विलास के एक भी छंद की अष्टयाम में पुनरावृत्ति नहीं हुई।

भवानी-विलास—

भवानी-विलास का रचना-काल नहीं दिया हुआ है—अतएव बहिर्साक्ष्य तथा अन्तर्साक्ष्य के आधार पर ही उसका निर्णय हो सकता है। भवानी-विलास के लिए दुर्भाग्य से बहिर्साक्ष्य का भी अभाव है क्योंकि उसका उल्लेख कहीं दूसरी जगह नहीं आता। स्वयं देव ने शब्द-रसायनादि में भाव-

---

* दंपतीनि के

विलास और रस-विलास का उल्लेख तो किया है, परन्तु भवानी-विलास के विषय में वे मौन हैं। ऐसी स्थिति में हमारे पास केवल अन्तर्साक्ष्य का ही आधार शेष रह जाता है। भवानी-विलास दादरी के राजा सीताराम के सुपुत्र (वास्तव में भतीजे) भवानीदत्त वैश्य को समर्पित है :

श्रीपति जेहि सम्पति दई सन्तति सुमति सुनाम,
आदरीक अति दादरी-पति नृप सीताराम ॥
सँवलसिंह *(पति ?) धर्मधुज सीताराम नरेन्द्र,
ता सुत इन्द्र कुबेर सम वैस्य सुबंस महेन्द्र ॥

** **

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि भवानीविलास राजा सीताराम के ही राज्य-काल (संवत् १७५०-१८००) में रचा गया था। भवानीदत्त अभी युवक ही थे। राजा का खिताब उन्हें अभी नहीं मिला था।

काव्यगुण और विवेचन की प्रौढ़ता की दृष्टि से भवानी-विलास देव की आरम्भिक रचना ही ठहरती है। उसके विवेचन में भाव-विलास की अपेक्षा अधिक विस्तार है—काव्य में अष्टयाम की अपेक्षा स्पष्टतः ही अधिक प्रौढ़ता और सौंदर्य है। नायिकाओं का जाति-भेद अंश-भेद के अनुसार विस्तार सबसे पूर्व इसी ग्रंथ में किया है। परन्तु अभी देश-भेद का प्रस्तार नहीं फैलाया गया। जैसा कि अन्य पण्डितों का भी अनुमान है, देश-भेद का यह प्रस्तार देव की देश-विदेश यात्रा का परिणाम था—और सबसे पूर्व जाति-विलास में फिर रस-विलास में इसका समावेश किया गया था। काव्यगुण की दृष्टि से भवानी-विलास रस-विलास की अपेक्षा स्पष्टतः ही हलका है। अतएव भवानी-विलास, की रचना कम से कम जातिविलास से पूर्व और भाव-विलास तथा अष्टयाम के बाद ही मानी जा सकती है। अब अगर जातिविलास को देव की देशव्यापी यात्रा के अनुभव का परिणाम मानें और रस-विलास के आधार पर उसका रचना-काल सं० १७८० के कुछ पूर्व निर्धारित करें, तो ऐसा अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती कि कवि की यह यात्रा १७६५ के आस-पास आरम्भ हुई होगी। यह सीमा अभी कुछ और नीचे उतारी जा सकती है, क्योंकि भवानीविलास की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि देव भवानीदत्त के यहाँ काफ़ी दिन तक ८-१० वर्ष तक अवश्य सम्मानपूर्वक रहे। ग्रंथ-रचना इस आश्रय-काल के आरम्भ में ही मानी जा सकती है। उसी के आधार पर तो यह मैत्री अथवा आश्रय मिला होगा। इसी प्रकार भवानी-विलास के रचना-काल की द्वितीय सीमा को हम सं० १७५५

* (सुत अथवा पितु)

तक आसानी से खींच ले आ सकते हैं। सम्भावना यही है कि दिल्ली में आज़मशाह के यहाँ कुछ वर्ष ही रहने के बाद—क्योंकि आज़मशाह इन दिनों दक्षिण में व्यस्त था—देव वहीं से दादरी चले आये होंगे और वहाँ रहकर सं० १७५०-५५ के बीच उन्होंने भवानीविलास की रचना की होगी। इस अनुमान में बहुत-सी कड़ियां जोडनी पड़ी हैं परन्तु वे असम्बद्ध नहीं हैं।

प्रामाणिकता – भवानी-विलास की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं है। प्रायः प्रत्येक विलास के अन्त में देव ने अपना और अपने आश्रयदाता का नाम दिया है। भाव-विलास के अनेक छंद उद्धृत हैं और इसके अनेक छंदों की देव के अन्य प्रायः सभी ग्रंथों में पुनरावृत्ति हुई है। इसके अतिरिक्त भवानी-विलास के रस और नायिका-विवेचन का क्रम, शब्दावली आदि भी ठीक वैसे ही हैं जैसे कि रस-विलास या कुशल-विलास आदि ग्रंथों के। इसका केवल एक ही संस्करण प्राप्त है, जो भारत-जीवन प्रेस से बा० रामकृष्ण वर्मा के सम्पादन में प्रकाशित हुआ है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ सूर्यपुरा, टीकमगढ (?), गंधौली, लखनऊ आदि में उपलब्ध हैं। यह संस्करण पाठ-शुद्धि की दृष्टि से अत्यन्त असन्तोषजनक है। इसमें स्थान स्थान पर यहां तक कि विलासों के क्रम-बंधन में भी अशुद्धियां मिलती हैं। चौथा विलास कहां समाप्त होता है, इसका निर्देश ही नही है।

वर्ण्य विषय :—भवानीविलास यद्यपि रस के विवेचन से आरम्भ होता है, परन्तु उसका वर्ण्य विषय नायिका-भेद ही है। इसमे आठ विलास हैं, पहले विलास में मंगलाचरण के उपरांत ग्रन्थ-निर्देशिका स्तुति है, फिर शृङ्गार रस की प्रमुखता का प्रतिपादन और उसका सांगोपांग वर्णन है। दूसरे मे शृङ्गार की प्रधान आलम्बन नायिका का जाति तथा कर्मभेद से वर्णन है और तीसरे में अंशभेद के अनुसार। चौथे मे मुग्धा के प्रथम चार भेदों के साथ पूर्वराग वियोग का वर्णन है, जिसमे अभिलाष आदि दस काम-दशाओं का भी समावेश है। पांचवें विलास में मुग्धा के अन्तिम भेद सलज्जरति और मध्या के प्रथम दो भेदों के साथ पहले समागम का वर्णन है, और अन्त मे मध्या के अन्तिम दो तथा प्रौढा के चारों भेदों के साथ सुख-भोग का। छठे विलास मे मध्या के अन्तर्गत नायिका की (स्वाधीन-पतिका, वासक-सज्जा आदि) आठ अवस्थायें, और प्रौढ़ा के अन्तर्गत दश हाव वर्णित किये गये हैं। सातवें विलास मे मध्या-प्रौढा के मान का विवेचन करते हुए धीरा, धीर-धीरा, अधीरा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, अन्य-सम्भोग-दुःखिता, गर्विता आदि का विवरण है—फिर परकीया के भेद संक्षेप मे कहे गये हैं; और अन्त में नायक के भेद, सखा-सखी आदि का चलता उल्लेख है। आठवें तथा अन्तिम विलास में शृङ्गार के अतिरिक्त शेष आठों रसों का वर्णन है। देव ने वीर रस के युद्धवीर, दानवीर और दयावीर तीन भेद माने हैं। शान्त के, पहले—शरण्य और शुद्ध शांत दो भेद, फिर शरण्य के

प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्ध-प्रेम—तीन भेद दिये गये हैं। हास्य के उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद; और करुण के--करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुख-करुण ये पाँच भेद माने हैं। देव ने अपने रस-सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्तों का प्रथम विवेचन भवानीविलास में ही किया है। भवानीविलास में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि नौ रसों में तीन मुख्य हैं—श्रृङ्गार, वीर और शान्त—शेष छः रस दो दो कर इन्हीं तीनों में लीन हो जाते हैं :—हास्य और भय श्रृङ्गार में; रौद्र और करुण वीर में; तथा अद्भुत और वीभत्स शान्त में। अन्त में शान्त और वीर भी श्रृङ्गार में लीन हो जाते हैं। अतएव मूल रस श्रृङ्गार ही है :

"भूलि कहत नव रस सुकवि, सकल मूल श्रृङ्गार ;
तेहि उछाह निर्वेद लै, वीर सांत संचार ।
भाव सहित सिंगार में, नवरस झलक अजस्र,
ज्यो कंकन मनि-कनक को ताही में नवरत्न ॥"

जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा है—भवानीविलास का साहित्यिक मूल्य भाव-विलास से विशेष अधिक नहीं है। उसके रीति-विवेचन में भावविलास की स्वच्छता का स्पष्ट अभाव है। भावविलास के कवि की दृष्टि लक्षण-ग्रन्थ की रचना पर स्थिर रही थी। परन्तु भवानीविलास मे ऐसा नहीं है। उदाहरणों का महत्व लक्षणों की अपेक्षा कहीं बढ़ गया है, भेद-प्रस्तार में वृद्धि हो रही है; इसलिए अनुपात शिथिल हो गया है। इसी प्रकार भावाभिव्यक्ति में भी स्वच्छता अपेक्षाकृत कम है। भावविलास के छन्दों की चंचलता और सुकुमारता भी यहां नहीं मिलती। परन्तु कविता के कण्ठ में कुछ गांभीर्य अवश्य आता जा रहा है। रचना में शब्द-गुम्फों की कड़ियां जो देव की भाषा का विशेष गुण है—धीरे धीरे बनना आरम्भ होगई हैं—यह सहज ही लक्ष्य किया जा सकता है।

शिवाष्टक—

शिवाष्टक देव की अत्यन्त आरम्भिक कृति है। पुस्तिका के अन्त में देव ने स्वयं ही उसका रचना-काल दे दिया है :—इति श्रीदेवदत्तविरचितं शङ्करस्तोत्राष्टकं समाप्तम् सं० १७५५ ज्येष्ठ बदी ४। अतएव अनुमानतः भवानी-विलास की रचना के आस-पास ही इन छन्दों का भी निर्माण हुआ होगा। इसमें शिव की स्तुति के केवल ८ कवित्त हैं। कुछ विद्वानों को इन छन्दों के देव-कृत होने में सन्देह है, परन्तु वास्तव में सन्देह के लिये कोई स्थान नहीं है। इसकी मूल प्रति पर देव का नाम अङ्कित है। राय कृष्णदास जी को यह प्रति देव-वंशज पण्डित मानादीन जी से प्राप्त हुई थी, जिनके यहां वह देव के दो तीन अन्य ग्रन्थों और भोगीलाल के दो ग्रन्थों के साथ बहुत दिनों से—शायद देव के ही

समय से ही रखी हुई थी। देव वैसे तो राधा-कृष्ण के उपासक थे, परन्तु कुछ साम्प्रदायिक व्यक्तियों को छोडकर हिन्दुओं की ईश्वर भावना मध्ययुग से ही इतनी व्यापक रही है कि वे शिव, विष्णु, शक्ति आदि में विशेष अन्तर नहीं करते आये हैं। कुसमरा ग्राम मे आज भी देव जी की बगीची के जो भग्नावशेष मिलते है, उसमें एक छोटे से चबूतरे पर स्थापित शिवलिंग भी है। वही देव अपना पूजन-आराधन किया करते थे।

शिवाष्टक देव की सबसे हलकी रचना है—उसके छंदों मे तन्मयता का अभाव होने के कारण रस अत्यन्त क्षीण है। कुछ छंद तो शिव के विभिन्न विशेषणों को जोडकर ही बना दिये गये हैं। शब्दाडम्बर इतना अधिक है कि अर्थ की संगति बैठाने मे भी बडी कठिनाई होती है। भाषा मे भी वह गुम्फित झंकार नही मिलती जो देव की अपनी विशेषता है। फिर भी सब मिलाकर इसकी रचना में कुछ संकेत ऐसे अवश्य मिलते है, जिनसे इसे देव की आरम्भिक-निम्न कोटि की कृति मानने मे आपत्ति नहीं की जा सकती। शिवाष्टक अभी पुस्तकाकार होकर सामने नहीं आया, परन्तु फ़रवरी १६२८ की माधुरी मे स्वर्गीय रत्नाकर जी की टीका और आलोचना सहित प्रकाशित हो चुका है।

प्रेम-तरङ्ग—

जैसा कि मैंने ऊपर निर्देश किया है, भवानीविलास के समर्पण से ध्वनित होता है कि देव भवानीदत्त के आश्रय में कुछ दिन अवश्य रहे होंगे। वे सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था मे घर से चले थे और कम से कम आठ-दस वर्ष पश्चिम मे रहकर घर लौटे होंगे। घर आकर कुछ दिन तक अर्जित सम्पत्ति का उपभोग करते हुये उन्हे जीविका की ओर से निश्चिन्त रहने का अवकाश मिला होगा। हमारी धारणा है कि प्रेम-तरङ्ग का प्रणयन इसी अवकाश-काल मे हुआ होगा। इसीलिए प्रेम-तरङ्ग किसी को समर्पित नही है। अनुमानतः इसका रचनाकाल संवत् १७६० के आस-पास माना जा सकता है। रीति-विवेचन की दृष्टि से प्रेम-तरङ्ग में कोई नवीनता नहीं है। इसकी एक ही अपूर्ण प्रति प्राप्त है, जिसमे केवल तीन तरङ्गें प्राप्त हैं, परन्तु उसमे और कुशल-विलास मे इतना अधिक साम्य है कि कुशल-विलास के आधार पर उसके वर्ण्य-विषय और वर्णन-पद्धति का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। मुग्धा, मध्या, प्रौढा के अंश-भेद, जैसे कि भवानीविलास मे दिए गए है, यहां भी मिलते है। इसके अतिरिक्त भवानीविलास मे देव ने मुग्धा के साथ दस कामदशाओं, मध्या के साथ आठ अवस्थाओं और प्रौढ़ा के साथ दस हावों के वर्णन का जो नया क्रम बांधा था, वही इसमें ग्रहण किया गया है। [यद्यपि पुस्तक का यह भाग खंडित है, पर चौथी

तरङ्ग का शीर्षक—इस विषय में कोई संदेह नहीं छोड़ता]। वर्णन की दृष्टि से इसमें एक ही नवीनता है—वह है पति के विभिन्न दृष्टिकोणों के प्रति स्वकीया की प्रतिक्रिया, जो सभी अवस्थाओं में अनुकूल रहती है। इस प्रकार प्रेम-तरंग में स्वकीयावाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। भवानीविलास से तुलना करने पर प्रेम-तरंग के लक्षणों मे भी बहुत कम नवीनता मिलती है। प्रायः तीन चौथाई लक्षण ज्यों के त्यो उद्धृत हैं। परन्तु उदाहरणों में पूर्ण मौलिकता है। प्रेम-तरङ्ग के सभी उदाहरण मौलिक हैं—भावविलास, अष्टयाम और भवानीविलास का प्रायः एक भी उदाहरण इसमें नही मिलता है। वास्तव में भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास और प्रेम-तरङ्ग चारों देव के कृतित्व काल की रचनाये हैं। अभी वे नवीन ग्रन्थ ही लिख रहे थे—छंदों की उलट-पुलट करके ग्रन्थ जोड़ना अभी आरम्भ नहीं हुआ था। काव्य की दृष्टि से प्रेम-तरङ्ग देव के द्वितीय श्रेणी के ग्रन्थों मे आयेगी। इसकी कविता मे तल्लीनता का गुण-शैली में रंगों की चटक अपेक्षाकृत कम है। अष्टयाम की कविता मे थोडा अर्थ-गांभीर्य तथा उसकी सहवर्तिनी दुरूहता और आजाने पर उसका जो रूप होता, वही प्रेम-तरङ्ग की कविता का समझना चाहिये।

अपूर्ण होने पर भी प्रेम-तरङ्ग की प्रामाणिकता में संदेह नहीं किया जा सकता। उसकी तीनों तरङ्गो के अन्त मे देव का नाम आता है—और लगभग सम्पूर्ण सामग्री ही कुशल-विलास और सुखसागर तरङ्ग में उद्धृत है।

कुशल-विलास—

कुशल-विलास एक प्रकार से प्रेम-तरङ्ग का संशोधित संस्करण है। प्रेम-तरङ्ग की सामग्री उसी क्रम से लक्षण और उदाहरण सहित दो-चार छन्दों को छोड़ ज्यों की त्यो उसमें उद्धृत कर दी गई है। अतएव यह कल्पना सहज सम्भव है कि उसकी रचना प्रेम-तरङ्ग के कुछ ही बाद हुई होगी। यदि कुछ अधिक अन्तर होता, तो इस बीच में कवि कुछ नये छन्दों की रचना कर उसमें और जोडता। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा ही क्यों माना जाए कि प्रेम-तरङ्ग का अन्तर्भाव कुशल-विलास में हुआ है, क्रम इसके विपरीत भी तो हो सकता है। इसके उत्तर में केवल एक ही बात कही जा सकती है —प्रेम-तरङ्ग की रचना स्वेच्छा से हुई है, किसी आश्रयदाता के आदेश से अथवा उसके प्रसादन के लिए नहीं हुई। स्वेच्छा से जो ग्रन्थ रचा जायगा, वह स्वभावतः स्वतन्त्र ही होगा, किसी दूसरे ग्रन्थ का रूपांतर नहीं। क्योंकि स्वान्तःसुखाय रचे हुये काव्य में अपने ही ग्रन्थ का ज्यों का त्यों रूपांतर कर देने की क्या आवश्यकता हो सकती है? इसके अतिरिक्त प्रेमतरङ्ग के विवेचन अथवा उदाहरणों में

किसी प्रकार का संशोधन भी लक्षित नहीं होता, जिससे यह अनुमान कर लिया जाए कि कवि ने स्वतः ही अपनी पहली कृति को दुहरा कर शुद्ध किया होगा। इसके विपरीत कुशलविलास राजा कुशलसिंह का आश्रय प्राप्त करने के लिए लिखा गया था। उसके क्रम में भी प्रेमतरङ्ग की अपेक्षा कुछ अधिक स्वच्छता है। अतएव यही सम्भव प्रतीत होता है कि उसकी रचना प्रेमतरङ्ग के उपरांत, जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, थोडे ही कालान्तर से हुई थी। समर्पण से विदित होता है कि राजा कुशलसिंह शुभकर्ण के सुपुत्र और सेंगर क्षत्रिय थे। उनकी राजधानी फफूंद थी। वे दानी और काव्य-रसिक नृपति थे—पर वैभव उनका साधारण ही था। फफूंद की राजवंशावली के अनुसार उनका समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक ठहरता है :—

इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर कुशलविलास का रचनाकाल संवत १७६० के कुछ बाद माना जा सकता है :—

वर्ण्य विषय:—कुशलविलास का वर्ण्य विषय नायिका-भेद ही है। इसमें नौ विलास हैं। पहले में शृंगाररस की उत्पत्ति और उसके विभिन्न अंगों, विभाव, अनुभाव, तनसंचारी, मनसंचारी और नायक-नायिका का वर्णन है। दूसरे में नायक की विभिन्न चेष्टाओं के प्रति स्वकीया की प्रतिक्रियायें वर्णित हैं। नायक का दृष्टिकोण तो सदा एक-सा नहीं रहता :—

मुग्धदसा अनुकूल पति, मध्यदसा पति दच्छ।
प्रौढ़दसा सठ धृष्ट पति, इष्ट बहिक्रम पच्छ॥

परन्तु स्वकीया नायक की शठता और धृष्टता के प्रति भी अनुकूल ही रहती है चाहे पुत्र आदि में उसकी प्रीति बट भले ही जाये।

पति की चौविधि रसिकता तिहूँ वैस बढि जात।
प्रीति प्रौढ़ स्वकियान त्यौं पति सुत हित घटि जात॥

गृहस्थ जीवन के कठोर सत्य का कितना निर्मम अंकन है। अन्त में स्वकीया का राज-मत से विचार है, अर्थात् राजाओं के महल में स्वकीया की क्या परिभाषा है, इसका विचार है :

भूपन के संभोग हित भोग भामिनी और,
जो गंधर्व विवाह विधि व्याही मुख सिरमौर।

यह भी पातिव्रत धर्म का पालन करती हुई अपनी सेवा से स्वामी को सदैव प्रसन्न रखती हैं। इस विलास में परकीया की निन्दा करते हुये स्वकीया-वाद की प्रतिष्ठा की गई है। तीसरे विलास में परकीया और सामान्या के भेद

कह स्वकीया, परकीया और सामान्या के परिजनों का विवरण है। चौथे में नायिका के साधारण—जाति और अंश भेद देकर अंत में गंधर्वांश मुग्धा के पांचो भेदों का वर्णन है। मुग्धा के इस वर्णन-क्रम में एक नवीनता है, यहाँ उसके दो प्रकार से प्रचलित भेदों को एकरूप कर वर्णित किया गया है। उदाहरण के लिए नवमुग्धा और वयःसन्धि एक ही रूप के दो नाम हैं, नववधू और अज्ञात-यौवना एक ही हैं, नवयौवना और ज्ञात-यौवना में, नवल अनंगा तथा नवोढा में, और सलज्जरति तथा विश्रब्ध-नवोढा मे कोई अन्तर नहीं है। यह क्रम नवीन अवश्य है, परन्तु इसमें खींचतान भी की गई है, उदाहरण के लिये नवल-अनंगा और नवोढ़ा एक कैसे हो सकती है? जाति और अंश भेद के लक्षण भवानीविलास से उद्धृत हैं, परन्तु उदाहरण सभी भिन्न हैं। पाँचवें विलास में मध्या और प्रौढा के भेद हैं। इस प्रकार प्रेमतरंग की तीन तरंगो की सामग्री कुशलविलास के पांच विलासों में विभक्त कर दी गई है। छठे, सातवे और आठवें विलासों में, क्रमशः, मुग्धा के साथ दस कामदशाओं का, मध्या के साथ आठ अवस्थाओं का, और प्रौढा के साथ दस हावों का वर्णन है। इन विलासो में कामदशा आदि के लक्षण नहीं दिये गये, केवल उदाहरण ही हैं; नवे विलास में धीरा-अधीरा, प्रेम-गर्विता, रूपगर्विता तथा ज्येष्ठा-कनिष्ठा का उल्लेख हैं, और अन्त में संयोग-वियोग का थोडा-सा वर्णन देकर ग्रन्थ समाप्त का दिया गया है। कुशलविलास में सब मिलाकर ३०६ छंद है, जिनमे से यदि ११९ दोहों को निकाल दिया जाए तो सवैया और कवित्तों की संख्या १८७ रह जाती है। यह ग्रन्थ अभी मुद्रित नहीं है, हस्तलिखित प्रतियाँ भी इसकी बहुत नहीं हैं। अभी तक देखने सुनने में प्राय. २-३ ही प्रति आती हैं। (१) श्री ब्रजराज पुस्तकालय गंधौली (पण्डित कृष्णविहारी जी) की प्रति (२) हिन्दुस्तानी एकेडेमी की प्रति।

जातिविलास—

जातिविलास के विषय में देव ने स्वयं रसविलास में लिखा है:—

देवल रावल राजपुर नागरि तरुनि निवास।
तिनके लच्छन भेद सब बरनत जातिविलास॥

वास्तव में रसविलास को जातिविलास का संशोधित और परिवर्धित संस्करण कहना चाहिये। जातिविलास और भवानीविलास की अपेक्षा उसमें इतने कम नवीन छंद हैं कि उनकी रचना में कवि को बहुत ही थोडा समय लगा होगा। इसलिए जातिविलास का रचनाकाल रसविलास से कुछ ही पूर्व, अनुमानतः संवत १७८० के आस-पास माना जा सकता है। अगर यह अंतराय अधिक होता तो देव और भी थोड़े बहुत छंदों की रचना कर अपने गुणज्ञ

आश्रयदाता को समर्पित करते। जैसा कि सभी पण्डितों का मत है—जातिविलास एक देशव्यापी यात्रा के फलस्वरूप लिखा गया है। यह यात्रा काफी लम्बी थी और दस-पन्द्रह वर्षों में अवश्य समाप्त हुई होगी। अतएव, सम्भवतः संवत् १७६९ के लगभग राजा कुशलसिंह के आश्रय से किसी कारण विमुख होकर देव देशाटन के लिए चल पड़े होंगे। इस यात्रा में देव ने समस्त भारत में पर्यटन किया, और वहाँ के सौंदर्य्य का, सौंदर्य्य से तात्पर्य उस समय केवल नारी-सौंदर्य का ही था, अवलोकन किया। जातिविलास में मुख्यतः जाति (वर्ण-व्यवसाय), वास तथा देश के क्रम से नायिकाभेद का वर्णन है। इसके अतिरिक्त अष्टांगवती-नायिका का भी विवरण दिया हुआ, है परन्तु उसमें कुछ नवीनता नहीं है।

जाति-विलास की केवल दो प्रतियाँ ही उपलब्ध हैं :—१ मिश्रबन्धुओं की प्रति जो अपूर्ण है—जिसमें केवल केरल वधू तक का वर्णन है; (२) दीक्षित गोकुल-चन्द्र की प्रति जो पूर्ण है—जिसमें देश-भेद पूरे दिए हुए हैं।

रसविलास—

रस-विलास के रचना-काल के विषय मे तो कोई सन्देह ही नहीं है। स्वयं देव के अनुसार उसका निर्माण विजयादशमी संवत् १७८३ वि० में हुआ था। कुशलविलास की रचना के उपरांत लगभग १९ वर्ष तक देव को वाञ्छित आश्रयदाता की खोज मे भटकना पड़ा, अंत में १७८२-८३ के आस-पास उनको राजा भोगीलाल का आश्रय मिला। भोगीलाल वास्तव में अत्यन्त गुणज्ञ एवं काव्यानुरागी राजा थे, फिर, इतने वर्षों तक इधर-उधर भटकने के उपरांत देव को सम्यक् सम्मान प्राप्त हुआ था। अतएव कवि ने अपने हृदय की सम्पूर्ण कृतज्ञता उनके प्रति उँडेल दी है। रस-विलास की रचना के समय उसकी अवस्था ५३ वर्ष की हो चुकी थी। स्वभावतः वैराग्य की भावनाये भी अब उनके हृदय में अंकुरित होने लगी थीं।

इन्दु सो आनन तू जु चितै, अरविन्द से पाँयन पूजि गुविन्द के।

इस ग्रंथ में लक्षण के १३४ दोहों के अतिरिक्त कुल २१६ कवित्त और सवैया हैं—परन्तु इन में से अधिकांश भवानीविलास और जातिविलास से उद्धृत हैं।

रस-विलास की प्रामाणिकता भी स्वतःसिद्ध है—ग्रंथ के आरम्भ में तथा प्रत्येक विलास के अंत में देवदत्त कवि का नामोल्लेख, देव के अनेक प्रचलित छंदों की पुनरावृत्ति, रस-रीति का क्रम आदि सभी उसके साक्षी हैं।

वर्ण्य-विषय :—रस-विलास भी जैसा कि उसके नाम से भासित होता है रस का ग्रंथ नहीं है। इसका सम्पूर्ण कलेवर नायिकाभेद को ही अर्पित है। ग्रंथ के आरम्भ में ही कवि ने नारी के महत्व-वर्णन द्वारा अपने शृंगार-सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। संसार में योग का महत्व मुक्ति के लिये है, मुक्ति का भोग (आनन्द) के लिये—परन्तु योग, मुक्ति और भोग का मूल है काम—और जिस काम की पूर्ति के बिना परमपद भी क्षुद्र लगता है, उसको तृप्त करने वाली है, चन्द्रवदनी नारी :

'रमनी राका-ससि-मुखी पूरै काम समुद्र।' इसीलिये तो देवता, राक्षस, मनुष्य, पशु और कीट पतंग सभी स्त्री के ही साथ सुखी हैं।

रस-विलास में सात विलास हैं जिनमें कामिनी के शत शत भेदों का वर्णन है। रीति-काल का रसिक कवि नारी को उसके समस्त रूपों में कितना चाहता था, इसका असंदिग्ध प्रमाण रस-विलास है। इसमें पहले नागरी, पुरवासिनी, ग्रामीणा, वनवासिनी, सैन्या, पथिक वधू—ये ६ भेद दिये गये हैं, फिर इनके अनेक अवांतर भेद, जिनमें चूहरी से लेकर ऋषिपत्नी तक को घसीट लिया गया है। ये भेद प्रायः जाति (वर्ण-व्यवसाय) को लेकर किए गये हैं। इसके उपरांत नायिका के यौवन, रूप, शील आदि आठों अंगों का सूक्ष्म वर्णन है। देव ने यहाँ रूप-शील आदि अमूर्त गुणों की परिभाषा करने का बहुत कुछ सफल प्रयत्न किया है। आगे जाति, (पद्मिनी आदि), कर्म, गुण (सत, रज, तम) और देश के क्रम से भेदों का विस्तार है, और अंत में काल , वय, प्रकृति और सत्व के अनुसार। प्रकृति वैद्यक के आधार पर तीन प्रकार की कही गई है : वात, पित्त, कफ; और सत्व नौ प्रकार के : सुर, किन्नर, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, और काग। सातवें और अंतिम विलास में संयोग के अन्तर्गत नायिका के दस हावों, और वियोग के अंतर्गत दस काम-दशाओं का वर्णन है। यह स्वीकार करते हुये भी कि संयोग दशा में अनेक हावों की उद्बुद्धि होती है, देव ने इनकी संख्या दस ही ठीक मानी है। वियोग-जन्य दस अवस्थाओं के वर्णन में अवश्य देव ने मान्य परिपाटी से कुछ स्वतंत्रता ली है और प्रत्येक के अनेक अवांतर भेद कर डाले हैं। उदाहरण के लिए :—

अभिलाष के पाँच भेद—श्रवणाभिलाष, उत्कण्ठाभिलाष, दर्शनाभिलाष, प्रेमाभिलाष।

चिंता के तीन भेद—गुप्त चिंता, संकल्प चिंता, विकल्प चिंता।

स्मरण के आठ भेद—अश्रु-स्मरण, स्वेद-स्मरण आदि (अन्य सात्विकों के अनुसार)

प्रलाप के सात भेद—ज्ञान-प्रलाप, वैराग्य-प्रलाप, उपदेश-प्रलाप, प्रेम-प्रलाप संशय-प्रलाप, विभ्रम-प्रलाप, निश्चय-प्रलाप।

उन्माद के पाँच भेद—मदनोन्माद, मोहोन्माद, विस्मरणोन्माद, विक्षेपोन्माद, वियोगोन्माद।

व्याधि के तीन भेद—संताप-व्याधि, ताप-व्याधि, पश्चात्ताप-व्याधि।

जड़ता और मरण—इनका एक ही एक भेद होता है।

इस प्रकार रस-विलास नारी के विभिन्न भेदो और हाव-भावो का एक कोष है। परन्तु यह सब प्रस्तार नारी के विभिन्न रूपों का ही निदर्शन करता है—वैसे तो नारी, पुरुष के मन पर अधिकार करने वाली—देखते ही मन को हर लेने वाली, मूलतः एक ही है :—

तातैं कामिनि एक ही कहन सुनन को भेद।
राचैं पागैं प्रेम-रस मेटै मन के खेद॥

इस ग्रन्थ की मिश्रबन्धुओं ने आवश्यकता से अधिक प्रशंसा की है। रीति-विवेचन की दृष्टि से तो कवि के पहले ग्रंथो की अपेक्षा इसमें कोई विशेषता है ही नहीं, क्योंकि जाति-विलास की तरह यह भी वर्णनात्मक ही अधिक है काव्य की दृष्टि से अवश्य इसमें प्रौढता मिलती है, परन्तु वह भी एक सीमा के भीतर ही। हाँ, यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि देव की शैली का स्वरूप इसके नवीन छन्दो मे आकर पूर्णरूप से परिपक्व हो गया है—उसका अपना वैशिष्ट्य अपने समस्त गुण दोषों के साथ यहाँ आकर स्थिर होगया है।

प्रेमचन्द्रिका—

प्रेमचन्द्रिका मे रचनाकाल नहीं दिया हुआ, अतएव उसका निर्णय केवल अंतर्साक्ष्य और बहिर्साक्ष्य के आधार पर ही किया जा सकता है। अंतर्साक्ष्य हो सकता है महाराज मर्दनसिह के पुत्र उद्योतसिंह का समय तथा शैलीगत प्रौढ़ता; और बहिर्साक्ष्य हो सकता है प्रेमचन्द्रिका के छंदो का अन्य ग्रंथों में समावेश। राजा उद्योतसिह डौंडिया खेरा के राजा थे—उनका समय अठारहवीं शताब्दी का चतुर्थ चरण है।

विषय की गम्भीरता और शैली की परिपक्वता की दृष्टि से प्रेमचन्द्रिका रस-विलास की अपेक्षा अधिक प्रौढ ग्रन्थ है, इसमें संदेह नहीं। कवि की मनोवृत्ति वैचित्र्य और विस्तार से सिमट कर धीरे धीरे गंभीर और एकाग्र होती जा रही है, उसका झुकाव शरीर से मन तथा आत्मा की ओर—स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ रहा है। भवानी-विलास तथा र -विलास मे जिस आग्रह के साथ शृंगार-रस

और नारी की स्तुति की गई थी, प्रेमचन्द्रिका और सुजानविनोद में उसी आग्रह के साथ प्रेम का माहात्म्य वर्णित है—

भवानीविलास— भूलि कहत नवरस सुकवि, सकल मूल सिंगार।

रसविलास— काम अंधकारी जगत लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिए डोलत फिरत कामिनि छरी अनूप॥

प्रेमचन्द्रिका— ऐसे ही बिन प्रेमरस नीरस रस सिंगार।
प्रेम बिना सिंगार हू, सकल रसायन सार॥

❀ ❀ ❀

बानी बनिता रस मधू प्रभु प्रिय प्रेम अनूप।
आसी विष फाँसी विषम विषय विष महा कूप॥

इसमें बाह्य अलंकरण की अपेक्षा आंतरिक रसात्मकता के प्रति आग्रह अधिक है, शब्दों की व्यंजना-शक्ति अत्यन्त विकसित हो गई है। छन्दों की आवृत्ति के विचार से इसका साम्य भवानीविलास, प्रेमपचीसी और सुजानविनोद से अधिक है। दश दशाओं के उदाहरण इसमें और भवानी-विलास में बहुत कुछ एक से हैं, गोपी-प्रेमभक्ति के छन्द प्रेमपचीसी में मिलते हैं और प्रेम का वर्णन ज्यों का त्यों सुजानविनोद में दिया हुआ है। प्रेमचन्द्रिका के जिन छः दोहों में प्रेम और विषय का अन्तर दिया गया है, वे तो यथावत् सुजानविनोद में दिए ही हुए हैं, उनके उपरांत उसी के आगे पाँच दोहे और भी हैं। इस प्रसंग को पढ़कर यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि प्रेमचन्द्रिका से ही सुज़ान-विनोद में ये दोहे उद्धृत किए गये हैं। अगर क्रम उलटा होता तो सुजान-विनोद के सभी दोहे प्रेमचन्द्रिका में उद्धृत होते, क्योंकि उसके शेष पाँच दोहे भी काफ़ी सुन्दर और महत्वपूर्ण हैं। अतएव हमारी धारणा है कि प्रेमचन्द्रिका की रचना रस-विलास के उपरांत और सुजान-विनोद से पहले हुई है। उद्योतसिंह के समय को देखते हुए हम उसे संवत १७६० के आस-पास मान सकते हैं।

इसकी प्रामाणिकता में तो कोई सन्देह ही नहीं है, उसके लिए भी वे सभी साक्ष्य उपस्थित किए जा सकते हैं जो भवानीविलास तथा रसविलास के लिये दिए गए हैं। प्रेमचन्द्रिका का केवल एक वही संस्करण मिलता है जो मिश्रबन्धु-सम्पादित देवग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।

इसमें सब २२७ छन्द हैं जिनमें लगभग ५६ दोहे हैं और १७१ कवित्त-सवैया हैं। अन्य ग्रन्थों में तो सभी दोहे लक्षण या सिद्धांत प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु इसमें सर्वत्र ऐसा नहीं हुआ। इसके कुछ दोहे भी काव्यगुण

की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। प्रेमचन्द्रिका में नवीन छन्दों की संख्या अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है।

वर्ण्य-विषय—प्रेमचन्द्रिका शुद्ध प्रेम-रस का ग्रन्थ है। देव ने इसमें बड़े सशक्त शब्दों में विषय का तिरस्कार करते हुए प्रेम का माहात्म्य प्रतिष्ठित किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि देव का दृष्टिकोण रीतिकाल के शुद्ध शृंगारिक और शुद्ध प्रेमी कवियों का मध्यवर्ती था। पुस्तक में चार प्रकाश हैं। पहले में साधारण प्रेम का वर्णन है जिसके अंतर्गत प्रेम-रस, प्रेम-स्वरूप, प्रेम-माहात्म्य तथा प्रेम और विषय का अन्तर अत्यंत स्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया है। दूसरे प्रकाश में प्रेम के पाँच भेद किए गए हैं। सानुराग शृंगार, सौहार्द, भक्ति, वात्सल्य और कार्पण्य। सानुराग शृङ्गार का वास्तविक रूप मुग्धा के पूर्वानुराग में मिलता है—जिसका प्रस्फुटन अभिलाषादिक दश दशाओं में होता है। द्वितीय प्रकाश में इन्हीं का सविस्तर वर्णन है। तीसरे में मध्या और प्रौढ़ा का प्रेम है। देव का मत है कि मध्या का प्रेम कलह और प्रौढ़ा का गर्व से कलुषित होता है। इसके आगे परकीया के प्रेम की अभिव्यक्ति की गई है जो तल्लीनता की दृष्टि से ग्रन्थ का सब से सरस भाग है। चौथे प्रकाश में प्रेम के शेष चारों भेदों का क्रमशः गोपियों के सौहार्द, गोपियों की भक्ति, यशोदा के वात्सल्य और राजा नृग के कार्पण्य आदि के व्याज से वर्णन है।

प्रेमचन्द्रिका शुद्ध काव्य की दृष्टि से देव का सब से सरस ग्रंथ है। रीति-बन्धन से मुक्त होकर, इसमें कवि के अनुरागी मन ने समग्रतः डूब कर प्रेम के गीत गाये हैं। इतना आवेग, इतनी तल्लीनता, रीतिकाल में केवल घनानन्द को छोड़ अन्य किसी भी कवि में अप्राप्य है। यहाँ, वास्तव में प्रेम का वर्णन न होकर प्रेम की अभिव्यक्ति है— ऐसा प्रतीत होता है मानों कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पिघल कर बह उठा हो।

सुजान-विनोद या रसानन्द लहरी—

यह प्रेमचन्द्रिका के बाद की रचना है। इसमें प्रेम का साधारण-वर्णन प्रेम-चन्द्रिका से उद्धृत है—और मुग्धा के पूर्वानुराग की दस दशाओं, मध्या की आठ अवस्थाओं तथा प्रौढ़ा के दस हावों का वर्णन बहुत कुछ भवानी-विलास और रस-विलास से उद्धृत है। यहाँ भी प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा ही क्यों माना जाए कि ये वर्णन रस-विलास आदि से उद्धृत हैं, वास्तविकता इनके विपरीत भी हो सकती है। जहाँ तक रस-विलास का सम्बन्ध है, यह बड़ी सरलता से माना जा सकता है कि सुजानविनोद की रचना रस-विलास से कहीं अधिक प्रौढ़ है। रस-विलास में प्रधानता है जाति और देश के क्रमानुसार नायिका के भेद-विस्तार की, जो

रीति और काव्यगुण दोनों की ही दृष्टि से गाम्भीर्य्य के अभाव का द्योतक है। पर सुजान-विनोद में उसको त्याग दिया गया है, उसके विवेचन और दृष्टिकोण में स्पष्टतः स्थिरता है। इसके अतिरिक्त उसमें षट् ऋतु वर्णन को प्रधानता दी गई है—और षट् ऋतु के ये उत्कृष्ट छंद सुखसागर तरङ्ग को छोड़ और किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलते। अध्यात्म-सम्बन्धी काव्यों में तो उनके लिए स्थान ही क्या था, परन्तु नायिका-भेद के अन्य ग्रंथों में उनका न होना इस बात की ओर अवश्य संकेत करता है कि वे सभी सुजान-विनोद से पहले नहीं बन चुके थे क्यों कि ऐसे उत्कृष्ट छंदों को अपने नवीन ग्रंथो में उद्धृत करने का लोभ देव कठिनाई से ही संवरण कर पाते। प्रेमचन्द्रिका के विषय में तो अभी कहा जा चुका है कि वह सुजान-विनोद से पूर्व की रचना है। उसका समय यदि संवत् १७६० के आस-पास माना जाए तो सुजान विनोद की रचना सं० १७६५ के आस-पास मान लेना अनुचित न होगा।

मिश्रबन्धुओं ने स्पष्ट लिखा है कि सुजान-विनोद किसी व्यक्ति को समर्पित नहीं है—उन्होंने सुजान का अर्थ केवल सहृदय अथवा रसज्ञ ही माना है। परन्तु उसके विपरीत कुसमरा-निवासी पं० मातादीन दुबे के यहाँ सुरक्षित सुजान-विनोद की अपूर्ण प्रति में, तथा पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित के पास रखी हुई सम्वत् १८०७ की एक अन्य प्रति मे आरम्भ के १५ छंदों द्वारा आश्रयदाता का वर्णन किया गया है। उपर्युक्त दोनो प्रतियाँ हमने कुसमरा और भरतपुर जा कर स्वयं देखी हैं। मातादीन जी की प्रति भी काफ़ी पुरानी है—सम्भवतः देव के ही हाथ की हो। उधर दीक्षित जी की प्रति में तो लिपिकार ने संवत् १८०७ स्पष्ट ही दे दिया है। "शुभमस्तु श्रीरस्तु संवत् १८०७ मिती आश्विन मासे शुक्ल पच्छे सुदि ४ चतुर्थी वेनीधर त्रिपाठी स्वहस्ताक्षरस्तथा स्वपठनार्थं शुभम्।" यह प्रति मौलिक सुजान-विनोद से लिपि-बद्ध की गई मालूम पड़ती है। अतः ये छंद देव के नहीं हैं, ऐसा सन्देह करने के लिए कोई स्थान नही है। शैली देव की ही है। ऐसी दशा में यही माना जा सकता है कि मिश्रबन्धुओं की प्रति में ये छंद नहीं हैं।* भाव-विलास और रस-विलास की प्रतियो में भी ऐसा है। इन दिनों उपलब्ध संस्करणों में क्रमशः

> द्यौसरिया कवि देव कौ नगर इटायें वास।
> जोबन नवल सुभाव रस कीन्हों भावविलास॥

---

* वास्तव में मिश्रबन्धुओं की प्रति मे मातादीन और दीक्षित जी वाली प्रतियों के प्रारम्भिक २० छंद नहीं हैं जिनमें से पहले १५ में राजवंश का वर्णन है और शेष में प्रेम-माहात्म्य, प्रेम देव राधाहरि की महिमा, तथा संयोग वियोग की चर्चा है। वृन्दावन-माहात्म्य के २१ वें छंद से तीनों में समानता है।

तथा भोगीलाल-सम्बन्धी छंद नहीं मिलते। इस प्रकार यह सिद्ध है कि सुजान-विनोद की रचना दिल्ली के कायस्थ रईस पातीराम के सुपुत्र श्री सुजानमणि के विनोदार्थ हुई थी। वर्णन से प्रतीत होता है कि सुजानमणि वैभव-सम्पन्न, गुणज्ञ एवं दानी थे।

वर्ण्य-विषय :—सुजान-विनोद में ऋतुओं के अनुसार-अथवा यों कहिए कि विनोद-काल के अनुसार नायिका-भेद वर्णित है। शिशिर-वसन्त में शृङ्गार की उत्पत्ति होती है जिसकी पात्र है मुग्धा; ग्रीष्म-वर्षा विनोद का समय है जिसकी पात्र है मध्या, और शरद-हेमन्त विलास तथा उत्सव का समय है जिसकी पात्र है प्रौढा। इसमें सात विलास हैं, पहले में साधारण प्रेम का वर्णन है जो लगभग सभी प्रेम-चन्द्रिका से उद्धृत है। दूसरे और तीसरे में, शिशिर-वसन्त में रसोत्पत्ति की पात्र मुग्धा की चेष्टाओं, भेदों और पूर्वानुराग की दस दशाओं का वर्णन है, और चौथे में ग्रीष्म वर्षा में रस-प्रमोद की पात्र मध्या की आठ अवस्थाओं का वर्णन है। पांचवें विलास के विषय हैं प्रौढा के हाव, तथा रूप-प्रेम आदि का गर्व। इन वर्णनों के भी अधिकांश छन्द भवानी-विलास, रस-विलास और प्रेमचन्द्रिका से उद्धृत हैं। छठे और सातवें विलासों में केवल ऋतु-वर्णन है। यद्यपि ऋतु-वर्णन के भी अनेक छन्द पुराने ही हैं, फिर भी सुजान-विनोद का मौलिक अंश यही है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में ३२४ छन्द हैं जिनमें से ८६ दोहे कम कर देने से कवित्त और सवैयों की संख्या २३८ रह जाती है। परन्तु इनमें से आधे से अधिक छन्द पुराने हैं।

सुजानविनोद देव के प्रौढतम ग्रन्थों में से है—काव्य की दृष्टि से इसका और प्रेमचन्द्रिका का ही स्थान सर्वोच्च कहा जा सकता है। ये दोनों ग्रन्थ देव के प्रौढ जीवन की कृतियाँ हैं। कवि की रस-दृष्टि यहां आकर पूर्णतः परिपक्व होगई है, और वास्तव में इतनी प्रगाढ रसार्द्रता और किन्हीं ग्रन्थों में नहीं मिलती। यहां कवि की अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का सम्यक् सन्तुलन मिलता है। अनुभूति में जितनी गम्भीरता है, अभिव्यक्ति में उतनी ही शक्ति है।

राग-रत्नाकर—

राग-रत्नाकर भी लक्षण ग्रन्थ है—परन्तु इसका विषय साहित्य न होकर सङ्गीत है। सुजान-विनोद के उपरांत कवि का ध्यान शुद्ध काव्य के अतिरिक्त गम्भीर लक्षण-ग्रन्थों अथवा वैराग्य की कविता की ओर चल पड़ा था। राग रत्नाकर इसी समय की रचना मालूम पड़ती है। इसमें दो अध्याय हैं—पहले में छः रागों का उनकी भार्याओं सहित सांगोपांग वर्णन है, और दूसरे में तेरह उपरागों का उल्लेख मात्र है। रागों और उनकी भार्याओं का वर्णन रीति-निरूपण और काव्य दोनों की दृष्टि से अत्यन्त रोचक है। देव ने एक ही छन्द में

राग का स्वरूप, गाने का समय, सहचारी वाद्य, वाहन, भूषण तथा स्वर-लक्षण आदि समस्त ज्ञातव्य-बातों का निरूपण तो कौशल-पूर्वक किया ही है, इसके अतिरिक्त राग-भार्याओं का प्रतीकात्मक चित्रण भी बहुत सुन्दर किया है। इन सभी छन्दों में 'सुरंग में प्यौ धनी' शब्द माला की सम्पूर्णतः या अंशतः आवृत्ति हुई है, जिसमे शाब्दिक अर्थ के अतिरिक्त 'सा, रे, ग, म, प, ध, नी' का भी संकेत है। यह ग्रन्थ देव की बहुज्ञता का द्योतक है। श्री मिश्र बन्धुओं ने प्रसिद्ध संगीतज्ञ विंदादीन के द्वारा इसके राग विवेचन की परीक्षा कराई थी। विंदादीन जी का निर्णय है कि यह विवेचन सर्वथा शुद्ध और शास्त्र-सम्मत है। इससे स्पष्ट है कि देव साहित्य की ही नहीं सङ्गीत की भी रीतियों से पूर्णतः परिचित थे। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं है। शैली स्पष्ट रूप से देव की है, इसके अतिरिक्त ग्रन्थ के आरम्भ में तथा प्रत्येक अध्याय के अन्त में देव का नाम उसी परिचित शब्दावली में दिया हुआ है।

शब्द-रसायन—

'शब्द-रसायन' देव का सब से प्रौढ़ रीति-ग्रन्थ है—अन्य सभी ग्रन्थों में देव का कवि रूप मिलता है परंतु इसमे वे निश्चय-पूर्वक आचार्य रूप में प्रकट हुए हैं। शब्द-रसायन का रीति-विवेचन सर्वाङ्ग-पूर्ण एवं गम्भीर है। भाव-विलास में केवल शृङ्गाररस और ३६ अलङ्कारों का वर्णन है, परन्तु इसमें काव्य की महिमा, काव्य का स्वरूप, पदार्थ-निर्णय, नौ रस, दश-रीति, (गुण), चार-वृत्ति, अलंकार तथा पिंगल का सम्पूर्ण विवेचन है। उदाहरण-स्वरूप जो नवीन छन्द उद्धृत हैं, वे भी अत्यन्त प्रौढ़ हैं। इस प्रकार विषय और प्रतिपादन शैली दोनों की दृष्टि से शब्द-रसायन भाव-विलास से लेकर सुजान-विनोद तक सभी ग्रन्थों से गम्भीर है। नायिका-भेद को कवि ने एक हलका विषय समझ कर यहां छोड़ ही दिया है। यह ग्रन्थ किसी को भी समर्पित नहीं है, और न कहीं अन्यत्र इसका उल्लेख ही मिलता है। अतएव केवल अन्तर्साक्ष्य और वह भी केवल विषय और शैली की गम्भीरता एवं प्रौढता के बल पर ही यह निर्णय किया जा सकता है कि उसकी रचना नीति और विराग की कविता तथा देव की अन्तिम कृति सुख-सागर-तरंग को छोड़ शेष सभी ग्रन्थों के पश्चात् हुई होगी। देव के अन्तिम शृंगार-ग्रन्थ प्रेम-चन्द्रिका और सुजान-विनोद हैं जो रसविलास के बाद लिखे गये थे। पहले तो देव जी राजा भोगीलाल के यहां ही काफी दिनों तक रहे होंगे। फिर राजा उद्योतसिंह का आश्रय प्राप्त करने तथा उनके यहाँ रहने में, और अन्त में, दिल्ली जाकर सुजानमणि जी के आश्रय में रह कर सुजान-विनोद की रचना करने में भी पर्याप्त समय लगा होगा। रस-विलास का रचना संवत् १७८३ है, अतएव शब्द-रसायन का निर्माण-काल संवत् १८०० के आस-पास माना जा सकता है। शब्द-रसायन आज साहित्य-

सम्मेलन की कृपा से मुद्रित रूप में प्राप्त है। मुद्रित संस्करण के अतिरिक्त उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी अनेक उपलब्ध हैं। एक श्री मैथिलीशरण गुप्त की प्रति ना० प्र० स० काशी के कलाभवन में सुरक्षित है, दूसरी श्री कृष्णबिहारी जी के पास है, तीसरी मिश्रबन्धुओं की अपनी प्रति है, चौथी नागरी प्रचारिणी के पुस्तकालय में है, और इनके अतिरिक्त दो तीन प्रतियाँ प्रस्तुत संस्करण के सम्पादक श्री मनोज जी के पास भी हैं।

शब्दरसायन रीति का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है—इसमें एकादश प्रकाश है। पहले प्रकाश के आरम्भ में देव ने काव्य के माहात्म्य तथा समर्थ काव्य के स्वरूप का वर्णन किया है।

ऊंच नीच तरु कर्म बस, चलो जात संसार,
रहत भव्य भगवंत-जस, नव्य काव्य सुखसार।
रहत न घर बर, धाम, धन, तरुवर, सरवर कूप,
जस शरीर जग में अमर, भव्य काव्य रस-रूप।

समर्थ काव्य के स्वरूप के विषय में देव का मत है :—

शब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद बचननि अर्थ,
छन्द, भाव, भूषण सरस, सो कहि काव्य समर्थ।

इस प्रकार देव काव्य को जीवन की एक बहुत बड़ी विभूति मानते हैं—परन्तु उसका प्राण वे हरिजस को ही मानते हैं। आगे शब्दशक्तियों का सभेद विवेचन है। देव ने अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त इन तीनों में रमी हुई चौथी वृत्ति तात्पर्य्य के अस्तित्व को भी स्वीकृत किया है। शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध में उनका सिद्धांत है :—

तिहूँ शब्द के अर्थ में, तीनिउ ओत प्रोत,
पै प्रवीन ताही कहत, जाको अधिक उदोत।

इस विलास में लक्षणा का वर्णन अत्यन्त विस्तृत है—उसके, पहले, समस्त शुद्ध भेद दिये गए हैं। फिर मिलित लक्षणा के भेदों का भी निरूपण है। दूसरे प्रकाश में तीनों वृत्तियों के संकीर्ण भेदों का विवेचन है, यथा :—शुद्ध अभिधा, अभिधा में अभिधा, अभिधा में लक्षणा, अभिधा में व्यंजना और इसी प्रकार शुद्ध व्यंजना, व्यंजना में अभिधा, व्यंजना में लक्षणा, व्यंजना में व्यंजना। इसके उपरांत तीनों वृत्तियों के चार-चार मूल आधार-भेदों का निरूपण है। अभिधा के आधार-भेद :—जाति, क्रिया, गुण और यदृच्छा, लक्षणा के कार्य-कारण, सदृशता, वैपरीत्य और आक्षेप, व्यंजना के वचन, क्रिया, स्वर और चेष्टा। तीसरे विलास में रस-निर्णय है। इसके महत्व का प्रतिपादन करने के उपरांत कवि ने रस-लक्षण, रस-भेद

रसोत्पत्ति, रस के विभिन्न अंग—स्थायी, सात्विक संचारी आदि; तथा रसों के सापेक्षिक गौरव आदि का वर्णन किया है।

रस के इस विवेचन का आधार भाव-विलास और भवानी-विलास हैं:—स्थायी, सात्विक, संचारी आदि का वर्णन भाव-विलास पर आधृत है; रसों का पारस्परिक सम्बन्ध, विभिन्न रस-भेदों के लक्षण-उदाहरण प्रायः ज्यों के त्यों भवानी-विलास में से उद्धृत कर दिए गए हैं (यद्यपि उनका मूलाधार भानुदत्त की रस-तरंगिणी ही है।)। भाव-विलास में रस-तरंगिणी के अनुकरण पर जो कुछ नवीन भेदान्तर दे दिये गए हैं, उनको शब्द-रसायन में अनावश्यक विस्तार समझकर छोड़ दिया गया है। उदाहरण के लिए:—रस के लौकिक और अलौकिक भेद जिनके अन्तर्गत स्वाप्निक, मानोरथिक आदि का विवरण है, अथवा नवीन संचारी छल, या फिर भवानीविलास में दिए गए शांतरस के भेदान्तर। पांचवें प्रकाश में रसों की मित्रता और शत्रुता का विवेचन है—शत्रुरस भी किस प्रकार कवि-कौशल द्वारा मित्र बन जाते हैं, इसका प्रमाण दिया गया है। फिर सरस रस, उदास रस और निरस रस का वर्णन है—जिसमें निरस रस के देश, काल, विधि-संधि-भाव आदि के विरोध पर आधृत आठ भेदो का भी उल्लेख है; और उसके उपरांत रस के सम्मुख-विमुख, स्वनिष्ठ-परनिष्ठ रूप दिए गए हैं जो बहुत कुछ रस-तरंगिणी से ही अनूदित हैं। इसके आगे विभिन्न रसों के संचारियों का, और अंत में कौशिकी, आरभटी, भारती और सात्वती वृत्तियों का विवेचन है। छठे प्रकाश में प्रधान रस-शृंगार का विशेष विवरण है:—

> प्रकृति पुरुष शृंगार मैं नौ रस कौ संचार,
> जैसे मठ आकाश मे घटत अकास, प्रकास।

इन नौ रसों में से हास्य वीर और अद्भुत संयोग के अंग हैं, करुण, रौद्र और भयानक वियोग के, तथा वीभत्स और शांत रस दोनों के। रसों का यह संयोग नवीन है। भावविलास और भवानीविलास में इस प्रकार नहीं मिलता। इस प्रकाश में नायक-नायिका का भी संक्षिप्त वर्णन है, परन्तु वह विभाव के रूप में सीधा नहीं दिया गया है, वरन् शृंगार के वाच्य-वाचक, लक्ष्य-लाक्षणिक, तथा व्यंग्य-व्यंजक पात्रों के क्रम से अत्यन्त संक्षिप्त रूप में दिया हुआ है। वाचक पात्र हैं—शुद्ध-स्वभाव स्वकीया, अनुकूल पति, विद्यागुरु सखी, पीठमर्द नर्म सचिव, कुल-धर्म-उपदेशी धाय, दूती आदि; लाक्षणिक पात्र हैं—गर्व-स्वभाव स्वकीया, दक्षिण नायक, अतिसंग-धृष्टा-सखी, विटनर्म सचिव, परिजन-वधू दूती, वशीकरण दूती आदि; व्यंजक पात्र है—शुद्ध परकीया, शठ स्वभाव उपपति, विद्यानाट्य-गुरु सखी, नर्म-सचिव-विदूषक, पुरजन दूती, निंद्य कर्म उपदेशी, आदि। इसके आगे वाच्य-वाचक पात्र (गर्व-स्वभाव स्वकीया) और व्यंग्य-व्यंजक पात्र (शुद्ध

परकीया) की रसाभिव्यक्ति के अंगः—संचारी, सात्विक तथा अनुभाव आदि का वर्णन है। इस विवेचन के परिणाम स्वरूप देव का मत है :—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लच्छना लीन,
अधम व्यंजना रस-कुटिल, उलटी कहत नवीन।

देव के उपर्युक्त दोहे को लेकर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें कुछ झटके देने का प्रयत्न किया है और उनके अनुकरण पर दूसरे लोगों ने भी इस सिद्धांत पर आश्चर्य प्रकट किया है। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ प्रसंग से पृथक् करके नहीं समझा जा सकता। इस दोहे के साथ ही आपको देव का एक और दोहा भी ध्यान में रखना होगा :—

स्वीय मुग्ध मूरति सुधा, प्रौढ-सिता पयसिक्त,
परकीया कर्कससिता, मरिच-परिचयनि-तिक्त।

देव ने पात्र के क्रमानुसार अभिधा को स्वकीया से, और व्यंजना को परकीया से एक रूप कर देखा है—अतएव यह तिरस्कार व्यंजना का तिरस्कार नहीं है, परकीया द्वारा अभिव्यक्त रस का है। शुद्ध रसवादी होने के कारण देव अभिधा को प्रधानता तो देते ही थे, इसमें संदेह नहीं, किन्तु इतने अनाडी नहीं थे कि व्यंजना को केवल पहेली बुझौवल ही मान बैठते।

सातवें प्रकाश में रीति का वर्णन है। रीति से तात्पर्य देव ने गुण का लिया है, और उसको काव्य का द्वार अर्थात्, शायद, अभिव्यक्ति का माध्यम माना है। रीति अर्थात् गुण साधारणतः दस हैं, जिनके नागर और ग्रामीण दो दो भेद हैं। परन्तु यमक और अनुप्रास को मिलाकर उनकी संख्या बारह हो जाती है। आठवें प्रकाश का वर्ण्य विषय है, चित्रकाव्य। चित्रकाव्य को देव ने अधम काव्य माना है, उसमें केवल शब्दचित्रों का ही आकर्षण है। चित्र के मूलतत्व हैं, अनुप्रास और यमक; इस प्रकाश में पहले इन्हीं का वर्णन किया गया है। सिंहावलोकन का उल्लेख दास से पहले देव ने किया है, परन्तु उसे स्वतंत्र अलंकार न मानकर अनुप्रास का ही भेद माना है। इसके उपरांत कामधेनु आदि अनेक चित्रबन्धों का चक्रव्यूह रचा गया है। यह सब भिन्न रुचि के लोगों के परितोष के लिए ही किया गया है। देव का अपना सिद्धांत तो स्पष्टतः ही यह है—

मृतक काव्य बिनु अर्थ को, कठिन अर्थ के प्रेत।
सरसभाव, रस काव्य सुनि, उपजत हरि सों हेत॥

नवें प्रकाश में अर्थालंकार हैं, भावविलास के ३६ अलंकारों को छोड़ देव ने यहाँ ४० मुख्य और ३० गौण अलंकारों का विवरण किया है। उन सबका मल माना है उपमा को, जिसका कि यहां काफ़ी विस्तार किया गया है। अंतिम

दो प्रकाश पिंगल को समर्पित हैं। आरम्भ में गद्य और पद्य का साधारण परिचय देकर गण, गणदेवता आदि का विवरण है, फिर मुख्य छंदों का संक्षेप में वर्णन है। इस वर्णन की दो विशेषताएँ हैं: एक तो लक्षण और उदाहरण एक ही छंद में दिये गए हैं, दूसरे, छंदों का वर्णन गणों के क्रम से किया गया है अर्थात् एक गण से चलने वाले सभी छंदों का वर्णन एक साथ ही दिया गया है। सवैया का वर्णन करते हुए, उसके सभी भेदों के लक्षण केवल भगण के द्वारा ही समझाये गये हैं। दण्डकों में देव ने ३२ वर्णों के दण्डक के रूप में एक नया आविष्कार किया है।

इस प्रकार काव्य के लगभग सभी अंग शब्दरसायन के अंतर्गत आ जाते हैं। कवि ने प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करके अत्यन्त परिश्रम-पूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की है। इसका नाम शब्दरसायन इसलिए रखा गया है, कि इसमें शब्द और अर्थ दोनों के रस का सार दिया गया है।

शब्दरसायन नाम यह, शब्द-अर्थ रस सार।

जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है, यह ग्रन्थ शुद्ध रीति-निरूपण के निमित्त रचा गया है, अतएव जहाँ अन्य ग्रन्थों में कवि की दृष्टि लक्षण से अधिक उदाहरण पर केन्द्रित रही है, यहाँ हम उसे अत्यन्त परिश्रमपूर्वक रीति-तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए पाते हैं। शब्दरसायन में प्रत्येक उदाहरण के बाद दोहों के द्वारा लक्षण और उदाहरण का सम्बन्ध घटाते हुए अभीष्ट तथ्य की व्याख्या की गई है, परन्तु फिर भी साहित्य के ये जटिल विषय छोटे छोटे छंदों में कैसे स्पष्ट हो सकते हैं। देव की ओर से भरसक प्रयत्न होने पर भी शब्द-शक्ति, रीति और अलंकार तीनों का निरूपण सर्वथा अस्पष्ट ही रह गया है। आपको यदि इन विषयों का ज्ञान पहले से ही है, तब तो अवश्य आप शब्द-रसायन को पढ़ कर कुछ प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यदि आप केवल उसी पर आश्रित हैं, तो आपका साहित्यिक ज्ञान सर्वथा अपरिपक्व ही रहेगा। देव के निरूपण में एक और दोष है: उनकी उलझी हुई अभिव्यक्ति, जो काव्य में थोड़ी बहुत निभ भी जाये परन्तु रीति-विवेचन में सर्वथा असमर्थ ही सिद्ध होती है। उदाहरणों की दुरूहता से यह उलझन और भी बढ़ जाती है। दास, मतिराम, प्रतापसहि की भाषा की स्वच्छता यहाँ अप्राप्य है, अतएव देव का विवेचन भी उनका जैसा स्वच्छ नहीं हो पाया। अलंकार-प्रसंग में उपमा, स्वभावोक्ति, रूपक आदि कुछ मुख्य अलंकारों को छोड़ शेष का बहुत ही चलता निरूपण किया गया है, एक ही छंद में तीन-तीन चार-चार अलंकारों को उदाहृत कर दिया गया है। वास्तव में उपर्युक्त विषय देव को अधिक प्रिय नहीं थे। उनका प्रिय विषय था रस, और रस का विवेचन शब्द-रसा-

यन में अपेक्षाकृत बहुत ही सुव्यक्त एवं स्पष्ट है, साथ ही रस के विषय में देव के मूलगत सिद्धांत भी अत्यत सशक्त और दृढ हैं। इसके अतिरिक्त पिंगल का वर्णन भी अपेक्षाकृत सुलझा हुआ है—कवि को विषय का अच्छा ज्ञान है, और उसने कौशलपूर्वक उसका प्रयोग किया है। सब मिलाकर और रीतिकाल की सीमाओं को भी ध्यान में रखते हुए, शब्द-रसायन को उसके गौरव-पद से वंचित नहीं किया जा सकता। और यह गौरव-पद उसे सदैव प्राप्त रहा है। शिवसिंह सेंगर साक्षी हैं कि उनके समय में काव्यरीति के जिज्ञासु शब्दरसायन का पाठ्य-ग्रंथ के रूप में अध्ययन किया करते थे।

देव-चरित्र

शब्द-रसायन के निर्माण तक देव ७० वर्ष के आस-पास पहुँच चुके होंगे। आरम्भ में ही उनकी प्रकृति में एक तत्व ऐसा अवश्य मिलता है जो राग-लिप्त उनके हृदय को कभी-कभी बड़े ज़ोर से वैराग्य की ओर धकेल देता था। ७० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते पहुँचते यह तत्व इतना प्रबल हो चुका होगा कि उनकी रसिकता पर भी हावी हो जाए। उधर, कृष्ण को शुद्ध शृंगार-नायक रूप में ग्रहण करने की अवस्था से परब्रह्म रूप में उनका चिंतन करने की अवस्था तक पहुँचने में थोडा समय अवश्य लगा होगा। इस बीच में उनके अलौकिक चरित्र का स्तवन करना आवश्यक था। क्योंकि वही इन दोनों अवस्थाओं का संधि-काल है। अतएव हमारी धारणा है कि उनके विराग-काल की पहली रचना देव-चरित्र ही है। भाव-विलास से लेकर शब्दरसायन तक कृष्ण को शुद्ध शृंगार-प्रतीक रूप मे चित्रित करते रहने के उपरान्त, देव ने इस ग्रन्थ मे उनके विभिन्न चरित्रों का वर्णन करते हुए रसिकराय के लोक पावन रूप की भी यत्किञ्चित् झाँकी दी है। देव-चरित्र में ५५० छंद हैं, जिनमें लगभग १० पुराने हैं, शेष सभी नये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ एक ही भाग मे समाप्त है, इसमें कोई अंतर्विभाग नहीं है। स्वयं देव के शब्दों मे, इसमें कृष्ण के गुणकर्म का सूक्ष्म वर्णन है। ग्रन्थ का आरम्भ श्री-कृष्ण जन्म और ब्रज-सौभाग्य से होता है। अपूर्व पुण्यवती यशोदा के गर्भ से कृष्ण का जन्म होते ही सम्पूर्ण ब्रज मे मानो सौभाग्य उमड उठा है, सारी वसुधा ब्रज को अंक मे भरने के लिए लालायित हो रही है। कृष्ण अभी छः दिन के भी नहीं हो पाये कि उन्होंने दुष्ट बकी और तृणावृर्त राक्षस का वध कर डाला। फिर क्रमशः छठी और नामकरण का वर्णन है। अब कृष्ण का शिशुरूप थोडा विकसित हो गया है, उनके मोहक सौंदर्य और लीलाओं को देखकर यशोदा तथा अन्य गोपियाँ वात्सल्य-गद्‌गद् हो जाती हैं। माखन-चोरी भी आरंभ हो गई

दो प्रकाश पिंगल को समापत हैं। आरम्भ में गद्य और पद्य का साधारण परिचय देकर गण, गणदेवता आदि का विवरण है, फिर मुख्य छंदों का सं प में वर्णन है। इस वर्णन की दो विशेषताएँ हैं: एक तो लक्षण और उदाहरण एक ही छंद में दिये गए हैं, दूसरे, छंदो का वर्णन गणों के क्रम से किया गया है अर्थात् एक गण से चलने वाले सभी छंदों का वर्णन एक साथ ही दिया गया है। सवैया का वर्णन करते हुए, उसके सभी भेदों के लक्षण केवल भगण के द्वारा ही समझाये गये हैं। दण्डकों मे देव ने ३२ वर्णों के दण्डक के रूप मे एक नया आविष्कार किया है।

इस प्रकार काव्य के लगभग सभी अंग शब्दरसायन के अंतर्गत आ जाते हैं। कवि ने प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करके अत्यन्त परिश्रम-पूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की है। इसका नाम शब्दरसायन इसलिए रखा गया है, कि इसमें शब्द और अर्थ दोनों के रस का सार दिया गया है।

शब्दरसायन नाम यह, शब्द-अर्थ रस सार।

जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा है, यह ग्रन्थ शुद्ध रीति-निरूपण के निमित्त रचा गया है, अतएव जहाँ अन्य ग्रन्थों में कवि की दृष्टि लक्षण से अधिक उदाहरण पर केन्द्रित रही है, यहाँ हम उसे अत्यन्त परिश्रमपूर्वक रीति-तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए पाते हैं। शब्दरसायन में प्रत्येक उदाहरण के बाद दोहों के द्वारा लक्षण और उदाहरण का सम्बन्ध घटाते हुए अभीष्ट तथ्य की व्याख्या की गई है, परन्तु फिर भी साहित्य के ये जटिल विषय छोटे छोटे छंदों में कैसे स्पष्ट हो सकते हैं। देव की ओर से भरसक प्रयत्न होने पर भी शब्द-शक्ति, रीति और अलंकार तीनों का निरूपण सर्वथा अस्पष्ट ही रह गया है। आपको यदि इन विषयों का ज्ञान पहले से ही है, तब तो अवश्य आप शब्द-रसायन को पढ़ कर कुछ प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु यदि आप केवल उसी पर आश्रित हैं, तो आपका साहित्यिक ज्ञान सर्वथा अपरिपक्व ही रहेगा। देव के निरूपण में एक और दोष है: उनकी उलझी हुई अभिव्यक्ति, जो काव्य में थोड़ी बहुत निभ भी जाये परन्तु रीति-विवेचन में सर्वथा असमर्थ ही सिद्ध होती है। उदाहरणों की दुरूहता से यह उलझन और भी बढ जाती है। दास, मति-राम, प्रतापसहि की भाषा की स्वच्छता यहाँ अप्राप्य है, अतएव देव का विवेचन भी उनका जैसा स्वच्छ नहीं हो पाया। अलंकार-प्रसंग में उपमा, स्वभावोक्ति, रूपक आदि कुछ मुख्य अलंकारों को छोड शेष का बहुत ही चलता निरूपण किया गया है, एक ही छंद में तीन-तीन चार-चार अलंकारों को उदाहृत कर दिया गया है। वास्तव में उपर्युक्त विषय देव को अधिक प्रिय नहीं थे। उनका प्रिय विषय था रस, और रस का विवेचन शब्द-रसा-

यन में अपेक्षाकृत बहुत ही सुव्यक्त एवं स्पष्ट है, साथ ही रस के विषय में देव के मूलगत सिद्धांत भी अत्यत सशक्त और दृढ़ हैं। इसके अतिरिक्त पिंगल का वर्णन भी अपेक्षाकृत सुलझा हुआ है—कवि को विषय का अच्छा ज्ञान है, और उसने कौशलपूर्वक उसका प्रयोग किया है। सब मिलाकर और रीतिकाल की सीमाओं को भी ध्यान में रखते हुए, शब्द-रसायन को उसके गौरव-पद से वंचित नहीं किया जा सकता। और यह गौरव-पद उसे सदैव प्राप्त रहा है। शिवसिंह सेंगर साक्षी हैं कि उनके समय में काव्यरीति के जिज्ञासु शब्दरसायन का पाठ्य-ग्रंथ के रूप में अध्ययन किया करते थे।

देव-चरित्र

शब्द-रसायन के निर्माण तक देव ७० वर्ष के आस-पास पहुँच चुके होंगे। आरम्भ में ही उनकी प्रकृति में एक तत्व ऐसा अवश्य मिलता है जो राग-लिप्त उनके हृदय को कभी कभी बड़े ज़ोर से वैराग्य की ओर धकेल देता था। ७० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते पहुँचते यह तत्व इतना प्रबल हो चुका होगा कि उनकी रसिकता पर भी हावी हो जाए। उधर, कृष्ण को शुद्ध शृंगार-नायक रूप मे ग्रहण करने की अवस्था से परब्रह्म रूप में उनका चिंतन करने की अवस्था तक पहुँचने में थोड़ा समय अवश्य लगा होगा। इस बीच में उनके अलौकिक चरित्र का स्तवन करना आवश्यक था। क्योंकि वही इन दोनों अवस्थाओं का संधि-काल है। अतएव हमारी धारणा है कि उनके विराग-काल की पहली रचना देव-चरित्र ही है। भाव-विलास से लेकर शब्दरसायन तक कृष्ण को शुद्ध शृंगार-प्रतीक रूप में चित्रित करते रहने के उपरान्त, देव ने इस ग्रन्थ मे उनके विभिन्न चरित्रों का वर्णन करते हुए रसिकराय के लोक पावन रूप की भी यत्किञ्चित् झाँकी दी है। देव-चरित्र में ५४० छंद हैं; जिनमें लगभग १० पुराने हैं, शेष सभी नये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ एक ही भाग में समाप्त है, इसमें कोई अंतर्विभाग नहीं है। स्वयं देव के शब्दों में, इसमें कृष्ण के गुणकर्म का सूक्ष्म वर्णन है। ग्रन्थ का आरम्भ श्री-कृष्ण जन्म और व्रज-सौभाग्य से होता है। अपूर्व पुण्यवती यशोदा के गर्भ से कृष्ण का जन्म होते ही सम्पूर्ण व्रज में मानो सौभाग्य उमड उठा है, सारी वसुधा व्रज को अंक में भरने के लिए लालायित हो रही है। कृष्ण अभी छः दिन के भी नहीं हो पाये कि उन्होने दुष्ट वकी और तृणावृर्त राक्षस का वध कर डाला। फिर क्रमशः छठी और नामकरण का वर्णन है। अब कृष्ण का शिशुरूप थोड़ा विकसित हो गया है, उनके मोहक सौंदर्य और लीलाओं को देखकर यशोदा तथा अन्य गोपियाँ वात्सल्य-गद्‌गद् हो जाती हैं। माखन-चोरी भी आरंभ हो गई

है। आगे वृन्दावन-प्रयाण, फिर क्रमशः वकासुरवध, कालवन-वध, कालिय-दमन और प्रलम्बासुर के नाश का वर्णन है। चीर-हरण का वर्णन केवल दो छंदों में बहुत चलता हुआ किया है। इसके उपरान्त गोवर्धन-लीला, वरुण से नंद की मुक्ति और तत्पश्चात् रास-रस का विस्तृत वर्णन है। कुछ दिन बाद ही अक्रूर आजाते हैं, और कृष्ण ब्रजवासियों को अत्यन्त शोकाहत अवस्था में छोड़ मथुरा चले जाते हैं। वहाँ दुर्विनीत रजक को दण्ड देकर कुब्जा का उद्धार कर, और कंस के समस्त उत्पातों और शक्तियों को विफल कर भरी सभा में उसका वध कर डालते हैं। यहाँ तक तो कथा की रेखा सर्वथा स्पष्ट है, उसकी घटनाओं में भी पर्याप्त रंग हैं। पर आगे केवल सात छन्दों में जरासंध के भय से कृष्ण का द्वारका-गमन, रुक्मिणी-स्वयंवर, [सत्यभामा-वरण, भौमासुर के बन्धन से सोलह सहस्र रानियों का उद्धार तथा उनका पत्नी रूप में ग्रहण, रुक्मिणी के पुत्र का जन्म, महाभारत में पाण्डवों की सहायता आदि अनेक छोटे बड़े प्रसंगों का अत्यन्त संक्षिप्त तथा खण्डित वर्णन है। अन्त में कृष्ण के अपार ऐश्वर्य की महिमा एवं उनकी वन्दना के साथ ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार देव-चरित्र कवि का प्रथम और एक मात्र खण्ड काव्य है। केवल १९० छन्दों में सम्पूर्ण कृष्ण-चरित्र को संकलित कर दिया गया है, इससे साधारणतः यही विचार उठता है कि कथा-प्रवाह सर्वथा खण्डित होगा, परन्तु वास्तव में स्थिति इतनी असन्तोषजनक नहीं है। ब्रजराज कृष्ण की सभी लीलायें एक सूत्र में गुंथी हुई हैं और उनके वर्णन भी रंग-भरे हैं। बाल-क्रीडाओं में वात्सल्य, कालियदमन तथा गोवर्धन-धारण के वर्णनों में करुण, और रास लीला में शृंगार का सम्यक् परिपाक है। कंस-वध प्रसंग का वीर रस भी अपुष्ट नहीं है। वास्तव में चित्रण-कला में देव अत्यन्त प्रवीण थे। अतएव जहाँ उनको थोड़ा अवकाश मिला है, उन्होंने परिस्थिति और भावना के काफ़ी सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। जहाँ ऐसा नहीं हुआ, जहाँ कवि प्रसंग पर ठहरा नहीं है, वहाँ कविता इति-वृत्त-कथन के धरातल पर उतर आई है। और अन्त में जाकर तो सूत्र ही खण्डित हो गया है। देव-चरित्र खण्ड काव्य की दृष्टि से अधिक सफल नहीं है, परन्तु वह इतना संकेत अवश्य करता है कि कवि में कथा-निर्वाह की प्रतिभा निस्सन्देह थी और यदि इस ओर वह ध्यान देता तो अवश्य ही उसका यथेष्ट विकास कर सकता था।

देव-मायाप्रपंच नाटक—

देव-माया-प्रपंच विषय की गंभीरता और शैली की दृष्टि से देव चरित्र के बाद की रचना ठहरती है। यह अब तक अप्राप्य ग्रन्थ समझा

जाता था, परन्तु इसकी एक अत्यन्त प्राचीन प्रति देव के पौत्र छत्रपति की लिखी हुई पं० मातादीन के पास है और एक पं० कृष्णबिहारी जी के यहाँ मौजूद है। कवि इस समय किसी के आश्रित नहीं था। उसकी विराग-भावनायें धीरे धीरे अत्यन्त पुष्ट होती जा रही थी। देव-चरित्र में जहाँ मूर्त तथ्यों का वर्णन है देव-माया-प्रपंच मे वहाँ जीवन के सूक्ष्मतम तत्वों का विवेचन है। देव-चरित्र की शैली जहाँ शुद्ध वर्णनात्मक है वहाँ देव-माया-प्रपंच की शैली में सांकेतिकता एवं प्रतीकात्मकता भी मिलती है।

प्रामाणिकता:—देव-माया-प्रपच देव-कृत रचना है, इस विषय में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने सन्देह प्रकट किया है परन्तु वास्तव में उसके लिये कोई स्थान नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में कवि ने स्पष्ट ही अपने नाम का उल्लेख किया है—

"हृदै बसौ कवि देव के सतसंगति को पाय।"

इसके अतिरिक्त शैली पर भी देव की छाप असंदिग्ध है, और सब से पुष्ट प्रमाण यह है कि ऐसे कुछ छन्द जो देव के सर्व-स्वीकृत ग्रन्थों में मिलते है, इसमें भी उद्धृत हैं। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छन्द देव-माया-प्रपंच तथा देव-शतक के जगदर्शन-पचीसी खण्ड दोनों में उद्धृत है

हाय दई यह काल के ख्याल में फूल से फूलि सबै कुम्हिलाने।
देव अदेव सभी बल हीन चले गये मोह की हौंस हिलाने॥
या जग बीच बचै नहीं मीचु पै, जे उपजे ते मही में मिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहाँ उपजे ते वहाँ ही बिलाने॥

इसी प्रकार एक और छन्द लीजिये जो देव-माया-प्रपंच और शब्द-रसायन दोनों में मिलता है।

अंतरु कै नहिं, अंतरु कैं, मिलि अंतरु कै, सुनिरंतरु धारै,
ऊपर बाहि न, ऊपर बाहित, ऊपरि बाहिर की, गति चारै;
बातन हारति, बात न हारति, हारति जीभ न बातन हारै,
'देव' रंगी सुरत्यों, सुरत्यों, मनु देवर की, सुरत्यों न बिसारै।

देव-माया-प्रपंच प्रबोध-चन्द्रोदय की शैली पर लिखा हुआ पद्य-बद्ध नाट्य-रूपक है। इसकी कथा का मूल सूत्र इस प्रकार है: परं पुरुष के दो पत्नियाँ हैं—एक प्रकृति दूसरी माया। प्रकृति से बुद्धि का जन्म होता है, माया से मन का। मन पर माया का प्रभाव इतना बढ़ जाता है कि वह पिता, विमाता और बहिन तीनों से विद्रोह कर बैठता है। परं पुरुष माया का बन्दी बन जाता है। बुद्धि भी इस यंत्रणा से क्षुब्ध होकर मन से भटक जाती है। कुछ समय इधर उधर भटकने

के बाद वह जन-श्रुति के उपदेश से सत्संगति से मिलती है। फिर धर्मपक्ष और अधर्मपक्ष से युद्ध होता है। परन्तु तर्क की गुप्त मंत्रणा से मन का मोह पहिले ही दूर हो जाता है। वह माया के फन्दे से छूट कर बुद्धि से और फिर अपने पिता से मिलता है। उधर अधर्म पक्ष की पूर्ण पराजय होती है। माया के बंधन से परं पुरुष मुक्त हो जाता है। अन्त में प्रकृति, मन और बुद्धि सब का परं पुरुष से संयोग हो जाता है।

नाटक में छः अंक हैं। पहले में प्रस्तावना है; जिसमें नान्दी-पाठ के उपरान्त सूत्रधार रंगमंच पर उपस्थित हो कर निम्नलिखित सांकेतिक दोहा पढ़ता है :

सुत भूल्यौ सुत के भये, पर्यौ पिता सों बीचु।
मातु मते भगिनी तजी, घर घर नाच्यो नीचु॥

इधर वह इसका अर्थ स्पष्ट करने का उपक्रम करता है, उधर नेपथ्य में से एक बाला विलाप करती हुई प्रकट होती है। बस यहीं से नाटक की कथा आरम्भ हो जाती है जो एक प्रकार से उपर्युक्त दोहे का ही व्याख्यान है। जनश्रुति आकर नट आदि को यह बतलाती है कि यह बाला बुद्धि है जो अपने बन्धु से वियुक्त हो कर भटकी फिर रही है। इसके लिये एक ही गति है; वह है संगति की शरण में जाना। इतने मे ही कलि के आने का उत्पात सुनाई पड़ता है। दूसरे अंक में कलि का कलह और कलंक से सम्मिलन होता है, ये आपस में मिल कर बुद्धि और सत्संगति के संयोग के परिणामों पर विचार करते हैं। अंक के अन्त में दृश्य बदल जाता है। यह संगति का रम्य प्रदेश है जहाँ बुद्धि को लेकर जनश्रुति जा पहुँचती है। तीसरे अंक में सत्संगति और उसकी अनुवर्तिनी श्रद्धा, करुणा, तत्वचिंता आदि द्वादश कन्याओं का वर्णन है जो सभी अपने अपने अनुसार बुद्धि को उपदेश देती है। बुद्धि को वही छोड कर अब जनश्रुति कपट वेश धारण कर माया नगरी का भेद लेने के लिए जाती है। वहाँ उसकी तृथा-पुष्ट, व्यभिचार आदि से भेंट होती है। माया नगरी का वैभव अपार है, उसके वर्णाश्रम, उसके योद्धा, उसके शास्त्रकार सभी उसी के अनुकूल हैं। जनश्रुति के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर सहजानन्द, इच्छानन्द, लिंगानन्द आदि उसको अपने अपने मत की दीक्षा देने का प्रयत्न करते हैं; धूर्तराज तंत्र, मंत्र, यंत्र आदि का बखान करते है। अन्त मे, माया की स्तुति के साथ अंक समाप्त होता है। छठे अंक में ज्यों ही युवराज मन का राज्याभिषेक समाप्त होता है त्यों ही सत्संगति पक्ष के सेनानायक शांतानन्द के दूत उनके पास आते हैं और शांतानन्द का उपदेश उनको सुनाते हैं। अवसर पाकर तर्क मन के भ्रम को दूर कर देता है और वह जनश्रुति और तर्क के साथ माया के नगर से भाग कर बुद्धि के पास पहुंच जाता है। इधर माया अहंकार का अभिषेक

कर उसे शांतानन्द आदि से युद्ध करने भेजती है। युद्ध में माया की पूर्ण पराजय होती है; उसके समस्त योद्धा नष्ट हो जाते हैं और वह स्वयं भाग जाती है। पूर्ण पुरुष इस प्रकार बन्धन से मुक्त हो जाता है और अन्त मे मन बुद्धि और प्रकृति आकर उससे मिल जाते हैं।

रूपक का दार्शनिक आधार तो सर्वथा स्पष्ट ही है, माया का प्रपंच बड़ा भयंकर है। स्वयं पूर्ण पुरुष भी उसके बंधन मे फँस-कर अनेक यातनाये भोगता है। उसी के प्रभाव से मन बुद्धि का तिरस्कार कर काम क्रोध आदि के वशीभूत हो जाता है। अंत मे जब सत्संगति तथा श्रद्धा, करुणा आदि के प्रभाव से बुद्धि शुद्ध हो जाती है और मन उसे पुनः प्राप्त कर लेता है तो उसका मोह नष्ट हो जाता है, माया का प्रभाव दूर हो जाता है, और आत्मा पुनः अपने शुद्ध-बुद्ध चेतन स्वरूप को प्राप्त करता है। कथा के सैद्धान्तिक तथा इति-वृत्तात्मक पत्तों मे सामंजस्य का निर्वाह प्रायः ठीक ही हुआ है। अतएव रूपक की दृष्टि से उसमें कोई असंगति नहीं है।

श्री मिश्रबन्धुओं ने देव-माया-प्रपंच को अवनाटक माना है, शायद उनका तात्पर्य यह है कि इसमे कार्य-व्यापार का अभाव है। परन्तु यह तो रूपक की अनिवार्य सीमा है। इसके अतिरिक्त उसका कथा-विकास ठीक ही है। घटनाएँ सहज क्रम से आगे बढ़ती हैं। वर्णनो में भी वास्तविकता, रोचकता और रस की कमी नहीं है। माया के वैभव का वर्णन बहुत सुन्दर है। चौथे और पाँचवे अङ्क में व्यभिचार, धूर्तराज और विभिन्न शास्त्रकारो को बातचीत बडी सजीव है। दृश्य-विधान भी काफी अच्छा है। इसके अतिरिक्त कवि ने मुद्राओं के सूक्ष्म वर्णन देकर रंग-संकेत का भो नियोजन स्थान स्थान पर किया है :—

> पछिताय कलह रिसाय कलि सों, 'क्यौ दई तुम छोरि'।
> मुख मोरि नाक सकोरि त्यौरी तोरि भोह मरोरि॥

भाषा मे गति है और प्रसंगोचित चांचल्य भी है। सूक्ष्म तत्वो को मूर्त रूप में अंकित करने में कवि ने सफलता-पूर्वक प्रतीकात्मक एव सांकेतिक प्रयोगो का उपयोग किया है। श्रद्धा, करुणा आदि के वर्णन पूर्णतः प्रतीकात्मक हैं, क्षमा, तुष्टि आदि के सांकेतिक।

प्रबोध-चंद्रोदय का प्रभाव :—इस प्रकार के सैद्धान्तिक रूपकों का आदर्श कृष्ण मिस्र का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक ही रहा है। देव के सम्मुख भी यही आदर्श था, इसमें संदेह नहीं। दोनो की शैली तो एक-सी है ही, दोनों के प्रतिपाद्य में भी थोडी बहुत समानता है। प्रबोधचन्द्रोदय का प्रतिपाद्य शांकराद्वैत सिद्धान्त है, देवमायाप्रपंच में भी उसी का ही प्रतिपादन है। उधर दम्भ, मोह,

श्रद्धा आदि कुछ पात्र भी समान हैं। बस इसके आगे कोई समानता नहीं है। कथावस्तु दोनों की सर्वथा भिन्न है और आत्मा में भी किसी प्रकार का साम्य नहीं है।

देवशतक—

देवशतक में चार पृथक पच्चीसियां हैं—जगदर्शन-पच्चीसी, आत्म-दर्शन-पच्चीसी, तत्व-दर्शन-पच्चीसी और प्रेम-पच्चीसी। इनमें प्रेम-पच्चीसी तो निश्चित ही रस-विलास से पूर्व की रचना है क्योंकि रस-विलास में उसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है—'अथ उपदेश-प्रलाप वर्णन—तथा प्रेम-पचीसी में वैराग्य-सत्य कह्यौ है। (रस-विलास, भारत जीवन प्रेस) उपर्युक्त उद्धरण से यह भी अनुमान होता है कि प्रेम-पचीसी या प्रेम-पच्चीसी का पूर्णरूप थोड़ा इससे भिन्न था। इसमें कुछ छंद तो भवानी-विलास से उद्धृत है, शेष अनुमानतः उसी के पश्चात् रचे गये हैं। बाद मे, तन्मयता, उन्माद आदि के ये छंद रस-विलास में और गोपियों की प्रेम-भक्ति के छंद प्रायः ज्यों के त्यों प्रेम-चन्द्रिका में उद्धृत कर दिए गए हैं।

प्रथम तीन पच्चीसियों के प्रायः छंद मौलिक ही हैं। इन छंदों में जगत् की असारता, उसमें लिप्त रहने के लिये जीव की भर्त्सना और अंत में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन है। यौवन के श्रृंगार-छंदों की भांति ये वैराग्य-छंद भी कवि की सच्ची आत्माभिव्यक्ति है। वास्तव में इनमें से अनेक छंदों मे तो जैसे उसकी आत्मा अपनी असहायावस्था पर फूट फूट कर रो उठी है। देव मे तीव्र राग के साथ ही विराग की चेतना आरम्भ से ही वर्तमान थी, जीवन के कटु अनुभवों से उद्दीप्त होकर वृद्धावस्था में वह स्वभावतः ही पूर्णतया परिपक्व हो गई थी। अतएव इसमें संदेह नही है कि ये छंद उसकी वृद्धावस्था की ही सृष्टि है और उनकी रचना देव-माया-प्रपन्च आदि के बाद ही हुई है—क्योंकि देवमाया-प्रपन्च आखिर एक क्रम-बद्ध प्रयत्न है जिसमें कवि-कौशल की चेतना भी स्पष्टतः वर्तमान है। ज्यों ज्यों कवि की अवस्था बढती गई होगी, यह चेतना निश्चित ही कम होती गई होगी, और अन्त में लिखे हुए छंदों मे शुद्ध आत्माभिव्यक्ति मात्र ही रह गई होगी। इसलिए कवि की अंतिम रचना ये पच्चीसियाँ ही प्रतीत होती हैं। अपने अंतिम दिनों मे वृद्ध कवि ने एक क्रम-बद्ध नाट्य-रूपक न लिखकर, वैराग्य के फुटकर छंद ही लिखे होंगे, ऐसा अनुमान सहज ही किया जा सकता है। इनके बाद शायद उसने कुछ लिखा नहीं—बस अपने पूर्व लिखित रस के छंदों को सुखसागर-तरङ्ग में संगृहीत कर अकबरअलीखां को समर्पित कर दिया। इस शतक मे १०३ छंद हैं—

जिनमें लगभग ७५ नये हैं। जगद्दर्शन-पच्चीसी में २६ छंद हैं—जिनका वर्ण्य विषय जीवन और जगत की निस्सारता है। आत्म-दर्शन-पच्चीसी मे २५ छंद हैं जिनमें जीव के भ्रम का वर्णन है। इन छंदो में मानव-मन की निर्मम भर्त्सना है। तत्वदर्शन मे ब्रह्म-तत्त्व का निरूपण है: इस ससार मे एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता है, जो चराचर को अपने मे समाये हुए है। वह एक ओर अभेद और अनिर्वचनीय है, दूसरी ओर भावना के अनुसार उसके अनेक रूप भी हैं। प्रेम-पच्चीसी मे प्रेम-तत्त्व का वर्णन है। परमात्मा केवल- प्रीति मे मिलता है। जीवन मे प्रेम ही सार है। प्रेम के बल पर ही गोपियो ने उद्धव के निर्गुण-ज्ञान को मिथ्या सिद्ध कर दिया था।

देवशतक अत्यन्त प्रौढ रचना है। दार्शनिक भावनाओं को कवि ने पूर्ण अनुभूति के साथ अभिव्यक्त किया है। अतएव वे कोरा दर्शन न रहकर काव्य बन गई हैं। उसके आत्म-ग्लानि के उद्गारों मे उतनी ही तन्मयता है जितनी भक्त कवियो मे मिलती है। भाषा की चंचलता और विलास पूर्णतः नष्ट हो चुके हैं। उसमे वस्तु के अनुरूप गांभीर्य और स्थिरता आ गई है।

सुखसागर-तरङ्ग—

सुखसागर-तरङ्ग पिहानी के अधिपति अकबरअलीखां को समर्पित है। अकबरअलीखां का शासन-काल संवत् १८२४ से आरम्भ होता है जब कि देव की अवस्था ६४ वर्ष की हो चुकी थी। अभिषेक आदि के उत्सवो पर राजाओ को विविध प्रकार की भेंटे देने की प्रथा तो पुरानी है ही—अतएव सम्भावना यही है कि अकबरअलीखां के गद्दी पर बैठते ही देव ने सुखसागर-तरङ्ग मे अपने ग्रंथो का संग्रह कर उनको समर्पित किया होगा। इसी समय के आस-पास कवि की मृत्यु भी हो गई होगी—क्योंकि देव जैसे व्यक्ति के लिए ६४, ६५ वर्ष की अवस्था काफी होती है।

सुखसागर-तरंग को स्वयं देव ने 'संग्रह' कहा है :—'इति श्रीमद्विबुधविरुदा-वली-विराजमान महालक्ष्मीरूपावलोकन-निधान श्री खान साहेब अली अकबर-खान कारिते देवदत्त कविरचिते शृङ्गार सुखसागरतरंगसंग्रह- '। वास्तव मे ६४ वर्ष की अवस्था मे कवि से संग्रह के अतिरिक्त कोई मौलिक ग्रन्थ रचने की आशा करना भी व्यर्थ है—सुखसागर-तरंग मे मुख्यत. अष्टयाम, भवानी-विलास कुशलविलास, रसविलास, सुजान-विनोद और कुछ अशो में भाव-विलास और प्रेमचन्द्रिका के छंदों का समावेश तो स्पष्टतया हुआ ही है– परन्तु इनके अतिरिक्त भी ऐसे काफी छन्द रह जाते हैं जिनके मौलिक होने का भ्रम हो सकता है। स्वयं मिश्रबन्धुओं को भी कुछ इस प्रकार की धारणा हुई है,

परन्तु वास्तव मे यह बात नहीं है। ऐसे छन्दों की संख्या दो सौ के लग-भग अवश्य है, और यह कल्पना करना कि इतनी जर्जर अवस्था में कवि ने दो सौ छन्दों की रचना की होगी, सर्वथा असंगत होगा। ऐसी दशा में प्रत्यक्षतः यही परिणाम निकाला जा सकता है कि शेष छन्द कवि के उन ग्रन्थो से संगृहीत है जो आज अप्राप्य है। सुखसागर-तरंग की हस्तलिखित प्रतियाँ श्री ब्रजराज-पुस्तकालय गंधौली मे, तथा मिश्रबन्धुओ के पास हैं। पं० बालदत्त जी द्वारा सम्पादित उसका एक मुद्रित संस्करण भी संवत् १९५४ मे अयोध्या से प्रकाशित हुआ था। यह संस्करण अशुद्धियों से मुक्त नही है - और दुर्भाग्य से आज अप्राप्य भी है।

सुखसागर-तरंग मे बारह अध्याय और ८९६ छन्द है। इसका वर्ण्य विषय सांगोपांग श्रृंगार है, जिसके अन्तर्गत नायिका-भेद का अत्यन्त विस्तृत वर्णन है। प्रथम अध्याय मे आश्रयदाता का संक्षिप्त वंश-वर्णन देने के उपरांत सरस्वती, महालक्ष्मी, गौरी, जानकी रुक्मिणी और राधा की वन्दना है। फिर श्रृंगार का स्वरूप और उसी प्रसंग मे श्रृंगार के मांगलिक उत्सवो का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत गौरी, जानकी, रुक्मिणी और राधा का सौभाग्य और श्रीपंचमी-महोत्सव का चित्रण है। अन्त मे दम्पती का परस्पर-श्रृंगार और उनके प्रेमांकुर के मूल कारण श्रवण, चित्रदर्शन और स्वप्न का उल्लेख है। वास्तव मे इस अध्याय का मुख्य वर्ण्य विषय मंगलोत्सव ही है और विषयों का क्रम अत्यन्त शिथिल है। दूसरे अध्याय का आरम्भ विचित्रतः प्रत्यक्ष-दर्शन से किया गया है। पहले रति के पोषक आलम्बन-उद्दीपन विभाव, प्रकाशक साधारण अनुभाव, विशेषक सात्विक, विलासक संचारी भावो का उल्लेख है, फिर षट्ऋतु का; और अन्त मे अष्टयाम शुरू हो जाता है। पर अध्याय का अन्त बीच में संध्या के वर्णन पर ही समाप्त हो जाता है। यह अष्टयाम पूरा नहीं है। तीसरे अध्याय में रात्रि के शेष यामों की श्रृंगार-क्रीड़ाओ के उपरांत, नायिका के नख-शिख और और वर्ण (व्यवसाय) भेद का सविस्तर अंकन है। अष्टयाम और वर्ण-भेद के ये प्रसंग अष्टयाम, रस-विलास अथवा जाति-विलास से उद्धृत हैं। चौथे अध्याय में नायिका के आठ अंग तथा पद्मिनी आदि चार जाति-भेद दिये हुए हैं। शेष आठों अध्यायो मे क्रमशः अंश-भेद और उनके अन्तर्गत वयःक्रम भेद, मुग्धा, मध्या आदि की शिक्षा, फिर उसी पूर्व-क्रम से मुग्धा की दस दशायें, मध्या की आठ अवस्थायें, प्रौढ़ा के दस विलास, और अन्त में नायक तथा उसके सहायको के भेद, मानलीला, आदि प्रभूत उदाहरणों द्वारा सविस्तर वर्णित है। इस प्रकार सुखसागर-तरंग को नायिका-भेद का एक विश्व-कोष समझना चाहिए। वास्तव में देव के सुन्दर छन्दों का स्वयं उन्हीं के द्वारा चयन होने के कारण इस ग्रन्थ का महत्व और ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है।

एक ग्रन्थ की खण्डित प्रति—

कुसमरा के पं० मातादीन दुबे के पास रसानन्द-लहरी (सुजान-विनोद) की खण्डित प्रति के अतिरिक्त देव के एक अन्य ग्रन्थ की खंडित प्रति भी है। इस पर स्वयं मातादीन जी अथवा किसी आधुनिक पण्डित ने 'नायिका-भेद' नाम लिख दिया है, परन्तु यह नाम प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। नायिका-भेद तो देव के सभी ग्रन्थों का विषय है, फिर भी उन्होंने किसी का नाम नायिका-भेद नहीं रखा। अतएव यह 'सुमिल-विनोद' जैसे किसी अप्राप्य ग्रन्थ की प्रति है, ऐसा ही निर्णय दिया जा सकता है। इस प्रति में बीच के लगभग ८० छन्द हैं—आरम्भ के तीन छन्दों मे संयोग वर्णन है, उसके उपरांत लगभग ६०-६५ छन्दों मे षट्ऋतु वर्णन है जो कुछ छन्दो के उलट-फेर से प्रायः ज्यों का त्यो 'सुजान-विनोद' से उद्धृत कर दिया गया है; अन्त के १०-१५ छंदो में मान और दान-लीला का वर्णन है। प्रस्तुत प्रति को देखकर सहसा यही धारणा होती है कि शायद यह किसी उपलब्ध ग्रन्थ का ही खण्डित अंश हो। पहले मुझे भी यही भ्रम हुआ था कि यह सुजान-विनोद (रसानन्द-लहरी) का ही अंश है। क्योंकि इसके ५५-६० छंद ज्यों के त्यों उसी के षट्ऋतु वर्णन से उद्धृत है, परन्तु अधिक छान-बीन करने पर यह धारणा निमूंल सिद्ध हुई। इसके कारण हैं—

(१) रसानन्द-लहरी (सुजान-विनोद) की जो खण्डित प्रति मातादीन जी के यहाँ इसके साथ सुरक्षित है, उसकी और इसकी हस्तलिपि, स्याही आदि में बहुत अंतर है।

(२) षट्ऋतु के समान छंदों में भी क्रम का भेद है। कुछ छंद ऐसे हैं जो एक में हैं, और दूसरी प्रति में नहीं हैं। प्रस्तुत प्रति में षट्ऋतु वर्णन के कुछ अतिरिक्त छन्द भी हैं।

(३) षट्ऋतु वर्णन के अतिरिक्त मान और दान-लीला के छन्द नवीन न होते हुए भी इस क्रम से किसी अन्य प्राप्य ग्रन्थ में नहीं पाये जाते।

(४) एक आध छन्द ऐसा भी है जो देव के किसी भी अन्य ग्रन्थ में हमें नहीं मिला।

(अ) गोरसु कहा है हरि जो रसु लिबैयां सांझ भोर सु अंचैके सबही सौं लरिबो करि रे।
बाला दुलही ये कुलही सौं करि पालागनु आई है निसंकु उन्हें अंक भरिबो करि रे।
देव तजि कानि आनि चेरी भई तेरी हरिनी-दृग अहेरीहियो हेरि हरिबो करि रे।
या ब्रज को राजु आजु तेरे घर आयो तोहि जोई मन भायो सोई काजु करिबो करि रे।
(आ) गोरस के प्यासे हैं उपासे तन तो रसके अधर सुधा से मंद हांसी ही हितौनि के

सूखे जात रूखे मुख भूखे हँसि बोलन के देव कहैं सेवक हैं सुधर सलौनि के।
देखे सुखु पावत-सु आवत नितहि इत गावत निपुन गुन प्यारी गज गौनि के।
आकर बिनोद राधिका कर बिकाने चेरे बदन सुधाकर के चाकर चितौनि के।

देव के अप्राप्य ग्रन्थ—

देव के प्राप्त ग्रंथ केवल उपर्युक्त १६ या १७ ही हैं—देवशतक की चारो पच्चीसियो को पृथक् ग्रंथ मान लेने पर यह संख्या १६ या २० हो जाती है। इनके अतिरिक्त सुखसागर-तरङ्ग के उन छंदों के परीक्षण से जो प्राप्य ग्रंथों से बाहर के है, कम से कम नखशिख, षट्ऋतु और राम-चरित्र इन तीन ग्रंथों का निश्चय और होता है। इनके नाम चाहे भिन्न हो, परन्तु इन विषयो पर तीन ग्रंथ अवश्य रहे होंगे। नखशिख का उल्लेख तो नागरी प्रचारिणी की खोज मे ही मिलता है। भवानी-विलास में एक स्थान पर जय-विलास नाम के ग्रंथ की ओर भी संकेत है :— 'यथा जय-विलासे'-(भ. वि. पृ. ४, भारत जीवन प्रेस)। देव ने अन्य ग्रंथों में भी अपनी पहली रचनाओं का संकेत किया है—जैसे रस-विलास में जाति-विलास का, या काव्य-रसायन मे भाव-विलास का। अतएव जय-विलास भी देव का ही कोई ग्रंथ है, जो आज अप्राप्य है। तीन ग्रंथ ऐसे हैं जिनकी प्रतियाँ प्राप्त नहीं है, परन्तु जिनको श्री युगलकिशोर जी 'ब्रजराज'—तथा पं० बालदत्त जी ने स्वयं देखा है। ब्रजराज जी ने वृत्तविलास और पावस-विलास—दो ग्रंथ देखे थे। वृत्त-विलास तो आज भी इटावा प्रांत के ताखा ग्राम मे एक ब्राह्मणी के पास सुरक्षित बताया जाता है। श्रीयुत हरिश्चन्द्र देव वर्मा चातक के मित्र बिसनगढ-निवासी ठा० हरनामसिंह बी. ए., एल. एल. बी. ने उसे स्वयं देखा है। अभी तक वह स्त्री उसे किसी अन्य को दिखाने या देने के लिए प्रस्तुत नहीं हुई। नीति-शतक पं० बालदत्तजी ने देखा था "चाहिए जिम्म कवि के शांत रस व भक्ति-पक्ष काव्य को इनके नीति-शतक व वैराग्य-शतक से, जो हमने देखे हैं मिला देखिये" (सुखसागर-तरङ्ग की भूमिका)। इसमें वैराग्य-शतक तो देव-शतक का ही दूसरा नाम है, नीति-शतक भिन्न कृति है। पावस-विलास में पावस-ऋतु का वर्णन बताया जाता है, वृत्त-विलास में अन्योक्तियाँ हैं और नीति-शतक का विषय तो नाम से ही स्पष्ट है। देव का एक ग्रंथ नल-दमयंती भी कहा जाता है। पं० मातादीन जी ने स्वयं उसे देखा है। वह पहले उन्हीं के पास था, परन्तु कुछ वर्ष हुए उनके एक सम्बन्धी पं० रामचन्द्र (जिनका नाम देव के वंश-वृक्ष में आता है) उसे जयपुर ले गये— तब से वह उन्हीं के चक्कर में पड़ा हुआ है, और आज प्रयत्न करने पर भी प्राप्य नहीं हो रहा। ब्रजराज जी तथा मिश्रजी प्रतिष्ठित काव्य-मर्मज्ञ व्यक्ति थे। मातादीन

जी भी काफ़ी दिनों से देव के विषय में सतर्क हैं, अतएव इनके साक्ष्य को न मानने का कोई कारण नहीं है।—अब कुछ ग्रंथ ऐसे रह जाते हैं जिनको किसी ने देखा नहीं है—उनका आधार केवल जनश्रुति ही है। सबसे पूर्व इनका उल्लेख शिवसिंह-सरोज में मिलता है। इनके नाम इस प्रकार हैं: रसानन्द-लहरी, प्रेम-दीपिका, सुमिलविनोद तथा राधिका-विलास। इनमें से रसानन्द-लहरी तो सुजान-विनोद का ही दूसरा नाम है। सुजान-विनोद की तरङ्गो के अंत में यह नाम बार-बार प्रयुक्त हुआ है:—'इति श्रीरसानन्दलहरीविलासे, सुजान-विनोदे कवि-देवदत्त-विरचिते ''' ''''' प्रथमो विलासः"। अंतिम विलास मे केवल इतना ही लिखा है 'इति श्री सुजान-विनोदे श्रीदेवदत्त-विरचितायां रसानन्दलहरी-नायिकावर्णनम् समाप्तम्।' इसके अतिरिक्त पं० मातादीन और दीक्षित जी वाली सुजान-विनोद की प्रतियो में एक दोहा और मिलता है जो इस भ्रम को निर्मूल कर देता है—

लहरी रस आनन्द की राधा-हरिगुन गान।
रचत देव बानी वचन सुनियो रसिक-सुजान॥

एक तो इसी दोहे के आधार पर, दूसरे रसानन्द-लहरी का नाम सुजान-विनोद मे इतनी बार आया है इसलिए भी, मातादीन जी ने अपनी प्रति के शीर्षक रूप में 'रसानन्दलहरी' ही लिख दिया है, मानों पुस्तक का वही नाम हो। इस प्रकार इन उद्धरणों और प्रमाणो से स्पष्ट है कि रसानन्दलहरी सुजानविनोद का उपशीर्षक है, कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। शिवसिंह जी को इन्हीं उल्लेखों के कारण भ्रम हो गया है। प्रेमदीपिका शायद प्रेमचन्द्रिका का ही दूसरा नाम हो—अथवा फिर उसी के समानान्तर ग्रंथ हो। राधिका पर तो देव ने अनेक छंद लिखे ही हैं—प्रायः सभी ग्रंथों के मंगलाचरण में राधिका की वंदना है। इसके अतिरिक्त सुखसागरतरंग में उन पर बहुत से छंद एकत्र दिए हुए हैं—और वैसे तो नायिका ही राधिका का रूप है। इसलिए राधिका-विलास इन्हीं या ऐसे ही छंदो का संग्रह होगा। सुमिल-विनोद वास्तव में कुछ विचित्र-सा नाम है—कुछ पंडितों का मत है कि यह शायद सुजान-विनोद ही है जो लिपिकार की असावधानी से सुमिलविनोद बन गया है। परन्तु यह कुछ कष्ट-कल्पना है, सुजान और सुमिल में बहुत अन्तर है। नाम से यह भी नायिका-भेद का ही ग्रंथ जान पड़ता है। नागरी-प्रचारिणी की खोज में प्रेम-दर्शन नामक एक अन्य पुस्तक का उल्लेख है—जो कम से कम नाम से देवकृत अवश्य मालूम पड़ती है क्योंकि एक ओर प्रेम-तरंग, प्रेमचन्द्रिका, प्रेमपच्चीसी, प्रेमदीपिका और दूसरी ओर तत्वदर्शन, आत्मदर्शन तथा जगद्दर्शन जैसे नाम देव को प्रिय थे।

देव-साहित्य के पंडितों में अभी तक ये ही ग्रंथ दर्शन और श्रवण के आधार पर प्रचलित थे। श्री मिश्रबन्धु-तथा पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने इन्हीं को स्वीकृत किया है। परन्तु उनके बाद में एक-दो विद्वानों ने देव के कतिपय अन्य ग्रंथों को भी देखा और सुना है। भारत के धुरंधर कवि के लेखक श्री कन्नोमल जी ने उपर्युक्त सूची के ग्रंथों के अतिरिक्त भानुविलास, श्यामविनोद, काव्यरस-पिंगल तथा सुमाल-विनोद इन चार ग्रंथो का हवाला और दिया है। इनमें सुमाल-विनोद तो सुमिल-विनोद का और काव्यरस-पिंगल काव्य-रसायनपिंगल (काव्य-रसायन का अंतिम खण्ड पिंगल है) का ही लिपि-दोष है। शेष के विषय मे कन्नोमल जी ने कोई आधार अथवा प्रमाण नहीं दिया है। इसलिए उनके विषय मे कोई मत स्थिर करना सम्भव नहीं है, बस इतना ही कहा जा सकता है कि मान्य विद्वानों ने उनको स्वीकृत नहीं किया। अस्तु!

अब शृंगार-विलासिनी के संपादक पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित की दी हुई एक लम्बी सूची रह जाती है जो उन्होंने सप्रमाण उपस्थित की है। उसमें शृंगारविलासिनी तथा कतिपय स्तोत्र मिलाकर ११ ग्रन्थ तो संस्कृत के हैं, और ८ ग्रन्थ भाषा के हैं, यथा—वखतविलास (रचनाकाल संवत् १८३१), वखत-विनोद (र० का० सं० १८३९), कालिका-स्तोत्र, श्रीनृसिह—चरित्र, प्रज्ञानशतक, माधवगीत (सं० १८३६) और वृत्तमंजरी (सं० १८४६ वि०)। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है, दीक्षित जी का विवेचन अधिक संगत एवं विश्वसनीय नहीं है, इसकी सतर्क आलोचना हम अन्यत्र कर चुके हैं। यहाँ उनके गिनाए हुये ग्रन्थों की थोड़ी परीक्षा करना पर्याप्त होगा। संस्कृत के ग्रन्थों में शृंगार-विला-सिनी को ही ले लीजिए, यह नायिका—भेद का ग्रन्थ है, परन्तु न तो इसका रीतिक्रम और न उदाहरणगत भाव ही देव के अन्य ग्रंथों में मिलते हैं। हमने शृंगार-विलासिनी को भावविलास और भवानीविलास दोनों के साथ रखकर पढ़ा है, परन्तु एक स्थान पर भी इनमें भाव-साम्य नहीं है। देव जैसे कवि के ग्रन्थों में भावसाम्य का न होना असम्भव ही प्रतीत होता है, उनकी कोई भी रचना ऐसी नहीं है जिसमें छंदों का उलट-फेर न हो। अब हिन्दी की रचनाओं को लीजिए। दीक्षित जी के पास 'वखत-विलास' की जो प्रति मौजूद है वह संवत् १८३१ की है और उस पर देव नाम अंकित है: "इतिश्रीमद्दीक्षितदेवदत्तविरचितो वखतविलासाख्यो ग्रन्थो समाप्तः"। दीक्षित देवदत्त कवि ने इसे गोहद के राणा वखतसिंह के विनोदार्थ लिखा था। परन्तु मिश्रबन्धुओं ने जिस वखतविलास का उल्लेख किया है वह आज भी कुसमरा में पं० मातादीन जी के पास सुरक्षित है। मैंने स्वयं उस ग्रन्थ को आरम्भ से अंत तक पढ़ा है। वह न तो देवदत्त

दीक्षित का लिखा हुआ है और न गोहद के बखतसिंह के विनोदार्थ ही रचा गया था। वह निश्चित ही राजगढ के राजा बखतावरसिंह के लिये देव के प्रपौत्र भोगीलाल द्वारा संवत् १८५७ में लिखा गया था —

'उदित उदारो सिरदारौ लोभ धारो कलि देखि अविचारो करतारो हिय घर को।
संपति वहाल भोगीलाल भाल दीननि कैं लिखौं जो विलास सो करैगो कौन घर को।
ह्वै रह्यो उदास तौलौं देखौ आस-पास जस प्रगट प्रकास ज्यों सुवास सुरवर को।
छोड़ि के अंदेस विधि वानो गह्यो वेस वखतावर-नरेश के भरोसो जानि कर को।

दो०—एक एक तें अधिक हैं गढ अनेक अवनीस।
तिनमें राजत राजगढ राजत विस्वावीस॥

❀ ❀ ❀

"इति श्री कछवाह-कुल-भूषण नरुका (?) श्री रावराजा बखतावरसिंह-आनन्दकृते कविभोगीलालविरचिते बखतविलासे मंगलारम्भ राजकवि कुल-चर्णनं प्रथम-विलासः"—इसके अतिरिक्त दीक्षित जी वाले बखत-विलास की कविता भी उनके मत के प्रतिकूल पड़ती है। निम्नलिखित दोहे भोगीलालकृत बखतविलास में कहीं नहीं मिलते हैं। —भोगीलाल स्वयं सत्कवि थे उनके काव्य का धरातल इनसे कहीं ऊंचा है।—

इक कर कुच इक नीवि गहि परी बखत पिय पास।
सोवत कै जागत पिया, भूली पिय बिसवास॥

❀ ❀ ❀

कहा करौं बखतेस बिनु, छाती कँपै निदान।
निस कारी निसि सी घटा, चढी प्रबल असमान॥
बखत रिझावन तिय चली, हिय सजि वैन रसाल।
तन सजि भूषण को अधिक, सोही दीधित काल॥

❀ ❀ ❀

सकल तियनु ते बखत पिउ, उर में बसत निदान,
प्यारी किमि रस अधिक दै, छुई प्रेम विज्ञान।

तात्पर्य यह है कि दीक्षित जी के पास सुरक्षित 'बखतविलास' और मातादीन के पास रखा हुआ 'बखत-विलास' एक नहीं है। दीक्षित जी ने दूसरे ग्रन्थ को बिना देखे ही दोनों को एक मान लिया। इसी प्रकार 'बखत-शतक' के भी कुछ दोहे लीजिये :—

सरबस मैं बखतेश को, कौन वस्तु प्रिय आहि।
याही में सो पाइये, देखो चित्त लगाहि॥

❀ ❀ ❀

कुच मांगे उरु देत तिय, उरु मांगे कुच देइ।
रति मांगे न देति है, बखतसिंह, हां लेइ॥

❀ ❀ ❀

क्यों सिसकै मसि केहि क्यों, मसि के ना रस लेइ।
मसि के मिसु रसु बरसि है, बखत सिसिकि कें देइ॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त दोहे देव-काव्य के धरातल से बहुत ही नीचे हैं और फिर ये दोनों ग्रन्थ देव ने क्रमशः १०१ और १०५ की आयु में लिखे बताये जाते हैं। एक तो जगद्दर्शन, तत्वदर्शन और आत्मदर्शन के छंदों की रचना करने के उपरान्त ऐसे घोर श्रृंगारिक दोहों की रचना कवि ने इतनी आयु में की होगी—इसमें ही संदेह हो सकता है, दूसरे इन दोहों की शैली और काव्य-सामग्री दोनों हीं देवोचित नहीं हैं। इतनी हलकी कविता देव ने कभी नहीं की। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया था, देव की कविता अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से निरन्तर गंभीर एवं प्रौढ होती गई थी—अतएव सौ वर्ष की आयु पार करने पर उन्होंने इतने छिछले छंद लिखे होंगे यह अकल्पनीय है। यही बात संवत् १९३९ में रचे गए माधवगीत और संवत् १९४६ मे रची गई वृत्तमंजरी के विषय में भी कही जा सकती है। उनके उदाहरण दीक्षित जी ने अपनी भूमिका मे दिये है। अतएव हमारा निर्णय तो निश्चित-रूप से यही है कि ये ग्रन्थ दूसरे देवदत्त कवि की ही रचना है। ये कवि देवदत्त अपने को दीक्षित लिखते थे। अपने ग्रन्थों के अंत में उन्होंने श्रीमद्दीक्षित देवदत्त लिखा है—जब कि हमारे आलोच्य देव ने किसी ग्रन्थ में भी दीक्षित पद का उल्लेख नहीं किया। [द्विवेदी कान्यकुब्जों मे दीक्षित होते भी हों तो भी हमारी युक्ति खण्डित नही होती, क्योंकि हम तो केवल यही कहना चाहते है कि प्रसिद्ध कवि देव अपने को दीक्षित नहीं लिखते थे।] दुर्भाग्य से दीक्षित जी की अभी अभी मृत्यु हो गई है उनके पुत्र पं० उमेशचन्द्र दीक्षित से भी हमें ये ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो पाये। अतएव हम उनसे मिलकर इस विषय में अधिक विचार-विनिमय करने मे असमर्थ हैं। परन्तु हम अपने पक्ष में उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त देव के विशेषज्ञ श्री मिश्रबन्धु एवं पं० कृष्णविहारी जी की साक्षी भी उपस्थित कर सकते हैं। वे भी इन ग्रन्थों को प्रस्तुत कवि देव की रचना नहीं मानते।

देव के ग्रन्थों की संख्या—

इस प्रकार देव के प्राप्य ग्रन्थ अभी तक १८, १६ ही हैं—अप्राप्य ग्रन्थ जो अनुमानतः विश्वसनीय प्रतीत होते हैं लगभग ११ हैं, जिनके अंतर्गत ब्रजराज जी, तथा पं० बालदत्त जी के साक्ष्य, नागरीप्रचारिणी की खोज, सुखसागरतरंग में संकलित सामग्री के परीक्षण, शिवसिंह सेंगर के उल्लेख और देव के प्रबोध ग्रन्थ में दिये हुए संकेतों के आधार पर अनुमानित अथवा स्वीकृत सभी ग्रन्थों का समावेश हो जाता है। इनके अतिरिक्त भी कुछ ग्रन्थ देव ने और लिखे होंगे, यह कल्पना सुखसागर-तरंग को पढकर अवश्य की जा सकती है।—फिर भी कुल संख्या ५२ या उससे भी २० अधिक ७२ तक पहुँची होगी ऐसी धारणा कम ही बँधती है क्योंकि देव पर पिछले ५० वर्ष से खोज हो रही हैं,—पर जयपुर, बुन्देलखण्ड (टीकमगढ), दतिया, इटावा, कुसमरा, पिहानी, और पूर्व यू. पी. के विभिन्न स्थानों पर संगृहीत ग्रन्थों की संख्या १६ से अधिक नहीं हो पाई। अतएव यही संभावना अधिक है कि लोगों ने शायद तीनों चारों देव कवियों के ग्रन्थों को पृथक् न कर—उनको एक ही कवि की कृतियाँ मानकर उनकी संख्या ५२ तक पहुँचा दी थी और शिवसिंह ने इसी जनश्रुति को प्रमाण मान कर उसे शब्द-बद्ध कर दिया।

देव की कविता के विभिन्न पक्ष

रीतिकाल का विवेचन करते हुए हमने उसकी दो मूल प्रवृत्तियाँ निर्धारित की थीं—१. शृंगारिकता २. आचार्यत्व। देव की कविता में इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी प्रवृत्ति भी आरम्भ से ही मिलती है—वह है वैराग्य-भावना। इस प्रकार उनके काव्य के स्पष्टतः तीन पक्ष हैं :—

१. राग अथवा शृंगारिक पक्ष।
२. विराग अथवा दार्शनिक पक्ष।
३. रीति अथवा आचार्य पक्ष।

रीतिकाल के अन्य कवियों में शृंगारिकता और रीति-निरूपण प्रायः अविभाज्य रूप में मिले हुए रहते हैं—परन्तु देव में ऐसा एक विशेष सीमा तक ही है—उनके काव्य के तीनों पक्ष प्रायः पृथक् और स्पष्ट हैं। राग अथवा शृंगारिक पक्ष के अन्तर्गत उनके काव्य का अधिकांश—साधारणतः अष्टयाम, जाति-विलास, रस-विलास, सुजान-विनोद, सुखसागरतरंग-संग्रह और विशेषतः प्रेम-चन्द्रिका और प्रेम-पचीसी आते हैं। भाव-विलास, भवानी-विलास में शृंगारिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त रीति-निरूपण को भी यथेष्ट महत्व दिया गया है, अतएव इनकी दोनों पक्षों के अंतर्गत गणना होगी। विराग अथवा दार्शनिक पक्ष के अंतर्गत देव-माया-प्रपंच और जगद्दर्शन-पचीसी, आत्मदर्शन-पच्चीसी, तथा तत्व-दर्शन-पच्चीसी का नाम आता है। देव-चरित्र की स्थिति मध्यवर्ती है। देव की रस-दृष्टि देव-चरित्र पर स्थिर होती हुई—दर्शन की ओर प्रवृत्त हुई है। देव काव्य का आचार्य या रीति-पक्ष साधारणतः भाव-विलास और भवानी-विलास में तथा विशेषकर शब्द-रसायन में प्रस्फुटित हुआ है।

देव की शृंगार कविता

शृंगार का स्वरूप :—

शास्त्रीय विवेचन :— शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तम-प्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते। (साहित्य-दर्पण)

शृंग का अर्थ है कामोद्रेक—उसके आगमन अर्थात् उत्पत्ति का कारण शृंगार कहलाता है। उत्तम प्रकृति का ही कामोद्रेक शृंगार कहलाता है, अर्थात् ऐन्द्रिय वासना-युक्त कामोद्रेक जिसमे शारीरिकता का ही प्राधान्य हो शृंगार के अन्तर्गत नही आ सकता। इसके आलम्बन है—नायक-नायिका; उद्दीपन हैं सखी, मंडन, परिहास आदि अथवा षट्-ऋतु, वन, उपवन, चन्द्र आदि; अनुराग-पूर्ण भृकुटि-भंग, हाव-भाव आदि अनुभाव हैं, आलस्य, मरण, उग्रता तथा जुगुप्सा को छोड अन्य निर्वेद :—असूया धृति आदि सभी संचारी हैं, और स्थायी भाव रति है। रति का अर्थ है मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्त होने का ज्ञान—अथवा प्रिय वस्तु के प्रति मन के उन्मुख होने का भाव—नायक और नायिका का पारस्परिक अनुराग—प्रेम !

'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।'

इस प्रकार शास्त्र के अनुसार स्त्री पुरुष के हृदय मे एक दूसरे के प्रति एक सहज आकर्षण—'उन्मुखीभाव' वर्तमान रहता है जो अनुकूल परिस्थिति मे उद्बुद्ध होकर विशेष मानसिक एवं शारीरिक क्रियाओ द्वारा अभिव्यक्त होता है—इसे ही शृंगार या प्रेम कहते हैं।

मनोवैज्ञानिक विवेचन—संस्कृत साहित्य-शास्त्र का उपर्युक्त विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान के विवेचन से तत्वतः भिन्न नहीं है। मनोविज्ञान के अनुसार 'भाव'—किसी वासना (सहज प्रवृत्ति) के चारों ओर केन्द्रित मनोविकार है [Emotion is the feeling centred round an instinct] जीवन की एक प्रमुख वासना है काम—मिलनेच्छा। काम पर आश्रित मनोविकार ही शृंगार या रति है। प्रत्येक भाव के दो पक्ष होते है एक मानसिक दूसरा शारीरिक। मानसिक पक्ष के अंतर्गत आत्म-चेतना—[अर्थात् मैं अमुक परिस्थिति मैं हूँ, इस चेतना पर मन की सम्पूर्ण वृत्तियों का केन्द्रित हो जाना] के अतिरिक्त जो वास्तव मे भाव की केन्द्रीय चेतना है, तीन तथ्य विचारणीय हैं :—

(१) भाव का कारण—व्यक्ति वस्तु अथवा परिस्थिति—जिसे साहित्य-शास्त्र मे आलम्बन कहा गया है।

(२) भाव का अनुभूत्यात्मक रूप—जो सुखमय, दुखमय अथवा मिश्र हो सकता है।

(३) विभिन्न परिवर्तित भाव-रूप जो उसके विकास का सहचरण करते हैं। ये ही वास्तव में साहित्य के संचारी हैं।

शारीरिक पक्ष मे :—

(१) ऐन्द्रिय संवेदनाएँ—जो सात्विक भावों से अधिक भिन्न नही है।

(२) वाह्य शारीरिक चेष्टाएँ—जिन्हें साहित्य मे 'अनुभाव' कहते हैं।

शृंगार या रति का कारण—अर्थात् आलम्बन है स्त्री अथवा पुरुष (नायक-नायिका), अनुभूति मूलतः सुखद है [इसीलिए विश्वनाथ ने शृंगार को सत्प्रकृति कहा है], परिवर्तित भाव-रूप असूया, हर्ष, आदि हैं; ऐन्द्रिय संवेदनाएँ रोमांच, स्वरभंग, विवर्णता, स्वेद-अश्रु आदि हैं— और शारीरिक चेष्टाएँ हैं स्मिति, कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन आदि।—मनोविज्ञान की दृष्टि से रति काम पर आश्रित भाव-विशेष है, [और काम अर्थात् मिलनेच्छा पर आश्रित होने के कारण वह सहज ही एक प्रकार का उन्मुखी भाव है—रागात्मक भाव है] जो हर्ष, असूया, आदि सहचारी भावों को जन्म देकर उनसे पुष्ट होता हुआ रोमांच, स्वरभंग, आदि सूक्ष्म ऐन्द्रिय संवेदनों और स्मिति, कटाक्ष, चुम्बन, आलिंगन, रति आदि स्थूल शारीरिक क्रियाओं मे अभिव्यक्त होता है। मनोविश्लेषण मे इसी तथ्य को थोडे भिन्न शब्दों में कहा गया है। यहाँ जीव की मूल वृत्ति मानी गयी है काम (Libido); प्रेम इसी मूल वृत्ति का एक परिमित अंश है जो दमन और कुण्ठाओं के प्रभाव-वश विभिन्न सरणियों मे प्रेरित होता रहता है।

आध्यात्मिक विवेचन :—शृंगार अथवा रति की आध्यात्मिक व्याख्या भी पौरस्त्य और पाश्चात्य दर्शनों मे की गई है। भारतीय अध्यात्म के अनुसार विश्व की एकमात्र सत्ता है ब्रह्म अथवा पुरुष जो मायावश अपने को दो रूपों मे विभक्त कर लेता है—ये दो रूप हैं जीव तथा प्रकृति, या आत्म और अनात्म। पाश्चात्य दर्शन का आरम्भ आत्म और अनात्म के पृथक्करण से होता है। आत्म का स्वभाव है अपना विस्तार करना, वास्तव मे आत्म का अनात्म मे विस्तार—अथवा यह कहिए कि आत्म का अनात्म को अधिकृत करने का प्रयत्न ही जीवन है। क्योंकि आत्म सक्रिय है और अनात्म निष्क्रिय, इसलिए भारतीय दार्शनिकों ने आत्म को पुरुष और अनात्म को नारी रूप मे देखा है। पुरुष रूप आत्म अपना विस्तार जिन क्रियाओं द्वारा करता है, उनमें सबसे मुख्य है प्रजनन। अतएव प्रजनन के लिए वह नारी रूप अनात्म के संग की कामना करता है। 'एकाकी नारमत आत्मानं द्वेधा व्यभजत, पतिश्च पत्नी चाभवत।' अर्थात् एक मे वह नहीं रमा, पति और

पत्नी के रूप में उसने अपने दो भेद कर लिए (वेदोपनिषद)। लौकिक श्रृंगार इसी आध्यात्मिक क्रिया का प्रतिबिम्ब है। उसकी तीव्रता आत्म-विस्तार की इच्छा की तीव्रता है, उसका सुख आत्म-विस्तार का ही सुख है। भक्ति सम्प्रदायों मे राधा-कृष्ण—अथवा गोपियों तथा कृष्ण के श्रृंगार की इसी आधार पर व्याख्या की गई है। रूपक को अलग कर यह कहा जा सकता है कि जीवन की मूल वृत्ति है आत्म-विस्तार, आत्म-विस्तार की प्राथमिक क्रिया है प्रजनन (Pro-creation) प्रजनन के द्वारा आत्म अनात्म को अधिकृत कर अपने विस्तार का ही तो प्रयत्न करता है। आत्म-विस्तार के इसी मूल-गत प्रयत्न—प्रजनन का सहकारी भाव श्रृंगार या रति है।

वैज्ञानिक विवेचन—काम-शास्त्र तथा जीव-विज्ञान में जो प्रेम का विवेचन किया गया है, उसका आधार भी तत्वतः उपर्युक्त सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष का शरीर कीटाणुमय कोष्ठकों (cells) से बना हुआ है—इनमे कुछ प्रेरक और कुछ ग्राहक होते है। मनुष्य की जीवनी-शक्ति का मूल कारण ये ही कीटाणु-युक्त कोष्ठक हैं। शरीर-निर्माण की कुछ अवस्था तक दोनो प्रकार के कीटाणु वर्तमान रहते हैं, परन्तु कुछ समय के उपरान्त उनमे से एक की संख्या कम होती, और दूसरी की बढती चली जाती है। बस तभी से योनि-निर्णय हो जाता है। पुरुष-कीटाणु प्रेरक (katabolic) होते हैं, स्त्री-कीटाणु संग्राहक एवं ग्राहक (anabolic) होते हैं—उन्ही के अनुपात के अनुसार लगभग छः सप्ताह के उपरांत बालक-पिण्ड मे पुरुष स्त्री का योनि-भेद हो जाता है। प्रकृति का एक मात्र सत्य है सृजन; उसकी समस्त क्रियायें एक इसी उद्देश्य की प्रेरणा से हो रही है। इसी नियम के अनुसार पुरुष और स्त्री के कीटाणु स्वभावतः एक दूसरे के पूरक रूप हैं—एक दूसरे से मिलने की उनमे सहज प्रवृत्ति वर्तमान है। सर्जन की प्रेरणा से इन्हीं दोनों पूरक कीटाणुओ का पारस्परिक आकर्षण पुरुष और नारी के चिर-रहस्यमय प्रेम का आख्यान है। हृदय के जिस पवित्र भाव को अनादि काल से मनुष्य अध्यात्म और काव्य के अनेक आवरण मे लपेट कर रखता आया है—आज के जीव-विज्ञानी के लिये उसकी कहानी कितनी संक्षिप्त है।

श्रृङ्गार रस का महत्व :—साहित्य मे आरम्भ से ही श्रृंगार-रस को सबसे अधिक महत्व मिला है। आदि आचार्य भरत के शब्दो मे—'यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वल दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते।' अर्थात् संसार मे जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय है वही श्रृंगार है। भरत के उपरान्त लगभग सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप मे उसके महत्व को स्वीकृत किया है। अग्नि-पुराण में उसका गौरव-गान है—भोज ने श्रृंगार-प्रकाश मे श्रृंगार को ही एक-

मात्र रस मानते हुए उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा की है। हिन्दी के लगभग सभी आचार्यों ने एक स्वर से उसे रस-राज माना है।—इसके अतिरिक्त संसार के साहित्य का बृहदंश श्रृंगार से ही अनुप्राणित है।

संस्कृत-हिन्दी तथा विदेश के साहित्य-शास्त्रों में इस प्रसंग का विस्तृत विवेचन किया गया है जिसका सारांश इस प्रकार है—

उत्तमता—उत्तमता की दृष्टि से श्रृंगाररस सर्व-श्रेष्ठ है। श्रृंगार का स्थायी भाव रति अथवा प्रेम है। आध्यात्मिक दृष्टि से स्त्री-पुरुष का प्रेम प्रकृति और पुरुष की प्रणयलीला का प्रतिबिम्ब है। वह सृष्टि-विकास की अनिवार्य आवश्यकता है। जीवन की स्फूर्ति, सद्प्रेरणाएं, भक्ति और धर्म, साहित्य और कला सभी के मूल में प्रेम की प्रेरणा है। जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप अहंकार है। और अहंकार का सबसे अमोघ उपचार है प्रेम, जिसके सत्प्रभाव से मनुष्य मृत्यु की भीति से विचलित नहीं होता। मनोविज्ञान की दृष्टि से प्रेम मे मनोवृत्तियों के समीकरण की अद्वितीय शक्ति है, इस कारण वह आनन्द का पर्याय है। जीवन की आत्मार्थिनी (Egoistic) और परार्थिनी (Altruistic) वृत्तियों का इतना पूर्ण समन्वय किसी अन्य मनोदशा मे सम्भव नहीं है।

मौलिकता और गम्भीरता—भारतीय-दर्शन के अनुसार जीव की दो मौलिक प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं : राग और द्वेष। इनमें वास्तव में द्वेष, राग का वैपरीत्य ही है- स्वतन्त्र वृत्ति नहीं है। इस प्रकार जीवन की मौलिक-वृत्ति राग अथवा रति ही है। विदेश मे भी प्रसिद्ध मनस्तत्ववेत्ता फ्रायड का मत बिल्कुल यही है। उसके मतानुसार भी जीवन की दो मूल वृत्तियां हैं : एक जीवन की ओर उन्मुख है, दूसरी विनाश की ओर। ये दोनों वृत्तियां-इरॉश और थेनैटॉस (Eros and Thanatos) भी वास्तव मे राग और द्वेष की ही पर्याय हैं। इन दोनों में भी पहली—अर्थात् इरॉस या राग ही मूल वृत्ति है। विनाश तो जीवन का वैपरीत्य-मात्र है। इसी रागात्मक वृत्ति को वहाँ लिबिडो या काम कहा गया है, और फ्रायड आदि मनस्तत्व के आचार्यों ने उसको जीवन की संचालिका वृत्ति माना है। भारतीय-दर्शन में भी काम की ऐसी ही महिमा कही गई है।

"काममय एवायं पुरुषः"—वेद।

विवृद् ब्रह्म ततो विश्वं कामश्चेच्छा-त्र्ययं कृतम्
स्पन्दोऽपशक्यो यं मुक्त्वा कामः सकल्प एवाह।
(शिव-पुराण, धर्म संहिता, अ० ८)

काम ही संकल्प है जिसके बिना कोई भी स्पन्दन सम्भव नहीं है। काम से ही यह विश्व उत्पन्न हुआ है।

श्रोत्र त्वक् चक्षुः जिह्वा घ्राणानामात्मसंयुक्तेन मनसाधिष्ठिताम् स्वेषु स्वेषु विषयेष्वानुकूल्यान्तःप्रवृत्तिः कामः। (कामसूत्र १, २। वात्स्यायन)

कान, त्वचा, आंख, जिह्वा और नासिका—ये पाँचो इन्द्रियाँ—अपने अपने कार्यों में मन की प्रेरणा के अनुसार काम के द्वारा ही प्रवृत्त होती हैं।

गांभीर्य्य और तीव्रता के विचार से भी शृंगार-भावना का ही स्थान सर्वोच्च है। जीवन की मूल-वृत्ति होने के कारण वह स्वभावतः ही सब से अधिक गंभीर-वृत्ति भी है। उसके द्वारा जीवन मे गहनतम परिवर्तन हो जाते हैं, जीवन की कोई भी मनोदशा इतनी स्थायी नहीं होती। मन स्वभाव से ही चंचल है, परन्तु प्रेम के वशीभूत होकर उसमे असाधारण एकाग्रता आ जाती है। सम्पूर्ण आत्म-निलय प्रेम मे ही सम्भव है, अतएव प्रेम मे अन्य भावनाओ की अपेक्षा तीव्रता भी अधिक है।

व्यापकता :—अन्य रसो एवं भावों की अपेक्षा शृंगार की परिधि भी अत्यधिक व्यापक है। मानव-हृदय के दोनो प्रकार के भाव—सुखात्मक एवं दुःखात्मक इसके अंतर्भूत हो जाते है। प्रेमार्द्र मन में जीवन की प्रत्येक वस्तु के प्रति द्रवित होने की शक्ति आ जाती है। प्रेम में सभी कुछ प्रिय लगता है। शृंगार का परिधि-विस्तार मानव-हृदय तक ही सीमित न होकर पशु-पक्षी, तथा लता-गुल्मो तक फैला हुआ है। वनस्पति जगत् का यौवन, उनका प्रस्फुटन, एक निश्चेतन क्रिया नहीं है, उसमे स्पष्ट रूप से उत्पादन की प्रेरणा है। पशु-पक्षियो का प्रेम तो मानव-प्रेम के लिए उपमान बन गया है। सिंह का स्वकीया-भाव, कपोत का गार्हस्थ्य, मयूर का प्रेम-विभोर नृत्य, सारस की मृत्यु-भेदी अतल अनुरक्ति आदि काल से प्रेम के प्रतीक रूप मे प्रयुक्त होते आ रहे हैं। शास्त्र के अनुसार भी शृंगार का क्षेत्र सब से अधिक व्यापक है; इसके संचारियो की संख्या सभी से अत्यधिक है, केवल ४ संचारी ही ऐसे हैं, जो इसको पुष्ट करने मे असमर्थ हैं। अनुभाव भी प्रेम के असंख्य हैं। सात्विक-भाव सभी इसके अंतर्गत आ जाते हैं। दश अवस्था और हाव केवल शृंगार की ही संपत्ति है। इसके अतिरिक्त मित्र-रसों की संख्या भी इसकी ही सब से अधिक है। कुछ रस तो सहज रूप मे ही इसके अंगी बन जाते हैं, शेष अमित्र रस भी समय अथवा आलम्बन के अंतराय से इसके साथ-साथ चल सकते हैं। केशव और देव आदि ने तो नौ रसों को ही शृंगार का अंग बना दिया है। वास्तव में जैसा कि भोजराज ने कहा है, हमारे सभी भाव हमारी अहंकार-वृत्ति के ही प्रोल्लास है। रस में जो आस्वादित होता है, वह यही अहंकार है। इसी को प्रवृत्ति अथवा रति कहते हैं—अतएव सभी रस शृंगार के अंतर्भूत हैं।

उपर्युक्त युक्तियों में थोड़ा अतिवाद हो सकता है, परन्तु शृंगार की महत्व-

स्वीकृति में आपत्ति किसे हो सकती है। वास्तव में हमारा समस्त जीवन राग पर स्थित है। हमारी कलाएं—हमारा साहित्य जीवन की—और स्पष्ट शब्दों में—हमारी रागात्मक प्रवृत्ति की ही अभिव्यक्ति है, और यह रागात्मक प्रवृत्ति काम-मूलक है। अतएव विश्व-साहित्य का अधिकांश शृंगारमय है।

शृंगार-रस के भेद—शृंगार के दो मूल भेद हैं—संयोग और वियोग। संयोग में आश्रय आलम्बन का मिलन रहता है, अतएव वह सुखात्मक है। रूप-वर्णन अर्थात् नख-शिख एवं आभूषण-वर्णन, हाव-चित्रण, अष्टयाम, उपवन उद्यान जलाशय आदि के क्रीडा-विलास, परिहास-विनोद, इसके अंतर्गत आते हैं। वियोग में प्रेमी-प्रेमिका का विच्छेद रहता है, अतएव स्वभावतः वह दुःखात्मक है। उसके चार भेद हैं:—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। पूर्वराग संयोग से पहले उत्पन्न होने वाली प्रणय की आकुलता है। मान, किसी अपराध के कारण (प्रायः) नायिका के रूठ जाने को कहते हैं, (हिन्दी कवियों ने नायक का रूठ जाना भी वर्णित किया है); प्रवास में नायक का विदेश-गमन होता है; करुण में किसी आधिदैविक अथवा अन्य प्रबल व्यवधान के कारण संयोग की आशा अत्यन्त क्षीण अथवा नष्टप्राय हो जाती है। वियोग के अंतर्गत कवियों मे दश कामदशा, पत्र, दूती, बारहमासा आदि का वर्णन करने की परिपाटी है। षट्ऋतु का अंतर्भाव संयोग-वियोग दोनों में हो सकता है।

भारतीय-साहित्य में शृंगार-भावना का विकास—मानव-शास्त्र के पंडितों का मत है कि आदिम-युग में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध सभी प्रकार के बन्धनों और नियन्त्रणों से मुक्त था। मानव अपनी समस्त जीवन-वृत्तियों को, जिनमें क्षुधा और काम मुख्य थीं, स्वच्छन्दता से तृप्त करता था। सामाजिक नीति-विधान तो उस समय था ही नहीं—परिवार के भी सदस्यों में माता, बहिन और पुत्री का विवेक नहीं था। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वोल्गा से गंगा' की पहली दो कहानियों में आदिम मानव की इसी अवस्था का अत्यन्त सुंदर वर्णन किया है। उनका कहना है कि आदिम युग मे समाज-विधान माता के द्वारा शासित था क्योंकि उस समय केवल मातृत्व ही निश्चित था, पितृत्व नहीं। माता अपने अधिकार का प्रयोग जीवन के अन्य उपकरणों के विशिष्ट उपभोग के लिए ही नहीं, वरन् सब से स्वस्थ और सुंदर पुत्र का अपने लिए वरण करने के लिए भी करती थी। उस युग में शृंगार-भावना एक शुद्ध शारीरिक आवश्यकता थी। किसी प्रकार की मनोग्रंथियां—चाहे वे नैतिक हों अथवा आध्यात्मिक, इसमें बाधक नहीं थीं। वैदिक काल तक आते आते मानव-सभ्यता काफ़ी मंज़िल तै कर चुकी थी। समाज विधान बनकर व्यवस्थित हो चुका था। मानव के अन्य कर्मों की भांति स्त्री-पुरु

का सम्बन्ध भी सामाजिक नियमों द्वारा नियंत्रित था। विवाह-संस्था का अपने पूर्ण व्यवस्थित रूप में स्थापन हो गया था। समान गुण, कर्म, स्वभाव वाले युवक और युवती उचित अवस्था को प्राप्त होने के उपरांत विद्वानों और वयोवृद्ध कुल-पुरुषों के समक्ष एक दूसरे का वरण करते थे। यह वरण केवल कुल को ही नहीं, वरन् गोत्र को छोड़कर भी प्रायः दूर-स्थित स्त्री-पुरुषों के बीच ही होता था—जैसा कि दुहिता की निरुक्त-कृत व्युत्पत्ति से स्पष्ट है, और इसका मूल उद्देश्य होता था सन्तान द्वारा कुलवृद्धि करना—"ओं अमोऽमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहम् सामाहामस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्।"—अर्थात् हे वधू! जैसे ज्ञानवान् मैं ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करता हूँ वैसे तू भी ज्ञानपूर्वक मेरा ग्रहण करती है। मैं सामवेद तुल्य हूँ, तू ऋग्वेद के तुल्य है। तू पृथ्वी के समान है, और मैं सूर्य्य के समान हूँ। वे तू और मैं दोनों ही प्रसन्नता-पूर्वक विवाह करें, साथ मिलकर वीर्य्य धारण करें, उत्तम संतति उत्पन्न करें, बहुत से पुत्र उत्पन्न करें। वे पुत्र चिरायु हों। एक दूसरे के प्रति प्रीतिभाव रखने वाले, एक दूसरे में रुचि रखने वाले, अच्छी तरह विचार करते हुए सौ वर्ष तक एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से देखते रहें। सौ वर्ष पर्य्यंत आनन्द से जीवित रहें—और सौ वर्ष पर्य्यन्त प्रिय वचनों को सुनते रहें।

इस प्रकार वैदिक काल में स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध शारीरिक आवश्यकता मात्र न रहकर नैतिक एवं धार्मिक कर्तव्य बन गया था। शृंगार-भावना नीति और धर्म के नियमों द्वारा अनुशासित हो चली थी।

इसके उपरांत महाकाव्यों का युग आता है—रामायण और महाभारत इस युग की सृष्टि हैं। रामायण में नीति के बंधन अत्यन्त दृढ़ हो गए थे। विवाह-संस्था के साथ इस समय स्वकीया भाव का महत्त्व भी अनिवार्य हो गया था। स्त्री-पुरुषों की वरण-सम्बन्धी स्वतंत्रता कम हो चली थी। विशेषकर स्त्री वरण में स्वतंत्र नहीं रह गई थी। यद्यपि स्वयंवर-प्रथा अब भी प्रचलित थी, पर स्त्री के गुरुजन ही उसके योग्य पुरुष का चुनाव करते थे। भारतीय ही नहीं—योरोप आदि के महाकाव्यों में भी एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से मिलती है, वह यह कि उनमें शृंगार-भावना का महत्त्व सर्वत्र गौण रहा है। उनका मुख्य विषय रहा है सामूहिक जीवन; मर्यादा-पुरुषोत्तम राम सामूहिक जीवन के ही प्रतीक हैं। अतएव रामायण का मूल उद्देश्य धर्म है। सीता-राम का विवाह प्रेम के लिए नहीं होता—धर्माचरण के लिए होता है।

अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥

(बालकाण्ड)

कौसल्यापुत्र रामचन्द्र से राजा जनक बोले—"यह सीता मेरी कन्या है, और तुम्हारे साथ धर्माचरण करने के लिये तुम्हें दी जाती है। इसका तुम ग्रहण करो, तुम्हारा कल्याण हो, इसका हाथ अपने हाथ में लो, यह पतिव्रता और तुम्हारी छाया के समान होगी।" रावण सीता का हरण अपने प्रेम की पूर्ति के लिए नहीं करता, वरन् बहिन के अपमान का प्रतिशोध करने के लिये—धर्म के निमित्त करता है। [काम की किंचित् प्रमुखता हमें केवल दशरथ-केकयी सम्बन्ध मे मिलती है, परन्तु सम्पूर्ण रामायण मे उसकी भर्त्सना की गई है। एक प्रकार से रामायण की करुणा का बीज ही वाल्मीकि ने इसी तथ्य को बनाया है।]—सीता-हरण के उपरांत राम का विलाप विप्रलम्भ शृंगार का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। रस का परिपाक वहां अत्यन्त पुष्ट और गम्भीर है, परन्तु उस विलाप मे भी स्थान स्थान पर ऐसा लगता है जैसे राम का प्रेम ही नहीं, उनका धर्म भी आहत होकर रो रहा है। वे बार बार यही सोचते हैं—

कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तःपुरं मम ।
निर्वीर्य इति लोको माम् निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥
कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे ।
निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥
कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम् ।
विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया ॥
सुता-विनाशसंतप्तो मोहस्य वशमेष्यति ।
अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरत-पालिताम् ॥

(अरण्य-काण्ड)

अर्थात् सीता के बिना मैं शून्य अंतःपुर मे कैसे प्रवेश करूंगा। लोग मुझे निर्वीर्य और निर्दय कहेंगे। सीता के नष्ट हो जाने पर मेरी अधीरता प्रकाशित हो जायेगी : वनवास से लौटने पर मिथिलाधिप राजा जनक जब मुझसे कुशल पूछेंगे तब मैं उनकी ओर कैसे देखूंगा।—इत्यादि।

महाभारत में आकर नीति-बंधन बहुत कुछ शिथिल हो गये हैं, परन्तु उसमें भी मूल वृत्ति धर्म ही है काम नहीं। वहां भी शृंगार-भावना स्पष्ट रूप से जीवन-

धर्म की अनुगामिनी है। तभी द्रौपदी पांच पतियों की भार्या हो सकती थी—तभी कुन्ती विभिन्न देवताओं से पुत्र के लिये याचना कर सकती थी। इस प्रकार महाकाव्यों मे काम-भावना धर्म का एक अंग थी—उसका महत्व अपने में स्वतन्त्र नहीं था। वीर-तत्व का मिश्रण उसमें हो चला था। राम को सीता के लिये धनुष तोड़ना पडा था। अर्जुन को सीता के लिये मत्स्य-भेद करना पडा था। परन्तु फिर भी प्रमुखता शृङ्गार-भावना की नहीं थी—उसमें भी क्षात्र धर्म का ही प्राधान्य था। राम और अर्जुन दोनों में से किसी में भी पूर्वराग का उद्भव नहीं हुआ था। वे क्षात्र धर्म की प्रेरणा से ही शौर्य-परीक्षा में प्रविष्ट हुए थे, प्रेम की प्रेरणा से नहीं। इस दृष्टि से उनका दृष्टिकोण मध्ययुग के चरित-नायकों के दृष्टिकोण से भिन्न था।

चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर हर्ष-वर्धन और कुछ बाद तक का समय भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के लिये सुवर्ण-काल था। यह भारतीय साहित्य के भी वैभव का युग था। रूप और रस की मधुर-कोमल भावनाओं से समृद्ध ललित काव्य की सृष्टि इसी युग में हुई। कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष के काव्य गीति-वैभव से समृद्ध हैं। उन सभी मे अपनी विशेषताएं होते हुए भी गीत का लालित्य और लावण्य सर्व-सामान्य है। यह काव्य स्वीकृत रूप से शृंगार-काव्य हैं। शृंगार-भावना यहां अत्यन्त परिष्कृत और संस्कृत रूप में हमारे सामने आती है। शारीरिकता की उसमें स्वीकृति है, पर वह शरीर की प्रकृत भूख नहीं है, उसमें मन को कोमल सौन्दर्य-वृत्तियों को ही अधिक मूल्य दिया गया है। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध-वैभव और विलास के इस युग में, शरीर की आवश्यकता नहीं था, वह मन का विलास था, इसीलिये उसमे तीव्रता एवं उत्कटता के स्थान पर माधुर्य और मसृणता मिलती है। दुष्यन्त अथवा माधव, अथवा नल का विरह भी सरस-कोमल ही है। इसी प्रकार शकुन्तला, कादम्बरी, मालती आदि रस-सृष्टियां ही हैं, जिनमें मन की सौन्दर्य-चेतनायें मूर्तिमती हो गई हैं। वैभव से परितृप्त मन और कल्पना के शत शत रंगो के स्पर्श से इस शृंगार में भारतीय रोमानी-भाव का अतिशय परिष्कृत लावण्य मिलता है। शोभा, श्री, कान्ति और सुकुमारता का ऐसा अपूर्व मिश्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

इसके उपरांत मध्यकालीन वीर-गाथाओं का युग आता है। योरुप के मध्य युग की भांति यह भी सामन्तवाद के चरम विकास का युग था। इस युग में एक अनगढ़ अहंवाद का जन्म हुआ जो सामन्तवाद का मानसिक पक्ष था। अधिकार और आत्माभिमान इस अहंवाद की दो मूल वृत्तियां थीं। काम के क्षेत्र में प्रवेश पाकर इन्हीं दोनों में नारी ने वीरगाथाओं के शौर्याश्रित शृङ्गार (Chivalrous love)

को जन्म दिया। इस श्रृंगार में नारी के प्रति काम-चेतना के अतिरिक्त एक वत्सल भाव भी था। पुरुष की चिर-अधिकृत नारी एक ओर अपनी कोमलता में रक्षणीया बन गई थी, तो दूसरी ओर उसके शौर्य का पुरस्कार भी वही थी। 'None but the brave deserve the fair!'—'वीर ही सुन्दरी के अधिकारी हैं'—मध्य युग का यह सिद्धांत-वाक्य उसकी मनोवृत्ति का सहज परिचायक है। पृथ्वीराज रासो तथा अन्य वीर-गाथाओं के आधार-रस वीर और श्रृंगार ही हैं। इस युग में आकर इन दोनो में पोषक और पोष्य का सम्बन्ध स्थापित हो गया है। वैसे तो प्राय: वीर पोष्य और श्रृंगार पोषक है, परन्तु कहीं कही यह क्रम उलट भी जाता है, वीर पोषक और श्रृंगार पोष्य बन गया है। दूसरे शब्दो मे, इन काव्यों में वर्णित युद्ध और विवाहो के बीच यही सम्बन्ध है। विवाह या तो युद्ध का परिणाम है—या कारण।

भारतीय साहित्य में वीर-गाथाओ की परम्परा लगभग ३०० वर्ष तक चली। चौदहवीं शताब्दी के मध्य मे जब हिन्दू-शौर्य ने विजेता आक्रमणकारियों से हार मान कर निराशा के आँचल मे मुँह छिपा लिया, तो स्वभावतः ही उनका युग समाप्त हो गया और पराजय तथा निराशा के अवसाद में से भक्ति का जन्म हुआ। अध्यात्म अथवा परोक्ष-प्रेम भौतिक जीवन की विफलता का ही दूसरा रूप है। इस जीवन मे अभिव्यक्ति न पाकर पराजित हृदय की वृत्तियाँ उस जीवन की ओर मुड़ीं, नर से त्रस्त होकर उन्होंने नारायण को अपना लक्ष्य बनाया। सारा देश भक्ति—अपार्थिव प्रेम के मद मे झूम उठा। विजित हिन्दू और विजेता मुसलमान दोनो ही उसमे विभोर हो उठे। वैसे तो भक्ति अथवा अपार्थिव प्रेम के सभी रूप—अनन्य, दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य—राग अथवा रतिमूलक होने के कारण श्रृंगार के अन्तर्गत आते हैं, परन्तु यहां केवल दाम्पत्य या माधुर्य से ही हम को प्रयोजन है क्योंकि श्रृंगार का वास्तविक रूप वही है। इस दृष्टि से भक्ति-युग मे भागवत, गीतगोविन्द और सूफ़ी धर्म से प्रभावित, विद्यापति, मीरा, जायसी और सूर ही श्रृंगार-भाव का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस युग का श्रृंगार अपार्थिव श्रृंगार है—अर्थात् उसका आलम्बन मनुष्य न होकर भगवान् हैं। इस अपार्थिव श्रृंगार का अपना शास्त्र और अपना दर्शन है परन्तु मनोविज्ञान पार्थिव और अपार्थिव श्रृंगार में कोई मौलिक भेद नहीं करता—इसका एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि भक्ति श्रृंगार का प्रमुख शास्त्र-ग्रंथ उज्ज्वल नीलमणि मूलतः लौकिक श्रृंगार के आधार पर ही रचा गया है। उसके भेद-प्रभेद आलम्बन-उद्दीपन आदि का विवेचन साहित्य-शास्त्र के आधार पर ही किया गया है। शास्त्र में देव-विषयक श्रृंगार को उज्ज्वल रस कहा गया

है। इसका स्थायी भाव है भक्ति या कृष्ण के प्रति रति; आलम्बन हैं कृष्ण भगवान्; उद्दीपन हैं भागवत का श्रवण—रासलीला का अवलोकन आदि; अनुभाव हैं अश्रु रोमांच आदि; और संचारी हैं हर्ष, निर्वेद, औत्सुक्य आदि। वैष्णव दर्शन में इसे आदिरस कहा गया है, 'रसो वै सः' श्रुतिवाक्य प्रमाण है। भारतीय दर्शनों और उपयुक्त भक्ति-शास्त्रों मे भक्ति को भी एक मूल भाव माना गया है। उनका मत है कि आत्मा परमात्मा के प्रति एक सहज रागात्मक भावना का अनुभव करती है, यही भक्ति है। परमात्मा आत्मा का प्राण है, माया का प्रभाव कम होते ही वह उससे मिलने के लिए विकल होने लगती है। यह भाव ही जीवन का परम भाव है—यही अध्यात्म है। इसी भावना को वैष्णव साहित्य में दाम्पत्य अथवा माधुर्य्य के रूपक द्वारा शतशत प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है। आत्मा की सत्ता को मान कर चलने वाले भारतीय दर्शन और भारतीय भक्तिशास्त्रों के लिए तो इस अपार्थिव प्रेम की व्याख्या सरल और सुलभ है—उसके लिए तो जिस प्रकार मन की विभिन्न वृत्तियां प्रेम, शोक, भय आदि सत्य है, इसी प्रकार आत्मा की यह (आध्यात्मिक) प्रवृत्ति भी एकांत सत्य ही है। परन्तु आत्मा का पृथक् अस्तित्व न मानने वाला आज का मनोविज्ञान (जिसमें मनोविश्लेषण भी सम्मिलित है) इसको अपने सहज रूप में स्वीकार नहीं कर सकता। वह उसे मन की वृत्तियों मे ही बांधने का प्रयत्न करेगा। इस विषय में पहली बात तो यही ज्ञातव्य है कि मनोविज्ञान भक्ति को मौलिक तथा अमिश्रित भाव नही मानता। वह मिश्र भाव है—जिसका आधार है रति (लौकिक अर्थ मे ही)। परन्तु रति के आश्रय और आलम्बन दोनो ही पार्थिव होते हैं; यहां आलम्बन अपार्थिव है। इसलिए आलम्बन की अपार्थिवता का प्रभाव इस रति पर पडकर उसमें थोडा मिश्रण, थोड़ा परिवर्तन कर देता है। जहाँ यह अपार्थिव आलम्बन निर्गुण है, अर्थात् केवल एक सत्य—एक विचार मात्र है, वहाँ उसके प्रति जिज्ञासा की भावना का रति मे मिश्रण हो जाएगा; जहाँ यह आलम्बन सगुण और साकार है वहाँ उसके गुणों के अनुकूल (जो वास्तव में बुद्धि द्वारा ही आरोपित होते है) भय, विस्मय, कृतज्ञता आदि भावों का रति में सम्मिश्रण हो जायगा। इसीलिए निर्गुण का प्रेम कहलाता है रहस्यवाद—जो रति और जिज्ञासा के मिश्रण से बनता है; और सगुण का प्रेम अनन्य भक्ति, दास्य भक्ति, सख्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति, दाम्पत्य या माधुर्य भक्ति, आदि अनेक रूप धारण कर लेता है—जो रति में विस्मय, भय, आदि भावनाओं के योग से बनते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपार्थिव आलम्बन के अनेक रूप हो सकते हैं—वह एक ओर सत्य की भाँति सूक्ष्मतम विचार-रूप हो सकता है, दूसरी ओर कृष्ण की भाँति बहुत कुछ स्थूल और प्रत्यक्ष भी हो सकता है, परन्तु उसके सभी रूपों में एक विशेषता सर्व-सामान्य

है—विश्वास, जिसमें बुद्धितत्व अनिवार्य्यतः वर्त्तमान रहता है। इसीलिए अनेक दार्शनिकों ने भगवान् को केवल विश्वास ही माना है। अपार्थिव प्रेम में, चाहे वह अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् कम से कम ऐन्द्रियता हो चाहे अधिक से अधिक ऐन्द्रिक, इस बौद्धिक विश्वास की पृष्ठ-भूमि अनिवार्यतः रहती है। इस विश्वास को बौद्धिक मैं इसलिए कहता हूँ कि ईश्वर में जिन गुणों का भी आरोप किया जाता है, उन सभी का कारण बुद्धि ही तो है। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि मनोविज्ञान में अपार्थिव शृंगार एक मिश्र भाव है, उसमें ऐन्द्रियता के साथ बौद्धिकता का भी तत्व स्थायी रूप से वर्तमान रहता है। इसी बौद्धिक तत्व के कारण फ्रायड धर्म अथवा भक्ति को शृंगार का उन्नयन (Sublimation) कहता है। वास्तव में आप विचार कर देखें तो ऐन्द्रिय प्रवृत्ति को स्थूल शरीरधारी व्यक्ति से हटाकर एक सूक्ष्म भाव अथवा अमूर्त आदर्श की ओर प्रेरित करना ही तो उन्नयन की क्रिया है। आलम्बन के अमूर्त और अतीन्द्रिय होने के कारण उसके द्वारा ऐन्द्रिय तृप्ति की सम्भावना न होने से, शृंगार में शारीरिकता का अंश स्वभावतः अनुपात से कम होता जाता है, और बौद्धिक तत्व का समावेश हो जाता है। विदेश का प्लेटोनिक लव वास्तव में मनोविज्ञान की शब्दावली में बौद्धिक प्रेम ही है। परन्तु यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है: भारतीय सगुणवाद ने तो इस बौद्धिकता का प्रबल शब्दों में निषेध किया है—फिर बौद्धिकता का सिद्धान्त यहाँ कैसे घट सकता है? सूर की गोपियाँ कृष्ण के व्यक्तिगत गुण-दोषों का—उनके शरीर-स्पर्श का अनुभव कर चुकी हैं—मीरा झुरमुट में कृष्ण से मिल चुकी है। बौद्धिक तत्व के प्रतीक उद्धव का घोर तिरस्कार [किया जाता है। राधा-वल्लभीय सम्प्रदाय में राधा का एकांत ऐन्द्रिय रूप चित्रित किया गया है। इस सब का मनोविज्ञान के पास एक ही स्पष्ट उत्तर है: यदि आलम्बन सर्वथा स्थूल और इन्द्रिय-गम्य बन जाता है—और भक्त उसका सर्वथा उसी रूप मे भावन करता है जिस रूप में किसी लौकिक व्यक्ति का, ऐसी दशा में उसकी भक्ति या अपार्थिव प्रेम किसी प्रकार भी पार्थिव प्रेम से मूलतः भिन्न नहीं है—अप्राप्य अथवा केवल मनःस्थित व्यक्ति के प्रति होने के कारण वह अतृप्त है, बस। इसीलिए उसमें मानसिकता तीव्र है शारीरिकता कुण्ठित है। इसके विपरीत यदि आलम्बन किसी न किसी रूप में अपार्थिव रहता है, तो उसके प्रति रति भी किसी न किसी रूप में बौद्धिक अवश्य होगी। अपार्थिव का अर्थ है विशिष्ट अलौकिक गुणों का प्रतीक—और इन विशिष्ट अलौकिक गुणों को प्रतीक रूप देकर उसके प्रति विश्वास स्थिर करने में बौद्धिक क्रिया अनिवार्य्य है। अतएव ऐसी स्थिति में, जैसा कि मैंने पहले कहा, यह अपार्थिव शृंगार रतिभाव और बौद्धिक विश्वास के योग का ही नाम है। इसमें आलम्बन की स्थूलता के अनुपात से

शारीरिकता कम, और गुणों की प्रतीकता के अनुपात से बौद्धिक विश्वास अधिक होगा। कबीर और मीरा की भक्ति में इन्हीं दोनों तत्वों के अनुपात का ही अंतर है—मूलभावना का नहीं। इस प्रकार सगुणवाद में या तो स्पष्ट रूप से ऐन्द्रिय अनुभूति की महत्व-प्रतिष्ठा की गई है—यदि ऐसा है तो पार्थिव अपार्थिव के अंतर का प्रश्न ही नहीं रह जाता। या फिर बुद्धि का निषेध एक अतिवाद मात्र है—उसका अभिप्राय केवल ईश्वर की बुद्धि-गम्यता के स्थान पर उसकी मनोगम्यता पर ज़ोर देना ही है—इन्द्रियों को पीछे छोड कर ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती यही घोषित करना है। भारतीय सगुणवाद अपने मूल रूप में आनन्द-प्रधान था, परन्तु फ़ारसी सूफ़ मत के प्रभाव से उसमें पीड़ा की उत्कटता का भी समावेश हो गया था।

सारांश यह है कि भक्तिकाल का अपार्थिव प्रेम भारतीय दर्शन की दृष्टि से आत्मा का परमात्मा की ओर सहज उन्मुखी भाव है—यह भाव शुद्ध अतीन्द्रिय अथवा आध्यात्मिक है। इसमें प्रेम की और सभी विशेषताएं विद्यमान हैं, परन्तु काम नहीं है। मनस्तत्व की दृष्टि से यह पार्थिव रति का ही उन्नयन है—और यह उन्नयन रति में यत्किंचित् बौद्धिक विश्वास का मिश्रण होने से सम्भव होता है।

रीतिकाल में आकर शृंगार फिर शारीरिक धरातल पर उतर आया। रीतिकाल का शृंगार न तो आत्मा का परमात्मा की ओर उन्मुखी भाव है, और न धर्माचरण अथवा सन्तति के निमित्त स्त्री-पुरुष का शास्त्र-सम्मत संयोग है—वह तो स्पष्ट ही सहज आकृष्ट स्त्री-पुरुष का ऐन्द्रिय पर्व है—जिसमे कोई नैतिक अथवा आध्यात्मिक ग्रन्थि नहीं है। वह किसी अन्य साध्य का साधन नहीं है, स्वयं अपना साध्य है—यही इस युग की विफलता है। इसी के कारण रीतिकालीन शृंगार-भावना प्रेम न होकर विलास रह गई। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि रसिक ही थे प्रेमी नहीं। उनके शृंगार-चित्रों मे प्रेम की एकाग्रता न होने से तीव्रता और गंभीरता प्रायः कम मिलती है, विलास का तारल्य और वैभव ही अधिक मिलता है। घोर सामाजिक और राजनीतिक पतन के इस युग मे जीवन वाह्य अभिव्यक्तियों से निराश होकर घर की चहार-दीवारी में ही अपने को अभिव्यक्त कर सकता था—घर में इस समय न धर्माचरण था, न शास्त्र-चिंतन, अतएव अभिव्यक्ति का एक ही माध्यम था—काम। वाह्य जीवन की असफलताओं से आहत मन नारी के अंगों में मुँह छिपाकर विसुध-विभोर हो जाता था। इस प्रकार रीतिकाल की शृंगार-भावना में स्पष्ट रूप से शारीरिक रति-काम की स्वीकृति है। उसमें किसी प्रकार की अतीन्द्रियता या अपार्थिवता के लिए स्थान

नहीं है, एकोन्मुख एवं एकाग्र न होने से उसमे उत्कटता एवं तीव्रता भी नहीं है, और मूलत: गृहस्थ जीवन की परिधि में बंधा होने से रोमानी साहसिकता और शक्ति का भी अभाव है। वह तो शरीर-सुख और उससे उत्पन्न मन का सुख है, नागरिक जीवन की रसिकता उसका प्राण है, विलास की श्री और समृद्धि उसका अलंकार।

देव का शृंगार वर्णन

देव मूलतः शृंगार-भावना के कवि हैं। दो एक ग्रंथ को छोड़ उनके सभी ग्रन्थों मे उसका ही वर्णन है, और वास्तव में शृंगार-रस का इतना विस्तृत विवेचन रीतिकाल के किसी अन्य कवि ने नहीं किया। शृंगार-रस का स्वरूप कवि ने निम्नलिखित शब्दों में वर्णित किया है:—

रस— जो विभाव अनुभाव अरु, विभचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ॥

[भावविलास]

शृंगार रस—नव रस के थिति भाव, है, तिनको बहु बिस्तारु।
तिनमें रति थिति भावतें, उपजत रस शृंगारु॥

भा० वि०]

रति स्थायी—नेकु जु प्रियजन देखि सुनि, आन भाव चित होइ।
अति कोविद पति कविन के, सुमति कहत रति सोइ॥

[भा० वि०]

विभाव— नायकादि आलम्बन होई, उपवन सुरभि उदीपन सोई।

[शब्द-रसायन]

अनुभाव— आनन नैन प्रसन्नता, चलि चितौनि मुसकानि।
ये अनुभाव शृंगार के, अंग-भंग जिय जानि॥

[भा० वि०]

संचारी— कहि 'देव' देव तैंतीस हूँ, संचारी तिय संचरति।

[श० र०]

[इनके अतिरिक्त सात्विक भावों को 'तनसंचारी' की संज्ञा देते हुए, उन सभी को भी इनके ही अंतर्गत माना है]

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों द्वारा स्थायी भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति एवं आस्वादन को रस कहते हैं। रस नौ हैं, जिनमें से प्रत्येक का अपना अपना स्थायी भाव है। शृंगार-रस का स्थायी भाव रति है—रति उस मनोविकार को कहते है जो प्रियजन के दर्शन अथवा श्रवण से उत्पन्न होता है। इसके आलम्बन हैं नायक-नायिका, उद्दीपन हैं सुरभि उपवन आदि। आनन और नयन की प्रसन्नता, चल चितवन, मुसकान, अंग-भंगिमा, आदि इसके अनुभाव हैं और निर्वेद असूया आदि तेतीसों मन-संचारी और अश्रु आदि आठों तन-संचारी अथवा सात्विक, इसके पोषक संचारी भाव हैं। इस प्रकार देवकृत शृंगार-विवेचन स्वीकृत शास्त्रमत के सर्वथा अनुकूल ही है। थोड़ा सा अंतर केवल यही है कि संस्कृत आचार्यों ने उग्रता, आलस्य, मरण और जुगुप्सा—इन चार संचारियों को शृंगार का पोषक नही माना है, वहां देव ने शृंगार की सर्वव्यापकता सिद्ध करते हुए इनको भी उसके संचारियों के अंतर्गत मान लिया है। इसके प्रमाण-रूप उन्होंने अपना निम्नलिखित छंद उद्धृत किया है।

वैरागिनि किधौं, अनुरागिनि, सुहागिनि तू,
देव बड़भागिनि लजति औ लरति क्यों ?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति, अनखाति—
बिलखाति, दुख मानति डरति क्यों ?
चौंकति, चकति, उचकति औ बकति,
विधकति औ थकति ध्यान, धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति सतराति, इतराति, साह—
चरज सराहौं, आहचरज मरति क्यों ? [शब्द-रसायन]

इसका स्पष्टीकरण स्वयं कवि के ही शब्दों में सुनिये :—

वैरागिनि 'निर्वेद', 'उत्कण्ठता' है अनुरागिनि;
'गर्व' सुहागिनि जानि, भाग-'मदते' बड़भागिनि।
'लज्जा' लजति, 'अमर्ष' लरति, सोवति 'निद्रा' लहि;
'बोध' जगति, 'आलस्य' अलस, हर्षति 'सुहर्ष' गहि।
अनखाति 'असूया' 'ग्लानि', 'श्रम', बिलख दुखित दुख 'दीनता'।
'संकह' डराति, चौंकति, 'त्रसति', चकति 'अपस्मृति' लीनता॥
उचकि 'चपल', 'आवेग' 'व्याधि' सौं विथकि सु पीरति;
'जड़ता' थकति, 'सुध्यान' चित्त 'सुमिरन' धर 'धीरति'।
'मोह' मोहि, 'अवहित्थ' मुरति, सतराति 'उग्र' गति,
इतरैबो 'उनमाद', साहचरजै सराह 'मति।'

अरु आहचरज बहु 'तर्क' करि, 'मरन'-तुल्य मूरछि परति;
कहि देव देव तैंतीस हूँ, संचारिन तिय संचरति।

[श० र०]

उपर्युक्त उदाहरण में कौशल-प्रदर्शन ही अधिक है, अनुभूति की सचाई नहीं—और वैसे भी यहां संचारियों का वर्णन मात्र है, व्यंजना नहीं है। परन्तु फिर भी आलस्य, उग्रता और मरण भी शृंगार के पोषक संचारी हो सकते हैं, इस विषय में कोई मनोवैज्ञानिक निषेध नहीं है। आधुनिक मनस्तत्व-शास्त्र के अनुसार तो हमारे मनोविकारों में प्रायः विपरीत वृत्तियों का योग रहता ही है।

देव ने पूर्ण आग्रह के साथ शृंगार का रस-राजत्व सिद्ध किया है।—

निर्मल स्याम सिंगार हरि देव अकास अनंत,
उड़ि उड़ि खग ज्यौं और रस बिबस न पावत अंत।
भाव सहित सिंगार मैं नव-रस झलक अजस्न,
ज्यों कंकन-मणि कनक को ताही में नवरत्न।

[भवानीविलास, प्रथम विलास]

इसीलिए—तीन मुख्य नौ हूं रसनि द्वै द्वै प्रथम निलीन,
प्रथम मुख्य तिन तीनहूं में दोऊ तेहि आधीन।

[भा० वि०, अष्टम विलास]

भूलि कहत नव-रस सुकवि सकल मूल सिंगार,
तेहि उछाह निर्वेद लै, वीर, शान्त, संचार।

[भवानीविलास, प्रथम विलास]

अर्थात् नौ रसों में मुख्य रस तीन हैं—शृंगार, वीर, शान्त; शेष रस इन तीनों के ही अंतर्गत आ जाते है, फिर इन तीनों में शृंगार ही मुख्य है क्योंकि शेष दो का भी अंतर्भाव उसमें हो जाता है, उसी के उत्साह से वीर और उसी के निर्वेद से शांत का जन्म होता है। इसलिए वास्तव में एक ही मूल रस है।

शृंगार और प्रेम का स्वरूप तथा महत्व—देव रस-सिद्ध प्रेमी कवि थे, उनके द्वारा शृंगार का महत्व-स्थापन निर्जीव सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं था, अनुभूति का आग्रह था। उनकी वाणी ने शत शत रूपों में शृंगार की महिमा का बखान किया है। जीवन की सम्पूर्ण साधना मुक्ति के लिए है, और मुक्ति का फल है भोग। परन्तु साधना, मुक्ति और भोग इन तीनों का मूल है काम। बिना काम पूर्ण हुए मुक्ति—परमपद भी तुच्छ लगता है—और काम की पूर्ति है चन्द्रमुखी रमणी :

युक्ति सराही मुक्ति हित, मुक्ति भुक्ति को धाम।
युक्ति, मुक्ति और भुक्ति को, मूल सुकहिए काम॥
बिना काम पूरन भये लगै परम पद छुद्र।
रमनी राका ससि मुखी पूरै काम-समुद्र॥

[रसविलास

इसीलिए त्रिभुवन मे सर्वत्र काम की ही महत्ता है—मनुष्य ही नहीं वरन्, सुर-असुर, यक्ष-पिशाच, पशु-पक्षी सभी स्त्री के संसर्ग मे ही सुखी रह सकते हैं—स्वयं भगवान् भी उसकी महिमा से अभिभूत है :

रची राम संग भीलनी यदुपति संग अहीरि,
प्रबल सदा बनवासिनी नवल नागरिन पीर।

[रसविलास]

परन्तु काम को यहाँ तात्विक रूप मे प्रयुक्त किया गया है—काम से अभिप्राय कामुकता (विषय) का नहीं है। देव ने प्रेम और कामकता मे अत्यन्त स्पष्ट अन्तर माना है :

यह विचार प्रेमीन को, विषयी जन को नाहिं,
विषय बिकाने जनन की प्रेमी छियत न छांहि।

श्रृंगार रस का मूल प्रेम ही है—कामुकता नहीं। जब तक दंपति में प्रेम है तभी तक श्रृंगार का परिपाक हो सकता है, विषय के आधार पर वह असम्भव है। प्रेम-हीन कामुकता तो रसाभास अथवा श्रृंगाराभास मात्र है :—

तबही लौं श्रृंगार रसु जब लग दम्पति प्रेम।

[प्रेमचन्द्रिका, प्रथम प्रकाश दो० १६]

× × +

प्रेम हीन त्रिय बेश्या है सिंगाराभास।

[प्रे० च० द्वितीय प्रकाश दो० १०]

श्रृंगार, बिना प्रेम के, सर्वथा नीरस है, परन्तु प्रेम, बिना श्रृंगार के भी, समस्त रसो का सार है। इसी भावना के अनुकूल उन्होंने स्वकीया के प्रेम को ही सच्चा प्रेम माना है—परकीया का प्रेम उत्कट एवं तीव्र होते हुए भी अधिक श्रेयस्कर नहीं होता। वह उपपति के प्रेम मे अपने व्यक्तित्व को औटा कर खोवे के समान कर देती है—इस प्रकार उसके प्रेम में रस तो अवश्य अधिक आ जाता है परन्तु वह अवगुण करता है। इसके विपरीत, स्वकीया का प्रेम दूध की तरह सात्विक तथा लाभप्रद होता है।—सामान्या के प्रति तो वे प्रेम का अस्तित्व ही नहीं मानते, यह तो विषय-तृप्ति मात्र है, उसमें धर्म

और धन दोनों की हानि होती है।—इसके आगे देव पार्थिव और अपार्थिव प्रेम में कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींचते।

सब सुखदायक नायिका-नायक जुगल अनूप।
राधा-हरि आधार जस रस-सिंगार स्वरूप॥ (भवानीविलास)

प्रेम की महिमा अपार है, इस रस को पीकर मनुष्य मरकर भी अमर हो जाता है, पागल होकर भी जगत् के रहस्य को जान लेता है। दम्पति का स्वरूप जो ब्रज में अवतरित हुआ था, वह वास्तव में प्रेम का ही अवतार था। वासना से मुक्त होते होते पार्थिव प्रेम अपार्थिव प्रेम बन जाता है। इसीलिए प्रेम के जो पाँच भेद देव ने माने हैं, उनमें पार्थिव और अपार्थिव की सीमाएं सर्वथा मिली-जुली हैं। सानुराग प्रेम और प्रेम-भक्ति अथवा सौहार्द्र में शारीरिक और आत्मिक का अन्तर नहीं है क्योंकि शुद्ध प्रेम के लिए आत्मा का सम्बन्ध तो सभी दशाओं में अनिवार्य्य है।

इस प्रकार प्रेम के प्रति देव का दृष्टि-कोण शुद्ध रीतिकालीन नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि देव की अनेक पंक्तियाँ ऐसी हैं जो रीतिकालीन अनेकोन्मुखी रसिकता की ओर, जिसमें विलास का ही प्राधान्य था, संकेत करती हैं, जैसे—

काम अन्धकारी जगत लखै न रूप कुरूप,
हाथ लिए डोलत फिरै, कामिनि छुरी अनूप।
तातैं कामिनि एक ही कहन सुनन को भेद,
राचैं पागैं प्रेम-रस मेटै मन को खेद। [रसविलास]

परन्तु यह वास्तव में वातावरण का प्रभाव था। स्वभाव से देव की अपनी वैयक्तिक आस्था एक-निष्ठ प्रेम में ही थी। एक तरह से कहा जा सकता है कि उनका प्रेम-विषयक दृष्टिकोण बिहारी, मतिराम, पद्माकर, आदि शुद्ध रीतिवादी कवियों और दूसरी ओर घनानन्द, ठाकुर, बोधा आदि रीतिमुक्त एकनिष्ठ प्रेमी कवियों का मध्यवर्ती था। उनकी शिक्षा और संस्कृति की प्रेरणा एक दिशा में थी स्वभाव की दूसरी दिशा में। उनके संयोग-वियोग के वर्णनों में रीति और व्यक्ति का यही मिश्रण सर्वत्र मिलता है। वैसे सम्पूर्ण योजना रीतिग्रस्त है—परन्तु विशेष वर्णनों में भावना का गहरा रंग है।

संयोग—

पहले संयोग वर्णन लीजिये: संयोग के दो मुख्य अंग हैं—एक रूप-वर्णन, दूसरा मिलन जिसके अंतर्गत पारस्परिक शरीर-सुख के विनिमय के अतिरिक्त विनोद और विहार आदि आते हैं।

(१) रूप-वर्णन—रूप की परिभाषा करना साधारणतः कठिन है। सौंदर्य्य को अनिवर्चनीय कहा गया है—सौंदर्य्य वह अनिवर्चनीय 'कुछ' है जो मन को भला लगता है। परन्तु यह शब्दावली अवैज्ञानिक है। मनोविज्ञान की दृष्टि से सौंदर्य्य का मूल तत्व सामञ्जस्य है। यह सामञ्जस्य पहले वस्तु के विभिन्न अंगों में होता है, फिर वस्तु और व्यक्ति के मन अर्थात् भाव के बीच। वस्तु के विभिन्न अंगों का सामञ्जस्य, अनुक्रम, अनुपात, दूसरे शब्दों मे—वस्तुगत सौंदर्य्य कहलाता है, और वस्तु और भाव का सामञ्जस्य (भावगत सौंदर्य्य) ही वह अनिर्वचनीय 'कुछ' है जो भिन्न भिन्न प्रकार की शब्दावली द्वारा व्यक्त किया गया। इस दृष्टि से, रूप सौंदर्य्य का वह पक्ष है जो नेत्रों के माध्यम से मन का प्रसादन करता है—यह शब्द प्रायः मानव-शरीर के सौंदर्य्य के लिये ही प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार रूप की अनुभूति की तीन अवस्थाएं होंगी—

(१) वस्तुगतरूप की अनुभूति, जिसमें वस्तु के भिन्न अंगों के सामञ्जस्य का तटस्थ रूप से ग्रहण मात्र होता है। (२) रूप-जन्य मानसिक आनंद की अनुभूति। इसके मूल में वस्तु और भाव का सामञ्जस्य होता है। (३) रूप के प्रति वासना की अनुभूति। इसमें केवल आनन्द की भावना ही नहीं—वरन् रूप के ऐन्द्रिय उपभोग की वासना का भी गाढ़ा रंग रहता है।

रस-शास्त्र की दृष्टि से सौंदर्य्यानुभूति में विस्मय, आनन्द और रति इन तीन भावों की पृथक् पृथक् अथवा सम्मिश्रित अनुभूति होती है।

देव ने रूप की परिभाषा करते हुए लिखा है :—

देखत ही जो मन हरै, सुख अंखियन को देइ,
रूप बखानै ताहि जो जग चेरो करि लेइ। [रसविलास]

अर्थात् जो नेत्रों को सुख देता हुआ मन को सुख दे, वही रूप है। यह रूप की शुद्ध भाव-परक व्याख्या है जो देव की जीवन-दृष्टि के सर्वथा अनुकूल है। उनके रूप-वर्णन में वस्तु-गत सामञ्जस्य का निरपेक्ष ग्रहण ढूंढ़ना व्यर्थ होगा। वास्तव में यह आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का ही प्रसाद है जो अठारहवीं शताब्दी के भारतीय कवि के लिये सम्भव नहीं थी। बस केवल बिहारी में उसकी झलक कहीं कहीं है। रीतिकाल में वस्तु-परकता एक-दूसरे रूप में मिलती है—वह है परिपाटी-ग्रस्त उपमान आदि का परिगणन। इस प्रकार का वर्णन प्रायः कवि की व्यक्तिगत भावना से शून्य होता है—उसमें भावगत सामञ्जस्य के स्थान पर प्रायः उपमानों और प्रतीकों का वस्तुपरक सामञ्जस्य ही मिलता है। देव में इस प्रकार के वर्णन अत्यंत विरल हैं—परन्तु उनका अभाव नहीं है—

लै रजनी पति बीच विरामिनि दामिनि-दीप समीप दिखावै ।
जो निज न्यारी उज्यारी करै, तब प्यारी के दंतन की द्युति पावै ॥

उपयुक्त चित्र में उपमानों में जो सामञ्जस्य स्थापित किया गया वह भावना-परक नहीं है—वस्तु-परक ही है । वस्तु का चित्र तो सामने उपस्थित कर दिया गया है, परन्तु कवि अथवा उसके प्रतीक नायक की उमड़ी भावना की अभिव्यक्ति नहीं हुई, और यदि हुई भी तो अत्यंत प्रच्छन्न है, उपमानों की योजना उसे पूरी तरह आच्छादित किए हुए है । सौंदर्य के इस प्रकार के रीति-बद्ध चित्र रीति-काव्य के स्वाभाविक दूषण हैं ।—देव में औरों की अपेक्षा इनकी संख्या कम अवश्य है—परन्तु वे इनसे मुक्त नहीं है, उनके नखशिख वर्णन से ऐसे बहुत से उदाहरण दिए जा सकते है ।—एक आध स्थान पर कवि ने चित्र में उपमानों का प्रयोग बचाया है, और अपनी दृष्टि को वस्तु पर ही केन्द्रित रखने का भी प्रयत्न किया है—

अम्बर नील मिली कबरी, मुकुता लर दामिनि-सो दशहूँ दिसि ।
ता मधि माथे में हीरा गुह्यो, सुगयो गढ़ि केशन की छबि सौं लसि ।
मांग को मूल उतै सिर-फूल दव्यो, झमकै कनकावलि सौं घिसि ।

परन्तु इतने पर उसे पूर्ण संतोष नहीं हुआ और अंत में उपमानों के द्वारा ही चित्र पूरा किया गया—'शृंग सुमेरु मिलैं रवि चंद ज्यौं पावस मास अमावस की निसि ।' फिर भी इस प्रकार के वर्णन देव की प्रकृति के अनुकूल नहीं थे । इनमे रूप के प्रति उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया अभिव्यक्त नहीं है । सौंदर्यानुभूति की द्वितीय स्थिति ही जिसमे आनन्द की भावना का प्राधान्य रहता है, उनके लिए अधिक स्वाभाविक थी । ऐसे रूप-चित्र उनके काव्य मे राशि राशि मिलेंगे :—

ललित लिलार श्रम झलक अलक भार, मग मे धरत पग जावक घुरो परै;
देव मनि-नूपुर पदुम-पद दू पर ह्वै, भूपर अनूप रूप रंग निचुरो परै ।

'घुरो परै' 'निचुरो परै' दोनो में ही द्रष्टा की भावना की स्पष्ट अभिव्यक्ति है । इसी प्रकार—

'डगर डगर वगरावति अगर अंग,
जगर मगर आपु आवति दिवारी-सी ।

के द्वारा भी नयनोत्सव की ही व्यंजना है । कहीं कहीं अनुभूति अत्यंत सूक्ष्म हो जाती है, यहाँ तक कि रूप दृश्य न रह कर सम्पूर्ण चेतना में परिव्याप्त हो जाता है—

संग संग डोलत सखीन के उमंगभरी,
अंग अंग उठत तरंग स्याम-रंग की ।

देव ने परम्परा के अनुसार नखशिख, शोभा-कांति आदि अलंकार, विलास, ललित आदि हाव, एवं अन्य सौंदर्य्य-तत्वों का विस्तृत वर्णन किया है। उन सभी में आत्म-तत्व (Subjectivity) की ही प्रधानता है। नख-शिख आदि में जड़ सौंदर्य्य का वर्णन वे नहीं करते, वरन् उनमें तरंगित चेतन सौंदर्य्य ही उनका लक्ष्य है। अलंकारों और हावों मे तो अपने सहज रूप में ही आत्म-तत्व वर्तमान रहता है, क्योंकि काम की चेतना से सौंदर्य्य में जो एक सक्रिय आकर्षण आ जाता है उसे ही शोभा, विलास आदि की संज्ञा दी जाती है। देव ने इन सभी के अत्यंत मधुर चित्र अंकित किये हैं।

अब सौंदर्य्यानुभूति की तीसरी स्थिति रह जाती है जो उपभोग-मूलक होने के कारण वासनामयी होती है। इसका सहचारी भाव हर्ष न होकर रति ही होती है; और चूंकि स्पष्टतः यह रति ऐन्द्रिय होती है इसलिए इसमें यौवन की उष्ण गंध लिए एक तीव्रता और प्रगाढ़ता मिलती है। रीतिकाल के रूप-वर्णन मूलतः इसी सौंदर्य्यानुभूति से प्रेरित हैं। देव की गंभीर रसिकता इस क्षेत्र में खूब खुल खेली है। उनके वर्णनों में ऐसा लगता है जैसे कवि की सम्पूर्ण चेतना नारी के अंगों से लिपट लिपट कर रस-स्नात हो जाती है। एक उदाहरण लीजिए :—

> भोर ही भोरे ही श्री वृषभानु के आयो अकेलोई केलि भुलान्यो।
> देव जू सोवतही उत भामती झीनै महा झलकै पट तान्यो।
> आरस ते उघरी इक बाँह भरी छवि देखि हरी अकुलान्यो।
> मीडत हाथ फिरै उमड्यो-सो मड्यो ब्रज बीच फिरै मडरान्यो।

नायिका झीना पट ओढे हुए सो रही है। आलस्य से एक बाँह उघर गई। बस उसी बांह की भरी छवि को देखकर नायक व्याकुल होकर उसके चारों ओर हाथ मीड़ता हुआ मंडराता फिर रहा है। अलसायी बांह की भरी छवि द्वारा व्यञ्जित ऐन्द्रियता कितनी मादक है, उसमें वासना की कितनी भीनी मधु-गंध है।—रूप के उपभोग की यह वासना कहीं कही तो अत्यंत प्रगाढ़ होगई है; जैसे—

> देव मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो।
> कंचुकी मैं चुपरो करि चोवा लगाइ लियो उरसों अभिलाख्यो॥
> कै मखतूल गुने गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
> सांवरे लाल को सांवरो रूप, मैं नैनन में कजरा करि राख्यो॥

सांवरे लाल के सांवरे रूप को कन्चुकी में चोवा रूप से चुपड़ना, वक्ष में भर लेना, शृंगार के रूप में आस्वादित करना, नयनों में अंजन रूप से आंज लेना—सभी इन्द्रियों को जैसे शानदार दावत दी गई है।

मिलन और उपभोग :—मिलन के अंतर्गत संयुक्त प्रेमियों के समस्त मानसिक और शारीरिक सुख आते हैं। रीति-परम्परा के अनुसार कवि इस प्रसंग में नव दम्पति की रस-चेष्टाएं, सुरत, अष्टयाम, बिहार आदि का वर्णन करते रहे हैं। वास्तव में रीति-काव्य का यही मुख्य वर्ण्य विषय था। उस युग की आहत चेतना आत्म-विस्मरण के लिए ही तो श्रृङ्गार-साधना करती थी—अतएव स्वभावतः ही उसमें संयोग के प्रति आग्रह अधिक था, क्योंकि रसिकता मूलतः संयोग-प्रधान ही होती है। जहाँ भावना एकोन्मुखी न होकर अनेकोन्मुखी होती है, वहाँ मिलन और उपभोग का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। देव ने नायक नायिका की रस-चेष्टाओं के जो चित्र अङ्कित किए हैं उनमें मानसिक और शारीरिक सुख का गाढ़ा रंग है। उनमें मन और शरीर दोनों ही तन्मय होकर उत्सव मनाते हैं। एक ओर उन्होंने वासना का संस्कार अथवा परिशोधन कर मिलन को अतीन्द्रिय—दूसरे शब्दों में—केवल मन का सपना बनाकर नहीं छोड़ दिया है, दूसरी ओर शरीर की स्थूल चेष्टाओं का ही वर्णन कर उसे मांस-भुक्ता भी नहीं बना दिया है। एक रस-सिद्ध कवि की भांति उन्होंने मांसलता द्वारा भावना को प्रगाढ़ किया है और भावना के द्वारा मांसलता में रंग भर दिया है। इसीलिए उनके मिलन के चित्रों में विशेष रस-मग्नता मिलती है। हम कुछ क्रम-बद्ध उदाहरण देकर अपनी धारणा को पुष्ट करेंगे।

नव-वधू का गौना होकर जा रहा है। गुरुजन उसे भूषण-वस्त्रों से अलंकृत करते हैं, सखियां ससुराल के अनेक सुखों की चर्चा करती हैं। फिर शील सयान आदि की शिक्षा देती हुई चुपके से यह भी कह देती हैं कि 'ऐसी वाणी बोलना जो मनभावन को अच्छी लगे।' नव-वधू गंभीर होकर सब सुनती रहती है—परन्तु ज्यों ही यह अन्तिम वाक्य उसके कानों में पड़ता है—अचानक ही उसके ओछे उरोजों पर अनुराग के अंकुर-से उग आते हैं :—

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाए।
सील सयान सखीन सिखायो, बडे सुख सासुरे हू के सुनाये।
बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मनभावन के मन भाये।
——यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आए॥

उपर्युक्त प्रसंग में अभी वास्तविक मिलन नहीं हुआ, अभी स्थिति सर्वथा मानसिक धरातल पर ही है। परन्तु मन के साथ शरीर का ऐसा सहज सम्बन्ध है कि दोनों में एक साथ चेतना उत्पन्न हो जाती है। अनुराग के अंकुर जो मन में उठे थे—वे ही उरोजों पर भी उभर आए। काम की प्राथमिक चेतना का कितना सूक्ष्म-सरस वर्णन है।

दूसरे उदाहरणों में संयोग पूर्ण हो जाता है।

दूरि धरो दीपक झिलमिलात झीनो तेज, सेज के समीप छहरान्यो तम तोमसो।
दूलहै दुराइ आली केलि के महल गई, पेलि के पठाई वधू सरद के सोम-सो।
अंक भरि लीन्हीं गहि अंचल को छोरु, देव जोरु कै जनावै नवयौवन के जोम कों।
लाल के अधर बाल अधरनि लागि लागि उठी मैन आगि पघिलान्यो मन मोम सो॥

नायिका सलज्जरति मुग्धा है। अभी वह समागम के लिए प्रस्तुत नहीं है, परन्तु सखी की चालाकी से नायक के भुजपाश में फम जाती है। उसको भी यौवन का घमण्ड है—थोड़ी देर तक दोनों में खींचतान होती है। परन्तु अन्त में नायक के अधरों से उसके अधर लगने के कारण काम की अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और उसका मन मोम की भाँति पिघल जाता है। नायिका परवश हो जाती है। यह प्रसंग रस-सिक्त तो है ही साथ ही मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यंत सटीक है। प्रसिद्ध मनोवेत्ता फ्रायड ने एक ऐसी ही स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि बलात्कार के समय यदि कोई स्त्री परवश होकर आत्म-समर्पण कर देती है तो इसमें उसके सतीत्व पर शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह तो प्रकृति का आग्रह है। ऐसी परिस्थिति में, जहां उसका चेतन व्यक्तित्व बलात्कारी का विरोध करता है, वहां उसका अवचेतन नारीत्व उसकी सहायता करता है। चेतन मन कठोर होकर आक्रांता को जितना ही दूर हटाने का प्रयत्न करता है, अवचेतन नारीत्व उतना ही पिघलता हुआ उसकी ओर बढता जाता है।

परम्परा के अनुरोध से देव ने सुरत और सुरतांत के भी चित्र अंकित किए हैं—परन्तु उनकी रुचि उधर नहीं थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है—

मुग्धादिक वयभेद अरु, मान सुरत सुरतंत,
बरने मत साहित्य के, उत्तम कहे न संत।

[सुजान-विनोद]

सुरत के चित्र जैसे होने चाहिएँ—वैसे ही हैं। इस प्रसंग में सूक्ष्म सुरुचि अथवा कोमल भावना के लिए स्थान कम ही है। देव ने अपनी ओर से प्रयत्न किया है कि ये वर्णन भी—

"नैन लागे बैन लागे देव चतचैन लागे दुहुन के कस ख खेल हो सो खिलि गये।
भरिकै सरस रस दरके सस्याने युग, जाने न परत जल बुंदनि ज्यों मिलि गये॥"

तक ही सीमित रहें, परन्तु प्रसंग और भी आगे बढ जाता है:—"फेरि फेरि जैही कहि नीके नैंक रैहो कहि बैठि बैठि उठि उठि रंग रच्यो रुचि कै।" वास्तव में इस प्रकार के चित्र उपस्थित करने में कोई औचित्य नहीं है—यह रस नहीं रसा-

भास है और कुरुचि उत्पन्न कर आनन्द में व्याघात उत्पन्न करता है। यही संतोष है कि ऐसे वर्णन केवल दो ही एक हैं। अन्यत्र कवि की सुरुचि ने उसका साथ नहीं छोड़ा है—और उसके अधिकांश वर्णन अश्लील—अर्थात् वीभत्स एवं कुरुचिपूर्ण होने से बच गए हैं। अश्लीलता को प्रायः नग्नता का पर्याय समझा जाता है—परन्तु वास्तव में नग्नता सदैव अश्लील नहीं हो सकती—न आवरण सर्वथा शोभन ही हो सकता है। ऐसी दशा में अश्लीलता का सीधा सम्बन्ध कुरुचि से ही मानना चाहिए।

मिलन के प्रसंग में परिहास :—विनोद का अपना माधुर्य्य है। वास्तव में संयोग के आनन्द और प्रेम के गर्व को प्रकट करने के लिए इससे सुन्दर माध्यम सम्भव नहीं है। देव की प्रकृति गंभीर थी—अतएव स्वभावतः वह इस ओर कम गई है। अपना वाक्वैदग्ध्य उन्होंने प्रायः खण्डिता के व्यंग्यों में ही व्यय किया है, परन्तु फिर भी वे रस के प्रसंगों में व्यंग्य और विनोद आदि की माधुरी से अनभिज्ञ नहीं थे। इस प्रकार के स्थल संख्या में तो अधिक नहीं हैं परन्तु जो हैं वे सरसता में अद्वितीय हैं :—

एक दिन की बात है एक संकीर्ण गली में होकर राधा अपनी सखियों सहित जा रही थी। कृष्ण को ज्यों ही यह सूचना मिली—वे अत्यंत आतुर होकर तुरन्त ही वहां आ पहुँचे और दूर से ही आवाज़ देकर कहने लगे—'सुनिये, आप कहां से आई हैं। कुछ ऐसा लगता है जैसे शायद आपको हमने कहीं देखा है।' राधा ने उसी तरह मुँह फेर कर कहा—'महाशय, बस आप चले ही जाइए। हम आपको अच्छी तरह जानती हैं, और आप भी हमें अच्छी तरह जानते हैं।

लागि प्रेम डोरि खोरि सांकरी ह्वै कढी आइ नेह सों निहारि जोरि आली मनमानती।
उवते उताल देव आये नन्दलाल, इत सौहैं भई बाल नव लाल सुख सानती।
कान्ह कह्यो टेरिकै कहाँ ते आई को हौ तुम, लागती हमारे जान कोई पहिचानती।
प्यारी कह्यो फेरि मुख हेरि जू चलेई जाहु, हमैं तुम जानत, तुम्हैं हूँ हम जानती।

इसी तरह एक बड़ा हल्का और मीठा मजाक एक और नायिका करती है :—

पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी वहू लखि त्यों हँसि भौंह मरोरी।
बांह गही ललचाइ लला, मुख नाहीं कही मुसकाइ किसोरी।
तोरि न लाज जेठानी सखी-जन, देव ढिठाई करै नहीं थोरी।
लाल जितै चितवैं तिय पै तिय त्यों त्यों चितौ ते सखीन की ओरी।

रात्रि का समय है। नायक नायिका पास बैठे हुए हैं—अन्तरंग सखियाँ भी उपस्थित हैं। नायक का मन आज कुछ उतावला हो रहा है। पहले वह हँस कर

प्यार से नायिका को पान देता है, परन्तु नायिका हँसकर भौंह मरोड लेती है। इस पर नायक ललचा कर उसकी बाँह पकडता है। तो वह मना करती है कि—'देखो, ये सखियां हमसे अधिक वयस्क हैं, इनके सामने लाज मत तोड़ो, परन्तु रस-लुब्ध नायक बेबस हो रहा है। नायिका इसी बेबसी का लाभ उठाती हुई उसे थोडा और छेडने का प्रयत्न करती है—नायक ज्यों ज्यों उसकी ओर ललचायी आँखो से देखता है त्यों त्यों वह शैतानी से सखियों की ओर देखने लगती है।—विनोद कितना प्रच्छन्न और कितना सूक्ष्म-मधुर है।

एक अन्य स्थल पर यह विनोद-परिहास अधिक प्रस्फुट हो जाता है। एक दिन सभी गोपियों ने मिल कर कृष्ण को छकाने की सोची। वे राधा को कंस का प्रतिहारी बनाकर मधुबन के कुन्जों में कृष्ण के पास ले आईं, और कड़कती हुई आवाज़ में कहा – "चलिए, महाराज कंस आपको बुलाते है। आप किसकी आज्ञा से दधि का दान लेते हैं?" कृष्ण के साथी बेचारे इस रहस्य को, न समझ पाये—वे सभी डर कर भाग गए। कृष्ण जी सटपटाते-से अकेले खड़े रह गये।—फौरन ही उनको पकड कर राज-प्रतिहारी के हाथ में दे दिया गया; बस यहीं आकर भेद खुल गया। प्रतिहारी की दृष्टि छल को छिपाये रखने में असमर्थ होगई। भौंहो ने ढीली पडकर सारा भेद खोल दिया।

राज पौरिया के रूप राधे कौं बनाइ लाईं, गोपी मथुरा ते मधुबन की लतानि मैं।
टेरि कह्यौ कान्ह सों, चलो हो कंस चाहै तुम्हे, काके कहे लूटत सुने हो दधि-दानि मैं।
संग के न जाने, गए डगरि डराने 'देव', स्याम ससवानें-से पकरि करे पानि मैं।
छूटि गयौ छल सो छबीली की विलोकनि मै,ढीली भई भौंहे वा लजीली मुस्कानि मैं॥

रस-चेष्टाओ के अंतर्गत विभिन्न हावो का वर्णन भी आता है। देव ने हावों का सम्बन्ध प्रौढा नायिका से मानते हुए उनके अत्यंत रसमय वर्णन किये हैं। वास्तव मे उनके सभी ग्रन्थ, लीला, विलास, विच्छित्ति आदि के चित्रो से जगमग हैं।

अब संयोग का एक अंग रह जाता है : विहार। रीति-काव्य का राज-वैभव में पोषण हुआ था, अतएव स्वभाव से ही उसमे विलास और विहार का राशि-राशि वैभव मिलता है। देव ने षट् ऋतुओं के विभिन्न उत्सवो द्वारा प्रेमी युगल के उमडे हुए आनन्द का वर्णन किया है। यहां भी उन्होंने आंतरिक हर्ष और उल्लास को ही अभिव्यक्ति को प्राधान्य दिया है—स्थूल राजसी विलास की सामग्रियो का ठाठ नहीं बांधा है। इन वर्णनो मे ऐसा लगता है जैसे कवि का प्रेम-मग्न मन बदलती हुई ऋतुओ और चक्रवत् घूमते हुए पर्वों और उत्सवो में हर्ष-विभोर होकर नाचता है—

साँचे हँकारि पुकारि पिकी कहै नाचै बनैगी वसंत पचैं।

यहां दो एक उदाहरण ही यथेष्ट होंगे। मेघाडम्बर में झूले का उत्सव है—आप देखिए किस प्रकार ना क नायिका के शरीर, मन, उनके वस्त्र, सम्पूर्ण वातावरण और साथ ही कवि का मन सभी उत्सव में तन्मय होकर लहरा रहे हैं :—

सहर सहर सोधो सीतल समीर डोलै, घहर घहर घन घेरिकै घहरिया।
झहर झहर झुकि झीनी झरि लायौ 'देव', छहर छहर छोटी बूँदन छहरिया।
हहर हहर हँसि हँसि कै हिंडोरे चढी, थहर थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर फहर होत पीतम को पीत पट, लहर लहर होत प्यारी को लहरिया।

इन चित्रों में आनन्द का वातावरण उपस्थित करने की अद्भुत क्षमता है जो वास्तव में उनकी सबसे बडी सफलता है। यहां भी देव की यह प्रमुख विशेषता है कि वे इन वर्णनो को केवल ऐन्द्रिय उल्लास बनाकर ही नहीं छोड देते—वे उसके भीतर प्रेम के रस का सिंचन कर एक अपूर्व माधुरी भर देते हैं—

केसरिया चकचौंधत चीर ज्यो केसरि नीर सरूप लसी ज्यो।
लाल के रग में भीजि रही सु गुलाल के रंग में चाहत भीज्यो।

पहली पंक्ति मे रूप और स्फूर्ति की जो चमक है वह अन्तिम पंक्ति की मिठास से कितनी सरस बन गई है।

विरह—

विरह के चार अंग हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। संस्कृत-शास्त्र में संयोग और वियोग का आधार सामीप्य अथवा पार्थक्य, या उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति को न मान कर सुख और दुख को ही माना है। इसलिए तो पूर्वराग और मान का भी विरह मे अन्तर्भाव कर लिया गया है। पूर्वराग मे आलम्बन की अनुपस्थिति सर्वथा अनिवार्य्य नही है—परन्तु मिलन के अवसर अथवा साधन का अभाव वहा अवश्य होता है, जिसके कारण पूर्वराग की अवस्था मे मानसिक क्लेश बना रहता है। मान मे तो प्रेमी युग्म का विच्छेद ही नही होता—अनेक दशाओं मे शारीरिक संयोग भी उसमे रहता है, परन्तु दोनो के मनों के बीच एक ऐसा व्यवधान पड जाता है कि संयोग भी वियोग ही बन जाता है। वर्गीकरण में शास्त्र का यही दृष्टिकोण रहा है। परन्तु आज कुछ विद्वान् इसके विपरीत दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए उपर्युक्त दोनो भेदों को वियोग को संज्ञा नहीं देते। वियोग के लिए योग पहले आवश्यक है—पूर्वराग योग के पूर्व की स्थिति है जिसमें अभिलाषा की व्याकुलता तो अवश्य है परन्तु प्रेम का परिपाक अभी उसमें नहीं है।—अभी तो प्रेम अंकुरित हुआ है—अभी उसकी अभिलाषा ही है, प्राप्ति नहीं हुई। अतएव 'मिलि कै

बिछु की बिथा' न होने से वे पूर्वराग को वियोग के अंतर्गत नहीं मानते। इसी प्रकार मान को तो वे लगभग संयोग का ही अंग मानते हैं। उनका मत है कि मान एक प्रकार से संयोग की एकस्वरता को तोडने के लिए मनोदशा का एक परिवर्तन-Change मात्र है। उसमे विरहोचित गांभीर्य्य नहीं होता।—यहां हमें इस प्रसंग पर अधिक विवाद नहीं करना है। वास्तव मे ये दोनों ही मत अपना महत्व रखते हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से शास्त्र का मत सर्वथा निर्दोष है क्योंकि वियोग का तात्पर्य्य संयोग-सुख का अभाव है। संयोग-सुख अभीष्ट है पर प्राप्त नहीं हुआ—अथवा प्राप्त होकर नष्ट होगया है : जहाँ तक अभाव का सम्बन्ध है, यह तथ्य-विशेष अर्थ नहीं रखता। पूर्वानुरागवती अथवा खण्डिता या विप्रलब्धा की मनोदशा में तीव्रता तो किसी प्रकार कम नही होती—परन्तु इसके साथ ही यह भी मानना पडेगा कि उनमें गांभीर्य्य की अपेक्षाकृत न्यूनता अवश्य होती है। पूर्वराग अथवा मान में अवसाद का वह गांभीर्य्य नहीं है जो प्रवास मे होता है। पहले में चाञ्चल्य है, दूसरे मे अस्थिरता है—जिसका जन्म निष्ठा के अभाव से होता है। इसीलिए स्वभाव से गंभीर आलोचक पं० रामचन्द्र शुक्ल को नागमती और सीता का प्रवास-जन्य विरह ही ग्राह्य हुआ—क्रीडारत गोपियो का मान उन्हें खिलवाड़ ही लगा।

जैसा क आरम्भ में ही स्पष्ट किया गया है रीतिकाव्य में गंभीर जीवन-दृष्टि का अभाव था। उसके शृंगार मे प्रेम की एकनिष्ठता न होकर विलास और रसिकता का प्राधान्य था। अतएव स्वभावतः ही उसका विरह भी अगंभीर है। रीतिकाल के कवि सामान्यतः प्रवास-जन्य विरह-गांभीर्य्य का वर्णन करने में इतने सफल नहीं हुए हैं जितने कि खण्डिता के मान आदि के वर्णन मे। कारण यह है कि उनकी सहज रसिक वृत्ति इस प्रकार के प्रसंगों के ही अधिक अनुकूल पडती थी। वैसे इस प्रकार की परिस्थितियो मे भी तीव्रता की कमी नहीं है; परन्तु यह तीव्रता ईर्ष्या और अतृप्त कामोद्दीपन की तीव्रता है। यह भूखे शरीर की ही तीव्रता अधिक है। गभीर वियोग-पीडा का प्रसंग जहाँ आता है, वहाँ रीतिकालीन कवि अनुभूति के विफल हो जाने के कारण ऊहा, अतिशयोक्ति आदि परम्परा-भुक्त साधनो के द्वारा ऐसे चित्र उपस्थित करता है जो मजाक बन जाते हैं। बिहारी के विरहज्वाल वाले दोहे इसके अकाट्य प्रमाण हैं।

देव के विषय मे ये आरोप सत्य नहीं हैं। इसमे सन्देह नही कि उनके पूर्व-राग और विशेषकर खण्डिता के वर्णन अपूर्व हैं, परन्तु विरह की गंभीर अवस्थाओं तथा मनोदशाओ का अंकन करने मे भी वे उतने ही सफल हुए हैं। यह कवि पीडा की गहरी अनुभूतियों से परिचित था, इसलिए इसे अतिशयोक्ति और ऊहा पर ही निर्भर नही रहना पडा।

विरह की परिस्थिति में कृशता को लेकर कवियों ने अनेक प्रकार के विधान बांधे हैं। विहारी के कतिपय दोहे—उर्दू, फ़ारसी के बहुत से शेर इस प्रसंग मे बदनाम हैं—और वास्तव में इस योग्य भी हैं। देव ने व्याधि-जन्य कृशता के कुछ चित्र अंकित किए हैं—उनमें अतिशयोक्ति का भी उपयोग किया है, परन्तु अनुभूति का साहचर्य्य होने के कारण कहीं भी प्रसंग की गंभीरता नष्ट नहीं हुई :—

लाल बिदेश बियोगिनि बाल, बियोग की आगि जई झुरि झूरी।
पान सों पानी सों प्रेम कहानी सों, प्रान ज्यों प्रानन यो मति हूरी।
देवजू आजुहि ऐबे की औधि, सु बीतति देखि बिसेखि बिसूरी।
हाथ उठायो उड़ाइबे को उड़ि काग गरे परी चारिक चूरी।

उपर्युक्त छंद में भाव की सरसता और अतिशयोक्ति की शक्ति दोनों के सहयोग से एक ऐसी तीव्रता आगई है जो 'कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।'

(कालिदास—मेघदूत)

अथवा

'कंचन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम।'—(केशव, रामचन्द्रिका)

जैसी युक्तियो में भी नहीं है।

विरह की आग विकलता और ताप के वर्णनों भी देव ने भावना की गंभीरता और स्वाभाविकता को ही अभिव्यक्त किया है—उनकी तीव्रता भी अनुभूति पर आश्रित है, अलंकार के चमत्कार पर नहीं :—

आलम-विरह जिन जान्यो न जनक-नरि,
वरि वरि उठै ज्यों-ज्यो वरसै वरफ राति।
बीजन डुलावत सखी-जन त्यो सीत-हू मै,
सौंति के सराप, तन-तापन तरफराति।
देव कहै, साँसन ही अँसुआ सुखात, मुख
निकसै न बात, ऐसी सिसकी सरफराति।
लौटि लौटि परति करौट खाट-पाटी लै-लै,
सूखे जल सफरी ज्यों सेज पै फरफराति।

वियोग-पीड़ा का पहला ही अनुभव है—उसके ऊपर ईर्ष्या-दग्ध सपत्नी का शाप है। गर्म श्वासों के कारण आंसू सूख गए हैं, कण्ठ के स्तम्भित होने से स्वर सिसकी में परिणत हो गया है, बात भी मुख से नहीं निकलती, बेचारी खाट पर पड़ी हुई एक पाटी से दूसरी पाटी तक करवट बदल रही है मानो जल के सूख जाने पर मछली तड़फड़ा रही हो। ऐसी परिस्थिति मे यदि जाड़े की रात में भी उसका संतप्त तन मन जल उठता है—और शीतल उपचारों से भी शांत नहीं होता तो

इसमें आश्चर्य ही क्या ? वास्तव में विरह के तीव्र वैक्लव्य का इससे अधिक स्वाभाविक और सटीक वर्णन नहीं हो सकता। यहां ऊहा को भी स्वाभाविकता के पाश में बांध दिया गया है।—देव के विरह की गंभीरता ताप पर ही समाप्त नहीं होती। उन्होंने मरण तक का वर्णन बड़े कौशल के साथ, चमत्कार के लिए भाव का किसी प्रकार भी बलिदान न करते हुए—तथा कारुण्य की पूर्ण रक्षा करते हुए, किया है—

सांसन ही सों समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो, अरु भूमि गई तन की तनुता करि।
जीव रह्यो मिलिबेई की आस,कि आस हु पास अकास रह्यो भरि।
जादिन ते मुख फेरि, हरे हँसि, हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि।

उपर्युक्त छंद के भाव-सौन्दर्य्य की व्याख्या के लिए, यहां हम प्रसिद्ध देव-मर्मज्ञ पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र के शब्दों को उद्धृत करने का लोभ-संवरण नहीं कर सकते :—

"मनुष्य शरीर पंचतत्व (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) निर्मित है। देव जी कहते हैं—मुख घुमाकर, ईषत् हास्यपूर्वक जिस दिन से हरिजू ने हृदय हर लिया है, उस दिन से सम्मिलन मात्र की आशा से जीवन बना है (नहीं तो शरीर का ह्रास तो खूब ही हुआ है।) उसासें लेते, लेते वायु का विनाश हो चुका है, अविरल अश्रु-धारा-प्रवाह से जल भी नहीं रहा है ; तेज भी अपने गुण-समेत विदा हो चुका है, शरीर की कृशता और हलकापन देखकर जान पडता है कि पृथ्वी का अंश भी निकल गया, और शून्य आकाश चारो ओर भर रहा है, अर्थात् नायिका विरह-वश नितांत कृशांगी हो गई है। अश्रु-प्रवाह और दीर्घोच्छ्वास अपनी चरम सीमा पर पहुंच गए है। अब उनका भी अभाव है। न नायिका साँसें लेती है, और न नेत्रों से आँसू ही बहते है। उसको अपने चारों ओर शून्य आकाश दिखलाई पड रहा है। यह सब होने पर भी प्राण-पखेरु केवल इसी आशा से अभी नही उडे है कि संभव है, प्रियतम से प्रेम-मिलन हो जाय; नही तो निस्तेज हो चुकने पर भी जीवन शेष कैसे रहता ?

[देव और बिहारी १९९४; पृ० २१०]

अब खण्डिता के प्रसंग पर आइये। खण्डिता के चित्र, रीतिकाल में, देव से अच्छे शायद ही किसी कवि ने अंकित किए हों। उनकी अभिव्यक्तियों में चित्र-शता की करुणा और व्यंग्य की चमक है :—

देव जु पै चित चाहिए नाह तो नेह निबाहिए देह मर्‌यो परै ;
त्यो समुझाइ सुझाइए राह अमारग जो पग धोखे धर्‌यो परै ;

नीके मैं फीके ह्वै आंसू भरौ कत,ऊंची उसास गरो क्यों भर्यो परै,
रावरो रूप पियो अंखियान भर्यो सु भर्यो उबर्यो ढर्यो परै ।

नायक रात अन्यत्र बिताकर प्रातः नायिका के पास आया है । उसे अपने अपराध का ज्ञान है, आते ही नायिका को चिकनी चुपड़ी बातों से भुलाना चाहता है । नायिका भी गंभीर होकर कहती है कि हमारा तो यह नियम है कि मरण के उपरांत भी पति के प्रति प्रेम का निर्वाह करना चाहिए । अतएव मन-मे यदि कभी विरोधी भावना आती भी है तो उसे दूर कर दिया जाता है । नायक को थोड़ा सहारा मिलता है और वह पूछता हैं कि यदि ऐसा है तो फिर मुख की कांति फीकी क्यों हैं, आंखों में आंसू क्यों भर रहे हैं, गला क्यों भरा हुआ है ? इसपर नायिका समस्त पीड़ा को व्यंग्य में संकलित करती हुई, उसी संयम और गंभीरता के साथ, वाणी में किसी प्रकार का भी परिवर्तन न कर, उत्तर देती है :—आज आपकी छवि मे कुछ विशेष माधुर्य है, इतना अधिक कि इन आंखों में समाता ही नहीं । ये आंसू नहीं है—तुम्हारी रूप-माधुरी ही है जो आंखों में न समाकर बाहर बही जा रही है ।—व्यंग्य कितना करुण-मधुर है । ऐसी उक्तियाँ देव में बहुत मिल जाएंगी—

१—प्यारे पराये को कौन परेखो गरे परि कौ लगि प्यारी कहैये ।
२—पतिव्रत-व्रती ये उपासी प्यासी अँखियन,
प्रात उठि प्रीतम पियायो रूप पारनो ।

कहीं कहीं यह व्यंग्य अत्यंत सूक्ष्म हो गया है—

रावरे पायन ओट लसै पग गूजरी बार महाव्रर ढारे ।
सारी असावरी की झलकै. छलकै छवि घांघरे घूम घुमारे ।
आओ जू देव दुराओ न मोहिंसों देव जू चंद दुरै न अँध्यारे ।
देखौ हो कौनसी छैल छिपाई निरीछै हँसै वह पीछे तिहारे ।

और, कहीं व्यंग्य का सर्वथा लोप ही होगया है, केवल करुण दीनता रह गई है :—

साथ मे राखिये नाथ उन्हें, हम हाथ में चाहति चारि-चुरी ये ।

शृंगारिक अनुभूति—

संयोग-वियोग के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देव की शृंगारिक अनुभूति का धरातल बहुत गहरा था । प्रेम का उन्हें अत्यन्त गम्भीर अनुभव था । इसी कारण उनकी अभिव्यक्तियों में विशेष आवेग और आवेश मिलता है जो रीति-कालीन कवियों के लिए साधारणतः सम्भव नहीं था । रीति के बंधन में बंध जाने से, और उधर विवेचन का अंग होने के कारण अनिवार्यतः थोड़े-से बौद्धिक-तत्त्व का मिश्रण हो जाने से, रीति-कवियों का आवेग आबद्ध और संयमित

हो जाता था। उसमें आवेश के पूर्ण उद्गार के लिए अवकाश नहीं रह जाता था। परन्तु देव में ये सभी बंधन होते हुए भी भावना की गम्भीरता और ऊष्मा नष्ट नहीं हुई। उनके उद्गारों में स्वतंत्र गीत-कवियों के जैसा ही उन्मुक्त प्रवाह मिलता है :—

मंद मुसक्याय लै समाय जी मे ज्याय लै रे प्याइले पीयूप प्यासी अधर सुधा की हौं। मेर सुखदाई दे रे देवजू दिखाइ नेकु एरे ज-भूप तेरे रूप इस छाकी हौं।

वास्तव में समस्त परकीया-प्र ग मे ही जैसे कवि ने आवेग का बांध तोड़ दिया है :—

'कैसी लाज कैसो काज कैसो धौं सखी ममाज, कैसो घरु कैसो वरु कैसो डरु कैसी कानि।' 'ऐसे निरमोही सदा मोही मे बसत अरु मोहीं ते निकसि फेरि मोहीं न मिलत हौ।'

आप देखिए कि यह आवेश वाणी का हलका आवेश नहीं है—इसके अन्तर मे गम्भीर अनुभूति का भार है। आवेश और गम्भीरता के इसी मिश्रण से देव की रसानुभूति मे एक विशेष तन्मयता आ गई है; और यह उसका दूसरा प्रधान गुण है। इस कवि की सम्पूर्ण चेतना जैसे प्रेम-रस मे निमग्न हो जाती थी। यही तल्लीनता वास्तव में भाव योग की अवस्था है—और यही कविता की मूलात्मा है। शास्त्र में इसी को रस-दशा कहा गया है।

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमड़ि आयो, तामैं तीनों लोक वूडि गये एक संग मैं। कारे कारे आखर लिखे जु कारे काजर, सु न्यारे करि बांचै कौन जांचै चित्त-भंग मैं। आंखिन में तिमिर अमावस की रैन जिमि, जम्बूरस बुंद जमुना जल तरंग मैं। यो ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई, स्याम रंग ह्वै करि समानो स्याम रंग मैं।

देव की रस-चेतना का यही सहज धरातल है। सूक्ष्मता अथवा तीक्ष्णता का उसमें अभाव हो यह बात नहीं, परन्तु मतिराम की तरह सूक्ष्म-तरल भावनाओं से खेलना, अथवा बिहारी की तरह पैनी दृष्टि डालकर सौन्दर्य के वस्तु-तन्तुओं को पकड़ना उसकी प्रकृति मे नहीं है। गम्भीर आवेग में एक प्रकार की संकुलता अनिवार्य्य है, और निश्चित ही देव की रस-दृष्टि मे वाञ्छित स्वच्छता सर्वत्र नहीं मिलती। आचार्य शुक्ल को जो देव से पेचीले मज़मून बांधने की शिकायत है, वह बेजा नहीं है; परन्तु सका कारण कवि की चमत्कार-प्रियता इतनी नहीं है जितना कि आवेग को उसकी संपूर्ण गम्भीरता और तन्मयता के साथ शब्दों में बांधने का प्रयत्न।

देव की वैराग्य-भावना और तत्त्व-चिंतन

श्रृंगार रस में आपाद-चूड-मग्न यह कवि वैराग्य की भी गहरी भावना से ओत-प्रोत था, और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वास्तव में बाह्यतः विरोधी इन भावनाओं की सीमाएं तत्वतः एक दूसरे से मिली हुई हैं, और मनोविज्ञान की दृष्टि से विराग कोई स्वतन्त्र भाव न होकर राग का रूपान्तर ही है।

साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से देव की ये कविताएं शांत रस के अन्तर्गत आती हैं। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में इस रस की स्वतन्त्र सत्ता के विषय में बहुत विवाद रहा है। साधारणतः शांत रस का स्थायी भाव शम माना गया है; तत्वज्ञान, तप, चिंतन आदि विभाव हैं; काम, क्रोध आदि के अभाव अनुभाव हैं; धृति, मति आदि व्यभिचारी हैं। परंतु इनके विरोध में कुछ प्रबल युक्तियां उपस्थित की गई हैं। एक तो तत्व-ज्ञान, तप, चिंतन आदि शांत रस की उद्‌बुद्धि उस रूप में नहीं करते जिस रूप में बसंत, पुष्प आदि श्रृंगार की उद्‌बुद्धि करते हैं। दूसरे काम, क्रोध आदि के अभाव अनुभाव कैसे हो सकते हैं? तीसरा प्रश्न स्थायी भाव का है—क्या शम कोई स्वतन्त्र भाव है? यदि है तो उसका क्या स्वरूप अथवा धर्म है? विरोधी आचार्यों का मत है कि वह कोई स्वतन्त्र भाव नहीं है—तभी तो भरत ने ४९ भावों में उसकी गणना नहीं की। उसमें यदि आत्मा के प्रेम की प्रधानता है तो वह रति से भिन्न नहीं है; यदि संसार के प्रति तिरस्कार-भाव की प्रधानता है तो वह जुगुप्सा से भिन्न नहीं है; यदि प्राणियों के प्रति दया भाव अथवा सत् के प्रति उत्साह मुख्य है तो उत्साह के विभिन्न रूपों में और उसमें क्या अन्तर है? इसी प्रकार सृष्टि के वैचित्र्य के प्रति विस्मय अथवा विविध दुःख से संतप्त मानवता के प्रति करुणा भी क्रमशः विस्मय और शोक के अंतर्गत आ जाती है। कुछ पण्डितों का मत है कि शांत का स्थायी भाव निर्वेद है। परन्तु इसका उत्तर यह है कि निर्वेद से तत्वज्ञान की उद्‌बुद्धि होती है शांत रस की नहीं। अन्त में शम को अभावात्मक मानकर भी उसका विरोध किया गया है।

इसके विपरीत आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त आदि आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार शेष आठों रस धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों से सम्बद्ध हैं, इसी प्रकार शांत रस भी जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष से सम्बद्ध है। इसीलिए अभिनव गुप्त ने इसे प्रधान रस माना है और मम्मट आदि आचार्यों ने भी उसकी सत्ता को निर्विवाद स्वीकृत किया है। बाद में इस विषय में तो कोई विवाद नहीं रह गया कि शांत रस आस्वादन की सक्रिय स्थिति है, शांति की निष्क्रिय अवस्था

नहीं है; परन्तु उसके स्थायी भाव के विषय में थोड़ा मतभेद रहा। अभिनव गुप्त अपने जीवन में एक निस्पृह साधु थे, अतः स्वभाव से ही वे शांत रस के अत्यन्त प्रबल पृष्ठ-पोषक थे। उन्होंने शांत रस और मोक्ष का सीधा सम्बन्ध मानते हुए लिखा है कि 'चूंकि केवल तत्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतएव तत्वज्ञान ही शांतरस का स्थायी भाव है। तत्वज्ञान का अर्थ है आत्म-ज्ञान।' इस प्रकार शांत रस का स्थायी भाव अहंकार एवं राग-द्वेष से हीन, शुद्ध ज्ञान और आनन्द से ओत-प्रोत आत्म-स्थिति है। यह स्थिति चिरस्थायी है—रति, उत्साह आदि अन्य मनोदशाओं का आविर्भाव इसी में होता है। मम्मट ने बात को इतना नहीं बढाया और साधारण रूप से निर्वेद को ही शांत का स्थायी माना है। निर्वेद दो प्रकार का हो सकता है—एक तत्वज्ञान-जन्य; दूसरा इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न। इनमें पहला स्थायी है, दूसरा संचारी। इस प्रकार मम्मट के अनुसार तत्वज्ञान-जन्य निर्वेद ही शांतरस का स्थायी भाव है।

"स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्वज्ञानाद्भवेद्यदि; इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ।" [काव्यप्रकाश]

विश्वनाथ ने शांत का स्थायी शम माना है, और उसकी व्याख्या करते हुए निम्नलिखित श्लोक दिया है :—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः॥
[साहित्यदर्पण]

इसके अनुसार शम वह स्थिति है जिसमें न दुःख का अनुभव होता है न सुख का, न जिसमें रागद्वेष की ही स्थिति सम्भव है; न कोई अन्य इच्छा ही। सुख इस स्थिति मे भी होता है, परन्तु वह विषय-जन्य सुख नहीं होता—आत्मानन्द का सुख होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय शास्त्र शम को एक आध्यात्मिक अनुभव मानता है—उसे चाहे निर्वेद कह लीजिए चाहे आत्म-ज्ञान। उसके लिए आत्मा एक सहज सत्य था, अतएव उसको यह सब कुछ समझने समझाने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी, परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के लिए इस मनोदशा की व्याख्या करना सरल नहीं है। मनोविकारों के मूलाधार रूप में एक चेतना का अस्तित्व वह भी स्वीकार करता है, परन्तु मनोविकारों से निर्लिप्त उसकी सहज, परन्तु सक्रिय आत्म-सुख-रूपिणी स्थिति क्या हो सकती है, यह वह नहीं कह सकता। मनोविज्ञान के अनुसार इस मनःस्थिति विशेष के केवल दो रूप ही हो सकते हैं। साधारण रूप में तो वह राग की क्लान्ति ही है, अर्थात् राग की [illegible]

मे थक कर वैराग्य में परिणत हो जाता है। विशेष रूप में, वह अहं के ही आस्वादन का एक प्रकार है। जब हमारी वृत्तियां किसी सूक्ष्म एवं महत्तर अथवा अलौकिक लक्ष्य—उदाहरण के लिए परमात्म-चिंतन अथवा तत्वान्वेषण पर केन्द्रित हो जाती हैं, तो भौतिक सुखों के प्रति स्वभावतः ही हमारे हृदय में उदासीनता एवं तिरस्कार की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह उदासीनता और तिरस्कार का मिश्र-भाव यहाँ अहं के संवर्धन में योग देने के कारण (द्वेष का अंश रखते हुए भी) दुःखमय न होकर सुखमय ही होता है। इस भावना का सीधा सम्बन्ध आत्म-विस्तार के सुख से है। भारतीय दर्शन में इसे ही 'भूमा' का सुख कहा गया है। मनोविश्लेषक इसे आत्म-रति॥ का एक परिष्कृत रूप कहेगा।—परन्तु यह न समझना चाहिए कि ऊपर कहे हुए इन दोनों रूपों की स्थिति सर्वथा पृथक है। प्रायः ये एक दूसरे से मिले रहते हैं—प्रायः इन दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध रहता है। सांसारिक मनुष्य साधारणतः अतिशय राग से थक कर ही तत्वान्वेषण अथवा परमात्म-चिंतन की ओर प्रवृत्त होते हैं। अस्तु।

देव का वैराग्य मूलतः अतिशय राग की प्रतिक्रिया ही है—उनका तीव्र राग ही क्लान्त होकर वैराग्य में परिणत होगया है। यह बात नहीं है कि तत्व-चिंतन उनमें नहीं है—वास्तव में उनके काव्य में अत्यन्त गंभीर आत्म चिंतन मिलता है—परन्तु वह उनकी सहज प्रवृत्ति नहीं थी। विपरीत परिस्थितियों से आहत होकर, तथा राग के तीव्र उपभोग से थक कर ही वे स्व-चिंतन की ओर प्रवृत्त हुए थे।

राग की क्लान्ति :—देव में जो राग की क्लांति मिलती है वह वैयक्तिक के साथ-साथ सामाजिक भी। जातीय जीवन का वह आवेग जो वीरगाथाकाल के भौतिक संघर्ष से उत्पन्न हुआ और भक्ति-काल के आध्यात्मिक संघर्ष के कारण गंभीरतर हो गया था—मुग़ल-राज्य की व्यवस्थित शान्ति के उपरांत रीतिकाल में आकर क्लांत हो चुका था। उच्चतर अभिव्यक्ति से वंचित जीवन ऐन्द्रिय उपभोग में ही इच्छाओं को डुबा रहा था, और उसी से थक जाता था। इसीलिए तो इस युग के सम्पूर्ण साहित्य में शृंगार की चहल-पहल के पीछे एक प्रकार की क्लांति का अवसाद भी मिलता है जो उस समय कभी भी ऊपर उभर आया करता था। देव की व्यक्तिगत परिस्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। स्वभाव से अत्यन्त रागी यह व्यक्ति विषम परिस्थितियों से आहत था। इतना तीव्र राग एक तो अतिशय उपभोग के कारण वैसे ही अपने प्रति विद्रोह कर उठा होगा। फिर परिस्थितियों ने भी उसे काफी झटके दिए। नमर्गतः व क्लांति, पराजय, आत्म-भर्त्सना युक्त वैराग्य में

॥ Narcissism

परिणत हो गया। राग की यह थकान देव की वैराग्य-कविता में अत्यन्त स्पष्ट है :—

(१) हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति में मति मेरी भुलानी।
हौं समुझाय कियो रस-भोग न देव तऊ तिसना बिनसानी॥
दाडिम दाख रसाल-सिता मधु ऊख पिये औ पियूष से पानी।
पै न तऊ तरुनी-तिय के अधरान के पीवे की प्यास बुझानी॥

रस-भोग की यही प्रतिक्रिया उचित आश्रय-दाता के अभाव में आर्थिक विफलता के कारण और भी गहरी हो गई थी। जीवन के सभी प्रकार के विषय-भोग से कवि को विरक्ति हो गयी थी।

(२) ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ, पांव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नर-नाहन की नाहीं
सुनि, नेह सों निहारि हारि वदन निहोरतो।
चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चिताउनीनि मारि मुंह मोरतो।
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे ते बांधि,
राधावर-बिरद के बारिधि में बोरतो।

बस, यही क्लांति, यही वैफल्य कवि को तत्व-चिंतन की ओर प्रेरित कर देता है।

तत्वचिन्तन :—अभिनवगुप्त ने तत्व-ज्ञान को शांत रस का स्थायी मानते हुए उसे ही सभी रसों का आधार माना है। इसी सिद्धांत की व्याख्या डा० भगवान्दास ने अपने रस-मीमांसा लेख में अत्यन्त सुचारु ढंग से की है। 'इस महारस में अन्य सब रस देख पड़ते हैं, सबका समुच्चय है। श्रेष्ठ और प्रेष्ठ अंतरात्मा परमात्मा का (अपने पर) परमप्रेम, महाकाम, महाश्रृंगार, ('अकामः सर्वकामो वा:···'), संसार की विडम्बनाओं का उपहास, संसार के महातमस् अंधकार में भटकते हुए दीन जनों के लिए करुणा ('संसारिणां करुणमाऽऽह पुराण-गुह्यम्'), षड्रिपुओं पर क्रोध ('क्रोधे क्रोधः कथं न ते'), इनको परास्त करने, इन्द्रियों की वासनाओं को जीतने, ज्ञान-दान से दीन जनों की सहायता करने के लिए उत्साह ('युयोध्यस्मज्जुहराणमेनः'), अन्तरारि षड्रिपु कहीं असावधान पाकर विवश न करदें इसका भय ('नरः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च।'), इन्द्रिय के विषयों पर और हाड मांस के शरीर पर जुगुप्सा ('मुखं

लालाक्लिन्नं पिबति चषकं सासवमिव''''''ग्रहो मोहान्धानां किमिव रमणीयं न भवति'), और क्रीड़ात्मक लीला-स्वरूप अगाध अनंत जगत का निर्माण विधान करनेवाली परमात्मा की (अपनी ही) शक्ति पर महाविस्मय (त्वमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुव:''''''।') —सभी तो इस रस के रसन के अंतभू त हैं।"

देव का तत्व-चिंतन प्रतिक्रिया का परिणाम होते हुए भी अत्यन्त गंभीर है। उसमें उपयु क्त प्राय: सभी रूपों का भावपूर्ण वर्णन है; परन्तु क्रम थोड़ा भिन्न है। देव ने वैराग्यशतक में तत्व-ज्ञान के चार सोपान रखे हैं। पहला जगद्दर्शन है—सबसे पूर्व तो मायाच्छन्न जगत् की वास्तविकता का ज्ञान ही अनिवार्य है। विभिन्न नाम-रूपमय यह जगत्—जो शतशत आकर्षणों से मानव मन को वशीभूत कर लेता है, वास्तव में माया का ही चमत्कार है। माया की शक्ति अपार है, उसका वैभव अपरिमेय है :

जाही की सकति एक पुरुष पुराण दोऊ,
अस्विनी कुंवर तीन्यौ दानव दुवन पर।
चार्यौ जुग पांचौ भूत, छहौ ऋतु,
सातौ सिंधु, आठौ बसु, नवो ग्रह निग्रह उवन पर।
दसहूँ दिगीस ईस येकादस, दिनकर,
द्वादश, त्रयोदस समुद्र के सुवन पर।
मानत प्रमान देव माया जू की आन आन,
आन चरचा न चलै चौदहो भुवन पर॥

—ऐसा है माया का प्रभाव। एक पुरुष पुराण, दो अश्विनीकुमार, तीन दानव, चार युग, पांच भूत, छः ऋतु, सात सिन्धु, आठ वसु, नव ग्रह, दश दिशाएं, एकादश ईस (रुद्र), द्वादश सूर्य, त्रयोदश चन्द्र, चौदह भुवन-सभी उसके वशीभूत हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक माया का ही शासन है, बेचारे मनुष्य की तो हस्ती ही क्या ?—परन्तु माया तो स्वयं ही असत्य है। जबतक मनुष्य इससे आच्छन्न रहता है, वह इस मृगतृष्णा के पीछे पागल होकर दौड़ता रहता है। जहां माया का 'मडा'—आवरण हटा, उसे इस संसार की असलियत का पता चलने लगता है। विश्व का यह समस्त वैभव—उसके सभी सुख-भोग, उसका राशि-राशि सौन्दर्य, सभी क्षणिक है। मनुष्य का रूप, गौरव, उसकी शक्ति, अहंकार, सभी कितना क्षण-भंगुर—और अपनी क्षण-भंगुरता में कितना करुण है।

देव अदेव बली बलहीन चले गये, मोह की हौंस हिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहां, उपजे ते तहां ही बिलाने॥

—मृत्यु के आगे न मनस्वियों की चलती है, न अभिमानियों की, न बलवानों की और न वैभव-पतियों की; न सम्राट ही उससे बच पाते हैं और न कवीश्वर ही। अकबर जैसे सम्राट, तानसेन जैसे गुणी, केशव-गंग जैसे कवि काल के मुख में समा गए—

एक दल सहित बिलाने एक पल ही में,
एक भये भूत एक मींजि मारे हाथी नै।

परन्तु फिर भी जीव मोह से अन्धा होकर विषयों के पीछे पागल दौड़ता रहता है।

आपुन काल के जाल पर्‌यौ अरु चाहत और की राज सिरी को।
× × ×
हो तकौं स्वान को स्वान-बिली को बिली तकै चूहा को चूहा रिरी को।

कैसी विडम्बना है! यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ही कितना उपहास्य है!

परिणाम यही होता है कि 'मन की मिटी न तौ लौं आप ही मिटि रह्यौ।' बस जगत और जीवन की ये ही करुण विडम्बनाएं कवि को उनके वास्तविक रूप का दर्शन करा देती हैं और वह अपने ज्ञान-चक्षुओं से देखता है कि अनंत ऐश्वर्य्य से मण्डित इस जगत् और अपार वैभव से पूर्ण इस जीवन का सच्चा स्वरूप यह है :—

बागो बन्यो जरपोस को तामहिं ओस को तार तन्यो मकरी ने।
पानी में पाहन पोत चले चढ़ि, कागद की छतरी सिर दीने।
कांख में बांधिकै पाँख पतंग के देव सुसंग पतंग को लीने।
मोम को मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन दीने।

बस उसे निश्चय हो जाता है कि—

हौं ही तौलौं लोक जब हौं न तब कौन जानै,
काहे को जगत कछू मेरो ही भरम है।

यह अनुभव फिर उसे आत्म-दर्शन की ओर प्रेरित करता है। आत्मा अजर अमर है—सांसारिक सुख दुःख, उत्थान पतन, उसको नहीं व्यापते। मनुष्य अज्ञानवश इन विषमताओं से त्रस्त रहता है, परन्तु जब उसे आत्म-रूप का दर्शन हो जाता है तो वह सोचता है कि,

काहु न मार्‌यो मर्‌यो सो फिर्‌यो, पकरायो न काहू फिर्‌यो पकर्‌योसो।
जैसो को तैसो तऊ किनसो कहु, कौन के सोक रहै सकर्‌यो सो?

लालाक्लिन्नं पिबति चषकं सासवमिव······अहो मोहान्धानां किमिव रमणीयं न भवति'), और क्रीडात्मक लीला-स्वरूप अगाध अनंत जगत का निर्माण विधान करनेवाली परमात्मा की (अपनी ही) शक्ति पर महाविस्मय (त्वमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः······।') —सभी तो इस रस के रसन के अंतभू‍ंत हैं।"

देव का तत्व-चिंतन प्रतिक्रिया का परिणाम होते हुए भी अत्यन्त गंभीर है। उसमें उपयु‍ंक्त प्रायः सभी रूपों का भावपूर्ण वर्णन है; परन्तु क्रम थोड़ा भिन्न है। देव ने वैराग्यशतक में तत्व-ज्ञान के चार सोपान रखे हैं। पहला जगद्दर्शन है—सबसे पूर्व तो मायाच्छन्न जगत् की वास्तविकता का ज्ञान ही अनिवार्य है। विभिन्न नाम-रूपमय यह जगत्—जो शतशत आकर्षणों से मानव मन को वशीभूत कर लेता है, वास्तव में माया का ही चमत्कार है। माया की शक्ति अपार है, उसका वैभव अपरिमेय है :

जाही की सकति एक पुरुष पुराण दोऊ,
अस्विनी कुंवर तीन्यौ दानव दुवन पर।
चार्यौ जुग पांचौ भूत, छहौ ऋतु,
सातौ सिंधु, आठौ बसु, नवौ ग्रह निग्रह उवन पर।
दसहूँ दिगीस ईस येकादस, दिनकर,
द्वादश, त्रयोदस समुद्र के सुवन पर।
मानत प्रमान देव माया जू की आन आन,
आन चरचा न चलै चौदहो भुवन पर॥

—ऐसा है माया का प्रभाव। एक पुरुष पुराण, दो अश्विनीकुमार, तीन दानव, चार युग, पांच भूत, छः ऋतु, सात सिन्धु, आठ वसु, नव ग्रह, दश दिशाएं, एकादश ईस (रुद्र), द्वादश सूर्य, त्रयोदश चन्द्र, चौदह भुवन-सभी उसके वशीभूत हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक माया का ही शासन है, बेचारे मनुष्य की तो हस्ती ही क्या?—परन्तु माया तो स्वयं ही असत्य है। जबतक मनुष्य इससे आच्छन्न रहता है, वह इस मृगतृष्णा के पीछे पागल होकर दौड़ता रहता है। जहां माया का 'मड़ा'—आवरण हटा, उसे इस संसार की असलियत का पता चलने लगता है। विश्व का यह समस्त वैभव—उसके सभी सुख-भोग, उसका राशि-राशि सौन्दर्य, सभी क्षणिक है। मनुष्य का रूप, गौरव, उसकी शक्ति, अहंकार, सभी कितना क्षण-भंगुर—और अपनी क्षण-भंगुरता में कितना करुण है।

देव अदेव बली बलहीन चले गये, मोह की हौंस हिलाने।
रूप कुरूप गुनी निगुनी जे जहां; उपजे ते तहां ही बिलाने॥

—मृत्यु के आगे न मनस्वियों की चलती है, न अभिमानियों की, न बलवानों की और न वैभव-पतियों की; न सम्राट ही उससे बच पाते हैं और न कवीश्वर ही। अकबर जैसे सम्राट, तानसेन जैसे गुणी, केशव-गंग जैसे कवि काल के मुख में समा गए—

एक दल सहित बिलाने एक पल ही में,
एक भये भूत एक मींजि मारे हाथी ने।

परन्तु फिर भी जीव मोह से अन्धा होकर विषयों के पीछे पागल दौड़ता रहता है।

आपुन काल के जाल पर्यौ अरु चाहत और कीं राज सिरी को।

× × ×

हो तकौं स्वान को स्वान-बिली को बिली तकै चूहा को चूहा रिरी को।

कैसी विडम्बना है! यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ही कितना उपहास्य है!

परिणाम यही होता है कि 'मन की मिटी न तौ लौं आप ही मिटि रह्यौ।' बस जगत और जीवन की ये ही करुण विडम्बनाएं कवि को उनके वास्तविक रूप का दर्शन करा देती हैं और वह अपने ज्ञान-चक्षुओं से देखता है कि अनंत ऐश्वर्य्य से मण्डित इस जगत् और अपार वैभव से पूर्ण इस जीवन का सच्चा स्वरूप यह है :—

बागो बन्यो जरपोस को तामहि ओस को तार तन्यो मकरी ने।
पानी में पाहन पोत चले चढ़ि, कागद की छतरी सिर दीने।
कांख मै बांधिकै पाँख पतंग के देव सुसंग पतंग को लीने।
मोम को मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन दीने।

बस उसे निश्चय हो जाता है कि—

हौं ही तौलौं लोक जब हौं न तब कौन जानै,
काहे को जगत कछू मेरो ही भरम है।

यह अनुभव फिर उसे आत्म-दर्शन की ओर प्रेरित करता है। आत्मा अजर अमर है—सांसारिक सुख दुःख, उत्थान पतन, उसको नहीं व्यापते। मनुष्य अज्ञानवश इन विषमताओं से त्रस्त रहता है, परन्तु जब उसे आत्म-रूप का दर्शन हो जाता है तो वह सोचता है कि,

काहु न मार्यो मर्यो सो फिर्यो, पकरायो न काहू फिर्यो पकर्यो सो।
जैसो को तैसो तऊ किनसो कहु, कौन के सोक रहै सकर्यो सो?

अंत में वह अनुभव करता है कि वास्तव में वह अपने ही कौतुक में भूला हुआ है—

काहू की बात कहा कहौं देव हौं आपही-आपने कौतुक भूल्यो।

अपने को वह इतना साधारण माने बैठा है, परन्तु वास्तव में वह इस विश्व का सार है। तीनों लोकों का अधिकार उसी के हाथों में है, वही महाराजओं का राजा है। आठों सिद्धि नवों निधि उसी के भाग्य में लिखी हैं :—

तेरो घर घेरो आठौ याम रहै आठौ सिद्धि,
नवो निधि तेरे विधि लिखिये ललाट हैं।
देव सुख साज महाराजन को राज तुही,
सुमति सु सो ये तेरी कीरति के भाट हैं।
तेरे अधीन अधिकार तीनों लोक को,
सुदीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट बाट हैं।

तत्व-ज्ञान की तीसरी स्थिति है परम तत्व अर्थात ब्रह्म का अनुभव, जो आत्म-ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करते ही मनुष्य को आप से आप हो जाता है। आत्मा की महत्ता का ज्ञान होते ही उसको यह चेतना होती है कि :—

तो मैं जो उठत बोलि ताहि क्यों न मिलै डोलि;
खोलिए हिए में दिए कपट—कपाट हैं।

—अर्थात् तेरे अन्दर जो बोल रहा है—जो तेरी प्राण-शक्ति है, हृदय के कपाट खोलकर तू उससे क्यों नहीं मिलता। वही तो परम-तत्व है, समस्त संसार का उद्भव और लय उसी से है। सभी कुछ उसी के अंतर से उद्भूत हुआ है, और अंत में उसी में समा जाएगा ! सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में बाहर भीतर, ऊपर-नीचे वही परम तत्व तो आकाश की भाँति व्याप्त है :—

अंतर जाके निरंतर ते उपजे विनसे तिन मांहि समाई।
बाहर भीतर सो अध ऊरध पूरि रह्यो सु अकास की नाई।

इस परम तत्व का साक्षात्कार होते ही वह विस्मय से विभोर होकर देखता है ईश्वर की विराट मूर्ति को, जो ब्रह्माण्ड को घेरे हुए विराजमान है। आकाश उसका मन्दिर है, पृथ्वी उसकी पीठिका है, समीर चंवर डुला रहा है।—कवि का मन उसका पूजन करने को आगे बढ़ता है। सप्त सिन्धु और अगणित सरिताओं के जल से वह उसे स्नान कराता है, सम्पूर्ण पृथ्वीतल के सुगंधित फल-फूलों से उसकी अर्चना करता है, अनंत अग्नियां प्रज्वलित कर—समस्त ज्योतिखण्डों के

धूप-दीप जला कर उसका नीराञ्जन करता है। उधर नैवेद्य के लिये विश्व का सारा अन्न ही उपस्थित है—

देव नभ-मंदिर में बैठार्‌यो पुहुमि-पीठ,
सिगरे सलिल अन्हवाय उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल-फल-फूल-दल,
सहित सुगंधन चढावन चहत हौं।
अगिनि अनंत, धूप-दीपक, अनन्त ज्योति,
जल-थल-अन्न दै प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर, कामना न मेरे और,
आठौ जाम राम तुम्हें पूजत रहत हौं।

बस उसके नेत्रों के छुद्र छिद्रों मे से शोभा का समुद्र उमड़ पडता है—"शोभा को समुद्र छुद्र छिद्रनि उमडि पर्‌यो।" और वह कोटि-कोटि नेत्रों से देखता है कि चारो ओर प्रिय के मुखचन्द्र का रूप फैला हुआ है—उससे आनन्द की वर्षा हो रही है :—

"व्यापि गयो रूप कंत मुख को अनन्त सुख,
कोटि कोटि आंखैं इन आंखिन मै ह्वै रहीं।"

वेदांती के लिए यही परम स्थिति है—परन्तु भक्त इतने से सन्तुष्ट नहीं होता। उसके लिए अन्तिम स्थिति प्रेम की ही है—जहाँ वह अपने को परम प्रेय में लीन कर देता है। वास्तविक द्वैत यही मिलता है। प्रेम के सागर मे डूब कर फिर कौन उबर सकता है :—

जाके मदमात्यो न उमात्यो कोई कहूँ, जहाँ,
बूड्यो उछर्‌यो न तर्‌यो सोभा-सिन्धु साम है।
पीवत ही जाहि जोई मर्‌यो सो अमर भयो,
बौरान्यो जगत जान्यो मान्यो सुख-धाम है।

यह प्रेम ही जीवन का चरम ध्येय है—इसका दुःख भी परम सुखमय है। मोक्ष का सुख भी इसके सामने तुच्छ है।

हाय हाय काहे को तितेक दुख देखती जौ,
पीतम मिलै को हौं इतके सुख जानतीं।

यहाँ आनन्द का सागर लहराता है—जिसमें समस्त ब्रह्माण्ड मग्न हो जाता है और प्रेमी का व्यक्तित्व उसमें निःशेष होकर खो जाता है :—"स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग में।" देव गद्‌गद होकर ऐसे प्रेमरस को प्रणाम करते हैं।

देव प्रेमी भक्त थे—निदान उन्होंने भी तत्व-ज्ञान की चरम परिणति प्रेम में ही मानी है। साधारणतः तत्व-बोध, सम-बुद्धि, मोह का नाश, जगत की असारता आदि शांत रस अथवा वैराग्य के सभी तत्वों को उन्होंने स्वीकार किया है :—

तत्व-बोध सम सत्व मति, छूटे मोह ममत्व।
सान्ति बाढ़ि रस सान्त जहँ, जानै जगत असत्व॥

परन्तु शांत रस का सार नित्य चैतन्य ईश्वर से सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है।

एक अनन्य, दूसरा शरण। अनन्य का दूसरा नाम भक्ति है, और शरण्य का दूसरा नाम ही प्रेम है। यह ठीक है कि आन्तरिक निर्वेद विकसित होकर ज्ञान और वैराग्य मे परिणत हो जाता है, परन्तु प्रेम और भक्ति की मीठी लगन के बिना वह रुच और तुच्छ ही है :

शान्तरस सु निर्वेद बढ़ि होत ज्ञान वैराग।
रौच तुच्छ सु है बिना प्रेम भक्ति की लाग॥

विश्लेषण :—ऊपर देव की आध्यात्मिकता का दिग्दर्शन मात्र किया गया है—उसके वास्तविक स्वरूप को ग्रहण करने के लिए विश्लेषण अनिवार्य है। जहाँ तक उसके वैराग्य पक्ष का सम्बन्ध है, यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होती कि वह अतिशय रागोपभोग की परिश्रांति एवं सांसारिक जीवन की असफलताओं की प्रतिक्रिया थी। वैराग्य राग का सहचारी भाव है, अंतवृ त्तियों के थोड़े से ही उलट-फेर से हमारी अनुरक्ति विरक्ति में परिणत हो जाती है। परन्तु देव की आध्यात्मिकता के विषय मे यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्या वह उनकी सहज अनुभूति थी, अथवा उस अनुभूति का बुद्धि द्वारा ग्रहण-मात्र? भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मानते हुए उसी दृष्टि से आध्यात्मिक अनुभूति को एक स्वतंत्र अनुभूति मान भी लिया जाए, तो भी यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्या वास्तव मे देव को ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई थी कि,

नाक, भू, पताल, नाक-सूची ते निकसि आए,
चौदहो भुवन भूखे भुनगा को भयो हेत।
चींटी-अंड-भंड में समान्यो ब्रह्मण्ड सब,
सपत समुद्र बारि-बुंद में हिलोरें लेत।
मिलि गयो मूल थूल सूछम समूल कुल,
पंचभूत गन अनुकन में कियो निकेत।

आपही तें आप ही सुमति सिखराई 'देव',
नख सिखराई मे सुमेरु दिखराई देत ।

इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में देना भ्रामक होगा क्योंकि साधना और अभ्यास के द्वारा कबीर अथवा किसी अन्य साधक भक्त या योगी को उपर्युक्त परम रहस्य का साक्षात्कार हो जाना तो समझ में आ सकता है; परन्तु देव-सदृश राग-द्वेष में लिप्त सांसारिक के लिये वह साधारणतया सम्भव नहीं माना जा सकता। और फिर इस तत्व को प्राप्त करने के बाद क्या देव को अकबर अलीखाँ के यहाँ जाने की आवश्यकता होती ? ऐसी परिस्थिति में यही निष्कर्ष निकलता है कि देव की आध्यात्मिकता मुख्यतः बौद्धिक ही थी। सर्वथा बौद्धिक उसे इस लिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्वभावतः भावुक होने के कारण कवि ने बुद्धि द्वारा गृहीत इन तत्वों को किसी सीमा तक तो भाव का विषय अवश्य ही बनाया है, और इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि ऊपर उद्धृत छन्द, या ऐसे अन्य छन्दों में रागात्मकता यथेष्ट मात्रा में वर्तमान है। इस प्रकार देव की आध्यात्मिकता का विश्लेषण करने पर, हमें मुख्यतः दो ही तत्व मिलते हैं, बुद्धितत्व और रागतत्व; अध्यात्मतत्व नहीं मिलता। यह बुद्धि द्वारा गृहीत दार्शनिक सत्यों को भाव का विषय बनाने का सफल-असफल प्रयत्न है।

देव की चिन्ता-धारा

धार्मिक सिद्धांत :—देव के धार्मिक विचार अत्यन्त उदार थे। राधाकृष्ण के अतिरिक्त उन्होंने राम-सीता, शिव-पार्वती, सरस्वती, दुर्गा आदि के प्रति भी प्रगाढ़ भक्ति-भावना व्यक्त की है। शिवलिंग तो आज भी कुसमरा में उनकी बग़ीची मे स्थित है। कहा जाता है इसकी स्थापना उन्होंने की थी—और प्रातः सायं वे यहीं सन्ध्या-वंदन किया करते थे। उधर तत्व-दर्शन पचीसी में अद्वैतवाद के निराकार ब्रह्म के प्रति भी उन्होंने आस्था प्रदर्शित की है। परन्तु उनके काव्य की आत्मा और विभिन्न ग्रन्थों के मंगलाचरणों से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि वे वैष्णव थे, और उनके इष्टदेव राधा-कृष्ण ही थे। कुछ विद्वानों ने उनकी भक्ति-भावना को और भी संकुचित कर उन्हे गो० हितहरिवंश की शिष्य-परम्परा में राधावल्लभीय सम्प्रदाय का अनुयायी बताया है, परन्तु इसका न तो कुछ बहिर्साक्ष्य ही मिलता है और न अन्तर्साक्ष्य ही। राधा के प्रति उनके ग्रन्थो मे कोई निश्चित झुकाव नहीं मिलता। जो थोडा बहुत है भी वह इस कारण है कि देव का काव्य शृंगारिक है, और राधा स्त्री हैं, अतएव शृंगार की सार-प्रतिमा नायिका के साथ राधा का तादात्म्य करने मे उन्हें सरलता रही है। वैसे जो छन्द शुद्ध भक्ति-भाव से प्रेरित हैं वे कृष्ण को ही लक्ष्य कर रचे गये हैं।

कृष्ण-भक्ति के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—इनमें वल्लभ-सम्प्रदाय ही उत्तर-भारत मे सब से अधिक लोकप्रिय रहा है। चैतन्य-सम्प्रदाय का सम्बन्ध बंगाल से और माध्व तथा निम्बार्क सम्प्रदायों का दक्षिण-भारत से रहा है। वल्लभ-सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धात शुद्धाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार ब्रह्म माया से निर्लिप्त सर्वथा शुद्ध है।

मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्य-कारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥
[शुद्धाद्वैतमार्तण्ड]

माया के सम्बन्ध का निषेध करते हुए ब्रह्म के शुद्ध अद्वैत भाव की प्रतिष्ठा करने के कारण ही यह सिद्धांत शुद्धाद्वैत कहलाता है। शंकराचार्य ने ब्रह्म को मूलतः निर्गुण और अव्यक्त माना है—चूंकि उसका पारमार्थिक रूप अखण्ड, एक-रस और अविकारी है अतः उसका विकार या परिणाम सम्भव न होने से वह जीव और जगत् का उपादान कारण नही है। इसी प्रकार चूंकि वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा कामनातीत है, इसलिये वह निमित्त कारण भी नहीं है। शंकर ने ब्रह्म के दो रूप माने–एक नाम-रूप-विकार-भेदोपाधि-विशिष्ट, और दूसरा उसके विपरीत सर्वो-पाधि-विवर्जित। इनमे से पहला उपाधि-विशिष्ट अर्थात् अविद्यात्मक है। अतएव वह केवल व्यावहारिक या उपासना के व्यवहार के लिये ही है। दूसरा रूप ही पारमार्थिक ब्रह्म-लक्षण है, जिसके अनुसार ब्रह्म न भोक्ता है न कर्ता—भोक्ता कर्ता की प्रतीति केवल माया अथवा विवर्त का ही परिणाम है। यह माया ब्रह्म की बीज शक्ति है। अग्नि की अपृथग्भूता दाहिका शक्ति की भांति माया भी ब्रह्म की अपृथग्भूता शक्ति है। इसके दो रूप हैं—एक आवरण, दूसरा विक्षेप। आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध रूप को आवृत कर लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है। मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है। जीव के विषय मे शंकर का सिद्धांत है कि वह परब्रह्म का व्यपदेश होने के कारण अणु रूप नहीं वरन् विभु रूप है। परब्रह्म के साथ स्वाभाविक ऐक्य होने के कारण उसको भी नित्य चैतन्य मानना पड़ेगा। वह स्वयंसिद्ध, ज्ञान-रूप है। वैष्णव आचार्यों ने, विशेषकर वल्लभ ने शंकर के मायावाद का खण्डन करते हुए ब्रह्म को सर्वधर्मविशिष्ट माना, और श्रुतियों का प्रमाण देते हुए उसमें विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों की स्थिति को भी नित्य माना। विरोधी धर्मों की यह स्थिति माया के कारण प्रतिभासित नहीं होती यह तो सहज सत्य है। भगवान् महतो महीयान् और अणोरणीयान् हैं। उनकी सत्ता को लक्षणों में कैसे बाँधा जा सकता है? वल्लभ के अनुसार ब्रह्म के तीन रूप हैं। १—परब्रह्म, २—अक्षर ब्रह्म, ३—क्षरब्रह्म। इनमें

क्षर ब्रह्म प्रकृति का ही दूसरा नाम है। अक्षर ब्रह्म उससे श्रेष्ठ है, परन्तु वह ब्रह्म का पूर्ण रूप नहीं है, इसमें आनन्दांश का किञ्चित् तिरोभाव रहता है। परब्रह्म आनन्द से परिपूर्ण ब्रह्म का पूर्ण रुप है। इसी को गीता में पुरुषोत्तम कहा गया है। यही कृष्ण हैं। जीव जगत् ब्रह्म के स्फुल्लिंग रूप हैं। अतएव वह भी नित्य ही हैं। भगवान् के सदंश से जड़ प्रकृति और चिदंश से जीव का व्युच्चरण होता है। प्रकृति में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोभाव रहता है। जीव में केवल आनन्दांश का। जीव ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप तथा अणुरूप है। जगत के विषय में वल्लभाचार्य 'अविकृत परिणामवाद' को मानते हैं। अर्थात् ब्रह्म ही बिना किसी विकार को प्राप्त हुए जगत् में परिणत होता है, जिस प्रकार कुण्डल-वलय आदि में परिणत होने पर स्वर्ण में किसी प्रकार की विकृति नहीं आती, इसी प्रकार जगत् के नाना रूपों में परिणत होने पर अविकारी ब्रह्म में भी किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। वल्लभ-मत में जगत् और संसार में भेद किया गया है। जगत् उस नित्य पदार्थ का नाम है, जो ब्रह्म के सदंश से प्रादुर्भूत होता है। ब्रह्म का ही परिणाम होने के कारण यह क्षर ब्रह्म रूप है। संसार की सत्ता का कारण पंचपर्वा अविद्या ही है। यह वास्तव में जीव-कल्पित और ममता रूप है। ज्ञान के उदय होने पर संसार की सत्ता नहीं रहती, परन्तु जगत् ब्रह्म का व्युच्चरण होने से नित्य है। वल्लभाचार्य जगत् के विषय में उत्पत्ति और विनाश के सिद्धांत को न मान कर अविर्भाव और तिरोभाव के सिद्धांत को मानते हैं। वह सिद्धांत यह है—"अक्षर ब्रह्म अपने सत् चित् और आनन्द इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। तीनों स्वरूपों का प्रकाश तीन विभिन्न शक्तियों से होता है। सत् का प्रकाश सन्धिनी से, चित का संवित् से, और आनन्द का ह्लादिनी से। पुरुषोत्तम ब्रह्म में ये तीनों शक्तियाँ अनावृत रहती हैं अर्थात् सत् चित् और आनन्द तीनों स्वरूपों का प्रकाश रहता है। जीव में संधिनी और संवित् अनावृत रहती हैं और ह्लादिनी आवृत रहती है। अर्थात् सत् और चित् का आविर्भाव रहता है, और आनन्द का तिरोभाव। जड़ में केवल संधिनी अनावृत रहती है और संवित् और ह्लादिनी दोनों आवृत रहती हैं। अर्थात् केवल सत् का आविर्भाव रहता है और चित् और आनन्द का तिरोभाव। इस व्यवस्था के अनुसार न तो ब्रह्म ही को ग्रस्त करने वाली उससे अन्य कोई दूसरी वस्तु माया है, और न जीवात्मा को ही।" इस व्यवस्था के मूल में भगवान् की क्रीड़नेच्छा ही रहती है, माया नहीं। कृष्ण के स्वरूप में विलास और लीला का प्राधान्य इसी धारणा के कारण हुआ। ब्रह्म के तीन रूपों के अनुसार साधना के भी तीन मार्ग हैं। प्रवाह मार्ग या कर्म मार्ग, मर्यादा मार्ग या ज्ञान मार्ग और पुष्टि मार्ग या भक्ति मार्ग। सांसारिक सुखों के लिए प्रयत्नशील रहना प्रवाह मार्ग

है, वेद-विहित मर्यादा का अनुसरण करना मर्यादा मार्ग है, और भगवान् के अनुग्रह के वशीभूत होकर उनको आत्मसमर्पण कर देना पुष्टि मार्ग है। "पोषणं तदनुग्रहः।" इसमें लोक वेद दोनों ही पीछे छूट जाते हैं। तीनों में यही मार्ग श्रेयस्कर है। मर्यादा मार्ग से ज्ञानी केवल अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करता है, परन्तु पुष्टि के द्वारा भक्त परब्रह्म के अतिरोहित सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त करता है। मर्यादा मार्ग भगवान् की वाणी से उद्भूत हुआ है। पुष्टि मार्ग उनके शरीर अथवा आनन्दांश से। पहले का लक्ष्य सायुज्य मुक्ति है, दूसरे का है रसात्मिका प्रीति के द्वारा भगवान् का अधरामृत-पान। पहला सहेतुक होने के कारण पूर्ण आनन्दमय नहीं है, परन्तु दूसरा निर्हेतुक होने के कारण सर्वथा रसमय है।

माध्व-सिद्धांत द्वैताद्वैत कहलाता है। उसके अनुसार परमात्मा अर्थात् विष्णु अनन्त गुणयुक्त है। उसके गुण निरवधि और निरतिशय हैं, जिनमें सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार की अनंतता है। परमात्मा उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्धन और मोक्ष इन सब का कर्ता है। ज्ञान, आनन्द आदि कल्याण गुण ही उसके शरीर हैं। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा के ही केवल अधीन रहती है। विष्णु और लक्ष्मी अभिन्न नहीं हैं। लक्ष्मी देश और काल की दृष्टि से विष्णु के समान है, परन्तु गुण मे उससे न्यून है। इस दृष्टि से माध्व मत में और शाक्त-मत में अन्तर है। प्रकृति, जड़, नित्य, व्याप्त, सर्वलिंग-शरीररूपा है, वही विश्व का उपादान कारण है। परमात्मा केवल निमित्त कारण है। जीव को माध्व मत मे अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त संसारी माना गया है। संसार में प्रत्येक जीव अन्य जीवों से भिन्न तथा परमात्मा से नितांत भिन्न है। यह तारतम्य संसार दशा में ही नहीं मोक्ष-दशा में भी बना रहता है। मुक्त-जीवों के ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनन्द में भी भेद है। मोक्ष भगवान् के नैसर्गिक अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं है। साधारणतः उसके लिये श्रवण, मनन, ध्यान के अतिरिक्त तारतम्य-परिज्ञान भी अनिवार्य है। विश्व के पदार्थों में गुणादि दृष्टि से एक तारतम्य वर्तमान रहता है, और इन सभी गुणों का पर्यवसान परमात्मा में होता है, यही तारतम्य ज्ञान है।

निम्बार्काचार्य का सिद्धांत भेदाभेद कहलाता है। उन्होंने सगुण ब्रह्म की ही प्रतिष्ठा की है। उनके अनुसार ब्रह्म अविद्यादि समस्त प्राकृत दोषों से मुक्त अशेष कल्याण गुणों की राशि है, 'स्वभावतोऽपारतसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैक-राशिम्।' इस जगत में जो कुछ दिखाई देता है, या सुना जाता है नारायण उसके भीतर बाहर सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है। चिदचिद्रूप विश्व नियम्य तथा परतंत्र है, और ईश्वर पर आश्रित है। परब्रह्म, नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम सभी

परमात्मा के विभिन्न नाम हैं। जीव और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध है। बद्धावस्था में अणुरूप, अल्पज्ञ जीव व्यापक सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न होने पर भी दीप से प्रभा, गुणी से गुण, प्राण से इन्द्रिय के समान अभिन्न भी है। इसी प्रकार मोक्ष-दशा में अभिन्न होने पर भी वह अपना स्वरूप और व्यक्तित्व बनाए रखता है। निम्बार्क-मत की यही विशेषता है।

चैतन्य मत में ब्रह्म का स्वरूप शंकराचार्य के ईषद् अनुकूल सजातीय विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य अखण्ड सच्चिदानन्दात्मक है। वह अचिंत्याकार, अनन्त-शक्तियों से युक्त है, फिर भी उसकी तीन शक्तियाँ मुख्य हैं? स्वरूप शक्ति, तटस्थ शक्ति, माया शक्ति। स्वरूप शक्ति भगवद्रूपिणी है। उसमे सन्धिनी, संवित् और ह्लादिनी तीनों प्रवृत्तियों का योग रहता है। तटस्थ शक्ति जीव-सृष्टि के आविर्भाव का कारण होती है, और माया शक्ति जगत के। भगवान् स्वरूप शक्ति के कारण विश्व के निमित्त कारण और तटस्थ तथा माया-शक्तियों के कारण उपादान कारण भी हैं। इस प्रकार वे विश्व के अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। चैतन्यमत में जगत सर्वथा सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि वह ब्रह्म की ही माया-शक्ति का विलास है। परन्तु चूंकि ब्रह्म की शक्ति अचिन्त्य है, इसलिये न तो यह विश्व उसके साथ नितांत भिन्न ही प्रतीत होता है और न सर्वथा अभिन्न ही। ब्रह्म की अचिन्त्य शक्ति के साथ इसी भेदाभेद सम्बन्ध के कारण चैतन्य का मूल सिद्धांत अचिन्त्य भेदाभेद कहलाता है। भगवत्प्राप्ति का वास्तविक साधन भक्ति ही है, और चूंकि भक्ति में संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों का सम्मिश्रण रहता है, इसलिये भक्ति एक प्रकार से भगवद्रूपिणी ही है। भक्ति दो प्रकार की होती है, एक विधि-भक्ति जो वल्लभ के मर्यादा मार्ग के समानान्तर है, दूसरी रुचि भक्ति या राग। इनमे दूसरी भक्ति ही मुख्य है। इसमें भक्त भगवान को अपने प्रियतम रूप में ग्रहण करता है।

कृष्ण-भक्ति के प्रतिनिधि सम्प्रदायों के ये ही मूल सिद्धांत हैं। इनमें सूक्ष्म भेद होते हुए भी कुछ मूलगत समानतायें भी अत्यन्त स्पष्ट हैं। एक प्रकार से इनके मूल सिद्धांत सामान्यतः एक से ही हैं। सभी भगवान् के सगुण और साकार रूप को ही मानते हैं। भगवान् अविद्यादि दोषों से मुक्त अनन्त कल्याण गुणों के निधान, सच्चिदानन्द रूप हैं। आर्त भक्तों पर उनकी निर्हेतुकी कृपा रहती है और वे उनके प्रेम के वशीभूत होकर समय समय पर संसार में अवतरित होते रहते हैं। उनके अखण्ड सच्चिदानन्द घन रूप का भोग करने का एकमात्र उपाय रसात्मिका प्रीति ही है। अन्यमार्ग पूर्ण नहीं हैं। जीव मूलतः अणु रूप है, परन्तु मुक्तावस्था में वह पूर्ण रूप हो जाता है। जगत के आविर्भाव का कारण भगवान् की क्रीडनेच्छा

का विलास ही है, माया नहीं। जीव और जगत दोनों ही सत्यभूत पदार्थ हैं, माया या विवर्त का परिणाम नहीं हैं। वास्तव में शंकर-प्रतिपादित माया का कोई अस्तित्व ही नहीं है। बद्धावस्था में जीव अविद्या-ग्रस्त रहता है, परन्तु यह जीव और जगत की स्वाभाविक सीमा है, माया का प्रभाव नहीं है। इस प्रकार उपर्युक्त सभी मत जगत को भीत अथवा संदिग्ध दृष्टि से नहीं देखते, वरन् प्रवृत्ति मार्ग पर बल देते हुए आनन्दवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा करते हैं।

देव के दार्शनिक विचार प्रत्यक्ष रूप में देवशतक और अप्रत्यक्ष रूप में देवमायाप्रपंच में मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में बिखरे कुछ छंद भी उन पर यत्किंचित प्रकाश डालते हैं। कृष्णभक्त होने के नाते यही धारणा होती है कि ईश्वर, जीव, जगत आदि के विषय में देव के विचार उपर्युक्त मतों के ही अनुकूल होंगे। परन्तु वास्तव मे यह धारणा अधिक सत्य नहीं है। देव के सिद्धांतों पर वैष्णव मतों के साथ ही शंकर के अद्वैतवाद का भी गहरा प्रभाव है। देवमाया-प्रपंच मे माया की स्पष्ट स्वीकृति है। ब्रह्म और जीव दोनों ही को माया-ग्रस्त माना गया है। ब्रह्म मूलतः निर्गुण है, परन्तु माया उसे गुणों में बाँध कर नचाती है :—

माया त्रिभुवन-नाथ बांधि नचायो गुननि त्यो।

माया का प्रभाव अद्भुत है :—

फेरति पताल के अकास निसि बासर हूं आसपास तिमिर तरुण उगलती है।
प्रगटत पूरब छिपत दोऊ पच्छिम मे दच्छिन और उत्तर अपन विहरती है।
येक ते अनेक कै अनेक ते करत एक; पंचभूत भूत-अद्भुत गुनमती है।
पुरुष पुरानहिं खिलावै नटा जीवी पटा सीतभानु भानु देव माया भानुमती है।

इस प्रकार देव इस सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच को माया का ही खेल मानते हैं। यह माया ब्रह्म की ही शक्ति है, इसका उद्भव ब्रह्म से ही होता है। तत्वतः पूर्ण-परमानन्द ब्रह्म किस प्रकार माया के बन्धन में बंध जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में सत्संगति के मुख से देव ने अद्वैत मत के प्रसिद्ध रूपकों का व्यवहार किया है।

पै अपने गुण यों बंधै माया को उपजाय।
ज्यों मकरी अपने गुननि उरझि उरझि मुरझाय।

अथवा :—

क्यों बांधे कैसो बंधे पूरन परमानन्द।
बंध्यो रूप यों देखियै ज्यों चादर में चंद।

मकड़ी और जाले का रूपक तो अत्यन्त विश्रुत है ही। जिस प्रकार मकड़ी अपने ही मुख से उद्भूत जाले मे आप ही बन्दी हो जाती है, इसी प्रकार सोपाधि ब्रह्म भी अपनी माया में आप ही फँस जाता है। इसी प्रकार बादल द्वारा आच्छादित चन्द्रमा या सूर्य का दृष्टांत भी वेदांतियों मे अत्यन्त प्रसिद्ध है। बादल का छोटा-सा टुकडा विराट चन्द्र-मण्डल अथवा सूर्य-मण्डल को वास्तव में आच्छादित नहीं करता, वरन् देखने वालों की दृष्टि को ही आच्छादित कर लेने के कारण ऐसा प्रतीत होता है। इसी प्रकार परिच्छिन्न ज्ञान अनुभवकर्ता की बुद्धि को ढक लेता है, और उसी के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित कर लिया है। माया की इसी शक्ति को 'आवरण' कहा गया है। माया का यह प्रभाव अन्त में तर्कमयी बुद्धि, श्रद्धा, सत्संगति आदि साधनों द्वारा नष्ट हो जाता है, और ब्रह्म सोपाधि सगुण रूप को छोड अपने शुद्ध निर्गुण रूप को प्राप्त कर लेता है।

छूटि गये गुन सगुन के, निर्गुन रह्यो निदान।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि देवमाया-प्रपंच नाटक है, अतएव उसकी उक्तियाँ नाटकीय होने के कारण सर्वत्र कवि की भावना की अभिव्यंजक नहीं मानी जा सकतीं, परन्तु यह शंका निर्मूल है क्योंकि देवमाया-प्रपंच अव्यक्तिगत नाटक न होकर सैद्धांतिक रूपक है, और ये सभी उक्तियाँ 'सत्सगति' आदि की ही हैं, जो कवि के अपने मुख-पात्र हैं। इसके अतिरिक्त देवशतक मे भी स्थान-स्थान पर इन्हीं विचारों का समर्थन है :—

(१) आवे उमडा सो मोह मेह घुमडा सो देव,
माया को मडा-सो अँखियन तैं उघारि दै।

(२) एक तैं अनेक कै परारधि लौं पूरौ करि,
लेखो करि देखो एक सांचो और सून है।

अथवा :—

(३) देखि देखि भीत ज्यों अँधेरे भीत जानै भूत,
जेवरी को जानै साँप पायो न मरम है।

परन्तु फिर भी यह मान लेना अत्यन्त भ्रामक होगा कि देव के ब्रह्म-विषयक विचार शांकर अद्वैतवाद के ही सर्वथा अनुकूल है। अद्वैत के निर्गुण के साथ ही वैष्णव-दर्शन के सगुण को उन्होंने और भी आग्रह के साथ ग्रहण किया है। उनके मंगलाचरण इसके साक्षी है :—

बेदन हू गने गुनगनै अनगने भेद,
भेद बिनु जाको गुन निरगुन हू यहै।
केतिक बिरंच्यो, महासुखन को संच्यो जहाँ,
वंच्यो ब्रजभूप सोई, परब्रह्म भूप है।

'यहाँ कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' की स्पष्ट ध्वनि है। इसके अतिरिक्त देव ने भी सगुण भक्त कवियों के स्वर में स्वर मिलाते हुए उद्धव-प्रसंग में सगुणवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा की है :—

कंस-रिपु अंस अवतारी जदुबंस कोई,
कान्ह सों परमहंस कहै तो कहा सरो।
हम तो निहारे ते निहारे ब्रजवासिन मैं,
देव मुनि जाको पचिहारे निसि-बासरो।

इसी प्रकार देव के आत्मा-विषयक सिद्धांतों पर भी अद्वैत और वैष्णव-दर्शन दोनों का ही प्रभाव मिलता है। एक ओर शंकर-मत के अनुसार उन्होंने आत्मा को विभु रूप मानते हुए उसके सोऽहं रूप की प्रतिष्ठा की है :—

हौं ही छर अच्छर सगुन निरगुन ब्रह्म
मोही में सकल मेरे पीछे कछु औन है।

दूसरी ओर वल्लभ आदि वैष्णव आचार्यों के अनुकूल उसके अणुरूप पर भी जोर दिया है :—

थिर न कुबेर इन्द्र, दौरै देव रवि चंद,
बैठि रहे, बौरे, तू कहां लौं बढ़ि जायेगो ?

परन्तु जहाँ तक जगत का सम्बन्ध है, देव ने शंकर के सिद्धान्त को ग्रहण करते हुए, उसके मिथ्या रूप को ही स्वीकृत किया में। ऐसा वास्तव में इस कारण हुआ है कि जीवन भर संसार मे लिप्त रहने के बाद देव को उससे एक घोर ग्लानि और विरक्ति हो गई थी। अतएव भावना के अतिरंजित होने के कारण वे उसमें किसी प्रकार का भी सार नहीं देख पाये। वे जगत को सर्वथा दुःखमय, असार और असत् मानते हैं।

साधना-मार्ग में भी कुछ उपर्युक्त प्रकार की द्विधा मिलती है। देव-माया प्रपंच में उन्होंने मन की शुद्धि के लिए तर्कमय बुद्धि को अत्यन्त आवश्यक माना है। अंत में इसी के द्वारा माया का विघटन होकर आत्मा अपने शुद्ध-बुद्ध रूप को प्राप्त करता है। योग-युक्ति, तत्त्व-चिंता, सत्क्रिया, सत्यता, श्रद्धा, भक्ति, शुचि,

स्मृति आदि भी इसमे सहायक होती है, परंतु मूल साधन तर्कमय बुद्धि ही है। देवशतक मे भी ज्ञान की अग्नि द्वारा माया के नाश की बात कही गई है :—

बाहिर हू भीतर निकारि अंधकार सब,
ज्ञान की अगिनि सो अयान बन बारि दै।'—

पर प्रेम-पचीसी, प्रेम-चन्द्रिका एवं अन्य ग्रन्थो मे रसात्मिका प्रीति पर ही बल दिया गया है। 'हरि जस रस की रसिकता सकल रसायनि-सार!' और मर्यादा मार्ग को हेय बताते हुए 'राग-भक्ति' को ही सर्व-प्रधान माना गया है;— 'नेम महातम मेटि कियो प्रभु प्रेम महातम आतम अर्पनु।' वास्तव मे, यही देव का व्यक्ति-गत और जीवन-गत साधना-मार्ग था, ज्ञान अथवा बुद्धि के महत्व को उन्होंने केवल सिद्धांत-रूपेण ग्रहण किया था।

सिद्धांतों की इस दुविधा की व्याख्या करना आवश्यक है। देव के विचारों मे यह द्विविधा क्यों थी, यह प्रश्न सामने आता है। इसका एक और वस्तुतः मूल-गत कारण तो यह है कि कविता जीवन के प्रति भावात्मक प्रतिक्रिया है– बौद्धिक सिद्धांतों का उस पर प्रभाव अवश्य पडता है, परन्तु सहज रूप में यह प्रतिक्रिया स्वतंत्र ही है। सिद्धांतो का प्रतिबंध इसको नहीं जकड सकता। अतएव किसी भी सच्चे कवि के काव्य मे किन्हीं विशिष्ट साम्प्रदायिक सिद्धांतो का वैज्ञानिक प्रतिपादन अथवा उनका साम्प्रदायिक नियमन नही मिल सकता। यह तभी संभव होता जब कविता जीवन के प्रति भावगत प्रतिक्रिया न होकर सैद्धांतिक अथवा सिद्धांत-बद्ध प्रतिक्रिया या कम-से-कम, बौद्धिक प्रतिक्रिया ही, होती। काव्य के इसी साधारण मनोविज्ञान को न समझने के कारण ही जोशीले लोगों ने साम्प्रदायिक दृष्टि से परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाली तुलसी की अनेक उक्तियो के आधार पर अनेक उलझी हुई कल्पनाएं की हैं और कभी उनको अद्वैतवादी, कभी विशिष्टाद्वैतवादी और कभी और कुछ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। जब अनन्य इष्टोपासना मे आस्था रखने वाले तुलसी जैसे कवि के विषय में इतनी कठिनाइयाँ हो सकती हैं तो देव की कविता में सैद्धांतिक द्विविधा का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिये। दूसरा कारण इस दुविधा का यह है देव स्पष्टतः साम्प्रदायिक कवि नहीं थे। प्रेम के रस मे आकण्ठ डूबा हुआ यह रसज्ञ कवि साम्प्रदायिक संकीर्णता से स्वभावतः ही दूर था। इसके अतिरिक्त उस युग में भी साम्प्रदायिक मत-मतान्तरो का ज़ोर नही रह गया था। भक्ति-काल में तो युग की चेतना ही उसी धारा में बह रही थी; अतएव उस समय साम्प्रदायिक शब्दावली मे जीवन की व्याख्या सुलभ और सहज थी, परन्तु रीति-काल में ऐसा नहीं था। धार्मिक मत-मतान्तरो के सूक्ष्म भेद-प्रभेद इस समय तिरोहित हो गए थे—

मौलिक और विशद सिद्धांत ही स्थूल रूप में लोगों के सम्मुख थे। उधर साम्प्रदायिक कटुता मिटाकर धार्मिक एकता की स्थापना का प्रयत्न जो तुलसी जैसे उदार वैष्णव-लोक-नायको ने आरम्भ कर दिया था वह भी इस युग में एक स्थूल रूप में निरंतर चल रहा था। सांसारिक सुखभोग में रत लोगों को तत्व-चिंतन के सूक्ष्म-जटिल पार्थक्य की अपेक्षा धर्मों की स्थूल एकता ही सहज सुकर लगती थी। साधारणतः व्यवहार्य रूप मे लोग कृष्ण की उपासना को साधन-मार्ग मान लेते थे। राम की उपासना भी काफ़ी प्रचलित थी। उधर अन्य देवों की भी उपासना थोड़ी बहुत चल रही थी। कृष्ण लोकप्रवृत्ति के अधिक अनुकूल पड़ते थे, परन्तु उनके प्रति साम्प्रदायिक आग्रह इस समय नहीं रह गया था।—विद्वान तत्व-चिंतकों में, जिनकी संख्या अत्यन्त अल्प थी, वैष्णव दर्शनों की व्यापक लोकप्रियता होने पर भी अभी शांकरी अद्वैतवाद के प्रति गहरी आस्था वर्तमान थी। वास्तव में तत्व-ज्ञान के धरातल पर उसका किसी न किसी रूप मे ग्रहण अनिवार्य था। यही कारण है कि देव के सिद्धांतों में यह द्विविधा अथवा सम्मिश्रण मिलता है। उनके दार्शनिक विचारो का सारांश यह है कि वे व्यवहार रूप में कृष्णोपासक थे और रसात्मिका प्रीति को ही श्रेयस्कर मानते थे। तात्विक धरातल पर उनके विचारों में शंकर के सिद्धांतों और वल्लभ, निम्बार्क तथा चैतन्य आदि वैष्णव आचार्यों के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण था और वे वस्तु रूप में यही मानते थे कि :—

> जोगिन जोगी, जतीन जती, मुनिहून कछू मुनि सो मन-मान्यो।
> छत्रिन अत्र धरयो परख्यौ, मृगया वन व्याधन व्याध बखान्यो।
> मित्रन मित्र, अमित्रन सत्रु-सो, दूलह सो दुलही पहिचान्यो।
> जैसो को तैसो जहां को तहां जिहि जैसो लख्यो तिहि तैसोई जान्यो।

यह ईश्वर के भावगत (Subjective) रूप की स्पष्ट स्वीकृति है, और वास्तव में मनुष्य की बुद्धि अन्त मे यहीं जाकर रुकती है।

नैतिक-दृष्टि :—जैसा कि तत्कालीन सामाजिक स्थिति के विवेचन से स्पष्ट है, यह घोर नैतिक ह्रास का युग था। धर्म और नैतिकता का विच्छेद होगया था,—जीवन में संयम का स्थान वाह्य आचार ने ले लिया था। देव प्रेम को जीवन का समाधान मानते थे, अतएव स्वभावतः संयम और दमन पर आधृत नैतिकता के प्रति उनको अधिक आस्था नहीं हो सकती थी। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति की अपनी नीति अवश्य होती है—देव प्रेम मे वैध-प्रेम अर्थात् स्वकीया-प्रेम के पक्षपाती थे और प्रेम को कामुकता से भिन्न मन की उदात्त वृत्ति मानते थे। नीति के विभिन्न अंगों में वे प्रायः उनमें ही विश्वास रखते थे जो कोमल एवं प्रवृत्ति मूलक हैं, जैसे श्रद्धा, क्षमा, विनय, करुणा आदि।—

है अभिमान तजै सनमान वृथा अभिमान को मान बहैये।
देव दया करै सेवक जानि, सुसील सुभाय सुलोनी लहैये।
को सुनिकै बिन मोल बिकाय न बोलन को कोई मोल न हैये।
पैये असीस लचैये जो सीस लची रहिये तब ऊंची कहैये॥

उपर्युक्त पद मे निरभिमानता, सुशील-स्वभाव, मधुर-भाषण और विनय के महत्व पर बल दिया गया है। इसी प्रकार क्षमा को भी कवि जीवन की सफलता के लिये अनिवार्य्य मानता था—

पायो न सिरावन सलिल छमा-छींटन सों,
दूध सो जनम बिनु जाने उफनायगो।

वाह्य आचारों में उसे तनिक भी आस्था नहीं थी, वह प्रतीति अथवा आंतरिक विश्वास को ही परम साधना मानता था—

कथा मैं न, कथा मैं न, तीरथ के पंथा मैं न,
पोथी मैं न, पाथ मैं, न साथ की बसीति मैं;
जप मैं न, मुंडन न, तिलक-त्रिपुण्डन न,
नदी-कूप-कुण्डन, अन्हान दान-रीति मैं।
पीठ-मठ-मण्डल न, कुण्डल कमण्डल न,
माला-दण्ड मैं न, देव देहरे की भीति मैं।
आपु ही अपार पारावार प्रभु पूरि रह्यो,
पाइये प्रगट परमेसुर प्रतीति मैं।

कहने का तात्पर्य्य है कि देव का, जीवन के सूक्ष्म प्रवृत्तिमूलक मूल्यों में ही अधिक विश्वास था—स्थूल निषेधमूलक मूल्यों मे नहीं।

देव का रीति विवेचन (आचार्यत्व)

काव्य के सर्वाङ्ग का विवेचन :—देव रीति-काल के उन आचार्य कवियों मे है, जिन्होंने काव्य के सर्वाङ्ग का विवेचन किया है। इनके प्रमुख रीति ग्रंथ दो हैं। (१) भाव-विलास (२) शब्द-रसायन । सभी रसों का पूर्ण विवेचन मुख्यतः शब्द रसायन और भवानी-विलास मे मिलता है। भाव-विलास में रस के आन्तरिक अंगों एवं रस-परिपाक का सम्यक् विवेचन है, परन्तु उसमें केवल शृंगार को ही लिया गया है। नायिका-भेद भाव-विलास, भवानी-विलास, रस-विलास कुशल-विलास, सुजान-विनोद और सुखसागर-तरङ्ग में पूर्ण विस्तार के साथ शैली-भेद से वर्णित हैं। अलंकार-निरूपण, भाव-विलास में संक्षेप से और शब्द-रसायन मे ईषत् विस्तार-पूर्वक किया गया है। शब्द-रसायन मे शब्द-शक्ति (पदार्थ-निर्णय) गुण-रीति और पिंगल का भी क्रमिक विवेचन है। इसके अतिरिक्त काव्य की आत्मा, काव्य-शरीर, काव्य-प्रयोजन और उसकी महिमा आदि के विषय में भी देव ने स्थान-स्थान पर सामान्य सिद्धांत दिये हैं। तात्पर्य यह है कि केवल दोषों को छोड काव्य के प्रायः सभी अंगो का विवेचन देव के ग्रंथो मे पाया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि इनमें शृंगार-रस और नायिका-भेद का विस्तार अनुपात से कहीं अधिक है, क्योंकि वास्तव में कवि की प्रकृति उनमें ही रमी है, परन्तु अन्य काव्यांगो की भी उपेक्षा नहीं की गई।

रस :—महत्व की दृष्टि से काव्यांगो में सबसे पहला स्थान रस का ही है, अतएव उसी से आरम्भ करना उचित होगा। रस की परिभाषा देव ने इस प्रकार की है :—

जो विभाव अनुभाव अरु, विभचारिनु करि होइ।
थिति की पूरन वासना, सुकवि कहत रस सोइ।

(भाव-विलास)

अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों द्वारा स्थायी भाव की पूर्ण वासना को रस कहते हैं। यहां वासना शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है, वासना का अर्थ है, स्मरित-ज्ञान अथवा अनुभव। यहाँ वासना शब्द के प्रयोग में 'भाव स्मरणं रसः' अर्थात भाव का स्मरण या स्मरित अनुभव रस है। इस प्रसिद्ध रस-लक्षण की ओर संकेत है और दूसरे रस-परिपाक की आधार-रूपिणी वासना की महत्व-स्वीकृति भी है। रस परिपाक के विषय में देव का मत है।

चित थापित थिर बीज विधि, होत अंकुरित भाव।
चित अदलित, दल फूल फलि, बरसत सुरस सुभाव॥
खेत पात्र, प्रारब्ध विधि, बीज सुअंकुर जोग।
सलिल नेह, भाव सुविटप, छंद पत्र परिभोग॥

(शब्द-रसायन)

'पात्र' का हृदय क्षेत्र अर्थात् रस का आधार स्थान है, संस्कार रूप से चित्त में स्थायी भाव बीज है जो स्नेह के सिंचन से अंकुरित पुष्पित और फलित होता हुआ रसमें परिणत हो जाता है। यह प्रारब्ध तथा विधाता की कृपा से सम्भव होता है। विभाव रस को उपजाने वाले है, अनुभाव रस का अनुभव कराने वाले अथवा प्रकाशक हैं—इनमें सात्विक-भाव विशेषक अर्थात् रस को विशेषता-पूर्वक प्रकट करने वाले हैं और संचारी रस को झलकाने वाले अथवा* 'विलासक' हैं यही रस-परिपाक में विभाव अनुभाव और संचारी आदि का योग है।

रस अंकुर थाई, विभाव-रस के उपजावन
रस-अनुभव अनुभाव, सात्विकी रस झलकावन।

(शब्द-रसायन)

उपर्युक्त विवेचन स्पष्टतः शास्त्रानुकूल है। इसमें केवल एक बात विचारणीय है। वह यह कि देव ने स्नेह और प्रारब्ध को रस-परिपाक के लिए अनिवार्य माना है। स्नेह का वास्तव में अर्थ है रागात्मिका वृत्ति और देव का तात्पर्य है कि रस का पूर्ण परिपाक उसी हृदय में सम्भव है जिसमें रागात्मकता की प्रधानता हो और रागात्मकता की यह प्रधानता प्रारब्ध अथवा पूर्वजन्म के संस्कारों का परिणाम है। संस्कृत में भरत आदि आचार्यों ने रस-भोक्ता को अनिवार्यतः सहृदय तथा सवासन माना है। देव ने स्नेह और प्रारब्ध आदि शब्दों के द्वारा इसी तथ्य को ध्वनित किया है। आज की वैज्ञानिक शब्दावली में प्रारब्ध अथवा संस्कार को (Heredity) अथवा पितर-प्रभाव कहते हैं। मनोविज्ञान और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र यह निश्चित रूप से स्वीकार करते हैं कि सौन्दर्यानुभूति में जीवन की उन वृत्तियों का महत्त्वपूर्ण योग है; जिनका अनुभूत्यात्मक* रूप सुखकर है। इन्हींको हमारे यहाँ रागात्मिका वृत्ति कहा है। व्यक्ति विशेष के स्वभाव में इन वृत्तियों की अधिकता अथवा न्यूनता संस्कार और परिस्थिति पर निर्भर है।

* सुखसागरतरंग पृष्ठ ३६, ३७

*Affective Quality

अब रस के स्वरूप और रस की स्थिति के प्रश्न रह जाते हैं। वास्तव में ये दोनों ही अत्यन्त गम्भीर और तात्त्विक प्रश्न हैं, परंतु हिन्दी के अन्य रीतिकारों की भांति देव ने भी इनको विशेष महत्त्व नहीं दिया। इसका कारण एक तो यह था कि इन कवियों मे इतनी गहराई मे उतरने का उत्साह ही नही था, दूसरे गद्य के अभाव में तुक के बंधन मे जकड़े हुए पद्यो द्वारा यह विवेचन सम्भव नहीं था। फिर भी जहाँ तक रस के स्वरूप का सम्बंध है, इसमें संदेह नहीं रह जाता कि देव उसे आनन्दमय एवं ब्रह्मानंद-सहोदर ही मानते थे।

अरथ धर्म ते होइ अरु काम अरथ ते जानु।
ताते सुख, सुख को सदा, रस शृंगार निदानु॥

(भाव-विलास)

कहत लहत उमहत हियो, सुनत चुनत चित प्रीति।
शब्द अर्थ भाषा सुरस, सरस काव्य दस रीति॥

(शब्द-रसायन)

हरिजस-रस की रसिकता, सकल रसाइन सार।
जहाँ न करत कदर्थना यह असार संसार॥

(शब्द-रसायन)

इस प्रकार देव ने भारतीय रस-शास्त्र के अनुसार रस को आनन्दमय तथा आध्यात्मिक अनुभूति माना है। वे स्पष्टतः उसे लौकिक एवं ऐन्द्रिय अनुभव से परे मानते है :—"जहाँ न करत कदर्थना यह असार संसार"। रसकी स्थिति का भी क्रमिक विवेचन देव ने नहीं किया। पीछे उद्धृत एक दोहे में ही इसका संकेत किया गया है, और वह भी संदिग्ध है। इस दोहे में रसका रूपक बाँधते हुए पात्र को क्षेत्र अथवा रस का स्थान माना गया है—शास्त्रीय शब्दावली मे रसकी स्थिति पात्र में मानी गयी है, परन्तु यह पात्र शब्द अत्यंत संदिग्ध है। साधारणत: तो पात्र का अर्थ रस का अधिकारी व्यक्ति अर्थात् सहृदय ही होता है, किन्तु शब्द-रसायन में आगे चलकर जहाँ इस रूपक का विस्तार किया गया है, वहाँ पात्र से अभिप्राय काव्यगत पात्र (Characters) का ही है। पात्र तीन प्रकार के माने गये है। वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक, जिनके अन्तर्गत नायक-नायिका के विभिन्न भेद तथा सखी-दूती आदि के प्रकार आ जाते हैं। एक अन्य स्थान पर भी देव मे स्पष्ट रूप से नायक-नायिका के हृदय को ही शृंगार रस का आधार स्थान माना है।

दंपति उर कुरखेत विधि बीज भीजि रस-भाव।

(प्रेम-चन्द्रिका)

यह सिद्धांत अभिनव और भट्टनायक का उल्लंघन करता हुआ भट्ट लोल्लट के आरम्भिक रस-विवेचन का स्मरण दिलाता है। पर यह मानना तो ज्यादती होगी कि देव भट्टलोल्लट के अनुयायी थे। देव का आधार ग्रंथ है भानुदत्त की रस तरंगिणी और भानुदत्त मूलतः अभिनव-द्वारा स्थापित शास्त्रीय परम्परा मे ही आते है। अतएव देव भी रसवादियो की उस सर्वमान्य परम्परा से अलग नही हैं, परन्तु फिर भी उपर्युक्त वाक्य में कुछ विचित्रता अवश्य है और उसका कारण जान लेना भी कोई कठिन नही है। वह कारण यह है कि देव ने साहित्यक रस, हरि-रस और प्रेम-रस को अभिन्न माना है। अर्थात् वे काव्यगत श्रृंगार रसके आस्वादन और प्रत्यक्ष प्रेम-रस (जो उनकी दृष्टि में सदैव ही हरि-रस से अभिन्न अलौकिक अनुभूति है) के आस्वादन में कोई अन्तर नहीं मानते। प्रेम की मूल अनुभूति तो चूंकि नायक-नायिका को ही होती है इसलिये उन्होंने नायक-नायिका के हृदय को ही सामान्यतः रस का क्षेत्र मान लिया है, और उधर पात्र सहृदय और अपने आपको एक रूप मे देखा है। रस की स्थिति नायक-नायिका के हृदय में मानने का यही कारण है।

रसों की संख्या देव ने ९ मानी है।

सो रस नव-विधि विबुध कवि वरनत मत प्राचीन।

(शब्द-रसायन)

परन्तु मम्मट के अनुसार उन्होंने काव्य और नाटक में रसों की संख्या का भेद माना है। नाटक में केवल आठ रस होते हैं—शांत का परिपाक नाटक में सम्भव नहीं है। काव्य में नौ रस होते हैं :—

यहि भांति आठ विधि कहत कवि नाटक मत भरतादि सब,
अरु शांत यतन मत काव्य के लौकिक रस के भेद नव।

(भाव-विलास)

जैसा कि रीति-काल के शास्त्रीय आधार का विवेचन करते हुए लिखा है—भरत ने मूलतः आठ ही रस माने हैं, परन्तु नवें रस का संकेत भी उन्होने कर दिया है। उद्भट ने स्पष्ट रूप में शांत रस को स्वीकृत करते हुए नाटक में भी नौ ही रसों की स्थिति मानी है :—

'नव नाट्ये रसाः स्मृताः।'—बाद के आचार्यों ने नाटक और काव्य में भेद करते हुए नाटक में आठ और काव्य मे नौ रस माने :—

श्रृंगार हास्य करुण रौद्र वीर भयानकाः।
वीभत्साद्भुत संज्ञौचेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।

(काव्य-प्रकाश)

अर्थात् नाटक में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक बीभत्स और अद्भुत ये आठ रस कहे गये हैं। इसके उपरांत 'निर्वेदः स्थायी भावोऽस्ति शांतोऽपि नवमो रसः।' निर्वेद जिसका स्थायी भाव है, ऐसा शांत भी नवाँ रस है। (काव्य-प्रकाश)। यह विवाद आगे भी चलता रहा। पण्डितराज जगन्नाथ को नाटक में भी नौ रस मानने में कोई आपत्ति नहीं थी।

देव ने वत्सल, प्रेयान्, भक्ति आदि को पृथक रूप से स्वीकार कर रसों की संख्या-वृद्धि तो नहीं की, परन्तु रसके भेद-प्रभेदों में उन्होंने काफी विस्तार किया है। पहले तो उन्होंने रस के ही दो प्रकार माने हैं, लौकिक और अलौकिक। अलौकिक रस तीन प्रकार का होता है, स्वापनिक (स्वाप्निक) मानोरथिक और औपनायक (औपनायिक)। यह वर्गीकरण देव ने सीधा रस-तरंगिणी से लिया है। स च रसो द्विविधः लौकिकोऽलौकिकश्चेचित। अलौकिको रसस्त्रिधा स्वाप्निको मानोरथिक औपनायिकश्चेति। (रस त०, तरंग ६) इन तीनों के लक्षण नहीं दिए गए, केवल उदाहरण ही दिये गये हैं, जिनसे व्यंजित होता है कि स्वाप्निक में स्वप्न द्वारा मानोरथिक में मनोरथ द्वारा, और औपनायिक में लीला आदि के व्याज से भगवान् के मिलन का अलौकिक रस प्राप्त होता है। लौकिक रसों में-शृंगार के पहले साधारणतः दो भेद किए हैं संयोग और वियोग, फिर दोनोंके प्रच्छन्न और प्रकाश ये दो भेद और किए हैं। प्रच्छन्नशृंगार गुप्त रहता है, प्रकाश सर्वविदित होता है, उसमें दुराव की आवश्यकता ही नहीं होती।

देव कहै प्रच्छन्न सो, जाको दुरो विलास।
जानहिं जाको सकल जन, बरनैं ताहि प्रकास।

[भाव-विलास]

ये दोनों भेद भी देव के अपने नहीं है। उनसे पूर्व केशव ने इनका वर्णन किया है :—

शुभ संयोग वियोग पुनि, दोउ शृँगार की जाति।
पुनि प्रच्छन्न प्रकास करि, दोऊ द्वै द्वै भांति।

(रसिक प्रिया)

और केशव ने इन्हें भोज के शृंगार-प्रकाश से ग्रहण किया है।

साधारण वर्गीकरण के अनुसार संयोग एक ही प्रकार का होता है। वियोग के चार भेद हैं, पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणात्मक वियोग। इनमें पहले तीन का वर्णन तो देव ने शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल ही किया है, परन्तु उनके करुणात्मक वियोग के विवेचन में विचित्रता है :—

दम्पतीन में एकके, विषम मूरछा होइ।
जहँ अति आकुल दूसरौ, करुणातम कहि सोइ ॥ (भा० वि०)
करुणातम सिंगार जहँ रति और शोक निदान। (श० र०)

अर्थात् जहां दम्पति मे एक को विरह के मारे मूर्छा आजाये और दूसरा अत्यन्त व्याकुल हो जाए वहां करुणात्मक वियोग होगा है, इसमें रति और शोक का मिश्रण रहता है। करुणात्मक वियोग के तीन भेद माने गये हैं—लघु, मध्यम, और दीर्घ। पहले मे प्रिय की मृत्यु की सम्भावना-मात्र है, दूसरे में उसकी वास्तविक मूर्छा है, तीसरे में उसका जीवन खतरे में होता है। करुण विप्रलम्भ के विषय में संस्कृत आचार्यों मे भी बहुत कुछ मत-भेद रहता है—कुछ ने उसकी स्वतंत्र सत्ता को ही नहीं माना, परन्तु परम्परा सामान्यतः उसे स्वीकार करती आई है। विश्वनाथ ने करुण विप्रलम्भ का लक्षण इस प्रकार किया है :—

यूनोरेकस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः।

(साहित्यदर्पण)

अर्थात् नायक और नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरा जो दुखी होता है, उस अवस्था को करुण विप्रलम्भ कहते हैं। परन्तु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से फिर मिलने की आशा हो।' इस प्रकार शास्त्रीय परम्परा करुण विप्रलम्भ की स्थिति मरण मे ही मानती आई है, पर देव ने उसे मूर्छा मे मान कर मरण और अति-प्राकृतिक तत्त्व दोनों को बचाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने विषम मूर्छा को मरण का प्रत्याभास मानते हुए वियोग भावना की तीव्रता पर ही बल दिया है, जबकि मरण मे स्थायित्व की भी भावना रहती है। अतएव यह मानना पड़ेगा कि मूर्छा के द्वारा शोक का उतना गहरा परिपाक सम्भव नहीं है जितना मरण के द्वारा—और उपर्युक्त लघु, मध्यम और दीर्घ भेद तो निरर्थक ही हैं। हास्य के स्मित, हसित आदि साधारण छः भेदों को न लेकर देव ने उसके उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन भेद ही ग्रहण किये हैं। पर वैसे इन भेदों का आधार हास्य की सूक्ष्मता—स्थूलता को ही माना है—'अधिक अधम, मधि मध्यजन, उत्तम हँसत विनीत।' करुण के देव ने पांच भेद किये हैं—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुखकरुण। इनमें पहले चार भेद तो स्पष्टतः ही करुणा की मात्रा के अनुपात पर आश्रित हैं, अंतिम में करुणा का सुख मे पर्य्यवसान हो जाता है। पहले चार भेदों का प्रस्तार तो किसी मनोवैज्ञानिक आधार पर आश्रित न होने के कारण व्यर्थ प्रयत्न मात्र है, सुखकरुण में अवश्य नवीनता है। परन्तु सुखकरुण का स्थायी भी क्या शोक ही रहता है, यह

प्रश्न है ! सुखकरुण की व्याख्या करते हुए देव ने 'दुख में सुखहि समेत (या संजोत') वाक्यांश का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है 'दुख में सुख का योग।' अर्थात् लक्षण के अनुसार तो स्थायी भाव दुख अथवा शोक ही रहता है, उसी में हर्ष का सम्मिश्रण हो जाता है। परन्तु जो उदाहरण दिया गया है उसमें यह तथ्य पूरी तरह नहीं घटता उसमें दुःख का हर्ष में पर्य्यवसान ही हो जाता है।

भाग की भूमि, सुहाग को भूषन, लाज सिरी-निधि लाज निवासू।
आइये मेरी दुहूं-कुल-दीपक, धन्य पतिब्रत-प्रेम-प्रकासू ।
लंक ते आई निसंक लिए सुख, सबंसु वारति कौसिला-सासू।
पाँइन पै ते उठाइ लिए, हिय लाइ, बलाइ लै पोंछति आंसू।

पहले तो इष्ट का नाश न होने से इस प्रसंग मे ही करुण का परिपाक सम्भव नही है परन्तु यदि आशा की क्षीणता—अथवा सम्भावना की कमी के कारण ऐसा मान भी लिया जाय फिर भी यहां तो इष्ट की प्राप्ति हो गई है, अतएव शोक की स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है ! मनोविज्ञान की दृष्टि से सुख-करुण जैसे रस-भेद की स्थिति मानी जा सकती है, इसका आधार होगा शोक, हर्ष संचरण करेंगा, परन्तु उसका आलम्बन भिन्न होगा और वह थोडी देर प्रकाश बिखरा कर अंत में शोक के अंधकार को और भी सघन कर देगा। शेक्सपियर ने अपने दुःखांत नाटको मे इस प्रकार के सुख-करुण रस का अच्छा परिपाक किया है। अतएव यदि सुखकरुण रस की स्थिति सम्भव हो सकती है तो वह इसी अर्थ में हो सकती है। देव द्वारा प्रतिपादित सुखकरुण कम से कम करुण रस का भेद नही है। रौद्र, भयानक और अद्भुत का केवल एक ही भेद माना गया है। वीभत्स में जुगुप्सा के दो भेद माने गये हैं—

(१) वस्तु घिनौनी देखि सुनि घिन उपजै जिय मांहि।
घिन बाढ़ै बीभत्स रस, चित की रुचि मिटि जांहि॥
(२) निंद्य कर्म करि निंद्य-गति, सुनै कि देखै कोय।
तन सकोच मन सम्भ्रमस, द्विविधि जुगुप्सा होय॥

शब्द-रसायन]

इनमें पहला भेद तो परम्परागत जुगुप्सा—शारीरिक घृणा (horror) का ही है, परन्तु दूसरा स्पष्टत: ग्लानि का है। शास्त्रीय परम्परा प्राय: केवल प्रथम भेद को ही स्वीकार करती आई है। कुछ आचार्यों ने ऐसा भी माना है, परन्तु परम्परा ग्लानि द्वारा वीभत्स का परिपाक नहीं मानती। शास्त्रीय बाधा के अतिरिक्त भी, वास्तव में ग्लानि वीभत्स के अन्तर्गत कठिनता से ही आ सकेगी। आत्म-ग्लानि वीभत्स की अपेक्षा करुण अथवा शांत के ही अधिक समीप है, क्योंकि उससे

पश्चात्ताप जन्य शोक अथवा निर्वेद ही होता है। दूसरे के प्रति ग्लानिमूलतः जुगुप्सा के साधारण रूप से अभिन्न होगी। जुगुप्सा (शारीरिक) का आलम्बन प्रत्यक्ष एवं स्थूल होता है, ग्लानि (मानसिक) का आलम्बन सूक्ष्म। अतएव दोनों में स्थूलता की मात्रा का ही अंतर होगा, प्रकार का नहीं। दूसरों के प्रति ग्लानि घृणा का भी रूप धारण कर सकती है, उस अवस्था में वह क्रोध के अंतर्गत आयेगी क्योंकि घृणा निष्क्रिय अथवा अक्षम क्रोध का ही दूसरा नाम है। परन्तु देव इतनी गहराई में नहीं गए हैं। स्थूल और सूक्ष्म या शारीरिक और मानसिक का अन्तर उनके मस्तिष्क में अवश्य था परन्तु वे उसे स्पष्टतया अभिव्यक्त नही कर पाये हैं। इसीलिए उनके दोनो उदाहरणों मे कोई स्पष्ट भेद नहीं है। वीर के स्वीकृत चार भेदों में से देव ने युद्धवीर, दयावीर और दानवीर को ही ग्रहण किया है—धर्मवीर को छोड दिया है। इसका कारण स्वतंत्र चिंतन न होकर रसतरंगिणीकार का अन्धानुकरण मात्र है, क्योंकि उन्होंने भी केवल ये ही तीन भेद माने हैं।

वीरस्तु युद्धवीर-कोपवीर-दयावीर भेदात् त्रिवा।

[रसतरंगिणी प्र० तरंग, पृ० २३]

वास्तव मे या तो जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है, वीर के अवांतर भेद न कर, उसका एक साधारण रूप ही ग्रहण करना चाहिये, या फिर धर्मवीर को भी स्वीकार करने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि धर्म एक व्यापक प्रवृत्ति है, दान और दया तो उसके अंतर्गत आ सकते हैं परन्तु वह इनमें सीमित नही हो सकता। किसी भी नैतिक या आध्यात्मिक आदर्श के प्रति उत्साह आखिर धर्म के अतिरिक्त कहाँ जाएगा। शब्द-रसायन में शांत के भेद नही किए गये परन्तु भवानीविलास मे उसको दो भागो में विभक्त किया गया है—एक भक्ति-मूलक शांत, दूसरा शुद्ध शांत। इनमे पहले के तीन उपभेद किये गये हैं: प्रेम-भक्ति, शुद्ध-भक्ति और शुद्ध प्रेम। शुद्ध शांत से तात्पर्य्य वैराग्यमूलक शांत का है। इस विभाजन में भी देव ने शास्त्र से वैचित्र्य प्रदर्शन करने का निष्फल प्रयत्न किया है। क्योंकि भक्ति—विशेषकर प्रेम-भक्ति और शुद्ध प्रेम तो शम के अंतर्गत किसी रूप में भी नहीं आ सकते—वे तो शृंगार के अन्तर्गत आते हैं। जैसाकि अन्यत्र स्पष्ट किया गया है—इन दोनों में केवल आलाम्बन के स्वरूप का ही थोडा अंतर रहता है। वास्तव में यहाँ देव ने अपना ही विरोध किया है—उन्होंने केवल आलम्बन के स्वरूप-भेद से उन्हीं छंदों को शृङ्गार और शांत के अन्तर्गत रख दिया है। परन्तु आलम्बन के पार्थिव और अपार्थिव स्वरूप का यह भेद स्थायी भाव में थोडा परिवर्तन या मिश्रण भले ही करदे, उसको बिल्कुल ही कैसे बदल सकता है? इसीलिये तो उन्होंने बाद में अपनी त्रुटि को स्वीकार

करते हुए शब्द-रसायन में केवल शुद्ध, वैराग्यमूलक शांत को ही ग्रहण किया है।

अब रसों के पारस्परिक सम्बन्ध को लीजिए। देव ने इस विषय में दो स्थापनाएं की हैं। पहली स्थापना के अनुसार मुख्य रस केवल चार हैं :—शृङ्गार, रौद्र, वीर, और वीभत्स—शांत को छोड़ शेष चार रसों का जन्म इन्हींसे होता है—शृङ्गार से हास्य का, रौद्र से करुण का, वीर से अद्भुत का, और वीभत्स से भयानक का।

होत हास्य सिंगार ते, करुण रौद्र ते जानु।
वीर जनित अद्भुत कहो, वीभत्स ते भयानु॥

[शब्द-रसायन]

यह स्थापना पहले तो मौलिक न होकर भरत का अनुवादमात्र है,

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः।

[नाट्य-शास्त्र]

फिर इसका कोई विशेष औचित्य भी नहीं है। हास्य, शोक, विस्मय और भय स्वतंत्र एवं मौलिक मनोवृत्तियां हैं। हास्य शृंगार की विकृति अथवा जैसा भरत ने कहा है उसकी अनुकृति से उत्पन्न हो सकता है, परन्तु उसकी सीमा इतनी ही नहीं है। जिन परिस्थितियों में शृंगार की गंध भी नहीं होती उनमें भी हास्य की उद्बुद्धि करने की क्षमता रहती है। इसी प्रकार "वीर का कर्म अद्भुत अवश्य है" (भरत)—अर्थात् विस्मय उत्साह से उत्पन्न हो सकता है,—उसका सम्बन्ध विराट् (Sublime) से है इसमें संदेह नहीं, परंतु फिर भी विस्मय के उद्भव को उत्साह तक ही सीमित नहीं माना जा सकता। भय में भी भयानक वस्तु से घृणा एवं विकर्षण, अथवा वृत्तियों के संकुचित होने में, जुगुप्सा मूलतः वर्तमान रहती है- परंतु तो भी दोनों का अनुभूत्यात्मक रूप (feeling) सर्वथा भिन्न होने से इनमें शुद्ध कार्य-कारण सम्बंध नहीं माना जा सकता। अर्थात् भय के मूल में जुगुप्सा की प्रतिक्रिया अवश्य रहती है, परन्तु जिसके कारण उसकी अनुभूति भय रूप में होती है, वह जुगुप्सा नहीं है। शोक को क्रोध से उत्पन्न मानना तो उसकी सीमा को अत्यन्त संकुचित कर देना है। शोक क्रोध की अपेक्षा न केवल व्यापक ही अधिक है, वरन् मौलिक भी। भारतीय-दर्शन में भी शोक का सम्बन्ध षट्रिपु वर्ग के क्रोध से न होकर मोह से ही है। रौद्र का कर्म करुण की सृष्टि करता है, भरत की यह स्थापना भी अत्यंत एकांगी है।—इन्हीं तथा अन्य कारणों से मनोविज्ञान में ये सभी मनोवृत्तियां मौलिक ही मानी गई हैं, गौण अथवा अन्य-जनित नहीं।

इस विषय में देव ने दूसरी स्थापना और भी अधिक उत्साह के साथ की है :—

तीन मुख्य नौ हू रसनि द्वै द्वै प्रथम निलीन।
प्रथम मुख्य तिन तिनहुँ मैं, दोऊ तेहि आधीन।
हास्य भयरु सिंगार संग रौद्र करुन सँग वीर।
अद्भुत अरु वीभत्स सँग शान्तहिं वरनत धीर।

[भवानी-विलास]

अर्थात् नौ रसों में तीन मुख्य है शृंगार, वीर और शांत। शेष छः रस इन्हीं तीनो के आश्रित हैं। हास्य और भय शृंगार के आश्रित हैं, करुण और रौद्र वीर के, और अद्भुत और वीभत्स शांत के। इस स्थापना के आधार का देव ने विशेष विवेचन नहीं किया, और न यह वास्तव में किसी विशेष मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थित ही है। वीर के साथ रौद्र तो ठीक है, परंतु करुण को सभी परिस्थितियों में वीर के आश्रित कैसे माना जा सकता है? इसी प्रकार शृंगार और भयानक का तो विरोध है, परन्तु देव ने[भय के बिना प्रीति नहीं होती] इस लोकोक्ति के आधार पर ही दोनो को सम्बद्ध कर दिया है :—

प्रीति भीति को संग है, भय बिनु प्रीति न होइ।

[भवानी-विलास]

इसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा गया है, काव्य के स्थायी भाव प्रायः सभी मौलिक मनोवृत्तियाँ होने के कारण स्वतन्त्र ही हैं, उनका एक-दूसरे में पूर्ण अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। परन्तु देव तो धुर मूल तक जाते हैं, और वीर, शांत का भी अन्त में, शृङ्गार मे अन्तर्भाव कर देते है—"तेहि उछाह निर्वेद लै वीर-शांत संचार।" शृङ्गार का उत्साह वीर को जन्म देता है, उसका निर्वेद शांत को। आगे चलकर शब्द-रसायन में इसी सिद्धांत का एक दूसरे ढङ्ग से प्रतिपादन किया गया है। शृङ्गार के दो भेद हैं, संयोग और वियोग। इनमें संयोग हास्य, वीर और अद्भुत का अन्तर्भाव कर लेता है, वियोग रौद्र, करुण और भयानक का; वीभत्स और शान्त दोनों में अन्तर्भूत हो सकते हैं :—

सो सँजोग बियोग भेद, शृङ्गार दुविध कहु,
हास्य, वीर, अद्भुत सँयोग के, सङ्ग अङ्ग लहु,
अरु करुना, रौद्र भयान भये, तीनों वियोग अँग,
रस बीभत्सऽरु सांत होत, दोऊ दुहून सँग,

यह सूक्ष्म रीति जानत रसिक, जिनके अनुभव सब रसनि,
नवहू सुभाव भावनि सहित, रहत मध्य श्रृङ्गार तनि ॥
[शब्दरसायन]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह वर्गीकरण भी अधिक मान्य एवं संगत नहीं है। इसका आधार शायद यही है कि संयोग चूंकि मधुर है; इसलिए हास, उत्साह और विस्मय मधुर या सुखात्मक भाव होने के कारण संयोग के अन्तर्गत मान लिए गए हैं, और वियोग कटु है; इसलिए क्रोध, शोक और भय कटु और दुःखात्मक होने के कारण वियोग के अंतर्गत रख दिए गए हैं। उपर्युक्त विभाजन का यही औचित्य हो सकता है; परन्तु यह भी पूर्ण नहीं है क्योंकि शांत को तो मधुर और कटु दोनों का समन्वित रूप होने के कारण संयोग और वियोग दोनों के साथ लिया जा सकता है, परन्तु वीभत्स तो एकांत कटु अनुभव है, अतः उसको उभयरूप कैसे माना जा सकता है ? इस प्रकार पहले तो मूलतः ही यह वर्गीकरण असंगत है, फिर यदि कोई आधार रखा भी गया है तो उसका अच्छी तरह निर्वाह नहीं किया गया। श्रृंगार को प्रधानता देने वाला यह सिद्धांत संस्कृत रस-शास्त्र में बहुत पुराना है। भोजराज ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर इसका प्रतिपादन किया है। हिंदी में भी देव से पूर्व केशव, चिंतामणि और मतिराम आदि इसकी घोषणा कर चुके थे। आधुनिक मनोविश्लेषण में भी इसकी चर्चा जोर से हो रही है। इसमें संदेह नहीं कि श्रृंगार जीवन की प्रमुख वृत्ति है, और काव्य में भी श्रृंगार रस सर्व-प्रधान है; इसमें भी सन्देह नहीं कि राग अथवा रति की सक्रियता ही जीवन के उत्साह का मूल कारण है, और उसकी परिश्रान्ति ही निर्वेद की जननी है, परन्तु फिर भी अन्य सभी रसों का श्रृंगार में अन्तर्भाव अथवा अन्य सभी मनोवृत्तियों का रति में अंतर्भाव अधिक संगत नहीं है। श्रृंगार की प्रधानता तो ठीक है, परन्तु उसकी एकमात्रता सर्वथा मान्य नहीं है। ऐसा करने से करुण, भयानक, वीभत्स, रौद्र आदि विरोधी रसों को श्रृंगार में ठूंसने की खींचातानी करनी पड़ेगी और यह प्रयत्न सफल नहीं होगा। केशव और देव दोनों ने यही चेष्टा की है कि सभी रसों के श्रृंगार-परक वर्णन किये जाएं; परन्तु वे बुरी तरह असफल हुए हैं। उनके विभिन्न उदाहरणों में श्रृंगार का परिपाक तो हो गया है, परंतु अन्य रसों का आभास भी अच्छी तरह नहीं मिल पाता। यह तो स्वतः स्पष्ट सा है कि प्रिय के अपराध पर मानिनी की भौंहें चढ़ जाना और शत्रु के अपराध पर वीर की भौंहें चढ़ जाना एक बात नहीं हो सकती। उनमें मूल भावना (स्थायी) का अंतर है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी आज रति को व्यक्तित्व का प्रमुख अंश ही माना जाता है—फ्रायड की अपेक्षा युंग का सिद्धांत ही आज अधिक सत्य समझा जाता है। इसी

प्रसंग में शत्रु रसों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न भी किया गया है। यहां देव ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि शृंगार और वीभत्स, वीर और भयानक, हास्य और करुण का विरोध कौशल-पूर्वक मिटाया जा सकता है। परंतु ऐसा हो नहीं पाया, क्योंकि दोनो रसो के आलम्बन भिन्न हो गए है। उदाहरण के लिए वीभत्स शृंगार का छंद लीजिए :—

लै मुख-सिंधु-सुधा सुख सौतिके, आये इतै रुचि-ओठ अमी की।
सौंहि निसंक लई भरि अंक मयंक-मुखी सु ससंकति जी की।
जानि गई पहिचानि सुगंध, कछू छिन मानि भई मुख फीकी।
ओछे उरोज अँगौछि अँगौछन, पौछति पीक कपोलन पीकी।

[श० र०]

इसमें वीभत्स का आलम्बन सपत्नी है, और शृंगार का आलम्बन नायक है। अतएव शत्रुता का प्रश्न ही नही उठता।

आगे रस दोष शीर्षक देकर देव ने रसके कुछ और भेद भी दिये हैं :

सरस-निरस, सम्मुख-विमुख, स्व-पर-निष्ठ पहिचानि।
भीत-अभीत, उदास चित, उचित सुचित्त बखानि ॥

[शब्द-रसायन]

इन भेदो के लक्षण नही दिए गए है, केवल उदाहरण मात्र ही दिए गए है। अतएव प्रायः इनका स्वरूप समझने मे कठिनाई होती है। 'सरस' में कोई विशेषता नही दिखाई देती। 'उदास' में केवल प्रिय की उदासीनता ही प्रकट की गई है। शायद एकांगी प्रेम को देव उदास रस के अन्तर्गत मानते हैं। 'नीरस' के देश, काल, वर्ण, विधि, यात्रा, संधि, रस और भाव के विरोधानुसार आठ भेद किए गए हैं। वास्तव में इन सबका औचित्य की हानि से ही सम्बन्ध है। सम्मुख और विमुख रस का स्वरूप भी स्पष्ट नही हो पाया है। स्व-निष्ठ और पर-निष्ठ रस मे अपनी और दूसरे की अनुभूति का भेद है। अर्थात् स्व-निष्ठ में नायिका की अपनी अनुभूति का वर्णन है, परनिष्ठ में दूसरों पर अपने प्रभाव का वर्णन है:— शब्दरसायन में दिए हुए उदाहरणो से स्वनिष्ठ और परनिष्ठ का यही स्वरूप समझ मे आता है। इस प्रसंग के अधिकांश (नीरस के भेद, स्वनिष्ठ-परनिष्ठ आदि का विस्तार) का संकेत रस-तरंगिणी से ही लिया गया है, परन्तु देव उसे स्पष्ट रूप से ग्रहण भी नहीं कर पाये, उसका विवेचन तो दूर रहा।

संचारियों के वर्णन मे भी देव ने सामान्य परम्परा से कुछ विचित्रता दिखाई है। शास्त्र में एक प्रकार के ही संचारी माने गये हैं; परन्तु देव ने उनके दो भेद

माने हैं – शारीरिक और आंतर अथवा तन-संचारी और मन-संचारी। तन-संचारियों से अभिप्राय सात्विक भावों से है; जिनको कि साधारणतः अनुभाव के अंतर्गत ही माना गया है। मन-संचारी से अभिप्राय निर्वेदादि सर्व-स्वीकृत संचारियों से है:।

ते सारीऽरु आंतर, द्विविध कहत भरतादि।
स्तंभादिक सारीर अरु, आंतर निरबेदादि॥

[भाव-विलास]

यह भी रसतरंगिणीकार के शब्दों का ही अनुवाद है।

"विकारश्च द्विविधः। आन्तरः शारीरश्च। आंतरोऽपि द्विविधः, स्थायी भावो व्यभिचारी भावश्चेति। सात्विकस्तु सात्विकभावादिः।"

[रसतरंगिणी, प्रथम तरंग]

सात्विक भाव क्यों संचारियों के अन्तर्गत आने चाहिएँ, इसका विवेचन देव ने नहीं किया। परंतु कारण स्पष्ट है ही : जिस प्रकार निर्वेदादि मन में संचरण करते हुए इसका पोषण करते हैं, इसी प्रकार सात्विक भाव शरीर में संचरण करते हुए उसका पोषण करते हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि इनमें कौन-सा मत ठीक है? सात्विक भाव-अनुभाव हैं या संचारी। देव के शब्दों में, वे रस के प्रकाशक हैं या विलासक (पोषक)? इनमें पहली स्थापना के विषय में तो संदेह किया ही नहीं जा सकता। अर्थात् अश्रु-स्वेदादि भाव को प्रकट करते हैं—यह तो स्वतः स्पष्ट हैं; परंतु वे उसको परिपुष्ट एवं समृद्ध भी करते है, इसमें भी सन्देह नहीं है। अनुभव इसका प्रमाण है।

दूसरी नवीनता है, छल को चौंतीसवाँ संचारी मानना :—

अपमानादिक करन को, कीजै क्रिया छिपाव।
वक्र उक्ति अन्तर-कपट, सो बरनै छल-भाव॥

[भावविलास]

अर्थात् दूसरे का अपमान आदि करने के लिए, अंतर में कपट रखते हुए, वक्र उक्ति आदि के द्वारा क्रिया को छिपाने का प्रयत्न 'छल' कहलाता है। शुक्लजी ने इस नवीनता को निरर्थक मानते हुए छल को अवहित्थ के अन्तर्गत ही माना है, परन्तु देव ने रसतरंगिणीकार के अनुसरण पर दोनों में अंतर किया है। अवहित्थ में आकृति और कर्म का गोपन है : "लज्जा गौरव धृष्टता, गोपै आकृति कर्म"; जबकि छल में क्रिया का। अब देव से पूछा जाय कि क्रिया और कर्म में क्या अंतर है? वास्तव में इनका यह 'कर्म' भानुदत्त के 'व्यवहार' शब्द का शिथिल अनुवाद है—"आकार-व्यवहार-संगोपनम् अवहित्थम्"—"मगुंस क्रिया-संपादनम् छलम्।"

भानुदत्त ने उसका सङ्केत न्याय-शास्त्र के प्रथम सूत्र से ग्रहण किया है, जहाँ छल को स्वतंत्र भाव माना गया है। जैसाकि रस-प्रसङ्ग मे मैंने स्पष्ट किया है, पहले तो संचारियों की संख्या निश्चित करना उचित नहीं है, फिर नवीन संचारियों का अन्वेषण, अथवा नाम-करण करना भी कोई असाधारण बात नहीं है। एक ही संचारी के परिस्थितियों की भिन्नता से अनेक भिन्न रूप हो सकते हैं; परंतु यह सब होते हुए भी देव-प्रतिपादित छल मे अवहित्थ से कोई विशेष पार्थक्य नहीं है। भानुदत्त-कृत पार्थक्य भी कोई महत्व नहीं रखता; क्योंकि व्यवहार और क्रिया में आखिर इतना अंतर नहीं है कि उसके लिए एक नवीन भाव की उद्भावना करनी पड़े। इस तथ्य का देव ने प्रौढ़ावस्था में जाकर अनुभव किया, और इसीलिए शब्द-रसायन में उसका उल्लेख नहीं है। उसमे केवल ३२ संचारी ही स्वीकृत किए गए हैं। कुछ संचारियों के अवान्तर भेद भी देव ने कर डाले हैं, जैसे वितर्क के ४ भेद—विप्रत्तिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय; किन्तु यह भी उनकी मौलिक उद्भावना नहीं है। यहाँ भी वे भानुदत्त का ही अनुवाद कर रहे हैं :—"वितर्कश्चतुर्विधः विचारात्मा, संशयात्माऽनध्यवसायात्मा, "विप्रतिपत्त्यात्माश्चेति।" (रस तरंगिणी तरङ्ग ५)। इसी प्रकार जहाँ अन्य रीतिकारों ने आठ काम-दशाओं का वर्णन किया है, वहाँ देव ने प्रत्येक के अनेक उपभेद कर डाले हैं :

चिंता :—साधारण-चिंता, गुप्त-चिंता, संकल्प-चिंता और विकल्प-चिंता।

स्मरण :—स्वेद-स्मरण, स्तम्भ-स्मरण, रोमांच-स्मरण, कंप-स्मरण, स्वरभंग स्मरण, वैवर्ण्य-स्मरण, और प्रलय स्मरण।

ये आठ भेद आठ सात्विक भावों के अनुसार किए गए हैं। जिस स्मरण से स्वेद का संचार हो जाय वह स्वेद-स्मरण, जिससे स्तम्भ हो जाए यह स्तम्भ-स्मरण, इत्यादि।

गुण-कथन :—हर्ष-गुण-कथन, ईर्ष्या-गुण-कथन, विमोह-गुण-कथन, अपस्मार-गुण-कथन, ये चारों भेद चार संचारियों पर आश्रित हैं।

उद्वेग :—वस्तु-उद्वेग, देश-उद्वेग, काल उद्वेग।

प्रलाप :—ज्ञान-प्रलाप, वैराग्य-प्रलाप, उपदेश-प्रलाप, प्रेम-प्रलाप, संशय-प्रलाप, विभ्रम-प्रलाप, निश्चय-प्रलाप।

उन्माद :—मदनोन्माद, मोहोन्माद, विस्मरणोन्माद, विक्षेपोन्माद।

व्याधि :—संताप-व्याधि, ताप-व्याधि, पश्चात्ताप-व्याधि।

मरण :—(मरण के भेद करने की हिम्मत नहीं पड़ी।)

[दे० रसविलास]

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के अनावश्यक विस्तार का कोई भी महत्त्व नहीं है। परिस्थिति के अणु जैसे परिवर्तन हमारे भावों में कितने सूक्ष्म परिवर्तन कर देते हैं; इसका हिसाब कौन लगा सकेगा? इस प्रकार की संयोजनाओं द्वारा तो असंख्य नवीन भेदों की सृष्टि की जा सकती है, अतएव साधारण विवेक यही कहता है कि उपलक्षण-रूप मे मूल भेदों का वर्णन करके ही प्रसङ्ग को समाप्त कर देना चाहिए। इस प्रकार का विस्तार रीति के अध्ययन में साधक न होकर बाधक ही होता है।

नायिका-भेद :—वैसे तो शृंगार रस के आलम्बन का विवेचन होने के कारण नायिका-भेद रस-प्रसंग के ही अंतर्गत आता है, परन्तु रीतिकाल में वह विवेचन का न केवल एक स्वतंत्र वरन् सर्व-प्रधान अंग भी बन गया था। देव ने भी काव्य के सभी अंगों की अपेक्षा उसे ही अधिक महत्त्व दिया है। उनका अधिकांश साहित्य नायिका-भेद से ही ग्रस्त है। भाव-विलास, भवानी-विलास, कुशल-विलास, प्रेम-तरंग, सुजान-विनोद, सुखसागर-तरंग सभी में प्रकारान्तर से रस के आधार-भूत नायक-नायिका का ही वर्णन है। "वाणी को सार बखान्यौ सिंगार, सिंगार को सार किसोर-किसोरी।" अर्थात् वाणी का सार शृंगार है, और शृंगार का सार है दम्पति। दम्पति में भी रस की दृष्टि से नायिका ही मुख्य है। नायिका से अभिप्राय उस स्त्री का है जो यौवन, रूप, कुल, प्रेम, शील, गुण, वैभव और भूषण से सम्पन्न हो। ऐसी स्त्री ही अष्टांगवती नायिका कहलाती है। ये आठों अंग केवल स्वकीया मे ही सम्भव हैं। परकीया में कुल और शील का अभाव रहता है, सामान्या मे शील, कुल, प्रेम और वैभव का।

जा कामिनि में देखिए, पूरन आठहु अंग।
ताही बरनै नायिका, त्रिभुवन मोहन रंग॥
पहिलै जोबन, रूप, गुन, सील, प्रेम पहिचानि।
कुल, वैभव, भूपन बहुरि, आठौं अंग बखानि॥
[रस-विलास]

× × × ×

भूपन, जोबन, रूप, गुन, विभव, शील, कुल, प्रेम।
आठौं अंग स्वकियाहि के, परकिय बिन कुल नेम॥
सामान्या बिन सील, कुल, प्रेम बिभौ पहिचानि।
भूपन, जोबन, रूप, गुन, सहित उत्तमा जानि॥
[भवानी-विलास]

रीति-काल में देव सबसे अधिक विस्तार-प्रिय कवि थे। अन्य कवियों ने जहाँ नायिका-भेद का वर्णन अधिक से अधिक कर्म, काल, गुण, वयःक्रम, दशा और जाति के अनुसार ही किया है, वहाँ देव ने इनके अतिरिक्त देश, प्रकृति, सत्व और अंश के आधार को भी ग्रहण किया है। इस प्रकार उन्होंने आठ या नौ आधारों को लेकर इस विषय का विस्तार-प्रस्तार किया है :—

जाति, कर्म, गुण, देस अरु काल वयः क्रम जानु।
प्रकृति, सत्व, नायिका के आठौ भेद बखानु॥
× × × ×
पदमिन्यादिक जाति त्रिय, अंस सुदेवी आदि।
उत्तमादि गुण, कर्म वय, स्वकियादिक मुग्धादि।
दशा विरह स्वाधीन-पति आदि अवस्था हाव।
सत्व देव सत्वादि तहँ प्रकृति कफादि जनाव॥

[कुशल-विलास]

जाति-भेद का आधार काम-शास्त्र है। इसके अंतर्गत स्त्री की काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं को दृष्टि में रखते हुए उसके स्वभाव और शरीर की विशेषताओं का विचार आता है। जाति के अनुसार नायिका के चार भेद हैं :—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। संस्कृत में भरत, धनंजय, विश्वनाथ, और भानुदत्त किसी ने भी इनका वर्णन नहीं किया है; परन्तु हिंदी में इनका आरम्भ केशवदास से ही हो जाता है। 'कर्म' से यहाँ नायिका का नायक से सामाजिक सम्बन्ध ही अभिप्रेत है। इस शब्द का प्रयोग कुछ अतिव्याप्त-सा है, इसीलिए दास ने इसके स्थान पर 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है, जो वास्तव में कहीं अधिक संगत एवं उचित अर्थ का द्योतक है। हरिऔधजी ने भी इसी को स्वीकार किया है। कर्म (अथवा धर्म) के अनुसार नायिका के तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। वयः क्रम के अनुसार फिर स्वकीया के तीन भेद किए गए हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढा। मुग्धा के देव ने पाँच भेद माने हैं :—

१. वयस्सन्धि १२।—१२॥ वर्ष
२. नवलवधू १२॥—१३ ,,
३. नवयौवना १३—१४ ,,
४. नवल अनंगा १४—१५ ,,
५. सलज्ज रति १५—१६ ,,

उपर्युक्त पाँच भेद प्राचीन विदर्भ देश के पण्डितों के अनुसार हैं, गौडीय पण्डित इन्हें दूसरे प्रकार से भी कहते हैं :—

यह प्राचीन विदर्भ मत अनुमत गौड़ नवीन,
बरनत मुग्धा पाँच विधि औरो नाम प्रवीन।

[कुशल-विलास]

वयः सन्धि को तो वयः सन्धि ही कहते हैं, नवल वधू को अज्ञात यौवना, नव-यौवना को ज्ञात-यौवना, नवल-अनंगा को नवोढा, और सलज्ज-रति को विश्रब्ध-नवोढा कहते है।

वयस् संधि अज्ञात अरु ज्ञात यौवना वाम।
नवोढ अरु विश्रब्ध स्यों मुग्धा पाँचौ नाम॥

[कुशल-विलास

ऐसा करने में खींच-खाँच तो थोड़ी अवश्य ही हुई है : उदाहरण के लिए कम से कम नवल-अनंगा और नवोढा के लक्षण पूरी तरह नहीं मिलते। पहले पाँच भेद थोड़े हेर-फेर से विश्वनाथ से—विश्वनाथ से भी नहीं वरन् धनंजय से—ग्रहण किए गये हैं। धनंजय से विश्वनाथ ने, विश्वनाथ से केशव ने और केशव से देव ने उन्हें ग्रहण किया है। केशव ने केवल चार ही भेद माने हैं—नवलवधू, नवयौवना, नवल अनंगा, लज्जा-प्राय रति। देव ने उनमें वयस् संधि और जोड़ कर विश्वनाथ की पाँच संख्या पूरी कर दी है। दूसरे भेद लगभग ज्यों के त्यों भानुदत्त के अनुसार हैं। प्राचीन विदर्भ तथा नवीन गौड़ीय पण्डितों से देव का संकेत किस ओर है यह कहना कठिन है। वैसे तो उपर्युक्त वर्गों का सम्बन्ध विश्वनाथ और भानुदत्त से है, परन्तु विश्वनाथ उड़ीसा के रहने वाले थे और भानुदत्त मिथिला के। विदर्भ और गौड उनमें से कोई भी नहीं था। वास्तव में ये दोनों विशेषण देव ने यों ही चलते ढंग से प्रयुक्त कर दिये हैं। विदर्भ-शैली प्राचीन थी, गौड़ी शैली अपेक्षाकृत अर्वाचीन, यही उनकी उक्ति का आधार है।

मध्या और प्रौढ़ा के चार अवांतर भेद हैं :—

मध्या		प्रौढ़ा	
१. रूढ़ यौवना (आरूढ़ यौवना)	१६-१७ वर्ष	लब्धापति	२०-२१ वर्ष
२. प्रगट मनोजा	१७-१८ ,,	रतिकोविदा	२१-२२ ,,
३. प्रगल्भ वचना	१८-१९ ,,	आक्रांतनायका	२२-२३ ,,
४. विचित्र सुरता	१९-२० ,,	सविभ्रमा	२३-२४ ,,

उपर्युक्त विभेद भी देव ने प्रायः ज्यों के त्यों केशव से के—शव ने थोड़ा परिवर्तन कर विश्वनाथ से लिए हैं; और विश्वनाथ का आधार यहाँ भी धनंजय ही है। देव ने उन्हें सीधे विश्वनाथ से नहीं ग्रहण किया, इसका प्रमाण यह है कि इनके

क्रम अथवा नाम आदि में जो परिवर्तन हुए हैं, वे पहले केशव में मिलते हैं। अतएव उनका दायित्व अथवा श्रेय केशव को ही दिया जायगा। हाँ, यह वर्ष-विभाजन देव का अपना है; परन्तु यह अपने आप मे अर्थ-हीन है; क्योंकि मानव-स्वभाव आयु की घडी द्वारा परिचालित नहीं है। आगे चल कर आयु के इन वर्षों को देव ने अंश-भेद के अनुसार भी क्रम-बद्ध किया है। स्त्री में नायिकात्व केवल ३९ वर्ष की आयु तक ही रहता है। ये पैंतीस वर्ष अंश-भेद के अनुसार पाँच भागो मे विभक्त हैं:—सात वर्ष तक देवी, सात से चौदह वर्ष तक देव-गन्धर्वी, चौदह से इक्कीस वर्ष तक गन्धर्वी, इक्कीस से अट्ठाईस तक गन्धर्व-मानुषी और अट्ठाईस से पैंतीस तक शुद्ध मानुषी। इनमे देवी (१०॥ वर्ष तक) पूज्या होती है, गन्धर्वी (१०॥ से २४॥ वर्ष तक) भोग के लिए और मानुषी (२४॥ से ३९ वर्ष तक) सुख-संतान के लिए होती है।

सुर अंस भवानी पूज्य जग गंधर्वी संभोग-प्रिय।
कुल धर्म कर्म संतान हित सरस्वती नर-अंस-प्रिय॥

(भवानी-विलास)

फिर नायिका के प्रति पति के प्रेम के अनुसार स्वकीया के दो भेद और किए गए है—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। यह स्थिति स्वभावतः मान को जन्म देती है, और मान के अनुसार धीरा, धीराधीरा और अधीरा ये तीन भेद और हो जाते हैं। ये तीनों भेद मुग्धा में तो सम्भव ही नहीं हैं, केवल मध्या और प्रौढा में ही होते हैं, इनका भी मूल आधार धनञ्जय का दश-रूपक है। वैसे भानुदत्त और विश्वनाथ दोनो ने ही इनका उल्लेख किया है।

ये तो स्वकीया के भेद हुए। अब परकीया के भेद लीजिए:—परकीया के विश्वनाथ ने केवल दो भेद किए हैं—परोढा (कुलटा) और कन्यका; परन्तु भानुदत्त ने रस मंजरी मे परोढ़ा के छः अवान्तर भेद भी कर डाले हैं, गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना, मुदिता। देव ने ये छः भेद विस्तार के साथ ग्रहण किए हैं। केवल अनुशयाना के अवान्तर भेद छोड दिए हैं।

नायिका भेद का तीसरा आधार है 'काल-क्रम'। इसके अनुसार आठ प्रकार की नायिकाएँ मानी गई हैं:—स्वाधीन-पतिका, कलहांतरिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, प्रोषित-पतिका। इस विभाजन का सर्व-प्रथम उल्लेख भरत में मिलता है। उनके पश्चात् फिर सभी ने इसे ग्रहण किया है। भानुदत्त ने प्रोषित-पतिका के अंतर्गत एक नये भेद प्रोत्स्य-भर्तृका की ओर संकेत किया है; और उसी के आधार पर हिन्दी वालों ने प्रोषित-पतिका के निश्चय-

पूर्वक दो और अवान्तर भेद कर डाले हैं। प्रवत्स्यत्-पतिका और आगत-पतिका। देव इससे भी आगे बढे हैं और उन्होने एक सूक्ष्म भेद गतागत-पतिका भी जोड़ दिया है। देव ने यह भेद-विस्तार काल-क्रमानुसार माना है। यहाँ 'काल' शब्द विचारणीय है। काल का प्रयोग देव से पूर्व केशव ने भी किया है:—

देश काल वय भाव ते केशव जानि अनेक।

(रसिक-प्रिया)

यह शब्द यहां परिस्थिति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि उपर्युक्त आठों भेद नायिका की विशेष परिस्थिति-जन्य मनोदशा (अवस्था) को ही व्यक्त करते हैं। भरत और विश्वनाथ ने इनको 'अवस्था' कहा है और हिन्दी के प्रायः आचार्यों ने, स्वयं देव ने भी कई एक स्थानों पर उसे स्वीकृत किया है। वास्तव मे ये दोनों शब्द ही थोडे अस्पष्ट एवं अतिव्याप्त हैं; परन्तु फिर भी काल की अपेक्षा अवस्था कहीं अधिक उपयुक्त और संगत है।

इसके बाद फिर 'गुण' के अनुसार इन सभी नायिकाओं के तीन तीन भेद होते हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। इसका भी मूल आधार भरत का नाट्य-शास्त्र ही है, परन्तु भरत ने गुण के स्थान पर प्रकृति शब्द का प्रयोग किया है, जो निस्सन्देह अधिक व्यंजक और स्पष्ट है। दशा अर्थात् मनोदशा के अनुसार साधारणतः तीन भेद होते हैं:—अन्य-संभोग-दुःखिता, गर्विता तथा मानिनी। देव ने नायिका के आठों अंगों के अनुसार गर्विता के कुल-गर्विता, शील-गर्विता, रूप-गर्विता, यौवन-गर्विता, आदि आठ अवांतर भेद कर डाले हैं। परन्तु देव की प्रस्तार-प्रियता यहीं पर नहीं रुकी। उन्होंने प्रकृति, सत्त्व और देश के क्रमानुसार भी नायिकाओं का प्रस्तार किया है। प्रकृति के तीन प्रकार:—वात, पित्त, कफ।

सत्व के ६ प्रकार:—सुर, किन्नर, यक्ष, नर, पिशाच, नाग, खर, कपि, और काक।

देश के अनेक भेद:—मध्यदेश वधू, मगध वधू, कौशल वधू, पाटल वधू, उत्कल वधू, कलिंग वधू, कामरू वधू, वंग वधू, विन्ध्यवन वधू, मालव वधू, आभीर वधू, विराट वधू, कुंकल (कोंकण) वधू, केरल वधू, द्राविड़ वधू, तैलंग वधू, करनाटक वधू, सिन्धु वधू, गुजरात वधू, मारवाड वधू, कुरुदेश वधू, कुरमी (कूर्माचल) वधू, पर्वत वधू, भुटंत वधू, काश्मीर वधू, और सौवीर वधू यह विस्तार अभी और भी आगे चला है और जाति अर्थात् वर्ण-व्यवसाय तथा वास की दृष्टि से भी भेदों को बढ़ाया गया है:—

(१) नागरी:—

(अ) देवल—१-देवी, २-पूजनहारी, ३-द्वारपालिका ।
(आ) रावल—१-राजकुमारी, २-धाय, ३-सखी, ४-दूती, ५-दासी ।
(इ) राजनगर—१-जौहरिन, २-छीपिन, ३-पटवाइन, ४-सुनारिन, ५-गंधिन, ६-तेलिन, ७-तमोलिन, ८-हलवाइन, ९-मोदिन, १०-कुम्हारिन, ११-दरजिन, १२-चूहरी, १३-गणिका ।
(२) पुरवासिन—१-ब्राह्मणी, २-राजपूतनी, ३-खतरानी, ४-वैश्यानी, ५-कायस्थनी ६-शूद्रिनी, ७-नाइन, ८-मालिन, ९-धोबिन ।
(३) ग्रामीणा—१-अहीरिन, २-काछिन, ३-कलारिन, ४-कहारी, ५-तुनेरी ।
(४) बनवासिन—१-मुनितिय, २-व्याधिनी, ३-भीलनी ।
(५) सैन्या—१-वृषली, २-वेश्या, ३-मुकेरिनी ।
(६) पथिकतिय—१-बनजारिन, २-जोगिन, ३-नटनी, ४-कुवेरनी ।

इस प्रकार देव ने अन्य कवियों की अपेक्षा प्रकृति, सत्व, अंश और देश, ये चार भेद अधिक माने हैं। पहले तो, ये चारों भेद-क्रम भी सर्वथा मौलिक नहीं हैं—प्रकृति, सत्व और अंश का विवेचन तो आयुर्वेद तथा काम-शास्त्र में मिलता है। देश-भेद का संकेत मम्मट ने काव्य-प्रकाश में तथा केशव ने रसिक-प्रिया में पहले ही दे दिया है। वास तथा वर्ण-व्यवसाय आदि के अनुसार वर्णन रहीम के 'बरवै नायिका भेद' में है। दूसरे फिर इस भेद-विस्तार के औचित्य का प्रश्न भी उठता है। क्या ये सभी प्रकार की स्त्रियाँ शृंगार रस के विभावान्तर्गत आ जाती हैं? क्या नाइन, तेलिन, चूहरिन सभी अष्टांगवती नायिकाएं हैं? क्या वे त्यागी, कृती, कुलीन, मानी आदि विशेषणों से सम्पन्न नायक की रति का आलम्बन मानी जा सकती हैं। साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से तो इन सब का विस्तार अनुचित है ही। उसके अनुसार तो ये अधिक से अधिक दूती आदि अवर भेदों के अन्तर्गत आ सकती हैं। विवेक और सुरुचि की दृष्टि से भी यह सब वितण्डा मात्र है। भला खर, पिशाच आदि सत्वों से युक्त नायिकाएं सहृदय की रति का आलम्बन कैसे मानी जायँगी? वास्तव में इस विस्तार से रस-शास्त्र के मनोवैज्ञानिक विवेचन में किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होती—वरन् नायिका-भेद का उद्देश्य ही भ्रष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त भेद-विस्तार के अतिरिक्त, देव ने अपने ढंग से वर्ग बनाकर कुछ नवीन संगतियाँ बैठाने का प्रयत्न भी किया है। उनमें दो मुख्य हैं:—एक तो मुग्धा, मध्या और प्रौढा के विभिन्न भेदों की पूर्वराग, प्रथम-संयोग, और सुख-भोग के साथ संगति; दूसरी कामदशा, अवस्था और हाव की क्रमशः मुग्धा, मध्या और प्रौढा के साथ संगति।

पहली संगति :—

मुग्धा—वयस् सन्धि ,, —नवल वधू ,, —नव यौवना ,, —नवल अनंगा	—पूर्वराग	मुग्धा—सलज्जरति मध्या—रूढ़-यौवना मध्या—प्रगट-मदना	—प्रथम संयोग
मध्या —प्रगल्भ-वचना ,, —विचित्र-सुरता प्रौढ़ा—लब्धापति ,, रति-कोविदा ,, —वश्य-वल्लभा (आक्रांत-नायका) ,, —सविभ्रमा	सुख-भोग (सुरति आदि)		

दूसरी संगति :—

मुग्धा-के अंतर्गत अभिलाषा आदि आठ कामदशाओं का वर्णन।
मध्या-के अंतर्गत स्वाधीन-पतिका आदि आठ अवस्थाओं का वर्णन।
प्रौढ़ा-के अंतर्गत लीला-विलास आदि दश हावों का वर्णन।

इन दोनों संगतियों में थोड़ी विचित्रता अवश्य है, परन्तु उनका न तो विशेष औचित्य ही माना जा सकता है और न महत्व ही। औचित्य की दृष्टि से तो मुग्धा के प्रथम चार भेदों में पूर्वानुराग या पूर्वराग-वियोग मानना असंगत होगा। यह ठीक है कि भय और लाज के कारण मुग्धा-मिलन का (सुरति का) पूर्ण सुख प्राप्त नहीं कर पाती, परन्तु मिलन का अभाव यहां नहीं होता है; अतएव पूर्वराग-वियोग की स्थिति मुग्धा के लिए अनिवार्य नहीं मानी जा सकती। दूसरी संगति इससे अधिक दूरारूढ़ और अयुक्त है। एक ओर तो, पहली संगति में, मुग्धा को भय और लाज के कारण मिलन की अनुभूति के भी अयोग्य माना गया है, दूसरी ओर फिर द्वितीय संगति में, उसके अंतर्गत प्रलाप, उद्वेग, मरण आदि विकसित काम-दशाओं को भी लदा दिया गया है। पूर्वराग में आठों काम-दशाओं का अंतर्भाव ही कुछ संगत नहीं है। इसी प्रकार आठ अवस्थाओं को मुग्धा में चाहे न भी मानिए—यद्यपि भानुदत्त, चिंतामणि आदि सभी ने ऐसा किया है—परन्तु प्रौढ़ा को उनसे वंचित करना किसी प्रकार भी उचित नहीं होगा। प्रौढ़ा और हावों की संगति के विषय में भी यही कहा जा सकता है। विभ्रम, विच्छित्ति विलास, लीला आदि की सम्भावना तो एक प्रकार से मुग्धा और मध्या में ही अधिक है। प्रौढ़ा में गंभीरता आ जाती है, अतएव उसमें यह सब न अधिक रुचिकर

ही होता है, न शोभन ही। देव को स्वयं अपने इस सिद्धांत के लचरपन का ज्ञान था।

> दसा, अवस्था, हाव दस जद्यपि सकल त्रियानि।
> तदपि सुकवि क्रम ते कहत मुग्ध, मध्य, प्रौढानि॥
>
> [सुजान-विनोद]

परन्तु विस्तार बढाना और मीज़ान लडाना इनका कुछ स्वभाव ही हो गया था। इसी लिए अन्त तक वे नायिका-भेद का इसी क्रम से वर्णन करते रहे।

नायिका के अतिरिक्त देव ने नायक, नायक के सहायक, दूती आदि का भी वर्णन किया है, परन्तु वह साधारण परम्परा के अनुसार ही है, उन्होंने अपनी ओर से इसमें कोई उल्लेख योग्य उद्भावना नहीं की।

अलंकार—देव ने अलंकारों का केवल दो स्थानों पर विवेचन किया है—एक भाव-विलास के अंतिम विलास में—दूसरे शब्द-रसायन के आठवें और नवें प्रकाश में। भावविलास में केवल ३९ अलंकारों के बहुत ही चलते ढंग से लक्षण-उदाहरण दिए गए हैं। आरम्भ में देव ने केवल ३९ अलंकारों को ही मुख्य माना है:—

> अलंकार मुख्य उनतालीस हैं देव कहैं
> येई पुराननि मुनि मतनि में पाइये
> आधुनिक कवि न के सम्मत अनेक और,
> इनहीं के भेद और विविध बताइये॥
>
> भावविलास]

अर्थात् मुख्य अलंकार ३९ ही हैं—प्राचीन आचार्यों का ऐसा ही मत है। आधुनिक कवि (आचार्य) और भी अनेक अलंकारों को मानते हैं, परन्तु वे इनके ही भेद हैं—स्वतंत्र नहीं हैं। प्राचीनों से यहां देव का तात्पर्य मम्मट, दण्डी आदि का ही है—उन्होंने भी अलंकारों की संख्या क्रमशः ३८ और ३६ मानी है। बाद में तो ज्यों ज्यों समय बीतता गया इनकी संख्या में वृद्धि होती गई। यहां तक कि मम्मट में वह ७०, रुय्यक में ८४, विश्वनाथ में ९० तक पहुंच गई। कुवलयानन्द-कार ने इसे और भी आगे खींचकर १२० तक पहुँचा दिया। 'आधुनिक कविन' से देव का इन्हीं परवर्ती आचार्यों का आशय है। भाव-विलास में दिए हुए अलंकार प्रायः दण्डी के अनुसार ही हैं—दंडी से केशव ने और केशव से देव ने उन्हें ग्रहण किया है, इसीलिए यथा-संख्य आदि कुछ अलंकारों के नाम संस्कृत आचार्यों के अनुसार न होकर केशव के अनुसार ही है। दंडी ने वैसे तो अलंकारों की संख्या ३६ मानी है—परन्तु इनमें अनुप्रास और यमक दो शब्दालंकार भी अन्तर्भूत

हैं। इसलिए उनके अर्थालंकार केवल २४ रह जाते हैं। इन २४ में उन्होंने भामह के अनन्वय, उपमेयोपमा और सन्देह को पृथक् न मान कर उनका उपमा में अंतर्भाव कर लिया है। देव ने दंडी के २४ अलंकारों के साथ इन ३ को भी स्वतन्त्र ही माना है। इस प्रकार दंडी के २७ अलंकार ज्यों के त्यों देव ने स्वीकृत कर लिए हैं—केवल दो अलंकार—वक्रोक्ति और पर्यायोक्ति— ही ऐसे रह जाते हैं जिनको दंडी ने स्वतंत्र-रूप से ग्रहण नहीं किया। परन्तु पर्यायोक्ति की भामह में पृथक् सत्ता स्वीकृत की गई है—और वक्रोक्ति को अलंकारों का मूलाधार माना गया है। अतएव ये दोनों अलंकार वहीं से केशव की कवि-प्रिया की यात्रा करते हुए भाव-विलास तक आ पहुँचे हैं।

देव	केशव	दण्डी	भामह
१. स्वाभावोक्ति	(जाति स्वभाव)	स्वाभावोक्ति	स्वाभावोक्ति
२. उपमा	उपमा	उपमा	उपमा
३. उपमेयोपमा	परस्परोपमा (उपमा का भेद)	(उपमा का भेद)	उपमेयोपमा
४. संशय	(उपमा का भेद)	संशय	संशय
५. अनन्वय	(उपमा का भेद)	(उपमा का भेद)	अनन्वय
६. रूपक	रूपक	रूपक	रूपक
७. अतिशयोक्ति	अतिशयोक्ति	अतिशयोक्ति	अतिशयोक्ति
८. समासोक्ति	समासोक्ति	समासोक्ति	समासोक्ति
९. सहोक्ति	सहोक्ति	सहोक्ति	सहोक्ति
१०. विशेषोक्ति	विशेषोक्ति	विशेषोक्ति	विशेषोक्ति
११. व्यतिरेक	व्यतिरेक	व्यतिरेक	व्यतिरेक
१२. विभावना	विभावना	विभावना	विभावना
१३. उत्प्रेक्षा	उत्प्रेक्षा	उत्प्रेक्षा	उत्प्रेक्षा
१४. आक्षेप	आक्षेप	आक्षेप	आक्षेप
१५. दीपक	दीपक	दीपक	दीपक
१६. उदात्त	उदात्त	उदात्त	उदात्त
१७. अपन्हुति	अपन्हुति	अपन्हुति	अपन्हुति
१८. श्लेष	श्लेष	श्लेष	श्लेष
१९. अर्थान्तरन्यास	अर्थान्तरन्यास	अर्थान्तरन्यास	अर्थान्तरन्यास
२०. व्याजस्तुति	व्याजस्तुति	व्याजस्तुति	व्याजस्तुति
२१. अप्रस्तुतप्रशंसा	अप्रस्तुतप्रशंसा	अप्रस्तुतप्रशंसा	अप्रस्तुतप्रशंसा
२२. आवृत्ति-दीपक	आवृत्ति-दीपक	(आवृत्ति)	आवृत्ति-दीपक
२३. निदर्शना	निदर्शना	निदर्शना	निदर्शना

२४. विरोध	विरोध	विरोध	विरोध
२५. परिवृत्ति	परिवृत्त	परिवृत्ति	परिवृत्त
२६. रसवत्	रसवत्	रसवत्	रसवत्
२७. ऊर्जस्वल	ऊर्जस्वल	ऊर्जस्वल	ऊर्जस्वल
२८. प्रेम	प्रेम	प्रेम	प्रेम
२९. समाहित	समाहित	समाहित	समाहित
३०. क्रम	क्रम	क्रम यथासंख्य	यथासंख्य
३१. तुल्ययोगिता	तुल्ययोगिता	तुल्ययोगिता	तुल्ययोगिता
३२. भाविक	भाविक	भाविक	भाविक
३३. संकीर्ण	(उपमा में ही माना है)	संकर्ण	संकीर्ण
३४. आशिष	आशिप	आशिष	आशिष
३५. लेश	लेश	लेश	लेश
३६. सूक्ष्म	सूक्ष्म	सूक्ष्म	मसूक्ष
३७. हेतु	हेतु	हेतु	हेतु
३८. पर्यायोक्ति	पर्यायोक्ति	पर्यायोक्ति	पर्यायोक्ति
३९. वक्रोक्ति	वक्रोक्ति	वक्रोक्ति	अलंकारों के

[मूलाधार रूप में स्वीकृत]

आगे चलकर शब्द-रसायन में इस प्रसंग का अधिक विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है—वहां ४० मुख्य अलंकार, और ३० गौण, इस प्रकार कुल मिलाकर उनकी संख्या ७० मानी गई है, साथ ही यह भी संकेत कर दिया गया है कि मुख्य-गौण के मिश्र-अमिश्र भेद मिलकर अनेक हो जाते हैं:—

मुख्य गौण विधि भेद करि, हैं अर्थालंकार ।
मुख्य कहौ चालीस विधि, गौण सुतीस प्रकार ॥
मुख्य गौण के भेद मिलि, मिश्रित होत अनंत ।
गुप्त प्रगट सब काव्य मैं, समुक्त हैं मतिमंत ॥

[शब्द-रसायन]

शब्द-रसायन में भेदों को छोड़कर लगभग ८५, ८६ अलंकारों से लक्षण उदाहरण दिए गए है—जिसमें काव्यालंकार से कुवलयानन्द तक के अनेक अलंकार आ जाते हैं। भाव-विलास के उपयुक्त ३९ अलंकारों के अतिरिक्त यहां जो अन्य अलंकार दिए हुए हैं वे इस प्रकार है: १. उल्लेख, २. समाधि, ३. दृष्टांत, ४. असम्भव, ५. असंगति, ६. परिकर, ७. तद्गुण, ८. अतद्गुण, ९. अनुज्ञा, १०. अवज्ञा, ११. गुणवत, १२. प्रत्यनीक, १३. लेख, १४. सार, १५. मीलित, १६.

कारणमाला, १७. एकावली, १८. मुद्रा, १९. मालादीपक, २०. समुच्चय, २१. सम्भावना, २२. प्रहर्षण, २३. गूढोक्ति, २४. व्याजोक्ति, २५. विवृतोक्ति, २६. युक्ति, २७. विकल्प, २८. अत्युक्ति, २९. भ्रांति, ३०. स्मरण, ३१. प्रयुक्ति, ३२. निश्चय, ३३. सम, ३४. विषम, ३५. अल्प, ३६. अधिक, ३७. अन्योन्य, ३८. सामान्य, ३९. विशेष, ४०. उन्मीलित, ४१. अर्थापत्ति, ४२. पिहित, ४३. विधि, ४४. निषेध, ४५. अन्योक्ति। इनमें दृष्टांत का आविष्कार रुद्रट ने किया था; व्याजोक्ति का वामन ने; अधिक, अन्योन्य, असंगति, एकावली, कारणमाला, तद्गुण, परिकर, प्रत्यनीक, पिहित, भ्रांति, मीलित, विषम, विशेष, समुच्चय, सार और स्मरण का रुद्रट ने; अर्थापत्ति और समाधि का भोज ने; अतद्गुण, मालादीपक, सामान्य और सम का मम्मट ने; उल्लेख, काव्यार्थापत्ति और विकल्प का रुय्यक ने; अत्युक्ति, अनुगुण या गुणवत, अवज्ञा, असम्भव, उन्मीलित, प्रहर्षण, और सम्भावना का चन्द्रालोककार ने; तथा अनुज्ञा, अल्प, गूढोक्ति, निषेध (प्रतिषेध), युक्ति, विधि, विवृतोक्ति, और मुद्रा का कुवलयानन्द के लेखक ने। अब केवल ३ अलंकार शेष रह जाते हैं—निश्चय, अन्योक्ति और प्रत्युक्ति। इनमें निश्चय भ्रान्तापन्हुति का ही दूसरा नाम है—विश्वनाथ ने इसका 'निश्चय' नाम से ही उल्लेख किया है। अन्योक्ति नाम संस्कृत में नहीं मिलता है—परन्तु हिन्दी में इसका केशवदास से ही स्वतंत्र रूप में उल्लेख है। प्रत्युक्ति वास्तव में उत्तर अथवा प्रश्नोत्तर अलंकार का ही रूप है—जिसका आविष्कार रुद्रट ने किया था। उपर्युक्त अलंकार-वर्णन किसी नियम अथवा क्रम-विशेष के अधीन नहीं है। इसमें मुख्य अलंकार कौन-से हैं और गौण कौन-से इनका भी स्पष्ट रूप से निर्देश नहीं है, वर्णन-विस्तार तथा पहले पीछे के हिसाब से ही थोड़ा बहुत अनुमान लगाया जा सकता है। जिनको कवि ने महत्त्वपूर्ण माना उनको पहले दिया है और विस्तार-पूर्वक दिया है शेष को बाद में चलता कर दिया है। जो ३१ अलंकार भाव-विलास में दिए हुए हैं उनको यदि भामह, दण्डी आदि के साक्ष्य पर प्रधान मान भी लिया जाए, फिर भी शेष ४५, ४६ अलंकारों के चयन में किस सिद्धांत को आधार बनाया गया है, यह जानना कठिन है। यह आधार अलंकार का स्वतंत्र महत्व एवं लोक-प्रियता ही हो सकती थी परन्तु देव-द्वारा स्वीकृत अनेक अलंकार स्पष्टतः ऐसे हैं जो इस कसौटी पर खरे नहीं उतरते:—जैसे असम्भव, प्रयुक्ति, निषेध, अल्प, अधिक आदि जो प्राचीन होते हुए भी स्वतंत्र महत्व नहीं रखते। इसके विपरीत, कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा प्रचलित अलंकारों को छोड़ दिया गया है—उदाहरण के लिए काव्यलिंग, प्रतिवस्तूपमा, परिसंख्या इत्यादि वास्तव में, देव ने यह चयन किसी निश्चित आधार को

लेकर नहीं किया, वरन् अपनी व्यक्तिगत रुचि तथा उदाहरण-सुविधा को दृष्टि में रखकर ही किया है।

शब्दालंकारों में देव ने अनुप्रास, यमक और चित्र का ही उल्लेख किया है—इनमें भी एक प्रकार से चित्र का ही मुख्यरूप से ग्रहण है क्योंकि अनुप्रास और यमक को तो चित्र के आधार-रूप माना गया है:—

अनुप्रास अरु यमक ये, चित्र काव्य के मूल।
इनहीं के अनुसार सों सकल चित्र अनुकूल॥

शब्द-रसायन]

यमक के अन्तर्गत उन्होंने सिंहावलोकन का भी उल्लेख किया है—परन्तु उसका लक्षण नहीं दिया। चित्र के कामधेनु, सर्वतोभद्र, पर्वत, हार, कपाट, धनु, कमल आदि अनेक भेदों का उल्लेख है—जिनमें एकाक्षर, अनुलोम-क्रम, गतागत क्रम, तथा अंतर्लापिका आदि का चमत्कार दिखाया गया है।

देव की अलंकार-विषयक दो मान्यताएं:—अलंकारों के विषय में देव की दो मान्यताएं विचारणीय हैं—एक तो यह कि उन्होंने शब्दालंकार को, और उससे तात्पर्य उनका मुख्यतः चित्र से है, अत्यन्त हेय माना है। इनमें शाब्दिक माधुर्य और चित्रोपमता अवश्य रहती है परन्तु अर्थ का अभाव अथवा क्लिष्टता होने के कारण इन्हें 'मृतक काव्य' अथवा 'प्रेत काव्य' ही माना जा सकता है:—

मृतक काव्य बिनु अर्थ के कठिन अर्थ को प्रेत।

शब्द-रसायन]

शब्द-चित्र का आदर करने वालों पर कवि ने तीक्ष्ण व्यंग्य किया है:—

सरस वाक्य पद, अरथ तजि, शब्द चित्र समुहात।
दधि, घृत, मधु, पायस तज, वायसु चाम चबात॥

[शब्द-रसायन]

चित्र-काव्य के प्रति यह शुद्ध रसवादी दृष्टिकोण है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के आरम्भिक युग में—अर्थात् भामह से आनन्दवर्धन के पूर्व तक अलंकार-चमत्कृति का अत्यधिक महत्व रहा। इसका प्रभाव उस समय के कवियों पर भी पड़ा था और बाण, भारवि, माघ आदि के लिए भी शब्द-क्रीडा अनिवार्य्य हो गई थी। बाण ने स्थान स्थान पर शब्द-चित्र प्रहेलिका आदि का प्रयोग किया है, माघ ने एक पूरा सर्ग ही इनको समर्पित कर दिया है। आनन्दवर्धन और अभिनव-गुप्त ने ध्वनि की प्रतिष्ठा करते हुए रस-ध्वनि को उत्तम-काव्य माना और रस से हीन,

केवल शब्द-चमत्कार पर आश्रित चित्र आदि को अधम काव्य में परिगणित किया। परन्तु फिर भी, चाहे अधम ही सही, चित्र को उन्होंने काव्य संज्ञा से वञ्चित नहीं किया—क्योंकि वे मानते थे कि किसी न किसी रूप मे सौन्दर्य की (चाहे वह सर्वथा बाह्य ही क्यों न हो) ध्वनि उसमें अवश्य वर्तमान रहती है। आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट तक सभी ध्वनि-वादियों का यही दृष्टिकोण रहा।

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्' ॥५॥
चित्रमिति गुणालंकारो युक्तम्।
अव्यंग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्।
(काव्य-प्रकाश १, ५,)

अर्थात् जिस काव्य में शब्द चित्र और वाच्य चित्र हों और व्यंग्य अर्थ न हो उसको अधम काव्य कहते हैं। अव्यंग्य शब्द का अर्थ है जिसका कोई शीघ्र प्रतीयमान अर्थ न निकलता हो। दूसरे शब्दों में, जहाँ अर्थ का कोई सौंदर्य्य ध्वनित न हो, केवल शब्द-सौंदर्य्य ही ध्वनित हो।—परन्तु आगे चलकर विश्वनाथ ने चित्र को काव्य मानने से साफ़ इन्कार कर दिया।*उन्होने स्पष्टतः चित्र को काव्य में 'गडुभूत'—अर्थात् गले में लटके हुए मांस की तरह किसी प्रकार का उपकार करने मे असमर्थ, केवल भाररूप माना—

काव्यान्तर्गडुभूततया तु नेह प्रपञ्च्यते।

और प्रहेलिका आदि में तो रस की परिपंथी होने के कारण—अलंकारत्व भी स्वीकृत नहीं किया। देव की भी ठीक यही स्थिति है। जिस प्रकार घोर तिरस्कार करने के उपरांत भी विश्वनाथ ने परम्परा के अनुसार चित्र का थोडा बहुत वर्णन किया है, इसी प्रकार देव ने भी भिन्न रुचि के लोगों के लिए उसके कुछ भेद दे दिए हैं।

देव की दूसरी मान्यता अर्थालंकार सम्बन्धी है—वह यह कि अलंकारों में सबसे मुख्य है उपमा और स्वाभावोक्ति :—

अलंकार में मुख्य हैं, उपमा और सुभाव।
सकल अलंकारिन विषै, परसत प्रगट प्रभाव॥
(श० र०)

* केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति। तदाहुः 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्। इति तन्न' (साहित्यदर्पण ४ परिच्छेद)

और इन दोनों में भी उपमा का महत्व अधिक है—

सकल अलंकारनि विषे, उपमा अंग उपंग।

या सकल अलंकारनि विषै, उपमा अंग लखाहि।

(श० र०)

स्वाभावोक्ति का अलंकार-शास्त्र मे इतना महत्व कभी नहीं रहा। कुंतक ने तो उसको अलंकार ही नहीं माना 'शरीरं (स्वभावं) चेदलंकारः किमलं कुरुतेऽपरम्' भामह ने वक्रोक्ति को और दण्डी ने अतिशयोक्ति को अलंकारो का मूलाधार माना है—और दोनो ने स्वाभावोक्ति को जो स्थूलतः वक्रोक्ति अथवा अतिशयोक्ति के विपरीत पड़ती है, साधारण अलंकार ही माना है। मम्मट और विश्वनाथ का भी यही मत है। ऐसी दशा मे स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि देव ने स्वभावोक्ति को इतना व्यापक महत्व किस आधार पर दिया? कम से कम किसी प्राचीन आचार्य्य का प्रमाण इस विषय मे नहीं है। अतएव यह देव का अपना रुचि वैशिष्ट्य ही है, यही मानना होगा।

यद्यपि इसका कारण उन्होंने कुछ नहीं दिया फिर भी उनके रसवाद से इस मान्यता का सम्बन्ध स्थापित कर लेना कठिन न होगा। कथन की साधारणतः तीन शैलियाँ हैं—एक वक्रोक्ति जिसमें बात को घुमा फिरा कर कहा जाता है, दूसरी अतिशयोक्ति जिसमे बात को बढ़ा चढ़ाकर कहा जाता है, तीसरी स्वभावोक्ति जिसमे बात को सहज रूप मे अर्थात् बिना किसी घुमाव फिराव—या बढाव चढ़ाव के कहा जाता है। इन तीनो में ही चित्त को चमत्कृत करने की शक्ति है, परन्तु वक्रता और अतिशय में जहाँ बुद्धि का माध्यम अनिवार्य्य है, वहाँ स्वभाव-वर्णन मे उसका महत्व अत्यंत नगण्य है। इसकी पहुंच हृदय में सीधी है– मस्तिष्क मे होकर नहीं है, अतएव पहले दो की अपेक्षा यह मार्ग रसवाद के अधिक निकट है। इसीलिए रसवादी देव ने इसको इतना गौरव दिया है—स्वभावोक्ति से वास्तव मे उनका स्पष्ट अभिप्राय भावो की सीधी अभिव्यक्ति से है जो रसवाद का प्राण है।—व्यापक रूप में विचार करने पर भी, स्वभावोक्ति को इतना गौरव देना अनुचित नहीं माना जा सकता। क्योंकि कोई भी वर्णन जब तक कि वह स्वाभाविक न हो काव्यगुण का अधिकारी नहीं माना जा सकता—अस्वाभाविक वर्णन अपने समस्त अलंकार वैभव के होते हुए भी सहृदय के चित्त का रंजन नही कर सकता। इसीलिए अस्वाभाविकता पर आश्रित विभिन्न दोषों को रस का अपकर्षक कहा गया है। अंत में, तत्व-दृष्टि से भी, स्वाभाविकता—अर्थात् सत्य काव्य-सौंदर्य का अनिवार्य अंग है।

यहाँ तक तो हुई स्वभावोक्ति की बात। परन्तु देव इसके आगे, उपमा को और भी अधिक महत्त्व देकर उसको सभी अलंकारों का मूल मानते हैं। उपमा के उन्होंने एकदेशोपमा, सर्वांगोपमा आदि साधारण भेदों के अतिरिक्त कुछ नवीन भेद भी किये हैं। उदाहरण के लिए अनेक अलंकारों को उपमा का अंगभूत मानते हुए उनके अंत में उपमा जोड दिया है—स्वभावोपमा, निश्चयोपमा, स्मरणोपमा, भ्रमोपमा, सन्देहोपमा, अधिकोपमा, तुल्ययोगोपमा, आक्षेपोपमा, उल्लेखोपमा आदि। इतना ही नहीं जिन स्थितियों में उपमा का प्रयोग हो सकता है उन सबको भी उन्होंने इसके अन्तर्गत खपा दिया है, मानो वे उपमा के स्वतन्त्र भेद हों:—

वैर, प्रीति, मद ईर्षा, क्रीड़ा, वचन, विलास।
स्तुति, निंदा, करुना दया, हर्ष, हास, उपहास॥
सुमृति, सांत, संदेह सुख, निश्चै तर्क विवाद।
उद्यम, आदर, अनादर, मान, प्रमान प्रसाद॥
विनती, छोभन, छमापन, आभाषन, अपमान।
अंगीकार, उदारता, अहंकार, अनुमान॥
उपमा सम्भव, असम्भव, अनुगुन, संग, असंग।
तात्पर्य धुनि, व्यंग्य हूँ, वाच्य, लक्ष्य, साभंग॥

(श० र०—प्रकाश ६)

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब खिलवाड़ है। जहाँ तक कि अनन्वय, सन्देह, स्मरण, भ्रम आदि अलंकारों को उपमा में अन्तर्भूत करने का प्रश्न है, वहाँ तक तो कोई विशेष अन्तर नहीं पडता क्योंकि ये अलंकार वस्तुतः औपम्य-मूलक ही हैं। परन्तु प्रीति, मद, ईर्ष्या आदि संचारियों तथा वैर आदि स्वभाव-वृत्तियों से उपमा का ग्रंथि-बन्धन निरर्थक है; और इसको एक विफल वैचित्र्य-प्रदर्शन के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। उपमा को सब से प्रधान ही नहीं वरन् सभी अलंकारों का मूल आधार मानना देव की मौलिक उद्भावना नहीं है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में वामन ने सब से पूर्व इस सिद्धांत की घोषणा की थी—और हिन्दी में भी देव से पूर्व भूषण इसको ग्रहण कर चुके थे 'भूषन सब भूषननि में उपमा उत्तम चाहि।' जैसाकि अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधार का विवेचन करते हुए कहा गया है; उपमा के मूल में मुख्यतः अपने भाव को स्पष्ट करने की ही प्रवृत्ति रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारी आत्माभिव्यक्ति के लिए इस प्रवृत्ति का अत्यन्त व्यापक महत्त्व है, परन्तु फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आत्माभिव्यक्ति के सभी रूप स्पष्टीकरण के अन्तर्गत नहीं आ सकते हैं। वास्तव में अपनी बात दूसरे पर स्पष्ट करने के लिए भी उसको बढ़ा चढ़ाकर

या नमक मिर्च मिलाकर या कम से कम एक ख़ास अन्दाज़ से कहना ज़रूरी होता है। अतएव स्पष्टीकरण की अपेक्षा प्रभावित अथवा उत्तेजित करने की प्रवृत्ति अधिक मौलिक है, और * वक्रोक्ति अथवा अतिशय जो इस प्रवृत्ति का माध्यम है, स्पष्टीकरण के माध्यम उपमा की अपेक्षा निश्चय ही अधिक मौलिक है।

शब्द-शक्ति और रीति—शब्द-शक्ति का विवेचन शब्द-रसायन के प्रथम प्रकाश ही में मिलता है। यह संस्कृत साहित्य-शास्त्र का अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु महत्त्वपूर्ण विषय है। अधिकांश रीति कवियों का तो इतनी गहराई तक जाने का प्रायः साहस ही नहीं हुआ। कुछ गिने गिनाये आचार्यों ने ही उसको हाथ लगाया है—परन्तु वे भी इसे सुलझा नहीं सके हैं।

देव ने चार शब्द-शक्तियाँ मानी हैं अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना और तात्पर्य। शब्द-रसायन में अभिधा का एक भेद, लक्षणा के तेरह भेद और व्यञ्जना का एक भेद ग्रहण किया गया है। लक्षणा के तेरह भेद इस प्रकार हैं :—
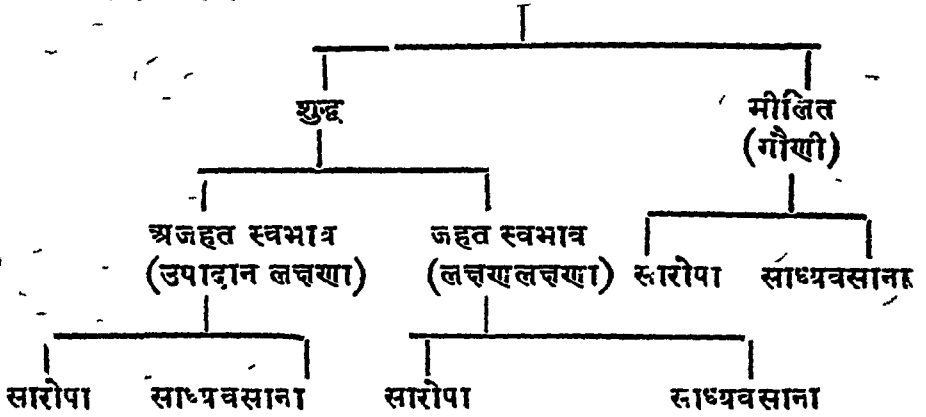
उपर्युक्त सभी प्रकार की लक्षणाओं के फिर दो दो भेद होते हैं अगूढ़-व्यंग्या और गूढ़-व्यंग्या। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के १२ भेद और रूढ़ि का १ भेद मिल कर १३ हो जाते हैं। यह विभाजन काव्य-प्रकाश के अनुसार है, साहित्यदर्पण के अनुसार नहीं है— मम्मट ने केवल १२ ही भेद माने हैं, परन्तु विश्वनाथ ने रूढ़ि के १६ और प्रयोजनवती के ६४ भेद करते हुए उनकी संख्या ८० मानी है।— व्यंजना के मम्मट ने अभिधामूलक व्यञ्जना और लक्षणामूलक व्यञ्जना—ये दो भेद किये हैं, और विश्वनाथ ने इनके अतिरिक्त शाब्दी तथा आर्थी भेद भी किए हैं। परन्तु देव ने सामान्य रूप से व्यञ्जना का एक ही भेद दिया है। फिर इन

---

* भामह द्वारा निर्दिष्ट अर्थ में।

तीनों शक्तियों के मूल आधारों का विवेचन करते हुए उन्होंने प्रत्येक के चार भेदान्तर माने हैं।

अभिधा के :—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा।

लक्षणा के :—कार्य-कारण, सादृश्य, वैपरीत्य और आक्षेप।

व्यञ्जना के :—वचन-विकार, चेष्टा-विकार, क्रिया-विकार और स्वर-विकार।

इनमें अभिधार्थ के चारों आधार-भेद तो वे ही हैं जिनका भामह आदि ने वर्णन किया है, परन्तु लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ के आधार-भेदों में थोडा उलट-फेर कर दिया गया है। लक्ष्यार्थ की प्रतीति के संस्कृत आचार्यों ने मुख्यतः तीन ही कारण माने हैं, मुख्यार्थ का बाध, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध, रूढि अथवा प्रयोजन। देव ने जो चार भेदान्तर दिये हैं वे स्वतन्त्र न होकर मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध के प्रकार भेद हैं—उपादान-लक्षणा में यह सम्बन्ध प्रायः कार्य-कारण अथवा सादृश्य-मूलक होता है, लक्षण-लक्षणा में वैपरीत्य-मूलक और सारोपा एवं साध्यवसाना में आक्षेप-मूलक। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति के उपर्युक्त चार भेदांतर भी स्वतन्त्र नहीं हैं।—संस्कृत साहित्य-शास्त्र में—

संयोगो, विप्रयोगश्च, साहचर्य्यं, विरोधिता,
अर्थः प्रकरणं, लिङ्गः शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः,
सामर्थ्यमौचिती, देशः,कालो व्यक्तिः स्वरादयः,
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेष-स्मृति-हेतवः।

[काव्यप्रकाश]

अर्थात् संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ-प्रकरण, लिंग, अन्य-सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि जो कारण दिये हुए हैं, उनमें से 'स्वर आदि' के अन्तर्गत इन चारों का भी समावेश हो जाता है। मम्मट ने 'आदि' शब्द से स्पष्ट रूप में चेष्टा, संकेत, अभिनय आदि के ग्रहण की ओर निर्देश किया है। देव ने भी अपने भेदान्तर भेदों को पूर्ण नहीं माना है—इनके अतिरिक्त और भी अनेक भेद होते हैं यह उन्होंने असंदिग्ध शब्दों में स्वीकृत किया है :—

यह विधि तीनों वृत्ति के भेदान्तर प्रत्येक,
चारि चारि संक्षेप विधि, बरनत सुमति अनेक।

[श० र०]

जिसका तात्पर्य यह कि अन्य कारण भेदों को भी वे स्वीकार अवश्य

करते थे, परन्तु कुछ तो शायद वैचित्र्य-प्रदर्शन के लिए और कुछ सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से उन्होंने उपर्युक्त चार चार भेदों को ही अंगीकार किया है।

इन तीनों शक्तियों के विषय में देव का यह मत है कि किसी शब्दार्थ में साधारणतः ये तीनो ही ओत-प्रोत रहती हैं, परन्तु जहां जिसका अधिक प्रकाश रहता है वहाँ उसी की स्थिति मानी जाती है :—

तिहूँ शब्द के अर्थ ये तीनिउ ओत प्रोत।
पै प्रवीन ताही कहत, जाको अधिक उदोत॥

[श० र०]

इसी आधार पर उन्होंने तीनो शब्द-शक्तियो के अनेक नये संकीर्ण भेदों की सृष्टि कर डाली है, अभिधा में अभिधा, अभिधा मे लक्षणा, अभिधा में व्यञ्जना, लक्षणा मे अभिधा, लक्षणा में लक्षणा, लक्षणा मे व्यञ्जना, व्यञ्जना में अभिधा, व्यञ्जना मे लक्षणा और व्यञ्जना में व्यञ्जना।—यह सिद्धांत भी साहित्य-शास्त्र के सर्वमान्य सिद्धान्त से थोडा भिन्न है और उतना ही अमान्य भी। संस्कृत के आचार्यों ने तीनों शक्तियों की स्थिति सर्वत्र नहीं मानी है—केवल दो की ही मानी है। उनका मत है कि अभिधा और लक्षणा, दोनो में ही व्यञ्जना व्याप्त रहती है— 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते।' [मम्मट का० प्र० २, ८] इस प्रकार कम से कम दो शक्तियों की स्थिति प्रत्येक अर्थ में मिलती हैं।—वास्तव में यही ठीक भी है, क्योंकि वाच्यार्थ तो साधारणतः सर्वत्र वर्तमान रहेगा ही, व्यंग्यार्थ की स्थिति भी रहेगी, परन्तु लक्ष्यार्थ का अस्तित्व सर्वत्र नहीं माना जा सकता।—यदि ऐसा होता है तो व्यञ्जना के अभिधा-मूलक और लक्षणा-मूलक भेद ही निरर्थक हो जाते है। ध्वनि के प्रसिद्ध उदाहरण 'सांझ होगयी' में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ तो स्पष्ट है, परन्तु लक्ष्यार्थ का आभास भी नहीं है। देव को भी अपने उदाहरणों में लक्ष्यार्थ को सर्वत्र बैठाने के लिए प्रायः क्लिष्ट कल्पना करनी पडी है।

मैं सुनी काल्हि-परौ लगि सासुरे सोचेहु जैहो कहौ सखि सोऊ।
देव कहै केहि भाँति मिलैं, अब को जनि काहि कहौ कव कोऊ।
खेलि तो लेहु भटू संग स्याम के, आजहु की निसि आए हैं वो ऊ।
हों अपने दृग मूंदति हों, घर धाइ के धाइ मिलो तुम दोऊ।

यह उदाहरण प्रयोजनवती लक्षणा का है। परन्तु वास्तव में यहाँ, 'दृग मूंदने' में लक्षणा का आभास थोडा बहुत मान लिया जाए तो दूसरी बात रही, अन्यथा मुख्यार्थ सर्वथा स्पष्ट और अबाधित होने से उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता है। इस पर देव की टिप्पणी है :—

मुख्य अर्थ दुख पूछनो, लक्ष्य कपटतर खेल।
प्रगट व्यंग मेलन दुहू, दूतीपन सो मेल॥
(श० र०)

अर्थात् उनके अनुसार 'कपटतर खेल' लक्ष्यार्थ हुआ, परन्तु यह तो स्पष्टतः ही वाच्यार्थ है—क्योंकि उसमे मुख्यार्थ का किसी प्रकार भी बाध नहीं होता। इसी प्रकार अन्यत्र भी देवने सम्पूर्ण छंद के अर्थ मे लक्षणा मान ली है जो कि साधारणतः सम्भव नही होती। लक्षणा की शक्ति प्रायः वाक्य मे ही कार्य करती है—वाक्य-समूह के सम्मिलित अर्थ में नहीं।

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के अतिरिक्त देव ने तात्पर्य नाम की चौथी शब्द-शक्ति की भी सत्ता को स्वीकार किया है—जिसकी स्थिति तीनो प्रकार के शब्दार्थों में रहती है—'तात्पर्ज चौथो अरथ, तिहूँ शब्द के बीच।' [श० र०] इस वृत्ति के विषय मे प्राचीन मीमांसकों में अत्यन्त मतभेद रहा है। अभिहितान्वयवादी—अर्थात् कुमारिल भट्ट आदि वे मीमांसक जो अभिधा द्वारा उपस्थित अर्थ के अन्वय मे स्वतंत्र रूप से विश्वास करते हैं, यह मानते हैं कि अभिधा शक्ति के एक-एक पदार्थ को अलग-अलग बोधन करके विरत हो जाने पर उन बिखरे हुए पदार्थों को परस्पर सम्बद्ध करके वाक्यार्थ का बोधन करने वाली एक चौथी शक्ति 'तात्पर्य' भी है। इसके विपरीत प्रभाकर गुरु आदि अन्विताभिधानवादी मीमांसकों का यह मत है कि पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध ही उपस्थित होते हैं, असम्बद्ध नहीं—अतः चौथी वृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं, अभिधा से ही कार्य चल जाता है। संस्कृत साहित्य-शास्त्र मे यद्यपि यह वृत्ति अधिक मान्य नहीं हुई परन्तु फिर भी मम्मट ❀ विश्वनाथ आदि अनेक परवर्ती आचार्यों ने इसकी चर्चा की है। धनिक ने उनसे भी पूर्व यह संकेत कर दिया था कि व्यंजना का अंतर्भाव तात्पर्य शक्ति मे ही हो जाता है। हिन्दी मे भी देव से पूर्व चिंतामणि ने इसका उल्लेख किया है। देव ने इसे असंदिग्ध रूप में स्वीकार कर उपर्युक्त परम्परा मे ही अपना सम्बन्ध स्थापित किया है, कोई नवीन उद्भावना नहीं की।

रीति-गुण :—रीति-गुण का विवेचन भी देव ने काव्य-रसायन में ही किया है। रीतियों को उन्होंने काव्य का द्वार मानते हुए, रस से उनका अभिन्न सम्बन्ध माना है—"ताते पहिले बरनिए काव्य-द्वार रस-रीति।"

काव्य पुरुष के रूपक मे रीति की समता अंग-संस्थान मे की गई है। देव

❀ तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद् बोधकं परे॥
[साहित्यदर्पण द्वि० प०]

का द्वार से तात्पर्य माध्यम है। इस प्रकार इस विषय में देव का मत प्राचीन मत से लगभग मिल ही जाता है क्योंकि शरीर भी तो आत्मा की बाह्य अभिव्यक्ति का माध्यम ही है। परन्तु एक बात बड़ी विचित्र मिलती है : वह यह कि उन्होंने रीति और गुण को एक कर दिया है—या यों कहिए की रीति शब्द का सर्वत्र गुण के स्थान पर प्रयोग किया है। संस्कृत और हिन्दी के भी आचार्यों ने वैदर्भी, गौड़ी आदि को रीति कहा है, और प्रसाद, ओज आदि को गुण। यह ठीक है कि गुण रीति की आत्मा है और रीतियों का वर्गीकरण गुणों के ही आधार पर हुआ है—परन्तु इन दोनों का एकीकरण किसी ने नहीं किया। देव ने वैदर्भी, पाञ्चाली का उल्लेख तक न कर प्रसाद, ओज, माधुर्य्य आदि का ही रीति नाम से वर्णन किया है। यह मानना तो निरर्थक होगा कि देवको इन दोनों के विषय में कोई भ्रांति थी। वास्तविकता यही है कि उन्होंने जानबूझ कर ऐसा किया है। परन्तु कारण कुछ भी हो यह एकीकरण संगत किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि रीति गुण की अपेक्षा अधिक व्यापक है—एक एक रीति के अंतर्गत अनेक गुणों का समावेश हो जाता है।

भरत ने दश गुण माने हैं :—१. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य्य, ६. ओजस, ७. सौकुमार्य्य, ८. अर्थव्यक्ति, ९. उदार, १०. कांति। भरत के उपरान्त दण्डी और वामन दोनों ने लक्षणों में परिवर्तन-परिशोधन करते हुए इनको ही स्वीकार किया है—दण्डी और वामन ही एक प्रकार से रीति-गुण सम्प्रदाय के अधिनायक हैं। परन्तु आगे चलकर ध्वनिकार ने गुणों की संख्या दस से घटाकर तीन करदी—उन्होंने माधुर्य्य, ओज और प्रसाद में ही शेष सात गुणों का अंतर्भाव कर दिया।—मम्मट आदि ने भी इन्हीं को स्वीकृति दी और तब से प्रायः ये तीन गुण ही प्रचलित रहे हैं। परन्तु देव ने इस विषय में पूर्व-ध्वनि परम्परा का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त दस गुणों (रीतियों) को ग्रहण किया है—वरन् उन्होंने तो अनुप्रास और यमक को भी गुणों (रीतियों) के अंतर्गत मानते हुए उनकी संख्या बारह तक पहुंचा दी है। यमक और अनुप्रास को रीति (गुण) मानना साधारणतः असंगत है क्योंकि गुण काव्य की आत्मा का धर्म है, दूसरे शब्दों में काव्य का स्थायी धर्म है, इसके विपरीत यमक और अनुप्रास रस के आंतरिक तत्व न होने से काव्य के अस्थायी धर्म हो रहेंगे। परन्तु देव की इस स्थापना से एक महत्त्वपूर्ण संकेत अवश्य मिलता है : वह यह कि पण्डितराज जगन्नाथ की भांति वे गुणों की स्थिति अर्थ के साथ-साथ वर्णों मे भी मानते हैं। उपर्युक्त दस गुणों के विवेचन में उन्होंने भरत और वामन की अपेक्षा प्रायः दण्डी का ही अनुसरण किया।—क्रम भी बहुत कुछ दण्डी से ही मिलता है, लक्षण तो

कहीं कहीं काव्यादर्श से अनूदित ही कर दिए गए हैं—उदाहरण के लिए समाधि गुण का लक्षण लीजिए :

समाधि

और वस्तु को सार लै, धरै और ही ठौर,
लोक सींव उलँघै अरथ, सो समाधि कवि मौर।

[देव—शब्द-रसायन]

अन्य धर्मस्ततोन्यत्र, लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र, स समाधिः स्मृतः।

[दण्डी—काव्यादर्श]

इसी प्रकार श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, और ओज के लक्षण प्रायः दण्डी के ही अनुसार हैं। केवल दो गुण ही ऐसे रह जाते हैं जिनके लक्षण भरत, दण्डी और वामन तीनों से भिन्न हैं : कांति और उदारता। कांति गुण में देव के अनुसार, सुरुचिपूर्ण चारु वचनावली होनी चाहिए जिसमें लोकमर्यादा की अपेक्षा कुछ विशेषता हो और जो अपने इस गुण के कारण लोगों को सुखकर हो :

अधिक लोक मर्जाद ते, सुनत परम सुख जाहि।
चारु बचन ये कांति रुचि, कांति बखानत ताहि॥

[शब्द-रसायन]

इस लक्षण का शेष भाग तो दण्डी से मिल जाता है, परन्तु दण्डी जहाँ लोक-मर्यादा के अनुसरण को (लौकिकार्थनातिक्रमात्) अनिवार्य मानते हैं वहाँ देव में उसके अतिक्रमण का स्पष्ट उल्लेख है। दण्डी के अनुसार तो अप्राकृतिकता अथवा अस्वाभाविकता का बहिष्कार करते हुए लौकिक-मर्यादा के अनुकूल स्वाभाविक वर्णन करना ही कांति गुण का मुख्य-तत्व है। वामन ने समृद्धि—अर्थात् औज्ज्वल्य और रस-दीप्ति को कांति गुण का सार-तत्व माना है—जिसके लिए साधारण प्रचलित शब्दावली का बहिष्कार अनिवार्य है। देव ने या तो दण्डी का अभिप्राय नहीं समझा—या फिर कुछ पाठ की गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त एक सम्भावना यह हो सकती है कि 'अधिक लोक मर्जादते' से देव का अभिप्राय कदाचित् वामन द्वारा निर्दिष्ट साधारण वचनावली के बहिष्कार का ही हो—परन्तु यह कुछ क्लिष्ट कल्पना ही लगती है। इसी प्रकार उदारता के लक्षण में भी 'यस्मिन् उक्ते (जाहि सुनत ही'), तथा 'उत्कर्ष' आदि शब्द देव ने दण्डी

से ही लिए हैं, परन्तु दण्डी जहां उत्कर्ष की भावना को उदारता का प्राण मानते हैं, वहाँ देव का कहना है

जाहि सुनत ही ओज को दूरि होत उत्कर्ष।

[शब्द-रसायन]

ओज का उत्कर्ष दूर होने से उनका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। प्रयत्न करने पर यही अर्थ निकाला जा सकता है कि उदारता में एक प्रकार का उत्कर्ष होता है, जो ओज के उत्कर्ष से भिन्न होता है—या फिर यहाँ भी प्रतिलिपिकार की कृपा से पाठ की कुछ उलट फेर है।

इस प्रसंग में भी देव ने एक नवीन उद्भावना कर डाली है—वह यह है कि आपने प्रत्येक रीति (गुण) के दो भेद माने हैं—नागर और ग्राम्य। इन दोनों में यह अंतर है कि नागर रीति में सुरुचि का प्राधान्य होता है, ग्राम्य मे रस का आधिक्य होते हुए भी सुरुचि का अभाव रहता है।

नागर गुन आगर, दुतिय रस सागर रुचि हीन।

[शब्द-रसायन]

वैसे दोनों की अपनी अपनी विशेषता है—एक को उत्कृष्ट और दूसरी को निकृष्ट कहना अरसिकता का परिचय देना होगा।—देव की अन्य उद्भावनाओं की भाँति यह भी महत्वहीन ही है और एक प्रकार से असंगत भी। क्योंकि पहले तो मानव स्वभाव में नागर और ग्रामीण का मूलगत भेद मानना ही युक्ति गत नहीं है (देव अपने उदाहरणों द्वारा यह अंतर स्पष्ट करने में प्रायः असफल रहे हैं), फिर यदि इस स्थूल भेद को स्वीकार भी कर लिया जाए, तो कांति, उदारता आदि कतिपय गुण ऐसे हैं जिनके लिए अग्राम्यत्व अनिवार्य है। ऐसी दशा में इनके भी नागर और ग्रामीण भेद करना इनकी आत्मा का ही निषेध करना है।

शब्द-शक्ति, रीति, गुण आदि के अतिरिक्त देव ने कैशिकी, आरभटी सात्वती और भारती वृत्तियों का वर्णन भी किया है जो कि श्रव्यकाव्य का अंग न होकर दृश्य काव्य का ही अंग मानी जाती हैं। शृङ्गार, हास्य, और करुण मे कैशिकी (कौशिकी), रौद्र, भयानक और बीभत्स में आरभटी, वीर, रौद्र, अद्‌भुत और शांत में सात्वती; तथा वीर हास्य और अद्‌भुत मे भारती वृत्ति का प्रयोग होता है। संस्कृत में नाट्य-शास्त्र, दश रूपक, साहित्य-दर्पण आदि में भी रसों के अनुक्रम से ही इनका विवेचन है—परन्तु देव का आधार यहाँ भी उपर्युक्त ग्रंथ

न होकर केशवदास की रसिक-प्रिया ही है। रसिक-प्रिया में ठीक इसी क्रम से इनका रसों के साथ सम्बन्ध बैठाया गया है, एक थोड़ा सा अन्तर यह है कि सात्वती के अन्तर्गत शृङ्गार के स्थान पर देव ने रौद्र को माना है; बस, परन्तु केशव में शायद यह लिपि-दोष है।

पिंगल—संस्कृत के साधारण रीति-ग्रन्थों में पिंगल को नहीं लिया गया है। उसके ग्रंथ स्वतन्त्र ही हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं, एक तो यह कि पिंगल काव्य के मूल तत्वों मे से नहीं है, और दूसरा यह कि इस प्रसंग में बँधे हुए लक्षण देने के अतिरिक्त किसी प्रकार के तात्विक विवेचन के लिए स्थान ही नहीं है। हिन्दी में भी प्रायः इसी परम्परा का अनुसरण किया गया है। परन्तु देव ने अपनी काव्य की परिभाषा में रस, भाव, और अलंकार के साथ छंद का भी उल्लेख किया है, इसलिए सापेक्षिक महत्त्व के अनुसार शब्द-रसायन के अंतिम भाग में उन्होंने उसका भी वर्णन कर दिया है। छंद को उन्होंने कविता कामिनी की गति माना है। इस प्रसंग में कवि ने लघु, गुरु, गण, देवता, फल आदि का परिपाटी-युक्त वर्णन करने के उपरांत, फिर केवल उन वर्णिक एवं मात्रिक छंदों का विवरण दिया है जो हिन्दी में प्रचलित हैं। वर्णवृत्त के ३ भेद माने है :—गद्य—जिसमें कोई संख्या नही होती; पद्य जिसमें एक गण अर्थात् तीन वर्णों से लेकर २६ वर्ण तक होते हैं, [नाड़ी से लेकर सवैया तक अनेक प्रकार के छंद इसके अंतर्गत आ जाते है]; और दण्डक जिसमें २७ से ३३ वर्ण तक होते हैं। मात्रिक छंदों में दोहा से लेकर, चौपैया, अमृत ध्वनि, आदि का वर्णन है।

पिंगल वास्तव में विवेचन का विषय न होकर वर्णन का ही विषय है, अतएव मुख्यतया इसकी वर्णन-शैली मे ही थोड़ी बहुत नवीनता लाई जा सकती है। इस प्रसंग में देव के दो-तीन प्रयत्न उल्लेखनीय हैं :—(१) छंद का लक्षण और उदाहरण उसी छंद में दिया गया है। यह शैली संस्कृत के पिंगल ग्रन्थों में भी ग्रहण की गई है—उदाहरण के लिए वृत्तरत्नाकर या छंदोमञ्जरी में। बाद में हिन्दी में भी छंद प्रभाकर आदि मे इसका प्रयोग मिलता है। (२) सवैया के विभिन्न भेदों के लक्षण भगण द्वारा किए गए हैं। यह एक नई सूझ अवश्य है, परन्तु इससे विद्यार्थी की कठिनाई बढ़ ही जाती है, उसको कोई विशेष लाभ नहीं होता। दूसरे अकेला भगण विभिन्न सवैयाओं की गति का पूर्णतः द्योतन करने में भी असमर्थ रहता है। (३) सवैया और घनाक्षरी के कुछ नवीन भेद भी दिए हैं—सवैया : मञ्जरी, ललित, सुधा, अलसा। ये चार भेद सवैया के साधारण भेदों के अतिरिक्त हैं, और देव ने इनको 'नवीन' मतके अनुसार माना है। घनाक्षरी में ३१-३२ वर्णों की घनाक्षरियों के अतिरिक्त देव ने ३३ वर्ण की घनाक्षरी भी मानी

है—जो आज 'देव घनाक्षरी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये उद्भावनाएं वास्तव में महत्वपूर्ण हैं, परन्तु इनसे देव के आचार्य रूप की अपेक्षा उनके कलाकार-रूप पर ही अधिक प्रकाश पड़ता है। अन्त में, देव ने मेरु, पताका, मर्कटी, नष्ट और उद्दिष्ट को केवल कौतुक का विषय मानते हुए उनको त्याज्य बताया है।

सामान्य काव्य-सिद्धान्त और सम्प्रदाय :—देव विशुद्ध रसवादी थे—उन्होंने कई स्थानों पर स्पष्ट शब्दों में रस को काव्य की आत्मा कहा है।

(१) काव्य सार शब्दार्थ को रस तेहि काव्य सुसार।

[शब्दरसायन]

(२) ताते काव्य (हिं ?) मुख्य रस, जामें दरसत भाव।

(३) अलंकार भूषण, सुरस जीव, छंद तन भाखें।

तन भूषण हू बिन जिये, बिन जीवन तन राखें॥

[श० र०]

विश्वनाथ की यह रसवादी परम्परा उन्हें भानुदत्त से प्राप्त हुई थी। संस्कृत साहित्य-शास्त्र में पहले रस को अलंकार का अंग मानते हुए उसका विवेचन हुआ, फिर ध्वनिकार और उनके अनुसरण पर मम्मट आदि ने ध्वनि का अंग मान कर उसका विवेचन किया। विश्वनाथ ने इस परिपाटी को भंग करते हुए स्वतंत्र रूप में रस का निरूपण किया और ध्वनि को पृथक् परिच्छेद में ही दिया। हिंदी के रीतिकारों ने भी प्रायः इसी परिपाटी को ग्रहण किया है। देव ने रस को सबसे महत्वपूर्ण काव्य-तत्व मानते हुए उसका अन्य तत्वों की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत विवेचन किया है। रस के अतिरिक्त, रीति, अलंकार आदि अन्य अंगों को भी उन्होंने उचित गौरव दिया है, परन्तु ध्वनि को वे बिल्कुल ही उड़ा गए हैं। रीति को उन्होंने काव्य का द्वार—अथवा रसाभिव्यक्ति का माध्यम माना है, अलंकार को भूषणवत् मानते हुए उसके महत्व को भी मुक्तकण्ठ से स्वीकृत किया है :

सो रस बरसत भाव बस, अलंकार अधिकार।

या,—कविता कामिनि सुखद पद, सुवरण सरस सुजाति।

अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति॥

[श० र०]

काव्य पुरुष का रूपक उन्होंने भी बाँधा है—उसके अनुसार छंद-बद्ध शब्दार्थ काव्य का शरीर है—छंद को एक स्थान पर गति भी कहा गया है

अलंकार भूषण हैं, रस आत्मा है। समर्थ काव्य के लिए वे शब्द, अर्थ, रस, भाव, छंद और अलंकार को आवश्यक मानते हैं :

शब्द सुमति मुख ते कढै, लै पद बचननि अर्थ,
छंद भाव भूषन सरस, सो कहि काव्य समर्थ।

[श० र०]

अर्थात् समर्थ काव्य वह है जिसमें अर्थयुक्त शब्द सरस भावों का वहन करते हुए अलंकार सहित, छन्द-बद्ध रूप में हमारे सम्मुख प्रकट हों।

ध्वनि की देव ने इतनी उपेक्षा क्यों की है, यहाँ पर यह प्रश्न स्वभावतः ही उठता है। एक कारण यह हो सकता है कि ध्वनि तो काव्य के सभी तत्वों में वर्तमान रहती है, अतएव उसका पृथक् विवेचन नहीं किया गया, परन्तु ऐसा नहीं है। उनके विवेचन में इस प्रकार के संकेत हैं जिनसे उनका ध्वनि-विरोध स्पष्ट लक्षित होता है—उदाहरण के लिये अलंकारों में स्वभावोक्ति को विशेष महत्व देना, अथवा अभिधा को उत्तम काव्य मानते हुए व्यंजना को रस-कुटिल एवं अधम काव्य मानना :—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षना लीन,
अधम व्यंजना रस-कुटिल, उलटी कहत नवीन।

[श० र०]

जैसा कि मैंने शब्द-रसायन के विवेचन मे कहा है इसमें सन्देह नही कि इस उक्ति के सन्दर्भ पर विचार करने से व्यंजना की यह अधमता बहुत कुछ उसकी (व्यंग्य-व्यंजक) पात्र परकीया पर प्रक्षिप्त हो जाती है, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि देव ने व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य को ही अधिक महत्व दिया है। वास्तव में यह शुद्ध रसवाद के आग्रह का परिणाम है। अपने काव्य में भी उन्होंने भाव की सहज अभिव्यक्ति के बल पर ही प्रायः रस-सृष्टि की है। बिहारी की भाँति संकेतों के बल पर नहीं। शुद्ध रसवाद की प्रतिष्ठा स्पष्ट रूप से काव्य में कल्पना-तत्व पर अनुभूति (राग) तत्व की ही विजय घोषणा है। विश्वनाथ से पूर्व भी जिन्होंने रस के महत्व को उद्घोषित किया है वे भी व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ पर ही अधिक निर्भर रहे हैं। रसवाद के सब से प्रबल पृष्ठ-पोषक भवभूति का काव्य इसका प्रमाण है। तात्पर्य यह है कि देव की इस उक्ति पर किसी प्रकार चौंकने की आवश्यकता नहीं है। इसको पृथक् रूप में न देख कर अन्य सिद्धान्तों के साहचर्य में ही देखिये। शब्द शक्तियों में अभिधा का प्राधान्य, अलंकारों में स्वभावोक्ति का

प्राधान्य रस के तत्वों में भाव का प्राधान्य, रस के पात्रों में शुद्ध-स्वभावा स्वकीया का प्राधान्य; अंत में काव्य के तत्वों में रस का प्राधान्य--ये सभी सिद्धान्त परस्पर सम्बद्ध हैं और इन सब का मूल आधार विशुद्ध रसवाद ही है।

आलोचना शक्ति :—देव के रीति विवेचन का सम्यक् परीक्षण करने के उपरांत अब हम इस स्थिति में हैं कि उनकी आलोचना शक्ति का मूल्यांकन कर सकें। सब से पहले तो मौलिकता को ही लीजिये। इस दृष्टि से देव को अथवा हिन्दी के किसी भी रीतिकार को वास्तव में विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता। उनके रस-प्रसंग में जिन कतिपय नवीनताओं का आभास मिलता है, वे प्रायः सभी भानुदत्त की रस-तरंगिणी से ग्रहण की गई हैं। नायिका-भेद में उन्होंने केशव के माध्यम से विश्वनाथ तथा भानुदत्त का अनुसरण किया है। यहाँ देश आदि क्रम से जो विस्तार हुआ है, उसके लिये भी कम से कम संकेत संस्कृत में अवश्य मिल जाते हैं। हिन्दी में तो रहीम ने भिन्न-भिन्न जाति-वर्णों की नायिकाओं का वर्णन किया ही है। इसके अतिरिक्त अलंकार, शब्द-शक्ति और रीति-गुण के विवेचन में कोई विशेष उल्लेखनीय नवीनता ही नहीं है। कुछ नवीन संगतियाँ बैठाने का प्रयत्न उन्होंने अवश्य किया है, परन्तु वे भी अधिक तर्क-सम्मत एवं गम्भीर नहीं हो पाई हैं। उनमें कुछ तो स्पष्ट ही भ्रांतिपूर्ण हैं। देव की मौलिकता वास्तव में विस्तार बढ़ाने तथा वर्ग बाँधने तक ही सीमित रही है, और इस क्षेत्र में भी उन्हें ऐसी सफलता नहीं मिली कि भारतीय रीति-शास्त्र पर किसी प्रकार भी उनका ऋण माना जाये। देव या हिन्दी के अन्य रीतिकारों के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि उनके समय तक संस्कृत रीति-शास्त्र इतना विकसित और विस्तृत हो चुका था कि अब उसमें किसी प्रकार की मौलिक उद्भावनायें करना सहज सम्भव नहीं था। स्वयं संस्कृत में भी अभिनव गुप्त, कुंतक और महिमभट्ट के उपरांत मौलिक प्रतिपादन समाप्त हो चुका था। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ स्वीकृत सिद्धांतों के व्याख्याता ही थे मौलिक उद्भावक नहीं। इन पण्डितों के आचार्यत्व का आज इसी रूप में गौरव है। परन्तु देव और उनके सहयोगी इस कर्त्तव्य को निबाहने में भी असमर्थ रहे। साहित्य के सूक्ष्म सिद्धान्तों के विवेचन में देव प्रायः असफल हुए हैं। उनके पद्यबद्ध लक्षण अस्पष्ट हैं, उनमें कहीं-कहीं छन्द पूर्ति के कारण ही ऐसे शब्द आ गये हैं जो अर्थ मे विघ्न उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण का कौनसा चरण लक्षण से सम्बद्ध है इसका पता लगाना कठिन पड़ता है, कहीं कहीं लक्षण और उदाहरण एक दूसरे से मेल ही नही खाते। रस के प्रसंग में तो कवि के मनोयोग के कारण कहिये या सिद्धान्त और स्वभाव के सामञ्जस्य के कारण कहिये, स्पष्टता मिलती भी है; परन्तु अलंकार, रीति-गुण, शब्द-शक्ति आदि के विवेचन तो एक प्रकार के गोरख-

ग्रन्थ हैं जिनमें लक्षण को पकड़िये तो उदाहरण का तारतम्य हाथ नहीं बैठता है, और उदाहरण को सुलझा लीजिये तो लक्षण हाथ से छूट जाता है। उपर्युक्त प्रसंगों का कोई भी स्थल मेरे कथन की सत्यता प्रमाणित करने मे समर्थ होगा, उसके लिये आपको उदाहरण ढूँढने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। भ्रांतियों की भी कमी नहीं है। कुछ तो पद्य के बंधनों के कारण अर्थ में थोडी दुरूहता स्वभावतः ही आ गई है, परन्तु वास्तविक भ्रांतियाँ भी कम नहीं हैं। साथ ही कवि इस ओर सतर्क भी नहीं रहा। अलंकारों के विवेचन मे उसने कितनी असावधानी और जल्दबाजी से काम लिया है! भला जिन सूक्ष्म अन्तरों को संस्कृत के आचार्य सूत्र, वृत्ति और कारिका देकर भी स्पष्ट नहीं कर पाये, उनको देव एक छन्द में कई २ अलंकारों को ठूँसकर कैसे सुलझाते? कहने का तात्पर्य यह है कि सभी दोष छंद की सीमाओं के मत्थे नहीं मढे जा सकते हैं। इनका सम्बन्ध कवि की प्रतिभा और स्वभाव से भी है। इस कवि का भावपक्ष जितना समृद्ध था, उतना विचार-पक्ष नहीं था। अपनी तीव्र संवेदना के कारण भावों के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों का ज्ञान तो उन्हें सहज ही हो जाता था, और कल्पना तथा अध्ययन के आधार पर वे उनकी संगतियाँ भी थोड़ी बहुत बैठा लेते थे। परन्तु इन भेद-प्रभेदों की सीमा रेखाओं को पृथक् पृथक् कर देखने वाली वस्तु-परक, विश्लेषण शक्ति, और उसके साथ ही उनके अंतर्गत मिलने वाले तारतम्य को पकड़ कर विशेष तथ्यों को सामान्य रूप में स्थिर करने वाली संश्लेषण शक्ति उनमें अत्यन्त अल्पमात्रा में थी। परिणाम यह हुआ कि उनका रीति-कथन आलोचनात्मक न होकर वर्णनात्मक ही रह गया है। काव्य के मूल तथ्यों की अनुभूति तो वे स्वच्छता और गहराई से कर सकते थे, परन्तु प्रतिपादन नहीं। अनुभूति की इस सचाई से उन्हें दृष्टि की स्थिरता अवश्य प्राप्त हो गई थी। उदाहरण के लिये रसवाद को उन्होंने अनुभूति के द्वारा इतनी सचाई से पकड लिया था कि अपने किसी भी ग्रन्थ में, काव्य के किसी भी प्रसंग के विवेचन में वे उससे विचलित नहीं हुए। कारण यही था कि इस सिद्धांत को उन्होंने बुद्धि से ग्रहण नहीं किया था हृदय से ग्रहण किया था। किन्तु विवेक और बुद्धि की वह दृढ़ता, जो इस स्थिरता को प्रौढ़ता और बल देती, उनके पास नहीं थी। फलतः उनकी स्थापनायें या तो एकांगी होकर रह गई हैं, या अपुष्ट और या फिर कौतूहल का विषय बन गई हैं। उदाहरण के लिये उपमा को सब अलंकारों का मूल आधार मानने वाला सिद्धांत एकांगी है, तीन तीन रसों के वर्ग वाला सिद्धांत अपुष्ट है और अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के संकर भेदों का प्रस्तार केवल कौतूहलमय। देव का विवेक वस्तुतः वास्तव में इतना दुर्बल था कि विस्तार के जोश में प्रायः सुरुचि कुरुचि का भी भेद वे नहीं कर सकते थे। नायिका-भेद का प्रस्तार करते करते खर और काक संबंधों वाली नायिकाओं तक को वे रस के आलम्बन के अंतर्गत खींच लाये।

सारांश यह है कि आलोचक की दृष्टि से देव का मुख्य गुण है उनका रस-संवेदन। हिन्दी रीति-साहित्य में रस-सिद्धांत का इतना समर्थ एवं व्यापक प्रतिपादन दूसरा कवि नहीं कर पाया। इस दृष्टि से ही उनका गौरव है। इसके अतिरिक्त न तो उनकी तथाकथित मौलिक उद्भावनायें; और न उनका भेद-प्रस्तार ही कुछ विशेष महत्व रखता है।

देव की कला

(अ) चित्रण-कला और अभिव्यञ्जना

कला शब्द का प्रयोग यहाँ हम स्थूल अर्थ में कर रहे हैं। वास्तविक अर्थ में तो किसी कवि की कला उसके सम्पूर्ण आत्म की अभिव्यक्ति होती है। विभिन्न अनुभूतियों से निर्मित उसका आत्म अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न करता हुआ सहज-रूप में रंग, रेखा, शब्द आदि में बँधा जो आकार प्राप्त कर लेता है वही उसकी कला है। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है, एक अवचेतन, दूसरा चेतन। अवचेतन प्रयत्न द्वारा कलाकार मन में अनुभूति का साक्षात्कार करता है। अवचेतन प्रयत्न इतना सहज और सूक्ष्म होता है कि उसे स्वयं इसका ज्ञान नहीं होता। इसके उपरांत फिर वह सुचेत होकर उस अनुभूति को रेखा, रंग, शब्द आदि में बाँधने का प्रयत्न करता है। यह दूसरा प्रयत्न निश्चय ही स्थूल होता है; क्योंकि इसके साधन—रेखा, रंग, शब्द आदि सभी तो स्थूल हैं। तत्व-दृष्टि से वास्तव में अवचेतन प्रयत्न ही मुख्य है। क्रोचे ने तो कला का पूर्ण कृतित्व उसी में मानते हुए चेतन-प्रयत्न को सर्वथा प्रासंगिक माना है। परन्तु फिर भी पहला यदि आत्मा है तो दूसरे को शरीर अवश्य मानना पड़ेगा, और आत्मा के स्वरूप को समझने के लिए शरीर का अध्ययन जितना महत्व रखता है, उतना महत्व हमें इस वाह्य प्रयत्न को अवश्य देना पड़ेगा।

देव ने अपनी रसानुभूतियों को व्यक्त करने के लिए काव्य के किन मूर्त उपकरणों का प्रयोग किया है, प्रस्तुत प्रसंग में इसी का विवेचन करना हमारा उद्देश्य है। अस्तु!

अनुभूति को आकार देने का सबसे सहज माध्यम है चित्र। क्योंकि आकार मूलतः चित्र-रूप ही तो होता है। अनुभूति निराकार होती है। उसका चित्र तो सम्भव नहीं। उसको व्यक्त करने के लिए कलाकार या तो अनुभोक्ता की मूर्त चेष्टाओं का अंकन करता है, या फिर अनुभोक्ता की वासना में रंगे हुए अनुभूति के विषय अथवा पात्र के रूप का चित्रण। संस्कृत के रसाचार्य ने इस तथ्य को पूर्ण-रीति से ग्रहण करते हुए पहले को अनुभाव-विधान और दूसरे को आलम्बन-विधान कहा है। देव की अनुभूति एकान्त शृंगारिक अनुभूति है, अतएव उन्होंने मुख्यतः शृंगार के ही आलम्बन, और आश्रय की चेष्टाओं के (अनुभावों के) मधुर चित्र अंकित किए हैं।

पहले कुछ पूरे रूप-चित्र लीजिए :—

पीत रंग सारी गोरे अंग मिलि गई 'देव' श्रीफल उरोज आभा आभासै अधिक-सी।
छूटी अलकनि झलकनि जल कननि की, बिना बेंदी बंदन बदन-सोभा बिकसी॥
तजि तजि कुंज जेहि ऊपर मधुर पुंज गुंजरत मंजुरव बोलै बाल पिक-सी।
नैननि हँसाइ नेकु नीबी उकसाइ, हँसि, ससि-मुखी सकुचि, सरोवर ते निकसी॥

इस चित्र में रंगों का प्रयोग नहीं है, इसका सौन्दर्य वाञ्छित अवयवों के चयन पर आश्रित है। पीत रंग की साड़ी का भीग कर नायिका के गोरे अंगों में लिपट जाना और उन्हीं में मिल जाना, वस्त्र के शरीर से चिपक जाने के कारण श्रीफल जैसे सुडौल उरोजों का विशेष-रूप से व्यक्त हो जाना, बिखरी हुई अलकों से जलकणों का झलकना, माथे की बिन्दी और मांग का सिंदूर धुल जाने पर मुख की सहज शोभा का निखर आना, नेत्रों में हँसना, अंत में थोड़ा नीवी को उकसाना और संकोच से झुककर धीरे से सरोवर से बाहर आ जाना—ये सभी संकेत अपने में अत्यन्त मनोरम होने के अतिरिक्त चित्र की दृष्टि से भी सर्वथा सटीक हैं। इसमें रूप के तत्वों को बड़ी सूक्ष्म-दृष्टि से पकड़कर एक अविकल सौन्दर्य-चेतना के द्वारा संश्लिष्ट कर दिया गया है जिसके कारण चित्र पूर्ण हो गया है। तीसरी पंक्ति में परम्परा के अनुरोध-वश भौंरों के मंडराने का उल्लेख थोड़ा अस्वाभाविक हो गया है, परन्तु इतने संकेतों में यह एक संकेत छिप जाता है। स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने 'बोलै बाल पिकसी' पर भी आक्षेप किया है। परन्तु हम समझते हैं यह अधिक अप्रासंगिक नहीं है। इसने चित्र के दृश्य-रूप में मुखरता का एक स्पर्श भी दे दिया है। उपर्युक्त चित्र में हाव का वर्णन होने के कारण, उसके अवयव प्रायः स्थिर ही हैं। नीचे के छंदों में गतिशील चेष्टाओं के द्वारा गतिमय चित्र का अंकन किया गया है :—

पीछे परबीनै-बीनै संग की सहेली, आगे
भार उर भूषन डगर डारै छोरि-छोरि।
मोरे मुख मोरनि त्यों, चौंकति चकोरनि त्यों,
भौंरनि की भीर भीरु देखै मुख मोरि-मोरि॥
एक कर आली कर ऊपर ही धरे, हरे—
हरे पग धरै देव चलै चित चोरि-चोरि।
दूजे हाथ साथ लै सुनावति वचन, राज—
हंसन चुनावति मुकुत-माल तोरि-तोरि॥

ऐसे चित्रों में मुख्यतः चित्र-सामग्री के चयन में अर्थात वांछित के ग्रहण और अवांछित के त्याग में ही कलाकार अपना कौशल दिखलाता है। इस दृष्टि से देव को विशेष सफलता वाञ्छित तत्वों के ग्रहण और प्रेरक भाव द्वारा उनको

अन्वित करने में ही मिली है। अवाञ्छित का त्याग वे सब जगह सफ़ाई से नहीं कर पाते हैं। बिहारी अवाञ्छित का त्याग बड़ी सफ़ाई से करते हैं; परन्तु उनके चित्रों भावान्विति अपेक्षाकृत क्षीण रहती है। यदि और भी अधिक गति-वेग का चित्र देखना हो तो नीचे की चार पंक्तियाँ लीजिए :—

भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल 'देव',
खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि बंक मैं।
चूल्हे चढ़े छाँडे, उफनात दूध भाँड़े,
उन सुत छाँडे अंक, पति छाँड़े परजंक मैं॥

उपर्युक्त पंक्तियों में हड़बड़ी का अत्यंत सजीव चित्र है।

ये सभी पूरे चित्रों के उदाहरण हैं। इनमें अनेक रेखाओं के द्वारा चित्र के विभिन्न अवयवों को उठाया गया है। परंतु कुछ चित्र एक रेखा को ही विशेष-रूप से उभार कर बनाये जाते हैं, और रेखाएँ केवल ख़ाके को भरने के लिए होती हैं। चित्र में प्राण इसी उभरी हुई रेखा से आते हैं :

प्यारी सँकेत सिधारी सखी सँग स्याम के काम सँदेसनि के सुख।
सूनौ इतै रँग-भौन चितै चित मौन रही चकि चौंकि चहूँ रुख॥
एक ही बार रही जकि ज्योंकि त्यों भौंहनि तानि कै मानि महा दुख।
देव कछू रद बीरी दबी री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख॥

यहाँ आरम्भ में कुछ अतिरिक्त रेखाओं का प्रयोग हुआ है। जैसे, नायिका का रंगभवन को सूना पाकर चारों ओर चकित दृष्टि डालना और चुप हो जाना, भौंहों को तान कर ज्यों का त्यों रह जाना, परन्तु ये केवल ढाँचा तैयार करती हैं। चित्र में सजीवता आती है अंतिम रेखा से ही—जिसको स्पष्टतः कवि ने गहरा कर दिया है :—'देव कछू रद बीरी दबी री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख।' काव्य में जो कार्य व्यन्जना करती है, चित्र में वह प्रायः रेखा द्वारा होता है, इसीलिए जब कभी व्यन्जना को सूक्ष्म करना होता है तो कलाकार व्यन्जक रेखा को हल्की कर देता है। देव चित्रण के इस रहस्य से भी सहज-रूप से परिचित थे, और स्थान-स्थान पर उन्होंने इसका प्रयोग किया है। रात्रि में रंगभवन का चित्र है। मिलन के लिए आतुर नायक प्यार से नायिका को पान देता है, पर वह हँस कर भौंह मरोड़ लेती है। इस पर ललचा कर नायक बाँह पकड़ लेता है, तो नायिका स्पष्ट ही मुँह से मना कर देती है कि सखियाँ सभी हमसे अवस्था में बड़ी हैं—इस प्रकार ढिठाई करना ठीक नहीं है। बेचारा नायक अब ललचाई आँखों से देख ही सकता है। परंतु नायिका उसे थोड़ा और तंग करना चाहती है। कवि इस अंतिम मधुर

चेष्टा का एक हल्की रेखा से चित्र खींच देता है : 'लाल जितै चितवै तिय पै, तिय त्यों-त्यों चितौति सखीन की ओरी।'* नायक का धीरे-धीरे नायिका की ओर दृष्टि उठाना और नायिका का उसी अनुक्रम से अपनी दृष्टि को सखियों की ओर फेरते जाना, इन दोनों दृष्टियों को मिलाने वाली रेखा कितने हल्के हाथों से खींची गई है।

कहीं-कहीं रेखा भी पूरी नहीं है। केवल एक अवयव को ही उभार कर एक ही अनुभाव के द्वारा चित्र में सजीवता लाई गई है।

ठाड़ी बड़े खन की बरसै बड़री अंखियान बड़े बड़े आँसू।

यहाँ बड़ी आँखों में बड़े बड़े आँसू दिखा कर ही चित्र की पूर्ति की गई है।

कुछ भाव चित्रों में छायाकृतियों का प्रयोग होता है। पात्र की किसी भावना-विशेष को मूर्तरूप देने के लिए चित्र की पृष्ठि-भूमि में छायाकृतियों का उपयोग किया जाता है। इनका मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है क्योंकि मूर्तिमंत भावना को व्यक्त करने के लिए यह अत्यन्त सफल एवं रोचक प्रयोग है। देव ने एक स्थान पर इस प्रकार का एक बहुत ही सुन्दर छाया-चित्र अंकित किया है :—

रावरे पायन ओट लसै, पग गूजरी बार महावर ढारे।
सारी असावरी की झलकैं, छलकै छवि घाँघरे घूम घुमारे।
जाओ जु जाओ दुराओ न मोहु सो, देव जू चन्द दुरै न अँध्यारे।
देखौ हो कौनसी छैल छिपाई, तिरीछे हँसै वह पीछे तिहारे॥

नायक को किसी के ध्यान में खोया हुआ देखकर, उसकी वास्तविकता का पता लगाने के लिए नायिका व्यंग्य करती है—'देखो तुम्हारे पीछे पैरों में महावर लगाए हुए, आसावरी की झलकती हुई चूनर और घूमरदार घांघरा पहने हुए तिरछी होकर वह कौन हँस रही है? तुम उसे छिपा नहीं सकते - कहीं चन्द्रमा भी अंधेरे में छिप सकता है।' वास्तव में है वहां कोई नहीं, परन्तु नायिका इस चित्र के द्वारा मानो नायक के मन में—अथवा ईर्ष्या के कारण अपने ही मन में घूमती हुई सपत्नी की छायाकृति को बड़ी सफाई से अंकित कर देती है। यह चित्र सचमुच कवि के सूक्ष्म कौशल का परिचायक है।

वर्ण-योजना

रेखाओं का उपयोग चित्र में यदि भाव की व्यंजना के निमित्त होता है,

---

* पान दियो हँसि प्यार सों प्यारी, यह लखि त्यों हँसि भौं मरोरी।
बाँह गही ललचाइ लला मुख, नाहीं कही मुसकाइ किसोरी॥
तोरी न लाज जेठानी सखीजन, देव ढिठाई करै नहिं थोरी।
लाल जितै चितवै तिय पै, तिय त्यों-त्यों चितौति सखीन की ओरी॥

तो रंगों का उसको समृद्ध करने के लिए। रीतिकाल कला की समृद्धि का युग था, अतएव उसकी चित्रशाला में रंगों का प्राचुर्य मिलता है। बिहारी और देव दोनों ने अपने चित्रों मे वर्ण-योजना का अद्‌भुत चमत्कार दिखाया है। कहीं छाया-प्रकाश के मिश्रण द्वारा चित्र मे चमक उत्पन्न की गई है, कहीं उपयुक्त पृष्ठभूमि देते हुए एक ही रंग को काफी चटकीला कर दिया गया है, और कहीं कहीं अनेक प्रकार के रंगों को सूक्ष्म कौशल से मिलाते हुए उसमे सतरंगी आभा उत्पन्न की गई है। पहले छाया और प्रकाश का चमत्कार देखिए :—

सूझत न गात बीति आयो अधरात, लखि
सोये सब गुरुजन जानिकै बगर के।
छिपि कै छबीली अभिसार को किवार खोले,
खुलिगे सुगन्ध चहूँ चन्दन अगर के॥
देव कहै कुंजनि तैं भौरें पुंज गुंजि आये,
पूछि पूछि पीछे परे पाहरू डगर के।
देवता कि दामिनि मसाल है कि जोति-जाल,
झगरो मचत जगे लिगरे नगर के॥

आधी रात बीत चुकी है, गुरुजन सब सोए हुए हैं, चारों ओर निस्तब्धता छाई है, शरीर तक दिखाई नहीं देता। नायिका चुपके से ज्योंही किवाड़ खोलती है, उसके शरीर की सुगंध सर्वत्र फैल जाती है। जिसके परिणाम स्वरूप कुंजों से भौंरों के समूह आकर ऊपर मंडराने लगते हैं। पहरेदार चौकन्ने होकर पीछे लग जाते हैं। नगर मे एक खलबली सी मच जाती है, कि आखिर यह है कौन—कोई देवी है, या दामिनी पृथ्वी पर उतर आयी है, या मशाल जल रही है, अथवा कोई ज्योति-पुंज है? इस चित्र में पहले निस्तब्ध आधी रात के घने अंधकार—और भौंरों के समूह द्वारा छाया को गाढा किया गया है, फिर दामिनी, मशाल, ज्योति-जाल आदि से प्रखर प्रकाश को उद्भावना की गई है। निस्तब्ध काली रात मे तेजी से आगे बढती हुई मशाल मे—अथवा सघन मेघों में चमकती हुई बिजली में जो छाया-प्रकाश का प्रभाव होता है, प्रस्तुत चित्र मे कवि ने उसे ही अत्यन्त सफलतापूर्वक उत्पन्न किया है।

अब कुछ ऐसे चित्र लीजिए जिनमें एक ही रंग का वैभव है :—

फटिक सिलानि सों सुधार्‌यौ सुधा-मन्दिर,
उदधि दधि कौ सो उफनाय उमगै अमंद।
बाहर ते भीतर लौं भीति न दिखाई देत,
छीर कैसे फेन फैली चाँदनी फरस बन्द।

तारा-सी तरुनि तामैं देव जगमग होति,
मोतिन की ज्योति मिल्यौ मल्लिका कौ मकरंद।
आरसी-से अम्बर मैं आभासी उज्यारी ठाढी,
प्यारी राधिका को प्रतिविम्ब सो लगत चन्द।

पृथ्वी और आकाश में सर्वत्र चाँदनी का प्रवाह उमड़ रहा है। उसमें नहाता हुआ, स्फटिक-निर्मित सौध-मन्दिर ऐसा लगता है मानो दधि का समुद्र हो; संगमरमर के फ़र्श पर मानों दूध की लहरें लहरा रही हैं। उस फ़र्श पर तारिकाएं जैसी श्वेत-वसना, गौराङ्गी तरुणियाँ खड़ी हैं जिनके शरीर मोती और मल्लिका के आभूषणों से जगमगा रहे हैं। उनके मध्य मे है चन्द्रकांता राधिका। उधर आकाश में भी यही दृश्य है—वहां भी चाँदनी का समुद्र उमड़ रहा है और उसमें तारिकाओं के समूह से घिरा हुआ चन्द्रमा अद्भुत आभा विकीर्ण कर रहा है। ऐसा प्रतीत होता है मानो आकाश ने आरसी का रूप धारण कर लिया है, जिसमें पृथ्वी का यह सम्पूर्ण दृश्य प्रतिविम्बित हो रहा है। आप देखिए, इस चित्र में चाँदी के औज्ज्वल्य की कितनी प्रखर जगमगाहट है—सारा चित्र जैसे झलझला रहा है। मैं समझता हूँ कि चित्र-सामग्री की समृद्धि की दृष्टि से समस्त रीतिकाल में देव का स्थान अन्यतम है—ऐसे उदाहरण उनमें अनेक मिलेंगे जिनमें चाँदनी, चाँदी, सोना, हीरे-मोती, तरह तरह के जवाहरात, ज़री के वस्त्राभूषण, अनेक प्रकार के फूल, स्फटिक शिला, जल की फुहार आदि का अनंत वैभव बिखरा हुआ है :—

चाँदनी महल बैठी चाँदनी के कौतुक को,
चाँदनी-सी राधा-छवि चाँदनी बिशालरैं।
चंद की कला-सी देव दासी संग फूली फिरैं,
फूल-से दुकूल पैन्हें फूलन की मालरैं।
छूटत फुहारे वे, विमल जल झलकत,
चमकैं चंदोवा मनि मानिक महालरैं।
बीच जरतारन की, हीरन के हारन की,
जगमगी जोतिन की, मोतिन की झालरैं।

उपर्युक्त चित्रों में एकवर्ण की ही आभा होने के कारण वर्ण-योजना अपेक्षाकृत सरल है—परन्तु ऐसे चित्रों में जहाँ अनेक वर्णों का सूक्ष्म मिश्रण है कवि को ज्यादा कारीगरी दिखानी पड़ती है। वर्ण-योजना के उदाहरण-स्वरूप ब्रजभाषा के आचार्यों में देव का यह छंद अत्यन्त प्रसिद्ध है :—

नीचे को निहारत नगीचे नैन-अधर,
दुबीचे पर्यौ स्यामारुन आभा अटकन की।

नीलमनि भाग ह्वै, पदुमराग ह्वै कै,
पुखराग ह्वै बिंध्यौ रहत छ्वै निकट कन को।
देव बिहँसत दुति दंतन जुडाति जोति,
विमल मुकुत हीरा-लाल गटकन को।
थिरकि थिरकि थिर थाने पर थाने तोरि,
बाने बदलत नट मोती लटकन को।

नीचे को निहारते ही नयन और ओठों की छाया पड़ने से लटकन के मोती की आभा श्यामारुण हो जाती है। कुछ भाग नीलमणि हो जाता है और कुछ पद्मराग। शरीर की कांति से उसमें पुखराज का आभास होने लगता है और हँसते ही फिर वह विमल मुक्ता हो जाता है। यहाँ थोड़ा परम्परा का पालन अवश्य है, परन्तु फिर भी श्यामारुण आदि रंगों के स्पर्श अत्यन्त मनोरम बन पड़े हैं। नीचे के चित्र में रंगों का मिश्रण इससे भी सूक्ष्म है :—

मांग गुही मोतिन भुअंग ऐसी बेनी, उर उरज उतंग औ मतंग गति गौन की।
अङ्गना अनंग कैसी पहिरे सुरंग सारी, तरल तुरंग दृग चाली मृग दौन की।
रूप की तरंगनि बरंगिनि के अंगनि सें, सोंधे की अरंग लै तरंग उठै पौन की।
सखी संग रंग मैं कुरंग नैनी आवै तौलों कैयो रंगमई भूमि भई रंग भौन की।

नायिका की भुजङ्ग जैसी श्याम वेणी मोतियों से गुँथी हुई है—साड़ी रँगीन है। शरीर से रूप की तरंगे उठ रही हैं, नेत्र कुरंग जैसे है। रंग भवन की स्फटिक भूमि पर इन सब के प्रतिबिम्ब पड़कर मिल जाते हैं जिससे नायिका के आते आते ही वह अनेक रंगमयी हो उठती है।

यहाँ रंग सभी चटकीले हैं। पर कहीं कही उनको हल्का करके भी मिलाया गया है :—

प्रात पयोदन ज्यों अरुणाई दिखाई दई तरुणाई प्रवीनै।

अथवा :—हेम की बेलि भई हिमरासि घरीक मैं घाम सों जाति घुरी है।

अर्थात् कंचन की बेल जैसी नायिका विरह के कारण हिमराशि-सी हो गई है जो तनिक भी ताप से घडी भर में घुली जा रही है। कंचन रंग का फीका पड कर हिम जैसा हो जाना और फिर उसका धूप से घुलते जाना—रंगों में कितनी कोमलता है।

'गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात।' में रंग का स्पर्श और भी हल्का हो गया है। एक चित्र में कवि ने इससे भी सूक्ष्म कौशल का परिचय दिया है—"चौगुनो रंग चढ़ौ चित में, चुनरी के चुचात लाला के निचोरत।'

वर्षा में नायिका की चुनरी भीग गई है—नायक बडे स्नेह से उसे निचोड रहा है। रंग से चुचाती हुई चुनरी को इस प्रकार अपने प्रेमी के हाथों से निचुडते देखकर नायिका के हृदय मे चौगुना रंग चढ जाता है। यहाँ रंग भरा नहीं गया व्यञ्जित किया गया है।

रीतिकाल के अन्य कवियो की भाँति देव मे भी मानव-चित्रों का ही प्राधान्य है। रीति कविता का मुख्य विषय शृंगार है और उसका वातावरण सर्वथा घरेलू है, अतएव स्वभावतः ही उसमें प्रकृति के चित्रों के लिए विशेष स्थान नहीं है। प्रकृति को यहाँ केवल उद्दीपन के रूप में ही ग्रहण किया गया है। अतएव षट्ऋतु और बारहमासे से अधिक ये कवि नहीं जा सके हैं। बदलते हुए मौसम और बदलती हुई ऋतुओं की प्रणयी-मन पर क्या क्या प्रतिक्रियाएं होती है इसी पर इनका ध्यान गया है। प्रकृति के सहज सौन्दर्य्य ने इन्हें आकृष्ट नहीं किया। देव ने सुजान-विनोद और सुखसागरतरंग में षट्ऋतु तथा बारहमासे के चित्र दिये हैं। उनका चित्रण भी यद्यपि प्रधान रूप से उद्दीपन की दृष्टि से ही हुआ है परन्तु फिर भी कवि के सहज रूप-मोह और सूक्ष्म अन्वीक्षण के कारण कुछ प्रकृति-चित्र वास्तव में बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं :—

> आस पास पूरन प्रकास के पगार सूझैं, बनन अगार डीठ गली ह्वै निबर ते
> पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूडी, बिधु बरम्हण्ड उतरात बिधि बर ते।
> सारद जुन्हाई जन्हु पूरन सरूप धाई, जाई सुधा-सिंधु नभ सेत गिरिबर ते।
> उमड़ो परत जोति-मंडल अखंड सुधा, मंडल मही में इन्दु-मंडल बिबर ते।

इस चित्र मे कोरे उद्दीपन के निमित्त परम्परा का निर्वाह नही है, इसमें स्पष्ट ही प्रकृति के प्रति कवि की भावना उमड़ रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उसका मन शरद ज्योत्स्ना के इस तरंगायित प्रवाह में उछल उछल कर नहा रहा हो। प्राकृतिक सौन्दर्य्य के प्रति ऐन्द्रिय आनन्द की भावना तो देव के अनेक चित्रों में मिल जाएगी :—

> १—बरन सोपाननि ऊपर रह्यो भू पर को, चारिहू तरफ फहरातीं रस-चादरैं।
> २—रंगराती हरी हहरातीं लता झुकि जाती समीर के झूकनि-सों।

एकाध चित्र में कवि ने सूक्ष्म अन्वीक्षण का अपूर्व चमत्कार दिखाया है।

> सुधा के सरोवर-सों अम्बर उदित ससि मुदित मराल मनु पैरिबे कों पैठ्यो है।
> बेला के बिमल फूल फूलत समूल मानों, गगन ते उड़ि उडुगण गण बैठ्यो है।

चन्द्रिका-मण्डित आकाश में हाल ही मे उदित हुआ चन्द्रमा ऐसा लगता है मानों कोई हंस सुधा के सरोवर मे तैरने के लिए अभी अभी प्रविष्ट हुआ हो। "पैरिबे कों पैठ्यो है" में हंस की मुद्रा का और उसके द्वारा चन्द्रमा की

तत्कालीन छवि का अत्यन्त सूक्ष्म-कोमल चित्र अंकित किया गया है जो अंगरेजी कवि मिल्टन के एक ऐसे ही प्रसिद्ध चित्र का स्मरण दिलाता है :—

To behold the wandering moon,

× × ×

And oft, as if her head she bow'd
Stooping through a fleecy cloud.

अंत में, देव के चित्र-कौशल का विवेचन करते हुए रीतिकाल के प्रतिष्ठित चित्रकार-कवि बिहारी का स्मरण हो आना स्वाभाविक ही है। बिहारी के चित्रों मे नक़्क़ाशी का प्राधान्य है—उनकी रेखाएं पैनी और रंग जड़े हुए हैं—वे चित्र वस्तु-परक अधिक और भाव-परक कम हैं। यह स्पष्टतः ही उन पर जयपुर क़लम का प्रभाव है।—जयपुर क़लम का अठारहवीं शताब्दी में काफी प्रचार था—मुग़ल शैली का गहरा प्रभाव होने के कारण इस शैली में भी रूप-रेखा की कड़ाई विशेष रूप से मिलती है। बिहारी का जयपुर दरबार से सीधा सम्बन्ध था—अतएव वहां चित्रकला की जिस शैली का संवर्द्धन हो रहा था उसका बिहारी के काव्यचित्रों पर प्रभाव पड़ना सहज स्वाभाविक ही था। देव के चित्रों में रेखाएं हलकी-कोमल, रंग तरल और घुले-मिले हैं—उनका सम्बन्ध राजस्थानी-शैली से है जो भारत की अपनी देशी शैली थी और मूलतः भाव-परक होने के कारण जिसमें मार्दव की विशेषता थी। बिहारी और देव के चित्रों की यह तुलना आधुनिक युग में पंत और महादेवी के चित्रों की तुलना का अनायास ही ध्यान दिला देती है।

अभिव्यंजना के प्रसाधन

अलंकार–सम्प्रदाय के विवेचन में हमने सौन्दर्य-शास्त्र के इस मूल रहस्य को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि भाव की रमणीयता और उक्ति की रमणीयता अथवा अनुभूति के सौन्दर्य और अभिव्यक्ति के सौन्दर्य में सहज सम्बन्ध है। भारतीय रीति-शास्त्र ने इन दोनों तत्वों के महत्व को तो पूर्णतः ग्रहण कर लिया था; परन्तु उसने उन्हें अभिन्न रूप में न देखकर पृथक् पृथक् ही देखा था। यह बात नहीं कि इन दोनों के सम्बन्ध से वह अनभिज्ञ था परन्तु इनकी अनिवार्य एकता का कायल वह नहीं था—इसलिए उसने अनुभूति और अभिव्यक्ति के पार्थक्य का सर्वथा लोप नहीं होने दिया। इसके विपरीत विदेश का नवीन सौंदर्य-शास्त्र दोनों का अनिवार्य्य अपार्थक्य मानता है—उसका कहना है कि भाव की रमणीयता की स्थिति उक्ति की रमणीयता के अतिरिक्त और है ही क्या? इस प्रकार वह वस्तु और आकार की एकता का प्रतिपादन करता है। यह सिद्धांत चाहे पूर्ण रूप से संगत न हो, परन्तु वस्तु की समृद्धि बहुत कुछ आकार की समृद्धि पर आश्रित है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। अनुभूति की उत्तेजना

अथवा रमणीयत्ता को अभिव्यक्त करने में अभिव्यन्जना के साधारण उपकरण समर्थ नही होते—उसके लिए कवि को चेतन अथवा अवचेतन रूप में विशिष्ट (सबल एवं रमणीय) उपकरणों का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है। रीतिकाल के कवि अभिव्यक्ति के प्रति विशेष रूप से सतर्क थे—उनमें अन्य कवियों की अपेक्षा चेतन प्रयत्न अधिक स्पष्ट मिलता है।

अप्रस्तुत-विधान :—अभिव्यक्ति को रमणीय एवं सबल बनाने का सबसे सहज तथा उपयोगी साधन है अप्रस्तुत-विधान अर्थात् प्रस्तुत की श्रीवृद्धि के लिए अप्रस्तुत का उपयोग। यह अप्रस्तुत-विधान प्रधानतः साम्य पर आधृत रहता है और यह साम्य मुख्यतया तीन प्रकार का होता है, रूप-साम्य (सादृश्य), धर्म-साम्य (साधर्म्य). और प्रभाव-साम्य ।

सादृश्य :—सादृश्य-मूलक अप्रस्तुत का प्रयोग वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने के निमित्त किया जाता है। देव ने अपने शृंगार-चित्रों में रूप की अनुभूति को स्पष्ट एवं तीव्र करने के लिए ही उसका उपयोग किया है। रीतिकाल में आकर उपमान प्रायः रूढ हो गये थे। संस्कृत मे नायक-नायिका के प्रत्येक अंग के लिए, रूप के प्रत्येक अवयव के लिए, उपमानो की एक परम्परा-सी निश्चित हो गई थी। रीतिकाल के साधारण कवि तो प्रायः उनका ही रूढ़ि-बद्ध प्रयोग करते रहे, परन्तु प्रतिभाशाली कवियो ने उनके अन्तर्गत भी कल्पना की सहायता से अनेक रमणीय विधान प्रस्तुत किये। देव में परम्परागत उपमाओं का प्रयोग अवश्य हैं, उनके नख-शिख-वर्णन में और कहीं-कही अन्यत्र भी कुछ अप्रस्तुत-विधान सर्वथा रूढ़ उपमानो पर आश्रित होने के कारण निश्चय ही ऐसे हैं जो रूप की अनुभूति कराने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं होते—उनमें चित्रमयता नाम को भी नहीं है, केवल असमर्थ परम्परा का अनुसरण है : 'जानि न परत अति सूक्षम ज्यों देव गति, भूत की चलाकी धौं कला है कोटि नट ते।' यहाँ रूढ़ि के प्रभाववश बेचारी कटि को देवगति, भूत की चालाकी और नट की कला बनाना पड़ा है—इसमें सन्देह नहीं कि सूक्ष्मता और संदिग्ध अस्तित्व की व्यन्जना करने में ये उपमान काफ़ी समर्थ है, परन्तु इनसे कटि के सौन्दर्य की अनुभूति कहाँ होती है ? इसी प्रकार—

त्रिबली त्रिबेनी लट रोमावली धूम-लट, यौवन पटल ज्योति वेदी छबि तुण्ड में।
बेद-ध्वनि बोलैं गुणवंत मुनि किंकणीक रसना रतन मणि मुकुतान झुण्ड में।
× × × × × मनोज मखु माड्यो नाभि-कुण्ड में।

मनोज के यज्ञ को पूरा करने के लिए त्रिबली को त्रिवेणी, और रोमावली को धूम-शिखा बनना चाहे स्वीकार्य भी हो जाए, लेकिन किंकिणी स्वयं मुनि बन कर अपनी झनकार को वेद-ध्वनि में परिणत करने को कभी तैयार नहीं हो सकती।

परन्तु ऐसे उदाहरण देव में बहुत कम हैं—उनके लिए खोज करनी पड़ती है। साधारणतः उनकी कविता में छवि के अत्यन्त रम्य गोचर रूप बिखरे मिलते हैं—

बैस बराबर दोऊ सुहात सु गोरी को गात प्रभात ज्यों पूनो।

वयःसन्धि' में छिपते हुए शैशव और निखरते हुए यौवन की स्पष्ट अनुभूति कराने के लिए कवि ने पूर्णिमा के प्रभात की उपमा दी है—भोले शैशव की मृदुल छवि मानो राका की चाँदनी है और यौवन की कान्ति प्रभातकालीन आभा है; इस प्रकार दोनों के सम्मिलित सौन्दर्य की चेतना वयः सन्धि के सौन्दर्य की अनुभूति में सहायक होती है। वर्ण-योजना के प्रसंग में उद्धृत उपमा इससे भी अधिक स्पष्ट है—"प्रात पयोदन ज्यों अरुणाई दिखाई दई तरुणाई प्रवीनै।" और उधर 'जगर मगर आपु आवति दिवारी-सी' में रूप की जगमगाहट और भी प्रखर हो गई है। पुराने उपमानो के योग से भी स्थान-स्थान पर रूप के सूक्ष्म-विधान खड़े किए गये हैं:—"अमल कमल बीच किरणि तरणि की-सी छलकै छलानि छवि छाय रवि सोम लै" हाथों में अँगूठियों की आभा ऐसी लगती है जैसे कमल पर चमकती हुई रवि की किरणें हों। इसी प्रकार:—

मन्द हंसी अरविन्द ज्यों बिन्द, अंचै गये दीठि में दीठि खुभै कै।
कंज की मंजिम जन मानों, उडे चुनि चंचुनि चंचु चुभै कै॥

यहाँ अप्रस्तुत-विधान के द्वारा नेत्रमिलन की सूक्ष्म अनुभूति कराई गई है। उपमान पुराने हैं; परन्तु उनकी योजना नवीन है; अतएव अलंकार में एक नया चमत्कार ही आगया है।

रूप के प्रति देव की संवेदना कितनी सूक्ष्म-कोमल थी, इसका निर्देश पहले हो चुका है। पाठक के मन में भी उसे ज्यों का त्यों उद्बुद्ध करने के लिए उतनी ही सूक्ष्म अभिव्यञ्जना-शक्ति की अपेक्षा थी और यह शक्ति निस्संदेह इस कवि में थी। अपनी स्थापना की पुष्टि के लिए यहाँ हम केवल दो उदाहरण उपस्थित करते हैं—

१—बड़े-बड़े नैननि सों आँसू भरि-भरि ढरि
गोरो गोरो मुख आजु ओरो सो बिलानो जात।

यह देव का अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण है। देव-मर्मज्ञ मिश्र-बन्धुओं ने इसके काव्य-गुण की भूरि-भूरि प्रशंसा की है; परन्तु स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने मुख के लिए ओले की उपमा को अनुचित मानते हुए इस चरण में पाठ की अशुद्धि मानी है। उनका आग्रह है कि वास्तविक पाठ यह है—"बड़े-बड़े नैननि सों आँसू भरि-भरि ढरि, गोरे मुख परि आजु ओरे लौं बिलाने जात।"

इसमें सन्देह नहीं कि आँसू और ओले में आकार-साम्य कहीं अधिक है, और अनुपात की दृष्टि से ओला मुख की अपेक्षा आँसू का ही अधिक समीचीन उपमान है; परन्तु ऐसा मान लेना, वास्तव में, स्थूल अनुपात के लिए सूक्ष्म रूप-चेतना का बलिदान करना है। उपर्युक्त उपमा मे सादृश्य केवल रंग तक ही सीमित है। कवि यहाँ यही कहना चाहता है कि आँसुओं के कारण क्रमशः फीकी होती हुई मुख-छवि ओले के समान घुलती-सी प्रतीत होती है। जिन्होंने एक ओर आँसुओं में घुलती हुई मुख की गौर-कान्ति को और दूसरी ओर वर्षा की बूंदों से धीरे-धीरे घुलते हुए ओले को देखा है, वे अवश्य ही इस सादृश्य-विधान के अपूर्व सौन्दर्य की दाद दे सकते हैं।

साधर्म्य :—साधर्म्य-मूलक उपमानों का उद्देश्य धर्म अथवा गुण की अनुभूति मे सहायक होना है। सादृश्य-विधान के द्वारा जहाँ कवि वस्तु के रूप की चेतना को संवेदनीय बनाता है, साधर्म्य-विधान के द्वारा वहाँ उसका अभीष्ट वस्तु के धर्म अथवा गुण की अनुभूति को संवेदनीय बनाना होता है। आधुनिक उपमान—जिनमें लक्षणा का चमत्कार प्रायः वर्तमान रहता है, साधर्म्य-मूलक ही अधिक होते हैं। पुराने कवियों ने भी उनका अपने ढंग से उपयोग किया है। देव में इस प्रकार की सुन्दर योजनाएं मिलती हैं :—

१—देव कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चितै भईं चेरी,
वेग ही बूढ़ि गईं पंखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

जैसे मधुमक्खी के पंख रस मे डूब जाते हैं, इसी प्रकार आँखों की पांखें भी लाल के रूप में डूब गईं। आँखों में और मधुमक्खी में रूप-साम्य विशेष नहीं है, परन्तु दोनों में रस के लोभ, अर्थात् धर्म का साम्य है।

२—'माखुन-सो तन दूध-सो जोबन……' में भोली-भाली ग्राम्या के शरीर की उपमा मक्खन से और यौवन की दूध से दी गई है। शरीर और मक्खन अथवा यौवन और दूध में सादृश्य की तो सम्भावना है नहीं—साधर्म्य का सौन्दर्य अवश्य स्तुत्य है। अंगों के भोले मार्दव और स्निग्धता की इतनी स्पष्ट अनुभूति मक्खन से अधिक कदाचित् ही कोई दूसरा उपमान करा सके; इसी प्रकार यौवन के सात्विक तारल्य के लिए भी दूध अत्यन्त सार्थक उपमान है। ये दोनों ही उपमान नायिका के निश्छल सौन्दर्य्य की अत्यन्त मधुर व्यञ्जना करते हैं। एक और उदाहरण लीजिये जो इससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म-तरल है :—

३—विमल विलास ललचावत लला को चित,
ऐंचत हूँतै को पे छूटै ही को मुरत हैं।

पारे ही के मोती किधौं प्यारी के सिथिल गात,
ज्यों ही ज्यों बटोरियत त्यों-त्यों बिथुरत हैं।

नायिका के प्रणय-मान का वर्णन है, इधर उसके विभ्रम विलास पर मुग्ध होकर नायक उसके मोम-से शिथिल अंगो को समेटने के लिए लालच-भरे हाथ बढ़ाता है, उधर वह उतना ही उन्हें सिकोड़ती चली जाती है। ये नायिका के अंग हैं या पारे के मोती ? जितना ही नायक उन्हें बटोरने का प्रयत्न करता है, उतने ही वे बिथुरते चले जाते हैं। यहाँ रमणी के गोरे अंगों और पारे के मोतियो में रंग का साम्य तो साधारण है; पर दोनों के बिथुर जाने में स्पर्श के साम्य की अनुभूति कितनी स्पष्ट है ! यह उपमा एकदम अछूती है। कहीं-कहीं साधर्म्य का प्रयोग और भी सूक्ष्म और भाव-गम्य हो गया है :—

पतिव्रत-व्रती ए उपासी प्यासी अंखियन,
प्रात उठि प्रीतम पिआयो रूप-पारनौ। — दर्शन को लालायित आँखें मानों उपवास-रता पतिव्रता हैं-और दूसरे दिन आनेवाले प्रियतम का रूप उनके लिए पारण (अर्थात् उपवास के उपरांत मिलने वाला भोजन) है। इस विधान मे दोनों ही अप्रस्तुत अत्यन्त भाव-पूर्ण हैं-दर्शन की प्यासी आँखों पर उपवास-रत पतिव्रता का आरोप, और फिर उसी परम्परा में रूप के ऊपर सूक्ष्म साधर्म्य के आधार पर पारण का आरोप—व्यंग्य में डूब कर कितना करुण-मधुर हो गया है।

प्रभाव-साम्य :—प्रभाव-साम्य और साधर्म्य मे कोई स्पष्ट अन्तर नहीं किया जा सकता। वास्तव में प्रभाव-साम्य साधर्म्य का सूक्ष्मतर रूप ही है। इसका प्रयोग वस्तु अथवा व्यक्ति के गुण को संवेदनीय बनाने के स्थान पर किसी प्रभाव की अनुभूति को स्पष्टतर करने के निमित्त होता है। इसका भी सौन्दर्य बहुत कुछ लक्षणा पर ही आश्रित रहता है। आधुनिक अभिव्यञ्जना प्रणालियों में इसको और भी अधिक महत्व प्राप्त है। प्रभाव-साम्य पर आधृत देव के कुछ अप्रस्तुत-विधान लीजिये :—

१—ये अँखियां सखियाँ न हमारियै, जाय मिलीं जल-बिन्दु ज्यो कूप मैं।
कोटि उपाय न पाइये फेरि समाय गईं रंगराय के रूप मैं॥

यहाँ नेत्रों में और जल-बिन्दु में, अथवा रूप और कूप मे सादृश्य तो है ही नहीं, साधर्म्य भी कोई विशेष नहीं है। परन्तु नेत्रो के रंगराय के रूप में डूब कर उसी में समा जाने में, और जल-बिन्दु के कूप में डूब कर उसी में तिरोहित हो जाने में अन्तिम प्रभाव का गहरा साम्य है। डूब कर लय हो जाने का गम्भीर प्रभाव दोनों में समान है। नेत्रों के रूप में डूब कर उसी में समा जाने में लक्षणा का

भी भावमय प्रयोग दर्शनीय है। ठीक यही बात 'जम्बु-रस-बिन्दु जमुना जल तरंग में' के लिए कही जा सकती है। इसमें मन जम्बु-रस की बूंद है, और कृष्ण का श्याम रंग जमुना-जल की तरंग है। कृष्ण के तरंगायित श्यामल सौन्दर्य की उपमा तो जमुना-जल-तरंग से रूप, धर्म और प्रभाव तीनों के साम्य की दृष्टि से ही ठीक बैठ जाती है; परन्तु जम्बु-रस-बिन्दु और मन में साधारणतः रूप अथवा धर्म की समानता नहीं मिलती।

२—आनन सुगंध ज्यों सुगध जैसे फूलन तैं,
फूल से दुकूलन तैं रूप निकस्यौ परै।

कोमल एवं सुवासित (फूल से) दुकूलों से नायिका का रूप इस प्रकार उत्कीर्ण हो रहा है जैसे पुष्प से सुगंध। रूप नेत्रों का विषय है, और सुगन्ध घ्राण का परन्तु आस्वादन की अवस्था में माध्यम का अंतर नहीं रहता, अतएव दोनों की ऐन्द्रिय अनुभूति मे मौलिक भेद नहीं रहता। दूसरे शब्दों में, मन पर दोनों का प्रभाव एक-सा ही पड़ता है। उपर्युक्त अप्रस्तुत-विधान मे, जो सर्वथा आधुनिक प्रतीत होता है, इसी मनोवैज्ञानिक सत्य का आश्रय लिया गया ।

३—अब लगि आँखिन की पूतरी कसौटिन में
लागी रहै लीक वा की सोने की गुराई की।

आँखों की काली पुतली में बसी हुई गौर-कान्ति की रेखा और कसौटी पर लगी हुई सोने की लीक मे रूप-साम्य तो अत्यन्त स्पष्ट है ही, परन्तु इसके वास्तविक सौन्दर्य का कारण रंग का सादृश्य न होकर मन पर पड़े हुए सम्मिलित प्रभाव का साम्य ही है। रूप की इतनी सूक्ष्म चेतना और उसकी इतनी सच्ची एवं सटीक अभिव्यक्ति प्राचीन साहित्य में अनेक कवियों के लिए सहज नहीं थी।

अभिव्यञ्जना की समस्त प्रणालियों मे अप्रस्तुत-विधान ही देव को सब से अधिक प्रिय है। देव स्वभाव से भावुक और सिद्धांत से रसवादी थे। उन्हीं के शब्दों में रस की सम्पत्ति है भाव, और भाव की स्पष्ट अनुभूति कराने में (स्वभावोक्ति को यदि स्वतन्त्र अलंकार न मानें तो) सब से सहज सहायक औपम्य-मूलक अलंकार ही हैं। देव ने सिद्धांत-रूप में भी उपमा के प्रति अपना पक्षपात घोषित किया है, और उधर व्यवहार में भी इन्हीं अलंकारों के प्रयोग में अद्भुत-कौशल का परिचय दिया है। उनकी उपमाओं और रूपकों में पर्याप्त वैचित्र्य एवं विभिन्नता मिलती है। एक ओर, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है, जहां उन्होंने कल्पना-प्रसूत रम्य और रंगीन उपमायें ग्रहण की हैं, तो दूसरी ओर नित्यप्रति के साधारण जीवन से भी उनका चयन किया है :

पट्ट दै पलटी उलटे पट ज्यों,

या फिर—

देव तेऽब गोरी के बिलात गात बात लगे,
ज्यों-ज्यों सीरे पानी पीरे पान से पलटियत।

अमूर्त अप्रस्तुत :—साधारणतः कवि अमूर्त भावना अथवा तथ्यो को व्यक्त करने के लिये मूर्त उपमानों का प्रयोग करते हैं और वास्तव में अमूर्त की अभिव्यक्ति की यह प्रणाली सहज स्वाभाविक भी है। परन्तु कभी-कभी मूर्त को अमूर्त द्वारा व्यक्त करना भी सहज और रोचक होता है। कुछ अमूर्त तथ्य अथवा भावनायें हमारे मन के निकट इतनी स्पष्ट और व्यक्त हो जाती हैं कि वे अनेक मूर्त पदार्थों की भी अपेक्षा सहज-ग्राह्य बन जाती हैं, इसीलिये वे कभी-कभी मूर्त वस्तुओं की अनुभूति में भी विशेष रूप से सहायक हो सकती हैं। छायावादी कवियों में इस प्रकार के अत्यन्त सुन्दर अमूर्त-विधान मिलते हैं। प्राचीन कवियो में इनका अभाव तो नहीं है क्योंकि सहज मनोविज्ञान पर आश्रित यह प्रवृत्ति किसी विशेष देश अथवा काल की सम्पत्ति नही हो सकती। उदाहरण के लिये तुलसी का प्रसिद्ध वर्षा-वर्णन ही लिया जा सकता है,❀ परन्तु इस प्रकार की परिपाटी को उन्होंने विशेष प्रश्रय नही दिया, अतएव ऐसे विधान प्राचीन कविता में अधिक नहीं हैं। देव में इस प्रकार की भी कुछ एक योजनायें मिल जाती हैं—जैसे नख-शिख में एक स्थान पर उन्होंने उरोजो को 'ओज के उज्ज्वल रूपक' कहा है :

कैधों रुचि भूपर अनूप रचि राखे देव,
रूपक-समूह द्वै उज्यारे अति ओज के।

उरोजो के सुन्दर उभार की अनुभूति को व्यक्त करने के लिये यह उपमान अत्यन्त व्यञ्जनापूर्ण है, इसमें कल्पना का उपयोग जितना रम्य है उतना ही सार्थक भी। इसके अतिरिक्त और भी कुछ उद्धरण उपस्थित किये जा सकते है :

कुल की-सी करनी, कुलीन की-सी कोमलता,
सील की-सी सम्पत्ति, सुसील कुल कामिनी।

❀ दामिनि दमक रही घन माहीं, खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।
क्षुद्र नदी भरि चली तोराई, जस थोरे धन खल बौराई॥
उदित अगस्त पंथ जल सोखा, जिमि लोभइ सोखइ संतोषा।
बूँद अघात सहैं गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे॥
[रामचरित मानस]

दान को सो आदरु, उदारताई सूर की-सी,
गुनी की लुनाई, गुनमंती गज गामिनी ॥

× × ×

धर्म के लिए धर्मी का प्रयोग :—इससे भी अधिक रमणीय तथा सूक्ष्म प्रणाली है, धर्म के लिये धर्मी का प्रयोग। इसका सौन्दर्य भी सर्वथा लक्षणा के आश्रित है। साध्यवसाना लक्षणा इसके मूल में रहती है। स्थूल रूप में यह प्रयोग वाचक-धर्मलुप्ता उपमा के समान प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में उपमा के इस निर्जीव भेद में इतनी अभिव्यञ्जक शक्ति कहाँ सम्भव है? दूसरे, इसका उद्देश्य भी उपमा से भिन्न होता है। उपमा में जहाँ साम्य सदैव ही प्रकट एवं स्पष्ट रहता है, यहाँ उसका कोई भी मूल्य नहीं है। यहाँ अभीष्ट है केवल प्रभाव का तीव्र संवेदन; तीव्रता इस प्रयोग का अनिवार्य गुण होता है। अतएव वही विशेषण अथवा उपमान यहाँ उपयोगी हो सकता है, जिसका धर्म परम्परा से इतना स्थिर हो चुका हो और जिसका सम्बन्ध हमारे संस्कारों से इतना गहरा हो गया हो कि धर्मी के उल्लेख मात्र से ही हम धर्म को पूरी तरह ग्रहण कर लें। यह प्रयोग भी बहुत कुछ आधुनिक है, और वास्तव में देव में इस प्रकार के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण देखकर उनके अभिव्यञ्जना-कौशल पर चकित रह जाना पड़ता है।

(१) तारे खुले न घिरी बरुनी घन, नैन भये दोउ सावन भादौं।

यहाँ सावन भादौं का साधारण वाच्यार्थ है 'निरंतन बरसन वाले'। सावन भादों के साथ 'के समान' वाचक शब्द और 'निरंतर बरसने वाले' साधारण धर्म को लुप्त मान लेने से उपर्युक्त पद वाचक-धर्म-लुप्ता उपमा का सीधा उदाहरण बन जाता है। परन्तु नेत्रों को एक ओर 'सावन भादों' की तरह बरसने वाले कहना और दूसरी ओर 'सावन भादों' ही कह देना एक बात नहीं है। दूसरे प्रयोग में जो आतिशय्य की ध्वनि है वह पहले में नहीं है। अतएव आधिक्य अथवा तीव्रता की वृद्धि के लिए यहाँ धर्म के स्थान पर धर्मी का ही प्रयोग किया गया है।

(२) पन्नग की मनि कीन्हीं उन्हें, उन पन्नग की किंचुली कियो चाहत।

अर्थात हमने उन्हें सर्प की मणि बनाया, परन्तु वे हमको सर्प की केंचुली बनाना चाहते हैं। सर्प का मणि के प्रति मोह और केंचुली के प्रति सहज औदास्य प्रसिद्ध है। उन्हीं का आश्रय लेकर मोह और औदास्य की तीव्र व्यजना करने के लिए यहाँ वाचक शब्द को बचाकर मोह और औदास्य के प्रसिद्ध पात्रों का प्रयोग किया गया है।

(३) पावस ते उठि कीजिये चैत अमावस ते उठि कीजिये पूनौ।

पहले उद्धरण में अप्रस्तुत सावन भादों के साथ प्रस्तुत नेत्रों का भी उल्लेख है परन्तु यहाँ अप्रस्तुत ने प्रस्तुत को पूर्णतः निगीर्ण कर लिया है—इसका अस्तित्व ही लुप्त हो गया है। यहाँ विरह के विषाद के लिए पावस और अमावस का, तथा मिलन के उल्लास के लिए चैत और पूनो का प्रयोग हुआ है। पावस के अंधकार और वर्षा द्वारा मन के विषाद तथा बरसते हुए नेत्रों की, और इसके विपरीत—चैत्र द्वारा मन के उल्लास तथा मुस्कराती हुई मुख-छवि की व्यजना हमारे संस्कारों के इतने निकट है कि धर्म के लिए धर्मी का यह प्रयोग अर्थ-ग्रहण में बाधक तो होता ही नहीं है—बल्कि उलटा वाचक शब्दों की किफ़ायत करता हुआ और अनेक सम्बद्ध संस्कारो को जगाता हुआ व्यंजक गुण की श्री-वृद्धि कर देता है। अमावस और पूनो के मूल मे भी यही सत्य है। परम्परा और संस्कार के प्रभाव से ऐसे शब्द ही प्रतीक पद को प्राप्त कर लेते हैं और वास्तव मे उपर्युक्त चार शब्दो मे कम से कम पावस, पूनो और अमावस तो एक प्रकार से स्वीकृत प्रतीक हैं ही। एक छंद में प्रतीकों का प्रयोग देव ने और भी उदारता-पूर्वक किया है।

(४) पून्यो प्रकास उकासि कै सारदी, आसहू पास बसाय अमावस;
दै गए चिंतन सोच विचार, सु लैगए नींद छुधा बल-बावस।
है उत देव बसंत सदा, इत हैउंत है हिय कंप महावस;
लै सिसिरौ–निसि, ग्रीषम के दिन, आंखिन राखि गए ऋतु पावस।

इसमे पूनो, अमावस, और पावस के अतिरिक्त, जीवन के उल्लास के लिए वसंत, और विषाद के लिए हेमंत, शिशिर-निशा, तथा ग्रीष्म के दिनों का प्रयोग किया गया है।

मानवीकरण :—भाव-संवेदन को तीव्र करने की इससे थोडी भिन्न किंतु लक्षणा की ही आश्रित एक अन्य सफल युक्ति है—मानवीकरण। मानवीकरण मे जड़ वस्तुओं, अथवा भावनाओं, अथवा किसी अंग विशेष पर कर्तृत्व आदि मानव गुणो का आरोप किया जाता है। विदेश में इसको एक स्वतंत्र अलंकार माना गया है। हमारे यहाँ अङ्गरेजी के प्रभाव से इसको लोकप्रियता चाहे आधुनिक युग मे ही प्राप्त हुई हो, परन्तु इसका प्रयोग प्राचीन काव्य मे भी निश्चित रूप से हुआ है। भाव की तीव्र अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयत्न करते हुए देव, विदेशी अलंकार-शास्त्र का स्वप्न मे भी ध्यान न कर, न जाने कितनी बार इसका प्रयोग कर गए हैं :

(१) ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू विषय के संग,
ऐरे मन मेरे हाथ—पांव तेरे तोरतो।

(२) ऐरे मन मेरे तैं घनेरे दुख दीने अब,
ए किवार दै कै तोहि मूंदि मारों एक बार ॥

यहाँ सूक्ष्मेन्द्रिय मन पर मानव-अङ्गों का आरोप किया गया है। मन पर विभिन्न मानवोचित क्रियाओं का आरोप तो अनेक छंदों में मिलता है :

लट मैं लटकि, कटि-जोयन उलटि करि,
त्रिवली पलटि कटि-तटनि मैं कटि गयो।

अथवा :—प्रेम-पयोधि परो गहिरे अभिमान को फेन रह्यो गहि रे मन।
कोप-तरंगन सों बहि रे पछिताय पुकारत क्यों बहि रे मन ?
'देवजू' लाज-जहाज ते कूदि रह्यो मुख मूँदि, अजौं रहि रे मन;
जोरत, तोरत प्रीति तुही अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन ॥

इसी प्रकार एक स्थान पर नेत्रों पर भी दौड़ कर धार में घुसना, फँस जाना, उकसने में असमर्थ होना, अँगड़ाई लेते हुए गहरे में गिर जाना आदि मानव क्रियाओं का आरोप किया गया है :

धार में धाइ धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसीं न अँधेरी।
री अँगराय गिरी गहिरीं, गहि फेरे फिरीं न घिरीं नहिं घेरी ॥

ये प्रयोग भावना की मूर्तिमत्ता के सहज परिणाम हैं। मन-सम्बन्धी पदों में भावना की तीव्रता के कारण मन एक सूक्ष्मेन्द्रिय मात्र नहीं रह गया, वह कवि की अनुभूति में एक स्वतंत्र सशरीर व्यक्तित्व धारण कर उपस्थित हो गया है—मानों वह उसका कोई घनिष्ठ सखा या परामर्शदाता हो। इसी प्रकार अन्तिम छंद में रूप चेतना इतनी तीव्र और गहरी होगई है कि उसका अनुभव करने वाले नेत्र पर स्वतंत्र व्यक्तित्व का आरोप आपसे आप हो गया है।

सम्भावना-मूलक अप्रस्तुत-विधान :—कुछ अप्रस्तुत योजनाएं इस प्रकार की होती हैं जिनका सौन्दर्य किसी प्रकार के साम्य पर आश्रित न होकर सम्भावना पर ही आश्रित होता है—हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा इसी प्रकार के अलंकार हैं। उत्प्रेक्षा में साधारणतः उपमेय-उपमान सम्बन्ध की स्थिति आवश्यक मानी गई है, परन्तु इन दोनों भेदों के लिए वह अनिवार्य नहीं है। इनमें काव्यमय सम्भावना का ही चमत्कार रहता है। इसीलिए कल्पना की ललित क्रीड़ा के लिए इनमें विशेष अवकाश रहता ; और भावुक कवि उनमें भावुकता का मधुर पुट देकर एक अद्‌भुत सौंदर्य उत्पन्न कर देते हैं। यही कारण है कि जिन कवियों में कोमल भाव और ललित कल्पना का प्राधान्य रहता है, उनमें इन अलंकारों के प्रति एक सहज मोह होता है। देव भी मतिराम की भांति इसी प्रकार के कवियों

की श्रेणी में आते हैं, स्वभावतः ही उनकी कविता मे इस प्रकार की ललित सम्भावनाएं अनेक हैं।

नायिका की भौहो के लिए कहा गया है :—

नारि हिये त्रिपुरारि बँधे सुनि, हारि कै मैन उतारि धर्यो धनु ।

अर्थात् भौंहें मानो काम देवका धनुष हैं, जो उसने यह सुनकर कि अब तो शिव नारी-हृदय में बंध गए हैं, उतार कर रख दिया है क्योंकि अब इसकी क्या जरूरत है। इसमें संदेह नहीं कि इस उत्प्रेक्षा में ढीली भौंहों और उतरे हुए धनुष में साम्य का आधार भी निश्चित रूप से है ही, परन्तु वास्तविक सौंदर्य का कारण उपर्युक्त मधुर सम्भावना ही है जो एक प्रसंगोचित मधुर घटना के संस्कार मन में जगाकर हमारी सौन्दर्य-चेतना को और भी उद्बुद्ध कर देती है शिव पर नारी की विजय की स्मृति रूप-चेता के मन पर पड़े हुए नारी के प्रभाव को जैसे और भी गहरा कर देती है। इसी प्रकार एक स्थान पर नेत्रों की दीप्ति को देखकर कवि सम्भावना करता है कि : 'दीपति मैन महीप सिखाई समीप सिखा गहि-दीप-सिखा की।' ऐसा लगता है मानो कामदेव ने दीपक को पास रखकर स्वयं अपने आप तरुणी के नेत्रों को दीप्ति विकीर्ण करना सिखाया है।—इस सम्भावना का सौन्दर्य स्वतः व्यक्त है, और स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त सम्भावनाओं में रूप की चेतना का प्राधान्य है। कुछ सम्भावनाएं केवल भाव की ही श्रीवृद्धि करती हैं, जैसे—

बाल के अधर लाल-अधरनि लागि जागि
उठी मदनागि पघिलान्यो मन मोम सो।

अथवा—दुलही के विलोचन-बानन कौं,-ससि आज को सान समान भयो।

या—यों सुनि ओछे ऊरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आए।

या फिर—आँसुन बूड्यो उसास उड्यो किधौं मान गयो हिलकी की हिलोरनि।

इन चारों उदाहरणों मे सम्भावना जितनी भावपूर्ण है उतनी ही सूक्ष्म भी। यहाँ वह व्यक्त न होकर एक प्रकार से अर्ध-व्यक्त ही रही है, जिससे उसकी भावगम्यता और भी बढ़ गई है।

चमत्कार-मूलक अलंकार :—अभिव्यञ्जना में आकर्षण और प्रभाव उत्पन्न करने का दूसरा मुख्य साधन है चमत्कार। चमत्कार का सम्बन्ध है हमारी विस्मयवृत्ति से।—काव्य की अनुभूति में विस्मय वृत्ति का भी कुछ योग अवश्य रहता है—सत्काव्य या कला में यद्यपि हमारे चित्त का रंजन करने का गुण ही

मुख्य होता है, परन्तु मस्तिष्क को चमत्कृत करने की भी थोड़ी बहुत शक्ति अनिवार्यत: रहती है। काव्य के मूल मर्म को जाननेवाले कवि और सहृदय तो सदा इन दोनो तत्वों के इसी अनुपात को स्वीकार करते आए हैं, परन्तु जिनकी दृष्टि ऊपरी स्तर तक ही पहुँच पाती है जो काव्य को आत्माभिव्यक्ति के रूप में ग्रहण न कर आत्म-प्रदर्शन के रूप में ही ग्रहण करते हैं, वे इस अनुपात को उलट देते हैं। उनके लिए चमत्कार मुख्य हो जाता है और हृदय का रंजन गौण। संस्कृत और हिन्दी मे ऐसे कवि और आचार्य अनेक हुए हैं—वास्तव में प्रयत्न-सुलभ होने के कारण चमत्कार ऐसे कवियों का, जो स्वभाव से रस-सिद्ध नही हैं अथवा जिनकी रुचि गंभीर नहीं है, अत्यन्त प्रिय साधन रहा है। संस्कृत-हिन्दी के अनेक कवियों ने चमत्कार को विचित्र क्रीडाएं की है। केशवदास ने तो चमत्कार के लिए रस, औचित्य, ध्वनि, किसी का भी बलिदान कर दिया है। उनके उपरांत अनेक रीति कवियो पर भी यह कुप्रभाव पडा, बिहारी जैसे मर्मज्ञ कवि पर भी चमत्कार का जादू खूब खेला। परन्तु मतिराम, देव आदि इससे मुक्त रहे—मतिराम अपनी संयत रुचि के कारण और देव रस के प्रति उत्कट आग्रह के कारण। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने न जाने देव को चमत्कारप्रिय कवियों की कोटि में क्यों रख दिया है। यमक के प्रति अवश्य थोडा गुनहगार होते हुए भी यह कवि चमत्कार के फेर में नहीं पडा। उसकी अतिशय भावुकता और गंभीर रस-चेतना चमत्कार को कैसे सहन कर सकती थी? निश्चय ही देव के काव्य में चमत्कार-मूलक अलंकारों का प्रयोग बहुत कम है—स्वभाव और औपम्य-मूलक अलंकारो के जहाँ प्रभूत उदाहरण मिल जाएंगे, वहाँ चमत्कार-मूलक अलंकारों के लिए आपको खोज करनी पड़ेगी। इस वर्ग के अंतर्गत वे अलंकार आते हैं जिनका उपयोग उक्ति में विचित्रता लाने के लिए होता है—वैषम्य और श्लेष-मूलक अलंकार प्रायः इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। देव ने जहाँ इनका प्रयोग किया भी है वहाँ चमत्कार को स्थूल कभी नहीं बनाया—उनके वैषम्य और श्लेष सूक्ष्म रहकर ही उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न करते हैं, और इसका कारण यह है कि वे सर्वत्र साधन रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं, साध्य नहीं बन पाए। कुछ उदाहरण लीजिए :—

(१)

कातिक की राति पूनो इन्दु परगास दूनो।
आन्न पास पावस अमावस खगी रहे।
ग्रीषम की ऊसमा, मयूष मान कीनी, मुख—
देखे सनमुख निसि-सिसिर लगी रहे॥

बरसैं जुन्हाई सुधा-वसुधा सहस धार—
कौमुदी न मुखे ज्यों-ज्यों जामिनी जगी रहे।

दोऊ पच्छ उज्ज्वल विराजैं राजहंसी देव,
स्याम रंग-रंगी जगमगी उमगी रहै ।

(विरोधाभास)

(२) ये अँखियाँ बिनु काजर कारी, अँयारी चितै चित मे चपटी-सी ।
मीठी लगें बतियाँ मुख सीठी, यो सौतिन के उर मैं दपटी-सी ॥
अंगहू राग बिना अंग अंग, झकोरैं सुगन्धन की झपटी-सी ।
प्यारी बिहारी ये एड़ी लसै, बिन जावक पावक की लपटी-सी ॥

(विभावना)

उपर्युक्त पद में स्पष्टतः कवि का अभीष्ट रूप की अनुभूति को व्यक्त करना है, फिर भी विभावना का चमत्कार भी साधन रूप मे उसमे अत्यंत सूक्ष्म योग दे रहा है, इसको अस्वीकार नही किया जा सकता ।

इसी प्रकार,

(३) आपुने ओछे हिये मे दुराइ, दयानिधि देव बसाइ लिए मै ।
हौं ही असाध बसी न कहूँ,पल आध अगाध तिहारे हिये मैं ।

यहां विभावना और विशेषोक्ति का सूक्ष्म सतुलन है । मैं इस छन्द को भाव-गांभीर्य्य का अन्यतम उदाहरण मानता हूं—फिर भी आप देखें कि उक्ति में वैचित्र्य उत्पन्न करते हुए भाव को गंभीर करने में इस सूक्ष्म अलंकार-योजना का कितना सुन्दर योग है ।

अतिशय-मूलक अलंकार :—अपने मूल रूप मे अतिशयोक्ति का उद्देश्य उत्तेजना को संवेदनीय बनाना, अर्थात् अपनी उत्तेजना को व्यक्त करना और दूसरे को उत्तेजित करना है । उत्तेजना के लिए चित्त के विस्तार और उत्कर्ष की अपेक्षा होती है—और चित्त के विस्तार और उत्कर्ष के लिए अपनी बात को बढा चढाकर कहना आवश्यक होता है, तभी अतिशय-मूलक अलंकारो का जन्म होता है । भाव की उद्दीप्ति काव्य का मुख्य ध्येय होने के कारण अतिशय प्राय: कथन की सभी प्रणालियो मे प्रच्छन्न अथवा प्रकाश रूप में वर्तमान रहता है । इस प्रकार वास्तव में उसका मूल सम्बन्ध भावोद्दीप्ति से ही है । परन्तु रस के मर्म को न समझने वाले कवियों ने इस सम्बन्ध को विच्छिन्न कर दिया—अतिशय-मूलक अलंकारो का कार्य निर्द्वन्द्व होकर ऊँची उड़ानें भरना तथा चमत्कार की सृष्टि करना ही रह गया । बिहारी ने अतिशयोक्ति के बडे करिश्मे दिखाए हैं, और हिन्दी के चमत्कार-रसिक आलोचकों ने उनकी काव्य-प्रतिभा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है—परन्तु गंभीर काव्य-मर्मज्ञों ने ऐसे प्रयोगो को एक खिलवाड मात्र मानते हुए उन्हें काव्य की

समृद्धि के लिए उपयोगी नहीं माना है। स्वभावोक्ति के प्रेमी देव को इनके प्रति कोई आकर्षण नहीं था—उन्होंने चमत्कार के लिए कहीं भी इन्हें नहीं अपनाया—भाव की उद्दीप्ति के लिए अवश्य कहीं कहीं इनका प्रयोग किया है, और वह अत्यन्त सफल बन पड़ा है :—

लै रजनीपति बीच विरामिनि दीमिनि-दीप समीप दिखावै।
जो निज न्यारी उज्यारी करै तब प्यारी के दंतन की द्युति पावै॥

उपर्युक्त-अतिशयोक्ति की सफलता दाँतों की चमक की तीव्र अनुभूति कराने में ही है, रूप के उपमानों के एक नवीन चमत्कार का आविष्कार करने में नहीं है।

इसी प्रकार—"सेज पै ज्यों रँगरेज मनोज कैसलोने सोने की बेलि बनाई।" विरह की कृशता पर कितनी रम्य एवं भाव-पूर्ण अत्युक्ति है। सेज पर पड़ी हुई विरह-क्षीण नायिका ऐसी लगती है मानों कामदेव-रूपी रंगरेज ने बिछौने के ऊपर सोने की वेल छाप दी हो। यहाँ 'स्वभाव' और 'अतिशय' में कितना मधुर सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। पारिभाषिक रूप में यद्यपि यह उत्प्रेक्षा का ही उदाहरण है; परन्तु वास्तव में आधार इसका अतिशय ही है।

देव के प्रतीकों का विवेचन :– किसी के व्यक्तित्व, उसके स्वभाव, आशा-आकांक्षाओं का अध्ययन करने के लिए प्रतीकों का अध्ययन आधुनिक मनोविज्ञान मे विशेष महत्व रखता है। वैसे तो अनेक प्रकार के प्रतीक माने गए हैं; परन्तु उनमें से मुख्य प्रकार तीन हैं :—१. सृजन के प्रतीक, २. नाश के प्रतीक और ३. काम के प्रतीक। रीतिकाव्य के सामान्य विवेचन में हमने स्पष्ट किया है कि किस प्रकार उसमें काव्य के सुखद एवं प्रसन्न प्रतीकों का प्रयोग ही मुख्य-रूप में हुआ है। देव में भी निश्चित रूप से शृंगार-प्रतीकों का ही प्राधान्य है—ऊपर दिए हुए प्रतीकों में ही देख लीजिए—प्रात-पयोदों में अरुणिमा, चन्द्रमा में बिजली, यमुना-तरंग में जम्बूरस-बिन्दु, कूप में जल की बूंद, कसौटी में सोने की लीक, रस में डूबी हुई मधुमक्खी—ये सभी स्पष्टतः शृंगार के प्रतीक हैं। शृंगार के प्रतीक होने से ये सभी प्रतीक कोमल, रमणीय और चित्रमय हैं। इनमें रंग का वैभव और उल्लास है। इसमें संदेह नहीं कि रीतिकाल के सभी कवियों की तरह देव की काव्य-सामग्री भी सीमित ही है, और वे रूढ़-उपमानों को नहीं बचा पाये हैं, उनके नख-शिख वर्णन में ऐसे अनेक प्रयोग हैं। परन्तु शृंगार की चेतना अत्यन्त तीव्र होने के कारण उनके अप्रस्तुत-विधान प्रायः रूप अथवा भाव के संवेदन में असमर्थ नहीं हुए। रूढ़ उपमानों को भी उन्होंने भावुकता में रंग दिया है और इस प्रकार उनमें एक नवीन अभिव्यञ्जक शक्ति उत्पन्न कर दी है; साथ ही

उनके विधान में भी वैचित्र्य की सृष्टि की है। फिर भी, एक ओर प्रकृति के नाना रूप-विधानों से घनिष्ठ परिचय न होने के कारण और दूसरी ओर अभिव्यञ्जना के अमूर्त उपकरणों का प्रचलन न होने के कारण देव भी अपनी अलंकरण सामग्री का उचित विकास नहीं कर पाये।

परन्तु यह परिमिति भी सापेक्षिक ही समझनी चाहिए। आधुनिक युग के, विशेषकर छायावाद के कवियों की रोमानी अनेकरूपता अथवा तुलसी, सूर, जायसी जैसे कवियों का जीवन-व्यापी विस्तार देव में नहीं है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु साथ ही यह भी असंदिग्ध है कि रीतिकाल के कवियों मे केशव और बिहारी के अतिरिक्त किसी का भी क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं है। केशव ने जहाँ अपने पाण्डित्य और कल्पना-वैभव के आधार पर रीतिकाल की अलंकरण-सामग्री की श्रीवृद्धि की है और बिहारी ने अपने सूक्ष्म अन्वीक्षण के आधार पर, वहाँ देव ने अपने भाव-वैभव के द्वारा उसको सम्पन्न बनाया है। अंतजंगत् की प्रवृत्तियों से घनिष्ठ परिचय होने के कारण अमूर्त उपादानों का भी उन्होंने स्थान-स्थान पर सुन्दर प्रयोग किया है, उधर धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग कर, तथा भावनाओं अथवा जड वस्तुओं पर मानव-गुणों का आरोप कर उस बँधी हुई सीमा के भीतर भी वैचित्र्य-विकास की सफल चेष्टा की है। स्पष्टतः ही देव के अधिकांश प्रतीक भाव-मूलक ही हैं, कल्पना-मूलक अथवा बौद्धिक नहीं हैं। वे हमारे भाव-संवेदनों को ही विशेषतया उद्बुद्ध करते हैं, कल्पना अथवा बुद्धि को इतना उत्तेजित नहीं करते।

(आ) देव की भाषा

अभिव्यञ्जना का सबसे मुख्य और सहज माध्यम है भाषा । रीतिकाल तक आते-आते व्रजभाषा निश्चित रूप से उत्तर भारत की काव्य-भाषा बन चुकी थी । भक्तिकाल में अवधी और व्रज के बीच थोड़ा प्रतिद्वन्द्व रहा ; परन्तु रीतिकाल में साहित्य का स्वीकृत माध्यम व्रजभाषा ही हो गई थी । इस युग का प्रत्येक साहित्यकार ; चाहे उसकी मातृ-भाषा राजस्थानी हो, अथवा अवधी, अनिवार्य्य रूप से व्रजभाषा की शरण लेता था । देव को यही भाषा अत्यन्त समृद्ध रूप में उत्तराधिकार मे मिली थी; अतएव उनकी व्यक्तिगत भाषा-शैली का विवेचन करने से पूर्व व्रज-भाषा की साधारण प्रकृति और सौष्ठव का थोड़ा विश्लेषण कर लेना उपादेय होगा ।

व्रजभाषा की प्रकृति :—व्रजभाषा का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश और उसी परिवार की प्राकृत से है । इन दोनों भाषाओं का उससे माता और मातामही का सम्बन्ध है । यों तो अन्य देशी भाषाओं की भाँति इसका भी जन्म और प्रचार बारहवीं-तेरहवीं विक्रम शताब्दी से ही आरम्भ हो जाता है । पृथ्वीराज रासो में व्रजभाषा की पद-योजना स्थान-स्थान पर मिलती है :—"बाल बैस ससि ता समीप अमृत-रस पिन्निय" में 'ता' व्रजभाषा सर्वनाम का ही विभक्ति-हीन प्रयोग है । इसके उपरान्त निर्गुण सन्तो में गोरखनाथ के गद्य-लेख स्पष्ट ही व्रजभाषा में लिखे हुए हैं, उधर कबीर आदि की भी साखियो, विशेषकर पदो में इस भाषा का प्रचुर प्रयोग हुआ है । डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि व्रजभाषा के साहित्यिक महत्त्व की वास्तविक प्रतिष्ठा सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे ही हुई, 'संवत् १५५६ वैशाख सुदी ३ आदित्यवार को गोवर्धन मे श्रीनाथजी के विशाल मंदिर की नींव रखी हुई थीं । वही तिथि साहित्यिक व्रजभाषा के शिलान्यास की तिथि भी मानी जा सकती है । [व्रजभाषा का व्याकरण] इसमें संदेह नहीं कि वल्लभाचार्य तथा उनके पुत्र एवं शिष्य-परंपरा ने व्रजभाषा के प्रचार एवं समृद्धि मे सबसे अधिक योग दिया और उनके प्रयत्न के फल-स्वरूप व्रजभाषा-साहित्य का निरंतर क्रमबद्ध विकास हुआ , परन्तु उनके द्वारा शिलान्यास की बात अधिक मान्य नहीं है । वास्तव में कवियों ने समय के साथ प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से उसकी उत्तराधिकारिणी व्रजभाषा को क्रमानुसार स्वत: ही—वल्लभ और उनकी शिष्य-परम्परा के प्रभाव से अछूते रह कर भी—साहित्यिक माध्यम के रूप में ग्रहण कर लिया था । संवत् १५९८ में लिखी हुई कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' इसका प्रमाण

है। उसकी भाषा स्वच्छ साहित्यिक व्रजभाषा है। वास्तव में उसकी अतिशय स्वच्छता देखकर ही कुछ विद्वान् उसे अप्रामाणिक मानने लगे हैं। सम्भव है डा० साहब का भी यही मत हो; परन्तु उसकी रचना-तिथि इतने असंदिग्ध रूप मे दी हुई है कि उस पर संदेह करना, जब तक कि कोई विरोधी प्रमाण न मिल जाए, सरल नहीं है। यह कवि—शास्त्रज्ञ कवियों की परम्परा मे होने के कारण, भक्ति-कविता के प्रभाव से सर्वथा दूर था, यह तो निर्विवाद ही है, साथ ही उसकी भाषा से स्पष्ट है कि वह इस परम्परा का पहला कवि भी नहीं था। उससे पहले कुछ अन्य कवियों ने भी व्रजभाषा का प्रयोग किया होगा।

किसी भाषा की प्रकृति का निर्णय करने का वास्तविक साधन उसका शब्द-समूह न होकर व्याकरण ही होता है। शब्द-समूह में प्रायः निरंतर परिवर्तन होता रहता है; क्योंकि किसी भी जीवित भाषा का कार्य विना उचित आदान-प्रदान के चल नहीं सकता। इसके विपरीत व्याकरण के रूप अपेक्षाकृत स्थिर रहते हैं, उनमें परिवर्तन होता तो है, परन्तु बहुत ही धीरे-धीरे। अतएव किसी भाषा का स्वरूप स्थिर करने के लिए उसका व्याकरण ही अधिक विश्वसनीय साधन है। व्रजभाषा के विशेषज्ञों ने भाषा-विज्ञान एवं साहित्यिक दृष्टि से उसका सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त निम्नलिखित विशेषताएँ निर्धारित की हैं :—

उच्चारण:—अवधी में जहाँ इ और उ के उपरान्त अ की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है, वहाँ व्रजभाषा में खड़ी बोली की तरह इ और अ का य तथा उ और अ का व हो जाता है—प्यार, क्वांर। इसी तरह इ और उ की अपेक्षा व्रजभाषा में य और व का प्रचार अधिक है। अवधी के ह को भी व्रजभाषा-भाषी य करके बोलते हैं :—माँय (मॉहि)।

संज्ञाएं और विशेषण:—व्रजभाषा की पुँलिङ्ग संज्ञाएं तथा विशेषण प्रायः ओकारांत होते हैं। इसके विपरीत खड़ीबोली में उनके रूप आकारात और अवधी मे अकारांत पाये जाते हैं—पुं० संज्ञा : घोड़ो (व्रज), घोड़ा (खड़ी) और घोड (अवधी); विशेषण : भलो (व्रज), भला (खड़ी) और भल (अवधी)। इस प्रकार पश्चिमी भाषाओं की प्रवृत्ति दीर्घान्त है, और अवधी की लघ्वन्त। विभक्ति लगने से पूर्व व्रजभाषा में इनके विकृत रूप बहुवचन मे न प्रत्यय लग जाता है—घोडन कूं (कों)।

(२) विभक्ति:—कर्त्ता— ने (इसका प्रयोग भूतकालिक सकर्मक क्रिया के साथ ही होता है)

कर्म*— कों, कौं; को, कौ; कूं, कुं;
करण— सों, सौं, से; ते, तैं। (कर्मवाच्य और भाववाच्य में पै और पर भी होता है)
सम्प्रदान— को, कों; कौ, कौं; कूं, कुं।
अपादान— सों, सौं, से; सूं, सुं; ते, तैं।
सम्बन्ध— को, कौं; के, कें; कै, कैं; की (स्त्रीलिंग)
अधिकरण—में, मैं; माँहि माँय, मँह, मांझ [ये सब मध्य से बने हैं, इसलिए यहाँ अवधी की हि का भ्रम नहीं होना चाहिए।]; पै, पर।

सर्वनाम—

उत्तम पुरुष :—साधारण रूप :—(एकवचन) मैं, हौं (प्रांत-भेद से हों और हूँ भी); (बहुवचन) हम।
विकृत रूप :— (एकवचन) मो, (बहुवचन) हम।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—	मैं, हौं, (प्रांत-भेद से हो और हुं भी)	हम
कर्म-सम्प्रदान—	मोकों, मोकूं, मोहिं आदि।	हमकों, हमकूं, हमहिं, हमै।
करण-अपादान—	मोसों, मोसैं, मोतैं।	हमसों, हमसैं, हमतै।
सम्बन्ध—	मेरौ, मेरो, मेरे, मेरी।	हमारौ, हमारो, हमारे, हमारी।
अधिकरण—	मोमें, मोपै इत्यादि।	हममे, हम पै इत्यादि।

मध्यम पुरुष :—साधारण रूप :—एकवचन—तू, तैं।
बहुवचन—तुम।
विकृत रूप :—एकवचन—तो,
बहुवचन—तुम।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—	तू, तैं।	तुम।
कर्म-सम्प्रदान—	तोकों, तोकूं, तोहि आदि	तुमकों, तुमकूं, तुमहिं, तुम्हैं।
करण-अपादान—	तोसों, तोसैं, तोतैं।	तुमसों, तुमसैं, तुमतैं।

*[मथुरा और उसके आस-पास के गांवों में, इधर अलीगढ़ तक कूं ही बोला जाता है। पर या पर्ण पूर्व के सोरों आदि ब्रजभाषी प्रांतों में अब भी ज्यों का त्यों निवासि की बोलचाल में आता है। साहित्यिक भाषा में को और कौं का ही अधिक प्रयोग है।]

सम्बन्ध—	तेरौ, तेरो, तेरे, तेरी।	तुम्हारौ, तुम्हारे आदि; और तिहारौ, तिहारे आदि।
अधिकरण—	तोमें, तोपै इत्यादि।	तुममैं, तुमपै।

अन्य पुरुष :—साधारण रूप :—एकवचन—वह।
बहुवन—वे।
विकृत रूप :—एकवचन—वा।
बहुवचन उन।

	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता—	वह, वो, वु आदि।	वे,
कर्म-सम्प्रदान—	वाकों, वाकूं, वाहि।	उनको, उनकूं, उनहि, उन्हैं।
करण-अपादान—	वासों, वासैं, वातैं।	उनसों, उनसैं, उनतैं।
सम्बन्ध—	वाकौ, वाको, वाके, वाकी।	उनकौ, उनको, उनके, उनकी।
अधिकरण—	वामें, वापै, आदि।	उनमैं, उनपै, आदि।

संकेतवाचक, सम्बन्धवाचक, प्रश्नवाचक, नित्यसम्बन्धी सर्वनामों के रूप प्रायः अन्यपुरुष के ही अनुसार चलते हैं।

क्रिया

मूल रूप :—क्रिया का मूल रूप जिसे भाववाचक अथवा क्रियावाचक संज्ञा भी कहते हैं, नो अथवा (इ) बो लग कर बनता है। जैसे चलनो या चलिबो।

वर्तमान काल

ब्रजभाषा में अवधी की भांति वर्तमान काल में क्रिया का रूप प्रायः त लग कर बनता है। खड़ीबोली में जहाँ यह दीर्घांत होता है, ब्रज में अवधी की तरह वहाँ यह लघ्वन्त होता है। उदाहरण—खड़ीबोली में 'चलता (है)', ब्रजभाषा में 'चलत (है)'। स्त्रीलिंग मे प्रायः इ और कभी-कभी ई और लग जाती है। जैसे—चलति (है), अथवा चलती (है)। इनके अतिरिक्त वर्तमानकालिक क्रिया के रूप कभी-कभी दूसरे प्रकार से भी चलते हैं—चलै (हैं), चलौं (हौं), चलौ (हौ) आदि। स्त्रीलिंग और पुँल्लिंग मे यहाँ भेद नहीं होता।

सहायक क्रिया के रूप :—

	एकवचन	बहुवचन
उत्तम पुरुष—	हौं, हूँ।	हैं।
मध्यम पुरुष—	है।	हौ।
अन्य पुरुष—	है।	हैं।

भूतकाल

भूतकाल में क्रिया का साधारण रूप 'ओ अथवा औ' कहीं-कहीं 'यो अथवा यौ' लगकर बनता है, यही भूतकालिक कृदंत का भी रूप है। य लगाकर बने हुए भूतकाल के रूपों में खड़ीबोली और ब्रजभाषा में विशेष अंतर नहीं है।

सहायक क्रिया के रूप :—

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हो, हुतो, हतो।	हे, हुते, हते।
म० पु०	हो।	हे, ,, ,, ।
अ० पु०	हो।	हे, ,, ,, ।

स्त्रीलिंग—(एकवचन) ही, हुती, हती; (बहुवचन) हीं, हुतीं, हतीं।

भविष्यत् काल

भविष्यत् काल में क्रिया का साधारण रूप प्रायः ग लगकर बनता है—'चलैगो'; परन्तु 'इह' लग कर भी बने हुए रूप कम नहीं मिलते 'चलिहैं'।

सहायक रूपः—

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	उंगो, औंगो; इहौं।	एंगे, यंगे, इहैं।
म० पु०	ऐगौ, यगौ, इगौ, इहै।	औगे, उगे, हुगे, इहौ।
अ० पु०	ऐगो, ,, ,, ,, ।	यंगे, एंगे, हिंगे, इहैं।

आज्ञा, संभावना, प्रार्थना आदि :—

		एकवचन	बहुवचन।
आज्ञा :—	उ० पु०	उं, ऊं।	यँ, एं।
	म० पु०	(आ), उ, हु।	ओ, उ, हु।
	अ० पु०	ए, ऐ, य, इ।	यँ, एं।

प्रार्थना :—

एकवचन	बहुवचन
इयो, ईजियो।	इये. ईजिये, ईजै।

सम्भावना :—

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	तो।	ते।
म० पु०	तो।	ते।
अ० पु०	तो।	ते।

कृदन्त

वर्तमान कालिक :—पुँलिंग—त, अत, अतु, (प्रायः एकवचन में)

स्त्रीलिंग—ति, अति, अती।

	एकवचन	बहुवचन
भूतकालिक—पुँल्लिंग—	ओ, औ; यो, यौ;	ए, ये;
स्त्रीलिंग—	ई, यी।	ईं यीं।

पूर्वकालिक—१. पुंल्लिंग तथा स्त्रीलिंग दोनों में 'इ' प्रत्यय लगता है, तथा 'इ' का कभी कभी 'य' भी हो जाता है।

२. कभी कभी पूर्वकालिक कृदंत अपनी पूर्ति के लिये के, कै आदि की अपेक्षा करते हैं।

व्यापकता:—ब्रजभाषा अपने समय में अत्यन्त व्यापक भाषा रही है। उसका क्षेत्र ब्रज के चौरासी कोस तक तो कहने भर को ही था। उसका प्रसार इतना व्यापक था कि आसपास की अनेक प्रांतीय बोलियों का अस्तित्व उसमें लोप हो गया था। उत्तर-पूर्व में कनौजी, दक्षिण में बुंदेलखण्डी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न रख पाईं, और लगभग ब्रजभाषा के रूपांतर-मात्र बन गईं। कनौजी और बुंदेलखण्डी दोनों में भूतकाल में यो के स्थान पर ओ (गओ, दओ) का प्रयोग होता था और अब भी होता है। बुंदेलखण्डी में कुछ सर्वनामों में अनुस्वार लग जाता है। ड़ के स्थान पर सदैव र का प्रयोग होता है। ब्रजभाषा ने इन सभी विशेषताओं को इतने सहज-रूप में ग्रहण कर लिया कि इनका स्वतन्त्र रूप ही नहीं रह गया। वास्तव में पूरी तीन शताब्दियों तक उत्तर-भारत की साहित्यिक भाषा रहने के कारण ब्रजभाषा का स्वरूप इतना व्यापक हो गया था कि ब्रज की बोली उसको समा नहीं सकती थी—यह ब्रजभाषा वास्तव में एक साहित्यिक भाषा ही थी, बोलचाल की भाषा नहीं थी। ब्रज की बोली इसका मूल आधार अवश्य थी, परन्तु अनेक बाह्य प्रभाव पड़ने के कारण वह काफी लचीली और व्यापक हो गई थी। उसका शब्द-भण्डार तो अनेक भाषाओं के शब्दों से समृद्ध हो ही गया था, उसका व्याकरण भी इतना व्यापक हो गया था कि आसपास की बोलियों के अतिरिक्त अवधी के रूपों को भी उसने स्वच्छन्दता से ग्रहण कर लिया था। किसी समृद्ध साहित्यिक भाषा को उसके मूल बोलचाल के रूप में सीमित नहीं किया जा सकता। साहित्यिक अभिरुचि और परिष्कृति उसमें अनेक परिवर्तन और परिशोधन कर उसके स्वरूप को ही प्रायः बदल देती है। ब्रजभाषा के साथ ठीक यही हुआ। सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में गोरखपुर बनारस से लेकर उदयपुर तक और कमायूं गढवाल से रीवां, छत्तीसगढी आदि तक में बसने वाले कवि जिनकी मातृभाषायें भिन्न-भिन्न थीं, ब्रजभाषा में काव्य-रचना करते थे। अतएव इन प्रांतों की बोलियों का प्रभाव उस पर पड़ना स्वाभाविक था। उदाहरण के लिये पूर्वी-पश्चिमी अवधी के 'हि' में समाप्त होने वाला रूप, 'बी' में समाप्त होने वाले रूप, अनेक लघ्वंत रूप; और राजस्थानी के म्हारों, थारो आदि सर्वनाम, यहाँ तक

कि संज्ञाओं के कुछ 'आकारांत' (घोड़ा) विकृत रूप ब्रजभाषा में स्वच्छन्दता से प्रयुक्त होते थे। इनके अतिरिक्त एक और महत्वपूर्ण प्रभाव था—काव्य तथा छन्द का आग्रह। ब्रजभाषा का प्रायः समस्त साहित्य छन्दोबद्ध हैं। छन्द के बन्द, लय और तुक की अपनी विशेष आवश्यकतायें होती हैं, उधर काव्य के माधुर्य, ओज आदि गुणों की अपनी माँगें होती हैं, जिनके कारण काव्य-भाषा की शब्दावली और पद-योजना मे अनिवार्यतः एक विशिष्टता आ जाती है। जिन भाषाओं में गद्य का साहित्य भी समानान्तर चलता रहता है, उनके कवियों पर तो व्याकरण का अनुशासन अधिक रहता है क्योंकि गद्य में व्याकरण के नियमों का पालन सहज सुगम होता है, परन्तु जिनमें गद्य का अभाव होता है, उनके कवियों को अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्दता रहती है। ब्रजभाषा के साथ यही हुआ है। इसीलिये उसमें अत्यधिक व्यापकता तथा वैकल्पिक रूपों की भरमार मिलती है, और इसीलिये शास्त्र-निष्ठ आलोचकों को उससे नियंत्रण के अभाव की शिकायत है।

सौष्ठव :—ब्रजभाषा का सौष्ठव लोक-विश्रुत है। उसकी स्तुति में न जाने कितने छन्द और कितने आख्यान प्रचलित हैं। इस भाषा का सर्व-प्रधान गुण है माधुर्य्य, जो इसका सहज गुण है। भाषा का माधुर्य यों तो उसके प्रयोग पर बहुत कुछ निर्भर होता, परन्तु फिर भी किसी भाषा में वह सहज गुण के रूप में भी वर्तमान रहता है। यह सहज गुण उसकी जन्मदात्री भाषा और बोलने वालों की प्रकृति तथा चरित्र पर आश्रित रहता है। ब्रजभाषा का जन्म शौरसेनी प्राकृत से हुआ है, और प्राकृतों में शौरसेनी का माधुर्य अप्रतिम था। इसके अतिरिक्त ब्रजभाषा जिस जन-पद की भाषा है वह वैभव और संस्कृति का केन्द्र रहा है। विचार और भाव की समृद्धि एवं परिष्कार से भाषा की समृद्धि और परिष्कार आप से आप हो जाता है। बाद में कृष्ण-भक्ति की रस-धारा भी शताब्दियों तक यहीं बही जिसके कारण मन की आर्द्र-कोमल और मधुर वृत्तियों का इस भाषा से सहज ग्रन्थि-बन्धन हो गया और फलस्वरूप इसमें भी आर्द्रता, कोमलता तथा माधुर्य आदि गुण सहज-रूप में व्याप्त हो गये। कठोर वर्ण धीरे-धीरे घिस कर मधुर हो गये, संयुक्त वर्ण पृथक् होकर सुगम कोमल हो गये। ब्रजभाषा में तत्सम शब्दों की अपेक्षा तद्भव का ही प्राचुर्य है। उच्चारण-सौकर्य आदि के आग्रह से ही तत्सम शब्द की प्रायः तद्भव में परिणति होती है, अतएव तद्भव शब्दों में एक सहज-कोमलता वर्तमान रहती है। ब्रजभाषा में तद्भव शब्दों का प्राचुर्य उसकी माधुरी का एक महत्वपूर्ण कारण है।

ब्रजभाषा का दूसरा काव्योचित गुण है उसका लचीलापन। यह लचीलापन शब्द तथा कारक-चिह्न आदि की विविधता का सहज परिणाम है। और भाषायें जहाँ अपनी विशिष्ट विभक्तियों से जकड़ी हुई हैं, वहाँ ब्रजभाषा को अपेक्षाकृत

अधिक स्वतन्त्रता है। शब्दो के विषय में भी यही बात है। संस्कृत का एक तत्सम शब्द ब्रजभाषा मे अनेक तद्भव रूप धारण कर लेता है। अकेले कृष्ण के कान्ह कान्हा, कान्हर, कन्हैया आदि अनेक रूप बन जाते हैं। इस विविधता से कवि को छन्द, गीत आदि के लिए विशेष बन्धन-बाधा नहीं रहती और भाव की अभिव्यक्ति मे सौंदर्य आ जाता है। शब्दो और कारक-चिन्हों के अतिरिक्त ब्रजभाषा के उच्चारण में भी एक विशेष मार्दव और लोच है। डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने अपने व्याकरण में ब्रजभाषा के ध्वनि-समूह का विवेचन करते हुए उसके चार विशेष मूल-स्वरों का उल्लेख किया है, जो क्रमशः ए, श्रो, ऐ और औ के ह्रस्व रूप हैं। इनके द्वारा दीर्घ-स्वरो में एक प्रकार की कोमलता और लोच आ जाता है, जो संस्कृत तथा खड़ीबोली में सम्भव नहीं है।

ब्रजभाषा का तीसरा गुण है उसकी समृद्धि। समृद्धि इस भाषा को वास्तव मे उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी। इसके तीनों पूर्व-रूप शौरसेनी-प्राकृत, नागर-अपभ्रंश, और पिंगल उत्तर-भारत के सबसे विस्तृत तथा समृद्ध एवं संस्कृत-भू-भाग का साहित्यिक माध्यम रह चुके थे। अतएव स्वभावतः ही इसको एक अत्यन्त समृद्ध शब्द-कोष तथा परिष्कृत पद-योजना उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। इधर अपने सहज गुणो के कारण इसने भी स्वदेशी-विदेशी भिन्न-भिन्न भाषाओं से काव्योचित शब्दो को ग्रहण कर अपना समुचित विस्तार और विकास किया और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं के अतिरिक्त अवधी, राजस्थानी तथा अन्य प्रांतीय बोलियों के व्यंजक तथा कोमल-ध्वनकशील शब्दो से इसका भण्डार भर गया। उधर फ़ारसी के अनेक शब्द ब्रजभाषा के सांचों मे ढल कर सर्वथा उसी के अंग बन गये। ब्रजभाषा को व्यापक बनाने का यह कार्य भक्त कवियों द्वारा संपादित हुआ। इन भक्त कवियों का विशेषकर सूर और तुलसी का सम्बन्ध एक ओर जहाँ उच्च साहित्य और शास्त्र से था, वहाँ दूसरी ओर जन-समुदाय से भी था, अतएव इनकी वाणी में सहज ही व्यापकता आ गई जो और कवियो के लिए दुःसाध्य होती। रीति-काल के कवियों ने इसी व्यापक भाषा को ग्रहण कर उस पर खराद करना आरम्भ किया जिससे थोडी अस्वाभाविकता आ जाने पर भी भाषा मे एक नई चमक आ गई।

देव की भाषा

ब्रजभाषा के स्वरूप और सौष्ठव का सामान्य विवेचन हमे देव की भाषा के स्वरूप और सौष्ठव को समझने में सहायक होगा। स्वरूप के अन्तर्गत हम उसके शब्दकोष, व्याकरण, पद-योजना आदि की, और सौष्ठव के अन्तर्गत उसके काव्य-गुण अर्थात व्यञ्जना-शक्ति, प्रयोग-कौशल, अलंकरण आदि की परीक्षा करेंगे। देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। उनको जो भाषा मिली

थीं वह अत्यन्त समृद्ध थी। सूर ने उसकी निखिल शक्तियों का विकास कर उसको अत्यन्त व्यापक बना दिया था। हितहरिवंश और नन्ददास ने उसकी पद-योजना को संस्कृत की शब्द-मणियों से जड़ दिया था, बिहारी ने उसके समास-गुण को पूर्ण विकास पर पहुँचा दिया था और मतिराम ने उसको सर्वथा स्वच्छ और परिष्कृत कर दिया था। देव ने अपने उत्तराधिकार का पूर्णतया सदुपयोग करते हुए उसको और भी समृद्ध किया। देव ब्रजभाषा के प्रमुख आचार्यों में से हैं। उनके काव्य में ब्रजभाषा पूर्ण समृद्ध रूप मिलता है।

स्वरूप :—हम कह चुके हैं कि साहित्यिक ब्रजभाषा का शब्द-कोष अत्यंत व्यापक था, उसमें ब्रज में प्रचलित तद्भव और देशज शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी, तथा उत्तर भारत की अन्य बोलियों के शब्दों का स्वच्छन्दता से प्रयोग होता था। देव का भी शब्द-कोष अत्यन्त भरा पूरा है। संस्कृत के गंभीर पण्डित होने के कारण तथा उसके रीति-ग्रन्थों से सीधे प्रभावित होने के कारण उनकी भाषा में संस्कृत शब्द प्रचुर-मात्रा में मिलते हैं। संस्कृत के तत्सम शब्द ब्रजभाषा की प्रकृति के अधिक अनुकूल नहीं पडते, अतः प्रायः कवि-गण उन्हें तद्भव रूप देकर ही ग्रहण करते हैं। केशव ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया और उनके ग्रन्थों में हमें संस्कृत के तत्सम शब्द ज्यों के त्यों बहुत बड़ी संख्या में मिलते हैं। तुलसीदास ने भी विनय-पत्रिका में ऐसा ही किया है। देव का मार्ग मध्यवर्ती है, उन्होंने तत्सम शब्दों का प्रयोग मतिराम, पद्माकर आदि अन्य रीति-कवियों की अपेक्षा अधिक किया है, परन्तु उनका उद्देश्य पाण्डित्य या चमत्कार प्रदर्शन नहीं है। उन्होंने भाषा की श्रीवृद्धि करने के लिये ही प्रायः तत्सम शब्दों का ग्रहण किया है। यद्यपि अनेक स्थानों पर यमक और अनुप्रास का आग्रह भी इसका कारण है, यह भी मानना ही पडेगा। एक उदाहरण लीजिये—

> आस-पास पूरन प्रकास के पगार सूझैं,
> बनन अगार डीठ गली ह्वै निवरते।
> पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ी,
> बिधु बरह्मण्ड उतरात बिधि बर ते।
> सरद जुन्हाई जह-जाई धार सहस,
> सुधाई सुधा-सिन्धु नभ सेत गिरि वर ते।
> उमड़ो परत जोति-मण्डल अखण्ड सुधा,
> मण्डल मही में इंदु-मण्डल बिबर ते।

उपर्युक्त छंद में रेखांकित शब्द सभी लगभग अपने तत्सम रूप में वर्तमान हैं। परन्तु आप देखें कि इन शब्दों का प्रयोग चांदनी के रजत-प्रवाह के विस्तार और

गम्भीरता का ध्वनन करने के लिये ही किया गया है। साथ ही प्रत्येक शब्द को ब्रजभाषा के अनुकूल ढाल लिया गया है। 'व' ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार सर्वत्र 'ब' हो गया है, सहस्र का संयुक्त 'स्र' स रह गया है। निवृत्त की क्रिया निवरते बन गई है। सभी शब्द प्रचलित है। केवल 'निवरते' प्रचलित रूप से थोडा भिन्न हो जाता है।

खंजन मीन मृगीन की छीनी दृगंचल चंचलता निमिषा की।
देव मयंक के अंक की पंक निसंक लै कज्जल लीक लिखा की।
कान्ह, बसी अँखियान बिपे बिसफूरति बीस बिसे बिसिखा की।
दीपति मैन-महीप लिखाई समीप सिखा गहि दीप-सिखा की।

यहाँ भी संस्कृत तत्सम शब्दों का प्राचुर्य्य है—विस्फूर्ति, दीप्ति, विशिख आदि शब्द शुद्ध तत्सम रूप में होकर भी ब्रजभाषा का सहज अंग बनकर प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द जिनके लिए हिन्दी के साधारण पाठक को कोष की शरण लेनी पडे, देव में हैं तो अवश्य परन्तु उनका अनुपात अधिक नहीं है :—उदाहरण के लिए चामीकर, वृंदारक, रथाङ्क, पुलोमजा, सरीसृप, आसीविष, नीरज (चन्द्रमा), कैतव, दुरोदर, शंबरारि, हसंती, छंद (मनोरंजन के अर्थ मे) इभ आदि को उद्धृत किया जा सकता है। ऐसे तत्सम शब्द जो भाषा को प्रकृति के प्रतिकूल पड़ते हो या जिनसे भाषा का मार्दव नष्ट होता हो, बहुत कम है :—

—भूषण भाषण भेष विशेष सुभोजन पान सुगन्धनि की निधि।
(अथवा)—देव कन्दर्प के दर्पण द्वै कि सतापस तर्पण दर्प दुधा के।

इसी प्रकार प्रेम-चन्द्रिका मे 'दुरतिक्रम', 'अनध्यास' आदि का प्रयोग भी हुआ है। इनके अतिरिक्त दो एक छंदों में विनय-पत्रिका की संस्कृत-बहुला भाषा को भी प्रयुक्त किया गया है ; जैसे :—

जय-जय भगवंत रूपी महारत्न,
भारायमान क्षितीभार संभारहृत,
कमलनयन केशव स्वामि, कंसारि,
वंसावतंस, स्फुरद्रूप गोपाल भूपाल भृत ;
करुनानिलय कोटि कंदर्प दर्पापहारी,
महा सुन्दर स्याम मूर्ति छवि व्रीडनं।
व्रजिन हरन राज राजेन्द्र देवेन्द्र,
दुःखापहो मेन्द्र वृन्दावना क्रीड संक्रीड़नं।

(शब्दरसायन पिंगल पृ० १९९)

परन्तु ये छंद उदाहरण के लिए गढे गये है, अतएव इनको विशेष महत्त्व

नहीं दिया जा सकता। आधुनिक देश-भाषाओं का ताना-बाना, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों से ही बना हुआ है। ब्रजभाषा के अधिकांश तद्भव शब्द प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के ही विकसित रूप हैं। पुरानी हिन्दी और पिंगल आदि की अवस्था तक तो ये शब्द बहुत कुछ अपने प्रकृत रूप में ही वर्तमान थे, परन्तु धीरे धीरे वे घिस कर चिकने हो गए। फिर भी साहित्यिक ब्रजभाषा के शब्द-कोश में प्राकृत और अपभ्रंश के अविकृत शब्द भी मिलते हैं। देव में ऐसे शब्दों की संख्या नगण्य नहीं है। लोचन के लिए लोयन, विद्युत के लिए विज्जु, मदन के लिए मयन, मद के लिए मय (मयमंत), यूथ के लिए जूह, नाथ के लिए नाह, आदि प्राकृत-अपभ्रंश शब्द उनके काव्य में स्वच्छंदता से प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु ये प्रायः हिन्दी के ही 'तद्भव' शब्द बन गए हैं। साधारणतः पाठक के ध्यान में भी नहीं आता कि ये प्राकृत-अपभ्रंश के शब्द हैं। एकाध स्थान पर प्राचीन हिन्दी के 'दीसंत' आदि का भी प्रयोग है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है ब्रजभाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी समावेश हो गया था। मुसलमानों से नित्य प्रति का सम्पर्क, मुसलमानी राज्य होने के कारण अनेक बार उनके यहाँ ही आश्रय-प्राप्ति, अनेक मुसलमान कवियों द्वारा ब्रजभाषा में काव्य-रचना, मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव, आदि, ऐसे महत्वपूर्ण कारण थे जिनसे उस युग की कोई भी व्यापक-भाषा अरबी-फ़ारसी के शब्दों से बच नहीं पाई। रीतिकाल में भूषण और बिहारी की कविता में इन शब्दों का अत्यधिक प्रयोग है। पहले के काव्य का प्रतिनायक मुसलमान था, और दूसरे का आश्रय-दाता (मुसलमान शासन का एक विशिष्ट पदाधिकारी होने के कारण) मुसलमानी संस्कृति के रंग में क़ाफी रंगा हुआ था। देव में अरबी-फ़ारसी के शब्द उपर्युक्त दोनों कवियों की अपेक्षा तो बहुत ही कम हैं, साधारण अनुपात से भी उनकी संख्या थोड़ी ही है। गुलाब, कमान, महल, मख़मल, कैंची, कलेजा, जहाज़ आदि शब्द तो हिन्दी में ऐसे मिल गए हैं कि इनको पृथक् करना भी सरल नहीं है, इनके अतिरिक्त और जो शब्द देव के काव्य में प्रयुक्त हुए हैं वे भी उस समय आमफ़हम ही थे—जैसे रस्तु, चर्क़, किर्च, सही, ज़ोर, शर्बत, ग़रीब आदि। इस प्रकार वास्तव में मख़तूल, फ़र्शबंद, ख़ुरासी, क़ज़्ज़ाक (कजाक), फ़ारगत (फारखती), शरीक जैसे विदेशी लगने वाले शब्द देव में कुछ एक ही रह जाते हैं। इनमें पहले चार तो एक प्रकार से पारिभाषिक-से हैं क्योंकि उनसे वस्तु या व्यक्ति-विशेष का बोध होता है, 'शरीक' भी पहले सरीक और फिर इनी प्रत्यय लगने से स्त्रीलिंग में सरीकिनी बनकर ब्रजभाषा में ही बिलकुल घुल-मिल गया है। फ़ारगत शब्द यद्यपि शुद्ध विदेशी है, परन्तु यह ब्रज के गाँवों में फारगती के रूप में आज भी काफी प्रचलित है। एकाध स्थलों पर जहाँ विषय-इस्लाम प्रकार का है, वहाँ ज़रूर अरबी-फ़ारसी का पुट गहरा

हो गया है—उदाहरण के लिए सुखसागर-तरंग का समर्पण-छन्द लिया जा सकता है जो पिहानी के मुसलमान अधिपति अकबर अली ख़ाँ की प्रशस्ति में लिखा गया है :—

देखो कौन आज जाको सोहत समाज जहाँ,
सब को सुकाज साहिबी को सुख साज है।
देव गुणमंत संत सामंत समाज, राज-
काज को जहाज दिल दरिया-दराज है।
जापै इतराज ता गनीम सिर गाज वग-
बैरिन पै बाज सैद वंश सिरताज है।
सानी सुरराज जो पिहानी-पुर राज करै,
मही मैं जहाज महमदी महाराज है।

पर यह वास्तव में देव की भाषा का सहज रूप नहीं है। मुसलमान आश्रयदाता की प्रशस्ति को उसकी संस्कृति के अनुकूल बनाने के लिए ही कवि ने सप्रयास ऐसा किया है।

अन्य प्रांतीय बोलियों के शब्द तो ब्रजभाषा में इतने घुल-मिल गए थे कि आज उनको पृथक् करके देखना भी सर्वथा सम्भव नहीं होता। उसमें बुंदेलखंडी, कन्नौजी के अतिरिक्त, अवधी और राजस्थानी आदि के शब्दों का अनुपात, किसी प्रांत-विशेष में कवि वास पर प्रायः निर्भर रहता था। देव अपने जीवन में इटावा, भरतपुर, दिल्ली आदि प्रान्तों मे ही रहे थे। बाद में शायद कुछ दिन के लिए अवध में पिहानी जाकर रहे हो, अतएव स्वभावतः ही उनकी भाषा में ब्रज से भिन्न बोलियों के शब्द बहुत कम हैं।-जो हैं वे प्रायः पूर्व-कवियों द्वारा स्वीकृत साहित्यिक शब्द ही हैं दूसरी बोलियों के देशज शब्द अधिक नहीं हैं। यों तो देव की कविता में अनेक शब्द नये से मालूम पडते हैं, परन्तु वे वास्तव मे किसी दूसरी भाषा के नहीं हैं। केवल तोड-मरोड के कारण ही विलक्षण प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए 'लपना', 'सौंरई' और 'रिख्यो' को लीजिए। ब्रजभाषा-भाषी इन पर थोडा चौंक सकता है। पर वे बाहर के शब्द नहीं हैं—लपना जल्पना से निकला है, सौंरई श्यामलता की विकृति है, और रिख्यो रेखा से बना लिया गया है। अन्त में कुछ शब्द ही ऐसे रह-जाते हैं जो ब्रज की परिधि से थोड़े बाहर पड़ते है :—झंमा, बीकना आदि। झंमा बुंदेलखंड आजकल नागा के अर्थ में सर्वसाधारण में प्रचलित है।

देव पर शब्दों को विकृत करने का दोष लगाया जाता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल इस अपराध में भूषण के साथ ही देव की भी गणना करते हैं। वास्तव में

इस प्रसंग में भूषण के साथ देव की तुलना तो उनके साथ बहुत बड़ा अन्याय है, परन्तु वैसे यह आरोप उचित ही है। लाला भगवानदीन ने देव के द्वारा प्रयुक्त अनेक शब्दों का विश्लेषण करते हुए उनके अनौचित्य का अत्यंत प्रामाणिक विवेचन किया है। देव ने यमक, अनुप्रास अथवा तुक के लिए शब्दों की बहुत ही तोड़-मरोड़ की है। ऐसा करने में उन्होंने, भाषा-विज्ञान के नियमों का उल्लंघन ही नहीं किया, कहीं कहीं तो उनका रूप ऐसा बदल दिया है कि वे सर्वथा नवीन शब्द ही प्रतीत होते हैं जिनका अर्थ लगाना असम्भव हो जाता है। इस शब्द-विकृति के मूल में प्रायः दो कारण हैं: एक तुक का आग्रह, दूसरा यमक अथवा अनुप्रास का आग्रह। तुक के आग्रह से कंदुक का कंद बन जाता है, इच्छा का ईछी, अभिलाषिणी का अभिख्या, हिरण्य का हिरन, तुला का तुलही, उल्लसित-हृदयवाली का हिये उलही, विदित का विद्दोत, द्वन्द्व का दंदरा :—

१. औचक ही उचकौ कुच 'कंद' सौ।
२. भूख न भोजन की कछु 'ईछी'॥
३. राखै मुख आभा अभिमान की 'अभिख्या' हौं।
४. तौलियत मानिक तें तुलासों 'हिरन' के।
५. कपोल ज्यौं प्रेम पला 'तुलही' के।
६. मिले सुखदायक न देख्यो दुख 'दंदरा'।
७. मरदनसिंह महीप सुत दैस बंस-'विद्दोत'।

इसी तरह, (२) यमक अनुप्रास के आग्रह से भी पूर्णेन्दु का पुमनेन्दु—व्यामोह का व्योह, जल्पना का लपना, पाण्डुर का पण्डल, हेमंत का हैउंत बन गया है।

१. 'लपनै' कहां लौं बालपने की विकल बातैं—
२. हैं उत देव बसंत सदा इत 'हैउंत' है हिय कंप महाबस।

यह अत्याचार केवल संस्कृत के शब्दों के साथ ही नहीं हुआ, हिन्दी के शब्दों का भी बड़ी निर्दयता से अंग भंग किया गया है :—

गर्वीली गुननि लजीली ढीली भौंहनि कै,
ज्यों ज्यों नई जानि त्यों त्यों नये नेह 'निनई'।
चीन्ही बात बातनि, 'उनौंधी' गात गातनि,
'गमौंधी' पर्यङ्क में निसंक अंक 'हितई'।
अँसुवन भीजी सीजी मीजी औ पसीजी,
भीजी पी जी मौं पसी-जी राग रंग रैन रितई।

नाह नाह सौंहैं कै हँसौंहैं नेह सौंहैं करी,
क्यों हू नाह सौंहैं ना हँसौंहैं नैक चितई।

इसी प्रकार—वंशी वारौ के वजन पर घनसी वारौ, तनसी वारौ, सहचर के वजन पर रहचर, महचर, चहचर, आदि अनेक शब्द देव ने गढ़ लिए हैं, उनकी संगति बैठती है या नहीं उनका कुछ अर्थ निकलता है या नहीं, इसकी कोई चिन्ता नहीं की। देव के काव्य में ऐसे शब्द भी सैकड़ों हैं जिनका कोई अर्थ ही नहीं मिलता। तीभ, धील, बावस, हुद्द, सीजी, बसीकने, गमार्‌यौ, दुहुव, तरावक, हूप आदि आदि। वैसे तो ब्रजभाषा का कोई भी कवि इससे मुक्त नहीं है परन्तु देव में यह दोष इतना अधिक है कि पाठक को प्रायः अर्थ के उलझ जाने के कारण अत्यन्त क्षोभ होता है। उनके छंदों की बहुत बड़ी संख्या इस प्रकार से प्रयोगों से ग्रस्त है।

व्याकरण

व्याकरण की दृष्टि से भी देव की भाषा अत्यन्त सदोष है। उन्होंने स्थान-स्थान पर उसके नियमों का उल्लंघन किया और इसके मूल में भी वही तुक, अनुप्रास और यमक का मोह है। इसी मोह में पडकर वे लिंग-सम्बन्धी दोष, कारक-चिह्नों तथा क्रिया रूपों की गड़बड, वाक्य-विन्यास का शैथिल्य, आदि अनेक व्याकरण दोषों के दोषी हुए हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे व्याकरण के नियमोंसे अनभिज्ञ थे, अथवा शुद्ध भाषा लिखने में ही असमर्थ थे। जहां उन्होंने थोडे भी संयम से काम लिया है, वहाँ उनकी भाषा बिल्कुल शुद्ध तथा व्याकरण-सम्मत मिलती है।

गौने के चार चली दुलही, गुरु लोगन भूषन भेष बनाए।
सील-सयान सखीन सिखायो, सबै सुख सासरे हू के सुनाये।
बोलियो बोल सदा हँसि कोमल, जे मन भावन के मन भाये।
यो सुनि ओछे उरोजन मैं अनुराग के अंकुर से उठि आये।

छंद की गति और लय के आग्रह तथा प्रायः अवधारण की दृष्टि से काव्य भाषा में क्रिया पहले आ जाती है और कर्त्ता, कर्म बाद में—ऐसा खडीबोली की कविता में—और अंगरेजी आदि में भी होता है। बस इस विपर्यय को छोडकर उपर्युक्त छंद में व्याकरण के सभी नियमों का पूर्ण निर्वाह है। अन्तिम पंक्ति में तो अन्वय की भी आवश्यकता नहीं है।

राधिका कान्ह को ध्यान धरै, तब कान्ह ह्वै राधिका के गुन गावै;
त्यों अँसुआ बरसै, बरसाने को पाती लिखै, लिखि राधे को ध्यावै।
राधे ह्वै जाय घरीक मैं 'देव', सुप्रेम की पाती लै छाती लगावै;
आपने आपु ही मैं अरुझै, सुरझै, बिरुझै, समुझै, समुझावै।

इस छंद में वाक्य सरल नहीं हैं, संयुक्त हैं, कृदन्तों का प्रयोग भी कई बार हुआ है। कृदन्त-प्रधान अंशों के प्रयोग से वाक्य रचना प्रायः जटिल हो जाती है, पर आप देखिए देव ने कितनी सफ़ाई से प्रत्येक वाक्य और वाक्यांश की स्वच्छता की रक्षा की है। लगभग संपूर्ण छंद ज्यों का त्यों गद्य में परिणत किया जा सकता है।

एक उदाहरण और लीजिए :

> 'कंपत हियो'; 'न हियो कंपत हमारो'; 'यों
> हँसी तुम्हे अनोखी'; 'नेकु सीत में ससन देहु';
> 'अंबर-हरैया, हरि, अंबर उजेरो होत',
> 'हेरिकै हँसै न कोई'; 'हँसै तो हँसन देहु।'

यहाँ एक ही पंक्ति में उत्तर-प्रत्युत्तर दिया गया है, शुक्लजी की शब्दावली में क्या मजाल कि जो एक भी शब्द इधर उधर हो जाये। वास्तव में देव बड़े पण्डित और शास्त्रविद् कवि थे, परन्तु एक तो ब्रजभाषा की प्रणाली ही कुछ बिगड़ी हुई थी, दूसरे देव ने झंकार, गति-लय, पद-बंध, समास-गुण, माधुर्य आदि भाषा के साहित्यिक गुणों पर इतना अधिक ध्यान दिया है कि उसके व्याकरण की प्रायः उपेक्षा हो गई है। पर यह दोष अपने आप में किसी प्रकार भी साधारण अथवा नगण्य नहीं है।

वचन और लिंग के दोष :—

पायनि के चित चायन को व्रज लीलत लोग अथायनि बैठ्यो।

(१) लोग सदैव बहुवचन में प्रयुक्त होता है, यहाँ लोग के साथ 'बैठ्यो' एकवचन क्रिया का प्रयोग किया गया है।

(२) कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो एक से अधिक वस्तुओं का द्योतन करने के कारण, जबतक कि पार्थक्य के लिए उनमें से एक का विशेष रूप से प्रयोग न किया जाए, साधारणतः सदैव ही बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं—केश, दंत, नख, नेत्र, कुच, नितम्ब, हाथ-पैर आदि ऐसे ही शब्द है। 'एक आँख दुखती है—' यहां तो पार्थक्य व्यञ्जक एकवचन का प्रयोग ठीक है, परन्तु साधारणतः आँख दुखने आगई हैं, आँखें खुल गईं', 'आंखें खिल गईं' आदि ही कहते या लिखते हैं—कुच और नितम्ब का भी बहु (द्वि) वचन में ही प्रयोग होता है। परन्तु देव ने एक वचन में ही उन्हें बाँध दिया है :

—त्यौं पुलक्यौ जल मौं झलक्यौ उर औचक ही 'उचकौ' कुच कंद-सौं।
—देवजू बादल ओप चरौ पल, त्यौंही नितम्ब भयौ कछु 'भारो'।

यहाँ किसी प्रकार भी पार्थक्य का निर्देश न होने से एकवचन के लिए कोई स्थान नहीं है।—'नैनन ते सुख के अँसुआ मनों भौंर सरोजन ते 'सरक्यौ' परै।' में उपमेय 'अँसुआ' बहुवचन में होने के कारण उपमान भौंर भी बहुवचन में ही होना चाहिए, और उसी के अनुसार क्रिया भी होनी चाहिए। परन्तु 'सरक्यौ' एकवचन है। कहीं कहीं आपने भाववाचक संज्ञा का भी बहुवचन कर डाला है—

ईंगुर सो रँग एड़िन बीच, भरी अँगुरी अति 'कोमलतायनि।'

इसी प्रकार लिंग-दोष भी देव में हैं :

१. पेजि कै पठाई, बधू सारद के 'सोम-सो'।

२. न रचा है चित और, अरचा है चितचारी 'को'।

अरचा स्त्रीलिंग है, पर 'को' पुँलिंग का चिह्न है।—

३. उचकै कुच कंद कदंब-कली-'सी'—कुचकन्द पुँल्लिङ्ग हैं 'सी' स्त्रीलिंग है।

४. राधा मन मोहि मोहि मोहन 'भई भई।'

५. लहर लहर होत प्यारी की 'लहरिया'

लहरिया प्राय: पुँल्लिंग में ही प्रयुक्त होता है—देव ने इसका स्त्रीलिंग में प्रयोग करते हुए उसके साथ क्रिया 'होत' को पुँल्लिग ही रहने दिया है।

६. 'लंक' शब्द कहीं पुँलिंग और कही स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त हुआ है :

पुँल्लिंग— सु भयो छवि दूबरो लंक बिचारो।

वा मुख मयंक जीत्यौ लंक मृगराज हू को।

स्त्रीलिंग—लंक गहि लीनी'''' '''''

या—लंक लचकि लचकि जात।

लंक शब्द प्राय: स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होता है, अवधी मे भी इसका यही रूप है—

'बसा लंक बरनै जग झीनी।' (जायसी)

कारक-चिह्नों की गड़बड़ :—कविता की भाषा मे कारक-चिह्नों का प्रयोग नियमित रूप से नहीं हो सकता—भाषा की कसावट को बनाए रखने के लिए कविजन इनको छोड भी देते हैं। ब्रजभाषा के कवियो ने—विशेषकर रीतिकाल के कवियों ने—प्राय: ऐसा किया है। देव के लिए तो अश्लथ पदबंद अत्यधिक महत्त्व रखते थे, अतएव उन्होंने स्थान स्थान पर कारक-चिह्नों को उडा दिया है। इन सबमें कर्त्ता के चिह्न 'ने' का प्रयोग सबसे कम हुआ है। एक प्रकार से 'ने'

को उड़ा देना ब्रजभाषा का स्वभाव ही बन गया था, यहाँ तक कि वैयाकरणों ने इसे नियम के भीतर ही ले लिया है। परन्तु वास्तव में ऐसा माना नहीं जा सकता क्योंकि यह केवल छंद का आग्रह ही है। ब्रजभाषा का जो थोड़ा बहुत गद्य है, उसमें ऐसा कहीं नहीं मिलेगा। भूतकालिक सकर्मक क्रिया के साथ गद्य का वाक्य बिना 'ने' के पूर्ण ही नहीं हो सकता,

'अब जो यह बात श्री गुसाँई जी ने कही।'

परन्तु कविता में 'ने'-रहित प्रयोग कहीं मिल जायेंगे। यही अधिकरण की विभक्तियों के लिए भी कहा जा सकता है। देव ने भी स्थान स्थान पर विभक्तियों को छोड़ दिया है :—

१. जब ते जदुराय दई दुहि गाय
२. उनहूँ अपनो पहिराय हरा मुसकाय कै गाय कै गाय दुही।
३. राधिका प्यारी हमारी सों तू कहि कालिह की बेन बजाई मैं कैसी।

निम्नलिखित पद में कई कारकों की विभक्तियाँ नदारद हैं :

भाँवरि होत निछावरि ह्वै गुन दामरि मेलि गरे गहराम्यो।
चित्त चुभ्यो मद ओठनि को हिय नेह नयो हरि के ढहराम्यो।
देव दुहूं रस लोभ बढ्यो, भयो लाज के छोभ कछू हहराम्यो।
दूलह प्रेम-पियूष पियो, सुर-रुख ज्यों ऊलहि के लहराम्यो।

'चित्त चुभ्यो' और 'हिय····ढरि' में अधिकरण का चिन्ह 'में' नहीं दिया गया; 'दुहूं रस लोभ बढ्यो' में सम्बन्ध या कर्म का चिन्ह 'को' और दूलह प्रेम-पियूष पियो' में कर्त्ता का चिन्ह 'ने' उड़ा दिया गया है।

यहां तक तो कोई विशेष हानि नहीं है, परन्तु इसके आगे जब कारक चिह्नों की गड़बड़ होने लगती है—तो वह क्षमा नहीं की जा सकती :

देव अहो बलि हौं बलिहारी, तिहारी सी प्रीति निहारी न 'मेरे'।

यहाँ कर्त्ता की विभक्ति होनी चाहिए, परन्तु देव ने सम्बन्ध की विभक्ति लगा दी है।

—"कल हंस कलोलत हैं कल 'सों'।" यहाँ 'सों' निरर्थक है।

—"खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि बंक 'मैं'।" यहां 'सों' (करण) के स्थान पर 'मैं' (अधिकरण) का भ्रान्त प्रयोग कर दिया गया है क्योंकि द्वारा के अर्थ में 'सों' ही आता है 'मैं' नहीं, 'बंक (उलटी) विधि सों (द्वारा)' ही शुद्ध है न कि 'बंक बिधि मैं।'

कारक-चिह्नों के वैकल्पिक रूप :—देव के प्रस्तुत मुद्रित और हस्त-लिखित ग्रन्थों में कारक-चिह्नों के प्रायः सभी वैकल्पिक रूप मिलते हैं। कर्म कारक के कों, कौ, को और कहीं कहीं कौं भी, करण और अपादान के सों, से, तैं, ते; अधिकरण के मैं, में, मांहि, माझ, मध्य, मधि, तथा पै, पर, पांहि—सभी को यथा-सुविधा प्रयुक्त किया गया है। जहाँ तक कर्म कारक की विभक्तियों में ओ, और 'औं' तथा 'औ' की ध्वनियों का सम्बन्ध है, यह निर्णय करना कठिन है कि देव ने मूल रूप में इनमे से कौनसी ध्वनि को स्वीकृत किया था क्योंकि उनकी कोई प्रामाणिक मूल-लिपि प्रस्तुत नहीं है। पं० मातादीन और चातक जी के पास सुरक्षित कुछ खण्डित पृष्ठ हैं जो देव की अपनी हस्त लिपि कहे जाते हैं; उनमें 'ओ' ध्वनि अर्थात् 'को' का ही प्रयोग अधिक है—यद्यपि 'कौ' का भी सर्वथा अभाव नहीं है। जिस एक छंद का चित्र हमने दिया है उसमें तीन बार 'को' और एक बार 'कौ' आया है। इसको प्रमाण न भी माना जाए तब भी यह तो सत्य ही है कि मथुरा और मथुरा के आस पास, इधर पश्चिम मे अलीगढ़, और बुलंद-शहर तक 'औ' ध्वनि का प्रचार अधिक है, और जितना आगरे से आगे इटावा मैनपुरी की ओर जाइए उतना ही 'ओ' के प्रति आग्रह अधिक मिलेगा; उधर 'औं' और 'औ' का प्रचलन एटा, बदायूं आदि प्रांतो मे है। ऐसी परिस्थिति में देव के लिए कर्म-चिह्न में 'ओ' की ध्वनि ही अधिक सम्भाव्य मानी जा सकती है। इसके अतिरिक्त जैसा कि एक व्याकरणकार ने लिखा है 'औ' की अपेक्षा 'ओ' की ध्वनि अधिक कोमल होने के कारण साहित्यिक ब्रजभाषा में 'को' ही अधिक ग्राह्य रहा है। रत्नाकर जी का मत पं० कृष्ण बिहारी मिश्र आदि अनेक अधिकारी पण्डितों को आज मान्य नहीं है।

क्रिया-रूप :—काव्य-भाषा में समास-गुण के आग्रह के कारण कारक चिह्नों की भांति क्रिया रूपो का भी प्रयोग थोड़ी किफायत से किया जाता है। वास्तव में कविता की भाषा में संयुक्त क्रियाएं ही ठीक बैठती हैं। वर्तमानकाल की सहायक क्रिया 'है' जिसका गद्य में बाहुल्य मिलता है, काव्य में प्रायः उड़ा दी जाती है। खड़ी बोली का परिमार्जन करते हुए, कवि पंत के सामने भी यह समस्या आई थी, और उन्होंने काव्य भाषा में संयुक्त क्रियाओं की उपादेयता पर बल देते हुए इस दो सींगों वाले कनक-मृग 'है' को कविता की पञ्चवटी से पूर्णतः बहिष्कृत करने का अनुरोध किया था। खड़ी बोली तो अपनी स्वाभाविक सीमाओं के कारण इस प्रयत्न में सफल न हो सकी, परन्तु संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग ब्रज-भाषा का तो एक सहज गुण रहा है। वर्तमानकाल के अनिश्चित और अपूर्ण रूपों में 'है' के प्रयोग का विधान तो है, परन्तु काव्य में प्रायः उसको त्याग ही दिया जाता है। इसके अतिरिक्त वर्तमानकाल के वैकल्पिक क्रिया-रूपों में तो 'है' क्रिया

में ही संयुक्त हो जाता है—'है' का 'हि' और 'हि' का ऐ बनकर क्रिया के धातु रूप में लग जाने से ही वर्तमान कालिक क्रिया के आवै, गावै आदि वैकल्पिक रूप बनते हैं। वर्तमान-कालिक कृदंत में भी जहां खड़ी बोली में 'कर' को पृथक् रूप से जोड़ना पड़ता है, वहां ब्रजभाषा में प्रायः क्रिया में ही 'इ' या 'य' प्रत्यय लगा देने से कृदंत रूप बन जाते हैं। शताब्दियों तक काव्य का माध्यम रहने के कारण ब्रजभाषा में खड़ी बोली की अपेक्षा ये विशेषताएं आप से आप आगई हैं। देव ने इन सभी का वाञ्छित उपयोग करते हुए अपनी भाषा की समास-शक्ति का विकास किया है। 'है' का प्रयोग पृथक् रूप में उनकी कविता में बहुत ही कम मिलता है :

> बैरागिनि की धौं अनुरागिनि सुहागिनि तू,
> देव बड़भागिनि लजाति औ लरति क्यों ?
> सोवति, जगति, अरसाति, हरखाति,
> अनखाति, बिलखाति, दुख-मानति डरति क्यों ?
> चौंकति चकत्ति उचकति और बकति,
> विथकति औ थकति ध्यान धीरज धरति क्यों ?
> मोहति, मुरति, सतराति, इतराति साह—
> चरज सराहि 'आहचरज' मरति क्यों :
> —ऊँचे धाम बाम चढ़ि आवत उतरि जाति।
> —सूखे जल सफरी लों सेज पै फरफराति।
> —बदन लिलार बड़े बार घुमड़े परत।

यक्त क्रिया-रूपों की भी देव में बहुलता है :—

> पवन झुलावैं, केकी-कीर बतरावैं, 'देव'।
> कोकिल हलावैं, हुलसावैं करतारी दै ॥

परन्तु यह सब होते हुए भी क्रिया-रूपों की गड़बड़ी देव में खूब मिलती है। एक तो क्रियाओं के रूप निश्चित नहीं है—कारक-चिह्नों की भाँति यहाँ भी प्रायः सभी वैकल्पिक-रूप मिलते हैं।—भविष्यत् कालिक क्रियाओं में ग और ह दोनों में अन्त होने वाले रूप तो मिलते ही हैं—कहीं कहीं बी में अंत होने वाले रूप भी प्रयुक्त हुए हैं जो किसी प्रकार भी शुद्ध नहीं माने जा सकते हैं :

> कछु और उपाय करौं जनि हौं इतने दुख सों सुख सों 'भरिबी'।
> फिरि संकट सों बिन कंत बसंत सु आवत जीवत हौं 'जरिबी'।
> बन बौरन बौरी ह्वै जाउँगी देव सुनें धुनि कोकिल की 'डरिबी'।
> अब डारिहौं धाँरि शरीर भरी सु इहां कहि और कहा 'करिबी'।

बी कारान्त क्रियाएं विधि लिंग में ही प्रयुक्त होती हैं—सूर, तुलसी, मतिराम, दास, सभी ने इसका इसी रूप में प्रयोग किया है—

लखनलाल कृपाल ! निपटहि 'डारिबी' न विसारि ।
'पालिबी' सब तापसिनि ज्यों राज धरम विचारि ।

डा० श्याम सुन्दर दास के अनुसार यह रूप व्रज के दक्षिण से लेकर बुन्देलखंड तक प्रचलित है । एक प्रकार से आजकल इसे बुन्देलखण्डी क्रियापद ही माना जाता है । कहीं-कहीं दुहरे प्रत्यय लगा कर क्रिया का रूप विचित्र बना दिया गया है—

"माधव 'बिर्तैहौगी' उमा-धव को ध्यान कै ।" यहां 'है' और 'गी' दोनों ही भविष्यत् वाची प्रत्यय लगा दिए गए हैं । लाला भगवानदीन ने ऐसे ही शब्दों को पकड़ कर देव को खूब झंझोड़ा है ।

'देव जू' गोहिंन लागे फिरैं, गहिके गहिरे रंग मैं 'गहिराऊ' ।
पीतपटा पहिरो है, भटू, उन्हें नीलपटा अपनो 'पहिराऊ' ॥
बांसुरी की बनि तानन सों, व्रज की बनितान सबै 'बहिराऊ ।'

यहाँ एक तो गहरो से आज्ञा में 'गहराउ' बना लेना ही व्याकरण सम्मत नहीं है, फिर दीर्घांत कर देना तो सर्वथा अनियमित है । यही बात 'पहिराऊ' और 'बहिराऊ' के लिए भी कही जा सकती है । इसी प्रकार क्रियापदों में भी काल की गड़बड़ियाँ अनेक हैं । कुछ स्थानों पर एक ही वाक्य में वर्तमान और भूतकालों को भिड़ा दिया गया है :

दर्पन देखि इतै दृग दै, रचि मेरे सिंगार बिगारत हैं हरि ।
× × ×
भाल मृगम्मद बिन्दु बनाय कै, इन्दु-सो मोहि गुविन्द गये करि ।

वाच्य-परिवर्तन में देवने भाषा का रूप काफी बिगाड़ा है । व्रजभाषा में 'इयत' प्रत्यय लगाकर तथा 'जानों' क्रिया के विभिन्न रूपों को जोड़कर कर्म-वाच्य और भाव-वाच्य बनाये जाते है । 'इयत' प्रत्यय प्रत्येक शब्द में ठीक नहीं बैठता, इसलिए जानो क्रिया के विभिन्न रूपों को जोड़ने की आवश्यकता पड़ती है । पर देव ने इसका उचित ध्यान नहीं रखा—'सुननो', 'धुननो' आदि से 'सुनियत', 'धुनियत', तो ठीक है, चढ़ानों से 'चढ़ाइयतु' भी सहलिया जाए, परन्तु 'लपटानो' से 'लपटाइयतु' तो व्याकरण सम्मत होते हुए भी साधारणतः व्यवहारार्थ नहीं है । देखिए नीचे के छंद में 'इयत' प्रत्यय का कितना दुरुपयोग किया गया है—

मोहन की मूरति सों मोही मनमोहिनी सु,
मोहि महामोह व्योह मो हिय 'मढ़ाइयतु'।
भौंर भौंर भीतर सरोज फरकत, ऐसी,
अधखुली-अँखियान उपमा 'बढ़ाइयतु'।
आलिन की आन उर आनी, तन आनी आन,
करत न कान ही सयान ही 'पढ़ाइयतु'।
लोनौ मुखमण्डल पै पंडल प्रकास जैसे,
'देव' चन्द-मण्डल पै चन्दन 'चढ़ाइयतु'।

यहाँ मुख्य क्रिया-पद है 'चढाइयतु' जिसका अर्थ है - चढाया जा रहा है। यह तो ठीक है। परन्तु 'मढ़ाइयतु' का अर्थ मढ़ाया जा रहा है, लेने से पहले प्रधान वाक्य का शब्दार्थ होगा, हृदय मोह और व्यामोह से मढाया जा रहा है; और 'बढ़ाइयतु' का अर्थ 'बढाया जा रहा है करने से दूसरे प्रधान वाक्य का शब्दार्थ होगा : अधखुली आँखों के लिए उपमा बढाया जा रहा है (उ प्रत्यय पुल्लिंग वाची है)। भला ऐसे वाच्य प्रयोगों से कुछ तुक बैठती है ? इसके अतिरिक्त कर्तृ वाच्य और कर्म-वाच्य की उलझन तो देव की भाषा में अनेक मिलती हैं—परन्तु यह हिन्दी का स्वाभाविक दोष है—खड़ीबोली इतने नियमन के उपरांत भी इससे मुक्त नहीं हो पाई—देव बेचारे दोषी हैं तो क्या आश्चर्य ?

अवधी और खड़ी बोली के क्रियापद और सर्वनाम :—जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, ब्रजभाषा में हिन्दी की अन्य समीपवर्ती उपभाषाओं के भी क्रियापद और सर्वनाम आदि घुल-मिल गये थे। देव में 'आहिं' आदि अवधी के क्रिया-पद मिल तो जाते हैं पर उनका अनुपात बहुत ही कम है। 'दीन्ह', 'कीन्ह' आदि अवधी रूप जो बिहारी में प्रचुरता से मिलते हैं, देव में ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार 'दीन्ही', 'कीन्ही' बन कर ही प्रयुक्त हुए हैं। 'बकती', 'झुकजाती', 'लहराती' जैसे वर्तमान-कालिक कृदंत साधारणतः खड़ी बोली के ही हैं, परन्तु ब्रजभाषा में भी वैकल्पिक रूप में उनका प्रयोग थोड़ा बहुत होता ही था। ठेठ ब्रजभाषा लेखक रसखान में भी 'बोलती हैं' जैसे क्रिया-पद मिल जाते हैं। सर्वनामों में देव ने प्रचलित रीति के अनुसार सभी वैकल्पिक रूपों को ग्रहण किया है। उन्होंने उत्तम-पुरुष के मैं हौं, मोहि (मोय); मध्य पुरुष के तू, तैं, तोहि (य), तोकों, सभी का यथा-सुविधा प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त संकेत-वाचक सर्वनामों में भी जाको, जाहि (य) ताको, ताहि (य) के साथ शुद्ध अवधी-रूप जेहि, तेहि और इह भी स्थान-स्थान पर मिल जाते हैं :—

—करत समाज सुसाज सुख राजहंस 'जेहि' सेव।
—काव्य सार शब्दार्थ को, रस 'तेहि' काव्य सुसार।

वाक्य-रचना :—विश्वनाथ के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति से युक्त पद-समूह को वाक्य कहते है। वाक्यार्थ की पूर्ति के लिये किसी पदार्थ की जिज्ञासा बना रहना आकांक्षा है, एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाधा न होना योग्यता है, और जिन पदार्थों का प्रकरण में सम्बन्ध है, उनके बीच में व्यवधान न होना आसक्ति है। अर्थ की उचित प्रतीति के लिए वाक्य-गत व्यवस्था सर्वथा अनिवार्य है। कविता मे कवि को पदों का क्रम थोडा इधर-उधर करने की स्वतन्त्रता सदा से रही है। व्यवस्था का ध्यान रखने वाले कवियों ने तो इस स्वतन्त्रता का उचित उपयोग ही किया है, परन्तु अनेक कवि इसका दुरुपयोग भी खूब करते आये हैं। हिन्दी के प्राचीन साहित्य में तुलसी को छोड कर अन्य कवियों ने वाक्य-रचना के नियमों का ढंग से पालन नहीं किया। रीति-काल के अन्य कवियों की भांति देव का ध्यान भाषा की समृद्धि और अलंकृति की ओर ही अधिक था। अतएव उनकी भाषा में वाक्य-रचना की विशेष व्यवस्था ढूंढना व्यर्थ होगा। इस युग में आकर सवैया और कवित्त मे अन्तिम चरण के बन्द्र का महत्व इतना अधिक हो गया था कि कवियों को प्रायः उसी पर जाकर वाक्य समाप्त करना पड़ता था; कर्त्ता और प्रधान-क्रिया अधिकतर उसी में रहती थी। स्वभावतः वाक्य का स्वरूप इस प्रकार कृत्रिम बन जाता था; और उसका क्रम उलट जाता था। देव के अनेक छन्द इसका प्रमाण हैं :—

रेसम के गुन छीर्ति छरा करि, छोर तें ऐंचि सनेह रचावै।
देव दसौ अंगुरी कर पांइ, बरै उरमाइ, कै रंग मचावै।
मोहति सी, मन पोहति सी; तन चोरति सी, छवि भौंहं चलावै।
चञ्चल नैननि सैनन सों पटवा की बहू नटवा से नचावै।

दंपति एक ही सेज परे पग पीडुरी दाबि दुहूँ को रिझावति;
आपने ओछे उठोहैं कठोर उरोजन को मलै एड़ी मिलावति;
भौंहैं उमेठि रहै ठकुराइनि ठाकुर के उर काम जगावति,
लौंडी अनोखी लडाइते लाल की पॉय पलोटै कि चोटैं चलावति।

यह बात नहीं है कि वे व्यवस्थित वाक्य-रचना में समर्थ ही नहीं थे। इस परिच्छेद के आरम्भ में उद्धृत छंदों की वाक्य-रचना उनकी समर्थता की साक्षी है, परन्तु वास्तव में उन्होंने इसे कभी विशेष महत्व नहीं दिया। यह बात उन पर ही नहीं हिन्दी के अधिकांश प्राचीन कवियों पर ही लागू होती है। इसी पर खीझ कर तो शुक्ल जी को कहना पड़ा कि 'वाक्य-दोष हिन्दी में भी हो सकते हैं, इस का ध्यान

तो बहुत कम लोगों को रहा।' फलस्वरूप देव की वाक्य-रचना अव्यवस्थित और उलझी हुई है, और यह त्रुटि उनमें शायद दूसरे कवियों से भी अधिक है। वाक्य-का सब से मुख्य दोष है अन्वय-दोष, जिसे शास्त्रीय शब्दावली में 'अभवन्मत संबंध' कहते हैं। वाक्य-पदों का सम्बन्ध कठिनाई से बैठना अथवा न बैठना इसके अन्तर्गत आता है। उधर शास्त्र के अक्रमत्व, संदिग्धत्व आदि दोष भी इसी में आ जाते हैं। देव में यह दोष विरल नहीं है—

१—काके कहैं लूटत सुने हो दधि-दान मैं।

इसका खींच-तान कर अन्वय होगा :—'काके कहैं दधि-दान लूटत' मैं सुने हो।

२—धरत न धीर, उर अधिक अधीर मैं।

यहाँ उर और मैं के बीच उर के विशेषण 'अधिक अधीर' आ गये हैं।

३—एक तुही वृषभानु सुता, अरु तीनिहै वे जु-समेत सची हैं।

कितना शिथिल पद है।

४—ओठन ते उठि पीठि पै बैठि, कंधान पै ऐंठि मुर्‌यो मुख मोरनि॥
देव कटाच्छन तें कढ़ि कोपि, लिलार चढ़्यो बढ़ि भौंह मरोरनि।
अंक में आय मयंक-मुखी लई, लाल को बंक चितै दृग-कोरनि।
आँसुन बूड़्यो उसास उड़्यो किधौं मान गयो हिलकी की हिलोरनि।

इस छन्द में कर्ता 'मान' बिलकुल अन्त में आया है। रीति-काल की परिपाटी के अनुसार इसको स्वीकार भी कर लिया जाये, परन्तु तीसरे चरण में एक गर्भित-वाक्य और आ गया है, जिससे यह अन्तर और भी बढ़ गया है, और फिर, इस गर्भित-वाक्य का अन्वय ही नहीं बैठता। 'चितै' को यदि 'चितौनि' के स्थान पर ग़लती से प्रयुक्त किया हुआ माना जाये तब कहीं कठिनता से यह संगति बैठती है कि लाल को (अपनी ओर) बंक-दृग-कोरों से देखती हुई मयंक-मुखी को उन्होंने (लाल ने) आकर गोद में ले लिया। 'लाल को' के स्थान पर 'लाल' ने पाठ मान लेने से यह समस्या हल हो जाती है, परन्तु सभी ग्रन्थों में यही पाठ होने से इसकी प्रामाणिकता पर सन्देह करना भी सहज नहीं है। इसके अतिरिक्त ऐसे पद-समूह जिनका कोई भी अन्वय नहीं बैठता, देव में एक दो नहीं, अनेक हैं, कहाँ कहाँ पाठ की अशुद्धि मानी जा सकती है?

वाक्य के अन्य मुख्य दोष हैं न्यून-पदत्व, (जिसके अन्तर्गत साकांक्ष आदि अन्य शास्त्रीय दोष आ जाते हैं) और अधिक-पदत्व (जिसमें निरर्थक-पदत्व आदि का

भी समावेश हो जाता है)। भाषा के अन्य दोषों की भांति इनके लिये भी छन्द, अनुप्रास और एकाध स्थान पर यमक का आग्रह ही उत्तरदायी है।

न्यून पद :—खेंचि खरी दई दौरि सखी के उरोजन बीच सरोज फिराय कै।

यहाँ लिंग दोष नहीं है, जैसा कि लाला जी ने दिखाया है, वरन् 'की माल' छूट जाने से न्यून-पदत्व ही है। ठीक ऐसा ही एक जगह और हुआ है—

बालम और विलोकि के बाल, दई मानों खेंचि सनाल सरोज की।

यहाँ भी 'माल' शब्द रह गया है।

ये उदाहरण तो साधारण हैं, इनका अर्थ तो थोड़ी कठिनाई के बाद निकल ही आता है। परन्तु देव में ऐसे अनेक छंद भरे पड़े हैं जिनमें न्यून-पद और कष्ठार्थ दोष मिल कर एक हो गये हैं। लक्षणा, व्यंजना, रीति-गुण, रस-भेद तथा अलंकार आदि के उदाहरण रूप दिये हुए छंदों मे ये दोष प्रायः सर्वत्र ही मिलते हैं, और वहाँ थोड़ी देर के लिये क्षमा भी किए जा सकते हैं। परन्तु इस कवि में तो यह एक साधारण बात है :—

अंत रुकै नहिं अंतर कै मिलि, अन्तरु कै सु निरंतर धारैं;
ऊपर वाहि न, ऊपर वा हित, उपर-बाहिर की गति चारैं;
बातन हारति, बात न हारति, हारति जीभ न बातन हारैं;
देव रंगी सुरत्यो सुरत्यो मनु देवर की सुरत्यो न बिसारैं।

अब इसका अर्थ कीजिये, पहले तो अन्तिम पंक्ति से देवर शब्द लीजिये। देवर से अन्तर करके भी अन्त में नहीं रुकती अर्थात् उससे मिलती ही है। मिल कर फिर जब पृथक् होती है तो उसे निरंतर हृदय में धारण करती है। ऊपर से (प्रकट रूप में) उससे प्रेम नहीं करती, प्रकट रूप में तो वर अर्थात् पति से प्रेम करती है। इस प्रकार ऊपर-बाहर वाली गति से अर्थात् प्रकट-रूप में औचित्य का ध्यान रखते हुए चलती है""इत्यादि। इस छन्द में न्यून-पदत्व और कष्टार्थत्व तो स्पष्ट है ही, कथित-पदत्व भी पहली पंक्ति में मिलता है।

अधिक-पद :—अधिक और निरर्थक पद देव की भाषा में शायद और भी अधिक होंगे।

१—लाज लिये अभिलाष लखी लखिमी बिलखो 'लख लाख लखी की।'
२—वह-बह्यो गंध, 'वह-बह्यो है सुगंध'
(दूसरा वाक्यांश सर्वथा अनावश्यक है)
३—एक पूरा छंद लीजिये :—

सकल कलानि भरी सकल कलानिधि सी,
सुतनु बखानियत खानि रतननि की।
सोभै शुभ बानी-सी विमोहै शुभ बानी बोलि,
हंस चढी बानी ज्यों सयानी जतननि की।
देव कमनीय कमला हू ते कमल-मुखी,
कोमल विमल पति-दुःख पतननि की।
सोभा सविवेक एक राधिका कुँवरि पर,
वारौं रति-रमनो अनेक अतननि की।

यहाँ जतननि की, पति-दुःख पतननि की, तो सर्वथा निरर्थक है, उधर रति कह देने के बाद 'अतननि की रमनी' पद भी अधिक है।

निष्कर्ष :—इस विवेचन के उपरांत निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

(१) देव की भाषा साहित्यिक व्रजभाषा ही है। उसे पूर्णतः शुद्ध व्रजभाषा, जिस अर्थ में कि रसखान और घनानन्द की भाषा है, नहीं कहा जा सकता। परन्तु उनकी मातृभाषा लगभग व्रजभाषा ही होने के कारण उसमें अवधी, राजस्थानी आदि का मिश्रण अपेक्षाकृत बहुत कम है।

(२) व्याकरण की दृष्टि से देव की भाषा केशव और भूषण को छोडकर अन्य समर्थ कवियों की अपेक्षा अधिक सदोष है। उनमें व्याकरण के प्रायः सभी प्रमुख दोष मिलते हैं। वाक्य-दोषों की प्रचुरता के कारण उनकी भाषा स्थान-स्थान पर अर्थ-व्यक्ति एवं प्रसाद गुण खो बैठती है, जिससे उसकी स्वच्छता नष्ट हो जाती है। मतिराम, बेनीप्रवीन, घनानन्द आदि के साथ तुलना करने पर आप स्वच्छता के इस अभाव का अनुमान लगा सकते हैं।

(३) परन्तु इसका कारण, जैसा कि मैंने पहले कहा है यह है कि देव का ध्यान भाषा के सौष्ठव और समृद्धि पर इतना अधिक रहा है कि वे उसके स्वरूप की शुद्धता और स्वच्छता की भी उपेक्षा कर बैठे हैं। अतएव देव की भाषा का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिये उसके अभिव्यंजना-सौष्ठव की परीक्षा करनी चाहिये। यह काव्य भाषा (Poetic diction) है। गद्य-भाषा के नियमों मे उसे परखना अनुचित होगा।

सौष्ठव

अलंकरण :—इस दृष्टि से सब से प्रमुख विशेषता जो देव की भाषा में मिलती है, वह है उसकी अलंकृति और सज्जा। पद-योजना पर कवि ने विशेष परिश्रम कर उसको अत्यन्त समृद्ध बना दिया है। व्रजभाषा की प्रकृति के अनुसार

पद प्रायः छोटे और असमस्त हैं। उनके बंधों में सर्वत्र अनुक्रम और संतुलन है, जिसके कारण सभी पद छोटी-छोटी लड़ियाँ-सी बना कर एक कोमल झंकार में गुंथ जाते हैं। पद-बंधों का यह कलात्मक गुंफन प्रायः अनुप्रास तथा वीप्सा एवं पदावृत्ति के विभिन्न प्रयोगों पर आश्रित रहता है। वीप्सा के द्वारा भाषा में गति उत्पन्न होती है और अनुप्रास के द्वारा झंकार और सस्वरता—

(१) रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
सांसै भरि आँसू भरि कहत दई दई।
× × × ×
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई भई।

पहले चरण की वीप्साओं में 'रीझि रीझि', 'रहसि रहसि', 'हँसि हँसि' की आवृति तो स्पष्ट है। 'रहसि' और 'हँसि' में 'हसि' की और 'साँसै भरि' तथा 'आँसू भरि' मे 'आँस भरि' की आवृत्ति कुछ सूक्ष्म है। इसी प्रकार अन्तिम चरण 'मोहि मोहि' की स्पष्ट आवृत्ति में मोहन के 'मोह' की आवृति सूक्ष्म रूप से अनुस्यूत है तथा 'राधामय' और 'राधामन' में राधा के साथ 'म' की भी आवृति है। वीप्सागत ये आवृत्तियाँ शब्दों को आगे ढुलकाती हुई भाषा में एक विशेष गति पैदा कर देती हैं। उधर पहले चरण मे र, ह, (झ मे भी ह वर्तमान है) और स व्यंजनों के साथ साथ इ स्वर का (जो ई और ऐ में भी सूक्ष्म रूप से वर्तमान है) साम्य और अन्तिम चरण में म, ह और न व्यंजनों के साथ इ और ओ स्वरों का साम्य एक कोमल सस्वरता को जन्म देता है। कुछ और उदाहरण लीजिये—

(२) छूटी अलकनि छलकति जल बूँदन की,
बिना बेंदी-बंदन बदन सोभा बिकसी।
तजि तजि कुंज-पुंज ऊपर मधुप-गुंज
गुंजरत मन्जु रव बोलै बाल पिकसी।

(३) वारि की बूंद चुवैं चिलकैं अलकैं, छवि की छलकैं उछली-सी।
अन्चल झींने झपैं झलकैं, पुलकैं कुच-कन्द कदम्ब-कली-सी।

इनमें वृत्त्यनुप्रास और छेकानुप्रास दोनों का मनोरम सम्मिश्रण है और मधुर वर्ण जैसे घुलते चले जा रहे हैं। अनुप्रास के प्रयोग में देव ने प्रायः सूक्ष्म-कोमल वर्ण-मैत्री पर ही विशेष ध्यान दिया है, एक व्यन्जन विशेष से आरम्भ होने वाले शब्दों का ताँता बाँध देना उनका अभीष्ट नहीं रहा। सानुप्रास पद-योजना में व्यन्जन और स्वर दोनों की ही आवृत्ति वास्तव में भाषा की उचित श्री-संवृद्धि

करती है। देव इस सौन्दर्य-रहस्य से भली भाँति परिचित थे। उनके पद-बंधों में दोनों की ही मैत्री मिलती है।

> भूलत ना वह झूलनि बाल की, फूलन माल की लाल पटी की।
> देव कहै लचकै कुच-चंचल चोरी दृगंचल चाल नटी की।
> अन्चल की फहरानि हिये, थहरानि उरोजनि-पीन तटी की।
> किंकिण की-झहरानि बुलावति, झूँकन सों झुकि जानि कटी की।

भूलत, झूलनि, फूलन; लोल और माल; चन्चल, दृगंचल और अन्चल; फहरानि, थहरानि, झहरानि और झुकि जानि में क्रमशः अन्त्यानुप्रास का स्वर-व्यञ्जनमय साम्य है, और उधर सारे पद में ल, च, ह, झ, र और न आदि कोमल वर्ण छोटे घुंघरुओं की तरह गुंथे हुए हैं। अन्त्यानुप्रास-युक्त पद एक विशेष अनुक्रम और संतुलन की सृष्टि करते हैं और ल, च आदि स्फुट वर्णों की आवृत्ति कोमल झंकृति उत्पन्न करती है।

यमक का प्रयोग भी देव ने प्रायः पद-बंधों की सजावट और कसावट के लिये ही किया है—

> जे हरि मेरी धरैं पग जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रचे री।

यहाँ जे हरि, जेहरि और ते हरि, तथा रिचेरी और रचेरी के शाब्दिक संतुलन और अनुक्रम से पद-बंध में एक ऐसी कसावट आ गई है कि श्रोता का ध्यान उसी पर जम जाता है, शब्दार्थ-गत चमत्कार पर जाता भी नहीं है। इस तथ्य की पुष्टि में कुछ और उदाहरण लीजिये।

> (२) ए री पनहारि 'देव' तेरी मनुहारि करौं,
> नेक ही निहारि हरि गयो हिय हारि कै।
>
> (३) तो दृग झरोखा दै झलक, पट ढरके,
> छल कपट छाँड़ि कै पलक पट खोलि खोलि।

इस प्रकार आप देखिये कि जो यमक व्याकरण की दृष्टि से भाषा का सब से बड़ा अपकारक है वही थोड़े संयम के साथ प्रयुक्त होकर पद-बंधों को कसता हुआ उसका कितना उपकार करता है। चमत्कार के लिये भी यमक का कहीं-कहीं प्रयोग हुआ है, पर अधिक नहीं——

> अगुरी जगावैं जगु जगुरी जगै न उजगै न जोति जगै होति ही जो जग जग री।
> द्वार को डगर डगरी पगनि का पै डग डग परी परतु डोलत डोलैं डग डग री।
> देव गुन अगरी उसासैं भरैं अगरी नवाये दंतु अँगुरी अचल अंग अंग री।
> लंक लग अगरी, कलंक लग डगरी सगीत संग डगरी सगरी न संग अगरी।

शुक्र है कि यमक के ऐसे गोरखधंधे ज़्यादा नहीं है। वास्तव में देव के प्रायः सभी प्रसंगों मे ऐसे उदाहरण मिल जाने का कारण यह है कि देव का स्वभाव कुछ अतिप्रिय था। प्रत्येक बात को सीमा तक पहुँचा देने का उनको कुछ चाव-सा था।

अर्थ-ध्वनन :—अर्थ-ध्वनन काव्य-भाषा का अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है। कुछ शब्द अथवा शब्द-समूह इतने मुखर होते हैं कि वे ध्वनि मात्र से ही अपना अर्थ व्यक्त कर देते हैं। अर्थ-ध्वनन का चमत्कार ऐसे ही शब्द-समूह की योजना पर आश्रित रहता है। पाश्चात्य अलंकार-शास्त्र में यह एक स्वतन्त्र अलंकार ही माना गया है। हमारे यहाँ यह अनुप्रास के ही अन्तर्गत आता है। एक ओर व्यन्जनों की मैत्री और दूसरी ओर अनुकरण-मूलक शब्द इसमें विशेष रूप से सहायक होते हैं। वास्तव में भाषा को समृद्ध करने का यह इतना सुन्दर साधन है कि प्रत्येक भाषा-शिल्पी अनिवार्यतः इसका जाने अनजाने में प्रयोग करता है। आधुनिक युग में कवि पंत की भाषा में यह गुण प्रचुर मात्रा में मिलता है। रीतिकाल में देव और पद्माकर इसके सब से बडे उस्ताद थे। देव के कुछ प्रयोग देखिये—

हौं ही ब्रज वृन्दावन मोही मैं बसत सदा, जमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की।
चहुँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत, कुंजनि में सुनियत, गुंजनि अलीन की।
बंसीवट तट नट-नागर नटतु, मोमैं रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक बनक तालताननि की तनक तनक तामें झनक चुरीन की।

पहले चरण के उत्तरार्ध से तरङ्ग-रव, दूसरे चरण से भौंरो का गुंजन और अंतिम से ताल-तान और चूडियों की मिश्रित झंकार कितने स्पष्ट रूप में ध्वनित हो रही है।

सहर-सहर सोंधो सीतल समीर डोलै,
घहर-घहर घन घेरि कै घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो 'देव'
छहर-छहर छोटी बूंदन छहरिया।
हहर-हहर हँसि हँसि के हिंडोरें चढ़ी,
थहर-थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर-फहर होत पीतम को पीत पट,
लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया।

इस छन्द के शब्दों से ही वायु का मन्द संचरण, बादलो का घहराना, वर्षा की झड़ी का झर्झर शब्द, छोटी छोटी बूँदों का छहराना, अपेक्षाकृत भारी पीत

पट का फहराना और बारीक लहरियों का लहराना आपसे आप ध्वनित हो उठता है।

कांति-गुण :—कांति शब्द का प्रयोग यहाँ हम वामन के पारिभाषिक कांति गुण से कुछ भिन्न अर्थ में कर रहे हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य केवल शब्द-गत औज्ज्वल्य एवं मसृणता से ही है जिसे अंग्रेज़ी में पालिश कहेंगे। रीति युग ने हमारी भाषा को जो सब से बड़ा वरदान दिया वह यही औज्ज्वल्य और मसृणता है। इस युग के कवियों ने सूर, तुलसी, नन्ददास आदि से प्राप्त भाषा को मानो खराद पर चढ़ा चढा कर चिकना और चमकीला बना दिया। देव की भाषा में यह गुण रीतिकाल के अन्य कवियों से भी अधिक मिलता है। उसके शब्दों में उज्ज्वल वर्णों का प्राचुर्य है। उनका खुरदरापन प्रयत्नपूर्वक दूर कर दिया गया है। कहीं कहीं तो इसके लिये व्याकरण के नियम अथवा अर्थ-व्यक्ति का भी बलिदान करना पड़ा है। इस कवि की भाषा मे कांति गुण इतना स्पष्ट है कि उसके लिए विशेष प्रमाण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। ऊपर उद्धृत प्रायः सभी छन्दों में वह वर्तमान है। फिर भी एक और उदाहरण लीजिये—

> आई बरसानै तै बुलाई बृषभानु सुता,
> निरखि प्रभानि प्रभा भान की अथै गई।
> चक चकवानि के चकाये चक-चोरन सों,
> चौंकत चकोर चका चौंध सों चकै गई।
> देव नन्द-नन्दन के नैननि अनन्द मई,
> नन्द जी के मंदिरन चन्द मई कै गई।
> कंजनि कलिन-मई कुंजनि अलिन-मई,
> गोकुल की गलिन नलिन मई कै गई।

भाषा के विषय में कवि पंत ने एक स्थान पर लिखा है :—"जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर कोमल कर लेना पड़ता है उसी प्रकार कविता के स्वरूप में............ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप में गलाकर कोमल, करुण, सरस, प्रांजल कर लेना पड़ता।" ये शब्द देव की भाषा का बड़ा ही सच्चा वर्णन करते हैं, वास्तव में इस कवि ने शब्दों को हृदय के मधुर ताप में गलाया ही नहीं है, माधुर्य रस में उनको पाग भी दिया है।

शक्ति :—रीति प्रसंग में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार देव ने शब्द-शक्तियों में अभिधा को सर्वोत्तम माना है और इससे उनका वास्तविक अभिप्राय क्या है? लक्षणा और व्यंजना के ऊपर अभिधा की महत्व-प्रतिष्ठा

शिल्प के ऊपर भाव की महत्व-प्रतिष्ठा ही है, परन्तु जिस प्रकार देव ने भाव को काव्य का सार मानते हुए भी व्यवहार रूप में कला को उचित स्थान दिया है, इसी प्रकार उन्होंने लक्षणा और व्यंजना का भी उचित रीति से पूर्ण मनोयोग के साथ प्रयोग किया है। वास्तव में कला—विशेषकर अभिव्यंजना की शक्ति और सौष्ठव बहुत कुछ लक्षणा और व्यंजना पर ही आश्रित रहते हैं। कुछ लोगों का यह विचार है कि हिन्दी की लाक्षणिकता तथा मूर्तिमत्ता का विकास आधुनिक युग का ही प्रसाद है, परन्तु यह धारणा भ्रान्त है। रीतिकाल में ही, जो कि इन शक्तियों के ह्रास के लिए बदनाम है, घनानन्द, पद्माकर, प्रतापसाहि, बिहारी, देव आदि अनेक कवियों ने इनका उचित प्रयोग किया है। अप्रस्तुत योजना के प्रसंग में हम देव की भाषा की इन शक्तियों का थोड़ा बहुत विवेचन कर चुके हैं :—धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग, मानवीकरण, आदि प्रणालियां मूलतः इन्हीं पर आश्रित हैं। देव के लाक्षणिक प्रयोग कुछ तो इतने मार्के के हैं कि उनको आसानी से आधुनिक प्रयोगों के समकक्ष रखा जा सकता है। पीछे दिये हुए 'पावस ते उठि कीजिए चैत, अमावस ते उठि कीजिए पूनो' आदि सुन्दर उद्धरणों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे ही उदाहरण लिए जा सकते हैं :

(१) अंगनि उमंगन को 'विहंगम जग्यो पर।'

स्फुरण के लिए 'विहंगम जग्यो परै' का प्रयोग कितना अर्थ-मुखर है।

(२) बिछियान की 'जीभें न लागती हैं।'

(३) सुनि सुनि श्रवणन 'भूख-सी भजति है।'

(४) मदन 'सदेह' जाग्यो—

काम के तीव्र आवेग को व्यंजित करने के लिए 'सदेह' पद कितना समर्थ है।

(५) व्रज पौरि बिथा की कथा 'बिथुरी' है।

इसी प्रकार लक्षणा का ही सहारा लेकर कहीं-कहीं स्फुट शब्दों में भी एक नवीन अर्थ-वैचित्र्य उत्पन्न कर दिया गया है :—

छाप बनी काहू 'ओछे उरोज' की [—इस शब्द का कवि ने अनेक बार इसी (अर्ध-स्फुट) अर्थ में प्रयोग किया है।]

रैहै क्यों 'ऊजरी' गोकुल में व्रजगूजरी गूजरी गोकुल की गर्वीली।

—छैल छुओ जनि छाती 'अछूती'।

—मदन मरोरे 'कोरे' अंग कुम्हिलाने जात।

लक्षणा के ही आश्रित भाषा की एक अन्य प्रौढ़ शक्ति है प्रतीकात्मकता। विदेश में, अभिव्यंजनावाद आदि के प्रभाव के कारण, नवीन कविता में उसका विशेष प्रचार बढ़ा है। प्रतीकात्मकता वैसे तो अति-वस्तुवाद* आदि के आश्रित होने के कारण अत्यन्त जटिल और सूक्ष्म वृत्ति है, परन्तु अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए इसका सरल रूप में भी समर्थ कवि प्रयोग करते हैं। अंगरेज़ी में कीट्स द्वारा अंकित पतझड़ का, अथवा हिन्दी में प्रसाद जी द्वारा अंकित इड़ा का प्रसिद्ध प्रतीक-चित्र भाषा की इसी शक्ति का प्रसाद है।

Sometimes whoever seeks abroad may find
Thee sitting careless on a granery floor,
Thy hair soft-lifted by the winnowing wind,
Or, on a half-reap'd furrow sound asleep,
Drowned with the fume of poppies, while thy hook
Spares the next swath and all its twined flowers.

बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वलतम-शशि-खण्ड-सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म-पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल।
गुंजरित मधुप-से मुकुल-सदृश था आनन जिसमें भरा गान।
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान।
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस-सार लिए,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये।
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल।
चरणों मे थी गति भरी ताल॥

(इड़ा—कामायनी)

आपको आश्चर्य होगा कि रीति-बन्धन मे जकड़े हुए देव ने भी इस प्रकार की प्रतीक भाषा का सफल प्रयोग किया है। उन्होंने अपने 'देव-माया-प्रपंच' नाटक में अमूर्त भावनाओं को सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक व्यक्तित्व प्रदान किये हैं। सांकेतिक चित्रों में तो क्षमा, स्मृति आदि अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए क्षमामयी और स्मृतिरता नायिकाओं का ही वर्णन कर दिया गया है; परन्तु प्रतीक-चित्रों में भाषा की प्रतीकात्मकता तथा मूर्तिमत्ता का पूर्ण उपयोग करते हुए अमूर्त को मूर्त रूप दिया गया है। उदाहरण के लिए करुणा का चित्र लीजिए :—

पीर पराई सों पीरो भयो मुख, दीननि के दुख देखे पिलानी,
भींजि रही करुना करुना-रस काल की कलिन सों कुम्हिलानी।

---

* (Sur-realism)

छीले उसासन आंसुन सों उमगै सरिता भरिकै ढरि जाती,
नाव-लौं नैन भरैं-उछरैं जल ऊपर ही पुतरी उतराती।

व्यञ्जना :—लक्षणा से जहाँ भाषा में वैदग्ध्य और समृद्धि आती है, वहाँ व्यञ्जना से वक्रता और धार आती है। इस रहस्य को पहिचानते हुए देव ने खण्डिता की उक्तियों में प्रायः व्यञ्जना का उपयोग किया है :—

साँझ ही स्याम को लेन गई, सु बसी बन में सब जामिनि जाय कै।
सीरी बयारि छिदे अधरा, उरझो उर झाँखर झार मँझाय कै।
तेरी सी को करिहै करतूति, हुती करिबे सो करी तैं बनाय कै।
भोर ही आई भटू इत, मो दुखदाहन काज इतौ दुख पाय कै।

यहाँ व्यंग्य बिलकुल सीधा है जैसा कि संस्कृत के काकु या अंगरेज़ी के आँयरनी में होता है। परन्तु व्यञ्जना का प्रयोग किसी अप्रिय बात को साध कर कहने अथवा आशय को भंग्यंतर से प्रकट करने के लिए भी होता है :—

'पतिव्रत-व्रती ये उपासी-प्यासी अंखियन,
प्रात उठि प्रीतम पिआयो रूप-पारनो।' में धीरा नायिका अपने मान को दैन्य में लपेट कर कितने मार्मिक रूप में प्रकट करती है।

साँझ शशि ह्वै कै हँसि विहँसि कुमुदिनी सों, रहे चलि नीके नलिनी के उर-शूल ते।
शिशिर मयंक सों सशंक पंकजिनी जानि रजनी गमाई भले मानी गई भूल ते।
कीनी निहिचिंत हौं दुरंत चित चिंता मेंटी देव सेवकनि के सदा ही अनुकूल ते।
लाल लाल अम्बर उदित बाल भानु हेरि भोर बिनु लोइन कमल कैसे फूल ते?

यहाँ खण्डिता नायिका का अभिप्रेत अर्थ तो यह है कि तुम बड़े कपटी और कठोर हो। रात्रि भर तो तुमने दूसरी स्त्री के साथ रमण कर उसे सुख दिया, अब प्रातःकाल लाल आँखें लिए हुए मुझे दुःखी करने आये हो। परन्तु वह बात को साधती हुई दूसरे प्रकार से कहती है—"आप अपनी सेविकाओं के प्रति बड़े अनुकूल है। रात्रि में आपने शशि रूप धारण कर उस कुमुदिनी को (दूसरी नायिका को) स्नेह-शीतल किया, और अब प्रातःकाल बाल रवि का रूप धारण कर मेरे लोचन-कमलों को खिलाने आये हो।" लक्षणा से चन्द्रमा से शीतल करने का, और बाल-रवि से संतप्त करने वाले लाल नेत्रो का भाव व्यक्त किया गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लक्षणा से पुष्ट व्यञ्जना का यह प्रयोग अत्यन्त भावगम्य और कल्पना-प्रचुर है। इसमें शब्द-शक्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म रूप मिलता है।

'देव तुम्हें मोहि अन्तर पारत हार उतारि इतै धरि राखो।'

गणिका की इस उक्ति में भी अभिप्राय भंग्यंतर से व्यक्त किया गया है।

मुहावरे और कहावतें :—मुहावरे और कहावतें प्रौढ भाषा के सहज गुण हैं। यद्यपि कुछ वाक्य-दोषों के कारण देव की भाषा का चलतापन नष्ट हो गया है ; परन्तु उनको बचाकर यदि ध्यान से देखा जाय तो आपको मुहावरे और व्यावहारिक प्रयोग उसमे सहज रूप में गुम्फित मिलेंगे। पहली बात तो यह है कि देव को साधारण क्रिया-पदों की अपेक्षा चलते हुए क्रिया-पद ज़्यादा पसन्द हैं :—

—रावरो रूप पियो अंखियान 'भर्यो' सु 'भर्यो' 'उवर्यो' सु 'ढर्यो' परै।
—कीन्ही अनाकिनि यों मुख मोरि, पै जोरि भुजा हिय 'भेटत ही बन्यो'।
—सांचे हँकारि पुकारि पिकी कहै 'नाचे बनेगी' वसन्त की पांचैं।
—लाल के रंग में भीजि रही सु गुलाल के रंग में 'चाहति भीज्यो'।
—घनश्यामहि नेकहू एक घरी को इहां लगि जो 'करि पाइये तौ'।
लाज 'गहिवे हौं रही'.................

—चाह्यो कह्यो बहुतेरो पै देव कहा कहिये कहि आवत नाहीं।

—इसी प्रकार चलते हुए शब्दों के प्रति भी देव को विशेष अनुराग है :—

—'गहगह्यो' गोरी को अनूप 'लहलह्यो' रूप............।
—'जगर मगर' आपु आवति दिवारी-सी।
—पंकज-सी अंखियानि 'झुका-झुकी'। आदि आदि।

मुहावरों की भी देव की भाषा में अच्छी बहार है; परन्तु वे सर्वत्र ही वाक्य का सहज अंग बन कर प्रयुक्त हुए हैं, अपने मे स्वतन्त्र चमत्कार बन कर नहीं। बिहारी के 'मूंड चढ़ाये हू रहैं' आदि प्रयोगों में मुहावरे अत्यन्त चमकते हैं, परन्तु देव की भाषा में प्रायः वे ऐसे घुल-मिल गये हैं कि उनको थोड़ी छान-बीन करने के बाद ही पृथक् किया जा सकता है :

—चाह भई फिरौं या चित मेरे की 'छांह भई फिरौं' नाह के पीछे।
—जोबन आयो न 'पाप लग्यो' कवि देव रहैं गुरु लोग रिसौंहैं।
—खेलिबोऊ हँसिबोऊ कहा सुख सों बसिबो 'बिसे बीस' बिसारो।

इन मुहावरों पर किसी का ध्यान भी नहीं जाता; परन्तु फिर भी उक्ति और भाव को रमणीय बनाने में उनका जो सूक्ष्म योग है उसका निषेध कैसे किया जा सकता है? इसके अतिरिक्त जहाँ जहाँ मुहावरे में किसी प्रकार की विशेष चमक मिलती भी है वहाँ वह भाव या अलंकार के चमत्कार की ही वृद्धि करती है—उसका अपना स्वतन्त्र चमत्कार उसको सिद्ध नहीं है :—

कारे हौ कान्ह निकारे हौ 'कीलि', रहे गुन लोलि पै औगुन थाहत।

यहाँ 'कीलि' की सफलता कृष्ण की विषैली वृत्तियों की गहराई को अभिव्यक्त करने में ही है। ऐसे ही—'ओत गुमान उतै, इत प्रीति सुचादरि-सी अँखियान पै खैंची।' यहाँ पर भी मुहावरे की सिद्धि प्रेमजन्य अविवेक की तीव्र अनुभूति कराने में ही है।

मन मनिका दै हरि हीरा गांठ बांध्यो हम,
तिन्हें तुम बनिज बतावत हो कौड़ी को।

इस उक्ति में मुहावरा भाव की तीव्रता में सहायक होने के अतिरिक्त वैषम्यमूलक अलंकार के उत्कर्ष को भी बढ़ाता है।

कहावतों के प्रयोग के विषय में भी यही सत्य है—यद्यपि मुहावरों की अपेक्षा उनकी संख्या देव की भाषा में बहुत ही कम है, फिर भी जो हैं वे आप से आप भाषा में बैठती चली जाती हैं—कहीं भी ऊपर उठी हुई नहीं दिखाई देतीं :—

—ओस की आस बुझै नहीं प्यास बिसास डसै जनि काल-फनिन्द के।
—आप हो तें आपु ही सुमति सिखराई 'देव',
नख-सिख राई में सुमेरु दिखराई देत।
—देव निसाकर ज्योति जगै न जगै जुगुनून को पुंज उजेरो।

उक्ति-वैचित्र्य :—अपनी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए विदग्ध कवि कुछ अन्य विधियों का भी उपयोग करते हैं जिनसे उक्ति में एक विशेष चमत्कार और आकर्षण आ जाता है। इनमें से कुछ तो वाक्य की गठन में आकर्षण उत्पन्न करती हुई और कुछ विरोधाभास आदि के सहारे उक्ति को प्रभावपूर्ण बनाती हैं। अंगरेज़ी में इन सभी विधियों का नामकरण करते हुए उनको स्वतन्त्र अलंकार मान लिया गया है। वाक्य के गठन से सम्बन्ध रखने वाली विधियां कहीं साम्य अथवा वैषम्य-मूलक पद-संतुलन का सहारा लेती हैं, कहीं अनुक्रम और कहीं आरोह-अवरोह का :—

१—कुलकानि की गांठि ते छूट्यो हियो, हिय ते कुल कानि की गांठि छुटी।
२—जोग हू ते कठिन संजोग पर-नारी को।
३—पैहै असीस लचैये जु सीस लची रहिए तब ऊंची कहैये।
४—बानी को सार बखान्यो सिंगार सिंगार को सार किसोर किसोरी।

पहले में संतुलन का आधार साम्य, तीसरे में वैषम्य, और चौथे में क्रमिक आरोह है।

उक्ति में आकर्षण पैदा करने के लिए हमारे यहाँ के तुल्ययोगिता, दीपक, आवृत्ति-दीपक, सहोक्ति, एकावली आदि अलंकार भी कम उपयोगी नहीं हैं। इन अलंकारों का भी मूल सम्बन्ध वास्तव में कथन की शैली से ही अधिक है। सजातीय अथवा विजातीय वस्तुओं को एक तार में पिरो कर—प्रायः एक ही क्रिया-पद में बांध कर ये अलंकार उक्ति में एक अनूठा चमत्कार पैदा कर देते हैं:—

—टूटि गयो एक बार विदेह महीप को सोच, सरासन संभु को।
—राति की झलक पट खुले रंगमहल पलक पट प्यारी के छल कपट छैल के।
—पूरि रह्यो राग अनुराग नव दूलह को, भाग सखियान को सुहाग सुख-देनी को।
—मोचु पन्चबान को, अरोच अभिमान को, ये सोच पति-प्रान को, संकोच सखियान को।

दो विजातीय कर्मों को एक ही सकर्मक क्रिया-पद में बांध देने वाले तुलसीदास के एक ऐसे ही प्रयोग की पं० रामचन्द्र शुक्ल ने बड़ी प्रशंसा की है। 'भरत की कुशल अचलु लाए चलिके।' (देखिये—गोस्वामी तुलसीदास उक्ति-वैचित्र्य) परन्तु ये दोनों कर्म विजातीय प्रतीत होते हुए भी विजातीय नहीं हैं। यहाँ अचल भी कुशल का ही प्रतीक हैं। उधर भरत की कुशल और इधर लक्ष्मण की कुशल दोनों ही राम को मिल गईं। वास्तव में ऐसे प्रयोगों का चमत्कार ही इस पर आश्रित है कि इनमें ग्रथित वस्तुएं ऊपर से विजातीय प्रतीत होती हुई भी वस्तुतः सजातीय होती हैं। देव की पहली उक्ति में 'शम्भु का शरासन' और 'विदेह महीप का सोच' दोनों में विजातीयता होते हुए भी कितना गहरा सम्बन्ध है। उधर 'टूटि गयो' के लाक्षणिक चमत्कार ने उस सौन्दर्य को और भी बढ़ा दिया है। दूसरी उक्ति के रहस्य की भी यही व्याख्या है। तीसरी और चौथी में सजातीय सम्बन्ध अधिक स्पष्ट हैं, यद्यपि विजातीयता की झलक उनमें भी उतने ही निश्चित रूप से वर्तमान है। इन तीनों ही प्रयोगों में जो संज्ञाएं एकत्र की गई हैं उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है; इसलिए आंतरिक सामञ्जस्य बड़ा पूरा बैठता है। इस प्रकार मणियों की भाँति छंदों में जड़ी हुई तरह-तरह की विदग्ध उक्तियाँ देव की भाषा का शृंगार करती हैं। रीतिकाल में बिहारी और घनानन्द को भी इनसे विशेष प्रेम था।

भाषा पर अधिकार :—उपर्युक्त विवेचन के उपरांत इसमें संदेह नहीं रह जाता है कि कुछ दोषों के होते हुए भी इस कवि का भाषा पर व्यापक अधिकार था। उसके व्यापक शब्द-भण्डार, लचीले प्रयोग, लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक शब्द-शक्तियों का विकास, प्रचुर अलंकरण आदि अनेक गुण इसके सुन्दर साक्षी हैं। चाहे

छंद की आवश्यकता हो या तुक की—अनुप्रास की अथवा यमक की—कवि को कहीं भी शब्दों की कमी नहीं पड़ी। प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए शब्द जैसे आप से आप आते चले गए हैं—यदि कहीं तोड़-मरोड़ की आवश्यकता हुई है तो उसकी भी पूर्ति अनायास ही हो गई है। मिश्रबन्धुओं ने देव के भाषा पर अधिकार की चर्चा करते हुए उनके तुकांत प्रयोगों की प्रशंसा की है—"ये सभी प्रकार के तुकान्त रख कर सरलता-पूर्वक निभा ले जाते थे।" लाला भगवानदीन ने उन पर शब्दों की तोड़ मरोड का दोष लगाते हुए मिश्रबन्धुओं की इस दाद का मज़ाक उड़ाया है; परन्तु लालाजी के आरोप का औचित्य स्वीकार करते हुए भी देव को इस महत्व से वञ्चित नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि शब्दों का रूप भी विकृत हुआ है; परन्तु कठिन से कठिन तुकांत का निर्वाह जिस सफाई और सरलता से किया गया है उससे उनके भाषाधिकार में भी संदेह नहीं रह जाता। तुकान्त ही क्यों, अनुप्रास के विभिन्न रूपों, यमक, आवृत्ति आदि सभी का जिस स्थिर और नियमित रूप से प्रयोग हुआ है, वह भाषा पर व्यापक अधिकार के बिना सम्भव ही कैसे हो सकता था? मेरा समस्त बल यहाँ केवल इस बात पर है कि देव को यह सब करने के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ा, यह उनकी भाषा का स्वाभाविक रूप ही बन गया है। भाषा पर अधिकार की दूसरी कसौटी है प्रसंग के अनुकूल उसमें रूप-परिवर्तन की क्षमता। रीतिकाल के कवियों मे देव का काव्य-क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत था। उनके ग्रन्थों में राग-विराग, रीति-नीति का तो प्रचुर विवेचन है ही, इसके अतिरिक्त युद्ध आदि का भी यथास्थान वर्णन मिलता है। शृंगार की पदावली मधुसिक्त तथा झंकारमय है, वैराग्य-कविता की पदावली में ज्ञानोचित प्रौढ़ता और घनत्व है और रीति तथा नीति के विवेचन में वह व्यवहारिक तथा इतिवृत्तात्मक हो जाती है। थोड़ा और बारीकी से देखिये तो शृंगार की मधु-सिक्त पदावली में ही विषय के अनुकूल सूक्ष्म अंतर मिलेगा—मिलन-प्रसंगों की भाषा में जहाँ स्निग्ध कोमलता है :—

> आपुस में रस में रहसैं बिहसैं बन राधिका कुंज बिहारी।
> स्यामा सराहति स्याम की पागहि, स्याम सराहत स्यामा की सारी॥

वहाँ विरह और मान आदि की भाषा में एक प्रकार का तीखापन मिलता है :—

> कोमल कूकि कै कैलिया कूर करेजनि की किरचैं करती क्यों?

आवेग की व्यञ्जना में भाषा में आप से आप गाम्भीर्य और पृथुलता आ जाती है :—

औचक अगाध सिन्धु स्याही को उमड़ि आयो,
तामैं तीनों लोक बूड़ि गये एक संग मैं।
× × ×
यों ही मन मेरे मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग में।

यहाँ दीर्घ स्वर आवेग के विस्तार और गांभीर्य्य को ध्वनित करते हैं।

पात्र के अनुसार भाषा की परिवर्तनशीलता का अध्ययन करने के लिए विभिन्न जातियों की नागरी और ग्रामीण नायिकाओं के वर्णन लिये जा सकते हैं। वहाँ प्रायः नायिका की जातीय विशेषताओं के अनुकूल शब्द ग्रहण किए गए हैं :—

—कुन्दन लीक कसौटी में लेखी-सी देखी सुनारि सुनारि सलोनी।

—माखनु-सो तन दूधसो जोबनु, है दधि ते अधिको उर ईठी।
× × × ×
ऐसी रसीली अहीरी अहे, कहौ क्यों न लगे मनमोहन मीठी।

परिणाम :—देव की भाषा के विषय में ब्रजभाषा के आचार्यों के दो विरोधी मत हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल और लाला भगवानदीन का मत है कि "इनकी भाषा में रसार्द्रता और चलतापन कम पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्दव्यय बहुत अधिक और अर्थ बहुत अल्प है। अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो एक ओर तो भद्दी तड़क-भड़क मिडाते थे, और दूसरी ओर अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकान्त और अनुप्रास के लिये ये, कहीं-कहीं शब्दों को ही तोड़ते-मरोड़ते न थे, वाक्य को ही अविन्यस्त कर देते थे।" (शुक्लजी) *। उधर रीतिकाल के विशेषज्ञ श्री मिश्रबन्धु और पं० कृष्णबिहारी मिश्र की निश्चित राय है कि "भाषा-साहित्य में देव और मतिराम इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। भाषा की कोमलता और सरसता में ये दोनों कवि अन्य कवियों से बहुत बढ़े-चढ़े हैं।..............विशेषकर देव की भाषा अद्वितीय है" (मिश्रबन्धु) +। वास्तव में अत्युक्ति को निकाल देने के बाद ये दोनों ही मत बहुत अंशों में सत्य ठहरते हैं। शुक्ल जी की वस्तु-परक दृष्टि भाषा के स्वरूप की व्यवस्था तथा स्वच्छता पर पड़ती है, और उनकी आलोचना वस्तुतः देव की भाषा में इन दोनों गुणों के स्पष्ट अभाव को ही व्यक्त करती है। उधर श्री मिश्रबन्धु तथा कृष्णबिहारी जी उसकी समृद्धि और सौन्दर्य को देखते और सराहते हैं।

---

* (हिन्दी साहित्य का इतिहास १९९० पृ० २८८-२८९)
+ (नवरत्न १९८१ पृ० २१२)

इसमें सन्देह नहीं कि देव की भाषा में उचित व्यवस्था नहीं मिलती। मतिराम जैसे कवि से तुलना करने पर इसमें स्वच्छता का अभाव अत्यन्त व्यक्त हो उठता है, परन्तु जहां तक भाषा की श्री-समृद्धि का सम्बन्ध है ब्रजभाषा के अनेक कवि उनकी समता नहीं कर सकते। उन्होंने ब्रजभाषा के माधुर्य्य और संगीत की अपूर्व श्री-वृद्धि की है; उसको औज्ज्वल्य एवं कान्ति आदि गुणों से अलंकृत किया है तथा उसकी शक्तियों का संवर्धन किया है—और इस प्रकार ब्रजभाषा की पूर्ण समृद्धि का श्रेय निस्संदेह ही उनको दिया जा सकता है।

(इ) छन्द

कविता और छंद का सम्बन्ध आकस्मिक न होकर अनिवार्य्य ही है। पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक मिल के शब्दों में "जब से मनुष्य मनुष्य है तभी से उसके सभी गंभीर और सम्बद्ध भावों की अपने आप को लय युक्त भाषा में व्यक्त करने की प्रवृत्ति रही है। भाव जितने ही अधिक गंभीर हुए हैं लय उतनी ही विशिष्ट और निश्चित हो गई है।" यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसके कारण भाषा के आरम्भ से ही प्रत्येक देश और काल में कविता और छंद का मूलगत आंतरिक सम्बन्ध रहा है। इस सत्य की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है :—साधारणतः हमारे रक्त की धारा एक विशेष सम गति से बहती रहती है—यह सम गति, जो हृदय की धडकन और श्वास-प्रश्वास से नियमित आरोह अवरोह में मूर्त होती रहती है, स्वभावतः लय-युक्त है क्योंकि नियमित आरोह अवरोह ही तो लय है। भावोच्छ्वास की अवस्था मे रक्त की गति तीव्र हो जाती है, हृत्कंपन तथा श्वास के आरोह अवरोह मे भी उसी के अनुसार अंतर पड़ जाता है—और इस प्रकार उस मूलगत सम लय में विशिष्टता आ जाती है। वह लय स्थिर और मंद न रहकर अब अस्थिर और तीव्र बन जाती है। यह विशिष्ट लय इतनी सशक्त होती है कि इसका हम स्पष्ट अनुभव करते हैं। यही अपने आप शारीरिक क्रियाओं में (जैसे हाथ पैर उछालना आदि में) व्यक्त हो जाती है—आरम्भ में नृत्त का जन्म इसी प्रकार हुआ। और इसी प्रकार कुछ दिनों बाद इसी आंतरिक लय का भाषा पर आरोप कर मनुष्य ने सहज रूप से छंद का भी आविष्कार कर लिया—तभी वास्तविक कविता का जन्म हुआ और तभी छंद का। साहित्य में जो विशेष रसों और विशेष छंदों का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, उसका भी आधार यही है। हमारे सभी भाव एक-सी हृत्कंपन पैदा नहीं करते—प्रत्येक भावोच्छ्वास एक विशेष प्रकार की हृत्कम्पन्न तथा श्वास के आरोह अवरोह को जन्म देता है। दूसरे शब्दों में उसकी अपनी एक विशेष आंतरिक लय होती है, जो भाषा पर आरोपित होकर एक विशेष छंद-लय को जन्म देती है। इसी कारण रस-विशेष का छंद-विशेष से एक आंतरिक सम्बन्ध रहता है—यह सम्बन्ध छंद के बाह्य रूप से न होकर उसकी आंतरिक लय मे होता है।

कविता और छंद का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है तथा ये एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं इस तथ्य को और भी स्पष्ट करने के लिए हम कवि-कलाकार पंत के मार्मिक शब्दों को उद्धृत करते हैं :—

"कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है; कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कम्पन; कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छंद भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर, उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जातीं, तालयुक्त हो जातीं; उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध-झंकारें एक वृत्त में बँध जातीं, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह, अपने चारों ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (Magnetic field) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामञ्जस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता; उनमें राग की विद्युत्-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"

[पल्लव की भूमिका]

भारतीय छंद-विधान के मूल हैं स्वर और व्यञ्जन—स्वरों का सम्बन्ध मात्राओं से है, और व्यञ्जनों का भाषा के आधार-भूत ध्वनि-समूह से। इन्हीं के अनुसार उसके मात्रिक और वर्णिक दो भेद किए गए हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं ने अपनी प्रकृति के अनुसार वर्णिक अथवा मात्रिक छंदों का प्रयोग किया है। संस्कृत बहुत कुछ संश्लिष्ट भाषा है, उसकी विभक्तियां शब्दों से संयुक्त रहती हैं—उसमें संधि और समास की बहुलता है—अतएव उसमें स्वभावतः वर्णों की एक शृंखला-सी बन जाती है। ऐसी भाषा के वर्णिक छंद ही अधिक अनुकूल पड सकते थे—निदान संस्कृत में वर्णिक छंदों का ही प्राधान्य रहा, हिन्दी की प्रकृति एकांत विश्लेषण-प्रधान है—अतएव उसकी रुचि स्वभाव से ही मात्रिक छंदों पर रही। वीर गाथाकाल में वर्णिक छंदों का भी प्रयोग हुआ, परन्तु इनकी अपेक्षा दोहा, छप्पय, पद्धटिका आदि मात्रिक छंद ही कहीं अधिक प्रचलित थे। भक्तिकाल के गेय पदों को तो मात्रिक छंदों का कोमलतम रूप कहा जा सकता है, उनका सौन्दर्य सर्वथा स्वरों पर ही आश्रित है। परन्तु भक्तिकाल के उपरांत रीतिकाव्य को अचानक ही दो वर्णिक छंदों ने—मेरा अभिप्राय सवैया और घनाक्षरी से है,—आच्छादित कर लिया।

सवैया और घनाक्षरी में समता मुख्यतः यही है कि ये दोनों वर्ण वृत्त हैं वैसे सवैया गणों के बन्धन में पूर्णतः जकड़ा हुआ गति और यति के नियमों द्वारा आबद्ध है, और घनाक्षरी अपेक्षाकृत कहीं अधिक स्वतंत्र है। वह केवल अक्षरों की सम-संख्या पर दृष्टि रखता है और इसी लिए उसे मुक्तक दण्डक भी कहा गया है

फिर भी संयोग-वश इन दोनों छंदों का ऐसा ग्रंथि-बन्धन हुआ कि शताब्दियों तक ये साथ ही साथ चलते रहे। सवैया और घनाक्षरी मे सवैया पुराना छंद है। सवैया स्पष्टतः ही संस्कृत शब्द नहीं है—पंडितों में इसकी व्युत्पत्ति के काफ़ी मतभेद है—परन्तु हमारी धारणा है कि यह सपादिका का ही अपभ्रंश रूप है। पहले भाट लोग सवैया की अंतिम पंक्ति को दो बार—सब से पूर्व और चौथे चरण के बाद—पढते थे। इस प्रकार इसमें चार के स्थान पर पांच पंक्तियाँ नियम-पूर्वक पढी जाती थीं। सवाये (सपाद) रूप में पढ़े जाने के कारण ही इसका नाम सवैया (सपादिक) पड़ गया। सवैया संस्कृत का छंद नहीं है। प्राकृत-साहित्य में भी साधारणतः उसका विशेष प्रयोग नहीं है, परन्तु वैसे है वह प्राकृत का ही छंद। प्राकृत-पैंगलम् में सवैया शब्द का प्रयोग तो नहीं है, परन्तु ८ भगण वाला किरीट और ८ सगण वाला दुर्मिल—ये दोनों छंद निश्चित रूप से उसके पृष्ठ ५७५-७६ पर लक्षण-उदाहरण सहित दिए हुए हैं :—

(१) ठावहु आइहि सक्कगण तह सल्ल विसज्जहु बेवि सहा पर
सोठर सद्दुअं तह णेउर एपरि गारह भव्व गणाकर।
काहल जुग्गल अन्त करिज्जसु एपरि चोविह वण्ण पआसहु,
बत्तिस, मत्त पअप्पअ लेक्खहु, अठ्ठ भआर किरीट विसेसहु।
(८ भगण किरीट)

(२) तसु तूणउ सुन्दर किज्जिअ मंदर ठावह बाणह सेस धणू।
(८ सगण दुर्मिल)

प्राकृत-पैंगलम् का रचना-काल संवत् १३०० के आस-पास माना जाता है। इससे यह सिद्ध है कि कम से कम तेरहवीं शताब्दी के अन्त में सवैया का आविर्भाव अवश्य हो गया था। वहीं से यह हिन्दी के आरम्भिक काल के चारणों के हाथ पड़ गया। घनाक्षरी के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। संस्कृत के पिंगल ग्रंथों में अथवा प्राकृत-पैंगलम् में इसका कोई उल्लेख नहीं है। कुछ विशेषज्ञों की धारणा है कि ध्रुपद राग में गाये जाने वाले कतिपय पदों का रूप इससे मिलता है और अनुमान यही है कि लोक-गीतों की कुछ लयों को वर्णिक आधार देकर थोड़े परिवर्तन-परिशोधन कर चारणों द्वारा यह छंद बनाया गया। इस अनुमान की पुष्टि सूरसागर के निम्न-लिखित पद से, जो राग मल्हार में है, असंदिग्ध-रूप में हो जाती है :—

मेरे नवि पवि माज्यो मघन कुंजनि कुंज,
चित चातनि आयौ छतिया भरकि रही।

हा हा चलि प्यारी तेरो प्यारो चौंकि चौंकि परे,
पातकी खरक पिय हिय मे खरकि रही।
बातन धरति कान तानति है भौंह बान,
उत न चलति वाम अंखिया फरकि रही।
सूरदास मदन दहल पिय प्यारी सुनि ज्यों ज्यों
कहो त्यो त्यो बह उतकों सरकि रही।

आप देखिए कि उपर्युक्त पद रूप-घनाक्षरी का कितना स्पष्ट उदाहरण है। गाने वाले राग मल्हार में ढाल कर इसे कोई रूप दे दें, परन्तु साधारण रूप मे यह घनाक्षरी ही है।

हिन्दी मे इनका प्रचलन कब से हुआ, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। अकबरी दरबार के प्रसंग मे शुक्लजी ने अपने इतिहास मे लिखा है :—"यह अनुकूल परिस्थिति हिन्दी काव्य को अग्रसर करने मे अवश्य सहायक हुई। वीर-श्रृंगार और नीति की कविताओं के आविर्भाव के लिए विस्तृत क्षेत्र फिर खुल गए। जैसा आरम्भ काल मे दिखाया जा चुका है, फुटकल कविताएं अधिकतर इन्हीं विषयों को लेकर छप्पय, कवित्त, सवैयों और दोहों मे हुआ करती थीं।" परन्तु आरम्भ काल के जिस स्थल की ओर यहाँ संकेत किया गया है, वहाँ अकेले दोहा का ही उल्लेख है :—"धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएं दोहों में मिलती है।" वीर-गाथा-काल का सामान्य विवेचन करते हुए, एक दूसरे स्थल पर उन्होंने छप्पय का भी ज़िक्र किया है :—"राज-सभा मे सुनाए जाने वाले नीति श्रृंगार आदि विषय प्रायः दोहो में कहे जाते थे और वीर रस के पद छप्पय मे।" [देखिए हिन्दी साहित्य का इतिहास १९९० पृ० १९] इस प्रकार इन दोनों प्रसंगों के विवेचन में सवैया और कवित्त का (घनाक्षरी का) स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। वैसे भी इस युग की जो काव्य-सामग्री संग्रह-ग्रंथो मे अथवा स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हुई है, उसमें दोहा, छप्पय तो प्रभूत संख्या में मिलते हैं, परन्तु सवैया कवित्त का एक भी उदाहरण नहीं मिलता। पुरानी हिन्दी का जो जैन अथवा वीर-गाथा साहित्य प्रामाणिक-अप्रामाणिक रूप मे आज उपलब्ध है उसमें ये दोनो छंद दृष्टिगत नहीं होते। चंद के पृथ्वीराज-रासो मे उस समय के अन्य ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक शास्त्रीयता मिलती है, उसमें अनेक प्रकार के शास्त्रीय छंदों का प्रयोग हुआ है जिनमें, दोहा और छप्पय की संख्या शायद सब से अधिक होगी, परन्तु ये दो छंद वहाँ भी नहीं हैं। रासो मे छप्पय को कवित्त और दोहा को प्रायः दूहा लिखा गया है। इस प्रकार रासो में जो कवित्त मिलता है वह छप्पय ही है घनाक्षरी नहीं। रासो में एक छंद आता है दुमिल्ला या दुमिला, जिससे दुमिल

सवैया की भ्रांति हो सकती है, परन्तु उसकी गतिलय की परीक्षा इसे निर्मूल कर देती है। "दुमिलानय छंदं पढ़य फुनिन्दं कहि कविचंदं, गुनगोई।" आरम्भ काल के उपरान्त भक्तिकाल के पूर्वार्ध में संत कवियों ने छप्पय को तो छोड़ दिया। दोहे (साखी) के साथ उन्होंने लोकगीतों की परम्परा से 'पदों' को ग्रहण कर लिया। मुसलमान प्रेममार्गी कवियों ने फ़ारसी मनसवी से प्रेरणा पाकर चौपाई और दोहा की एक नई व्यवस्थित योजना बना ली और उसमें प्रबन्ध काव्यों की रचना आरम्भ कर दी। इस प्रकार विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के मध्य—[सूर के आविर्भाव] तक हिन्दी में सवैया और कवित्त का प्रवेश नहीं हो पाया। पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, हम्मीर रासो, जैन कवियों की धर्म-नीति आदि की रचनाएं विद्यापति और खुसरो की रचनाएं, कबीर और नानक की बानी, सूफ़ियों की प्रेम-गाथाएं सभी को देख लीजिए—किसी में ये दो छंद नहीं मिलेंगे। जगनिक के आल्हखण्ड में कुछ सवैया अवश्य बिखरी मिलती हैं। उदाहरण के लिए:—

श्री गिरिजापति को बिनवौं, पुनि मैं बिनवौं गिरिजेश दुलारो।
अंजनिपुत्र बली हनुमान, तुही सब भांतिन सों रखवारो।
हर्षि हिये बिनवौं सब देवन, भक्तन कष्ट सदा निरवारो।
मैं मतिमंद यथामति सों, सब के हित गावत वीर पंवारो।

ये सवैया प्राय: युद्ध-वर्णनों के आरम्भ में दी गई हैं (देखिए हिन्दी के कवि और काव्य पृष्ठ ५७, ८२),। परन्तु जागनिक का यह काव्य शताब्दियों तक केवल मौखिक परम्परा द्वारा ही चलता रहा था। उसमें समय-समय पर कितने अल्हैतों ने अपनी-अपनी गढ़ंतो को जोड़ दिया है, इसका कोई भी हिसाब नहीं है। यहां तक कि आल्हखंड का वास्तविक रूप क्या था इसका भी निर्णय नहीं हो सकता। ऐसी दशा में इन सवैयों के विषय में भी निश्चयपूर्वक क्या कहा जा सकता है। वैसे भाषा आदि की दृष्टि से ये काफ़ी बाद की लिखी मालूम पड़ती हैं।

प्रामाणिक रूप में इन दोनों छन्दों का प्रयोग सब से पहले दरबारी कविता के द्वितीय उत्थान के साथ, अर्थात् अकबर के शासन-काल में ही मिलता है। अकबर, रहीम, टोडरमल, बीरबल, गंग और इधर नरोत्तमदास तथा तुलसीदास—जिन्होंने इनका स्थिर रूपसे व्यवहार किया है—लगभग समकालीन ही थे। इन सब में नरोत्तमदास ही सब के पूर्ववर्ती थे। उन्होंने 'सुदामा चरित' में सवैया और कवित्त का जितना सुथरा प्रयोग किया है, उससे यह धारणा अवश्य बनती है कि वे इन छन्दों के प्रथम प्रयोक्ता नहीं थे। उनमें इन छन्दों का वह आरम्भिक अनगढ़ रूप भी नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि वे किसी न किसी रूप में काफ़ी पहले से

चले आ रहे थे—सवैया तो निश्चित ही तेरहवीं शताब्दी के आसपास प्राकृत-अपभ्रंश से हिन्दी में आ गया होगा। किसी लिखित प्रमाण के अभाव में यही अनुमान किया जा सकता है कि यह रूप मौखिक ही रहा होगा। राजदरबारी कवियों और चारणों में दोहा, छप्पय आदि के बाद कवित्त और सवैया की परम्परा भी शायद चल पड़ी थी। यह परम्परा बहुत समय तक तो मौखिक रही, तत्पश्चात् अकबर के समय में उचित प्रोत्साहन पाकर फिर उभर आई।

सवैया :—पारिभाषिक दृष्टि से सवैया गण नियम से शासित वर्णवृत्त है। गण तथा अन्त में आने वाले लघु गुरु के विचार से हिन्दी में सवैया के अनेक भेद मिलते हैं। भानुजी ने अपने छन्द-प्रभाकर में १० भेद दिये हैं। देव ने भी शब्द-रसायन मे इस छंद का सविस्तार विवेचन करते हुए १२ भेदों की व्याख्या की है। इस छंद में २२ से लेकर २६ तक अक्षर होते हैं। इसकी विशेषता यह है कि संपूर्ण छंद में एक ही गण चलता है, चाहे वह भगण हो, या जगण, या सगण। मदिरा, किरीट, मालती (मत्तगयंद), चित्रपदा, अलसा (अरसात) में केवल भगण ही होता है। इनमें अक्षरों की संख्या तथा तुकांत गुरु-लघु के क्रम का ही भेद रहता है। दुमिल, कमला (सुखदानी), ललित और सुधा (अरविंद) मे सर्वत्र सगण ही होता है; और मल्लिका (सुमुखी), माधवी (वाम), मंजरी (मुक्ताहरा) में जगण। समान गण वाले इन छन्दों मे अक्षरों की संख्या तथा तुकांत गुरु-लघु के क्रम का ही भेद रहता है—और इसी के अनुसार इनकी गति मे सूक्ष्म अन्तर पड़ जाता है। इस प्रकार इस छन्द की गति और लय एक ही गण अर्थात् ध्वनि-योजना की अनेक आवृत्तियो पर आश्रित रहती है—इसलिए इसमे एक निश्चित स्वर-विधान होता है। यह लय रागवृत्तों की शृंखला-सी बनाती है जिसमे एक निश्चित क्रम से झकोरें-सी उत्पन्न होती चलती हैं, और अन्त में तुक पर जाकर एक और लपेट पड़ जाती है। नियमित रूप में राग का यह स्वरपात सवैया में एक अनूठा संगीत पैदा कर देता है, उसके राग का प्रवाह धीरे-धीरे बल खाता हुआ एक निश्चित सीमा तक बढ़ता है—फिर वहां एक झकोर लेकर फिर उसी क्रम से आगे बढ़ता है। कवि पंत का यह आक्षेप सर्वथा उचित ही है कि इस संतुलित गति के कारण सवैया में स्वच्छंद प्रवाह और स्वर-वैचित्र्य के लिए अवकाश कम रह जाता है।❀

❀ चूने के पक्के किनारों के बीच बहती हुई धारा की तरह रस की स्रोतस्विनी से अपने वेगानुसार तटों में स्वाभाविक काट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है; अपने पुष्प-गुल्म लताओं के कोमल पुलिनों से चुम्बन आलिङ्गन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रङ्ग-बिरङ्गी रोड़ों से फेनिल-हास-परिहास करने, क्षिप्र आवर्तों के रूप में

-परन्तु उन्होंने उसके राग पर जो जड़ता का आरोप किया है, वह अमान्य है। भला मत्तगयन्द की तरह झूमते-झकोरते हुए चलने वाले इस छंद में जड़ता कैसे आ सकती है।—अपनी लोच लचक के कारण यह छंद अनायास ही मधुर रसों का सहज माध्यम बन गया होगा। क्योंकि इसका लचीला स्वरपात भाव-माधुर्य्य में एक निश्चित योग देता है। इसके अतिरिक्त अन्य छंदों में जहां अक्षर-मैत्री के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, यहाँ वह अपने आप ही सिद्ध हो जाती है।

कोई भी छंद सर्वत्र उपयोगी नहीं हो सकता। सवैया का प्रत्येक पद कटा-छंटा अपने में पूर्ण होता है। अतएव वह वीर या प्रेम-गाथाओं के अविच्छिन्न कथा-प्रवाह के अनुकूल नहीं पड़ा और न अकूल होकर बहने वाली भक्ति की तरल उद्-गीतियों के। आज के वैचित्र्य-प्रिय कवियों की भी उद्देश्य-पूर्ति वह नहीं कर सकता परन्तु रीति-काल के मुक्तक शृंगार-चित्रों मे वह ऐसा जम कर बैठ गया था मानों उसका आविष्कार उन्हीं के लिये हुआ हो। और, इस युग में उसका, बनाव-शृंगार भी पूरी तरह हुआ। बीच में अड़ने वाले शाब्दिक रोड़ों को हटाकर उसके प्रवाह-पथ को संगमरमर की तरह चिकना बना दिया गया। अकबर के समय में सवैया में एक अनगढ़पन था जिससे उसका संगीत अच्छी तरह फूट नहीं पाया—स्वयं तुलसी के प्रयोगों में यह दोष अत्यंत स्पष्ट है :

> रानी मैं जानी अजानी महा पवि-पाहन हू ते कठोर हियो है।
> राजहु काज अकाज न जान्यो कह्यो तिय को जिन कान कियो है।
> ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है।
> आँखिन में सखि राखिबे जोग इन्हें किमि कै बनबास दियो है॥

सात भगण और दो गुरुवाला यह सवैया अपनी गति की मस्ती के कारण मत्तगयंद कहलाता है। तुलसी के छंद में यह प्रवाह भाषा के आवश्यक लोच, विरामों की समुचित व्यवस्था और सबसे अधिक अक्षर-मैत्री के अभाव में किस प्रकार अपनी मस्ती खो बैठा है यह दिखाने की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत: —

> प्रान पिया मन भावन संग, अनंग तरंगनि रंग पसारे।
> सारी निसा मविराम मनोहर, केलि के पुंज हजार उघारे।
> होत प्रभात चल्यौ चहै प्रीतम, सुन्दरी के हिय में दुख भारे।
> चंद सो आनन, दीप-सी दीपति, स्याम सरोज से नैन निहारे॥

---

* पग धरने का उसे अवसर ही नहीं मिलता; वह अपने जीवन की निश्चिंतता स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता खो बैठती है। [पल्लव की भूमिका]

मूरति जो मन मोहन की मन मोहि ने के थिर ह्वै थिरकी-सी ।
'देव' गोपाल के बोल सुने छतियाँ सियराति सुधा-छिरकी-सी ।
नीके झरोखे ह्वै झाँकि सके नहीं नैनन लाज घटा घिरकी-सी ।
पूरन प्रीति हिये हिरकी, खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी-सी ।

इन छंदो में विराम-योजना इतनी व्यवस्थित तथा अक्षर-मैत्री इतनी पूर्ण है कि लय में आप-से आप अद्भुत लोच आ गया है ।

सवैया में तीन विभिन्न लय होती हैं—एक भगण के आश्रित, दूसरी सगण के आश्रित और तीसरी जगण के आश्रित । देव ने तीनो को ही, पूर्ण मनोयोग के साथ अपनाया है—यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि अन्य कवियो की भाँति उनका भी विशेष अनुराग मत्तगयन्द पर ही है । ये तीनो लय इस प्रकार हैं :—

भगण (८) किरीट
१-देव घरी पल जाति घुरी अँसुवान के नीर उसास समीरन ,
इसका गणात्मक रूप यह होगा :—
देवघ रीपल जातिघु रीअँसु वानक नीरउ सासस मीरन ।

सगण (८) दुर्मिल
२--रँगराति हरी लहराति लता झुकि जाति समीर के झूकनि सो ।
गणात्मक रूप :—
रँगरा तिहरी लहरा तिलता झुकिजा तिसमी रकझू कनिसो ।

जगण (८) सुकाहरा (मंजरी)
३--कहाँ लगि लाल कछू कहिये इतनी सहिये सब राजरे काज ।
गणात्मक रूप:—
कहाँल गिलाल कछूक हियेइ तनीस हियेस बरात रकाज ।

देव ने अंत्यानुप्रास की सहायता से इन लहरियों में दुहरी लपेटें दे दी है—पहली पंक्ति मे 'घरी' और 'घुरी' तथा 'नीर' और 'समीर' पर, दूसरी पंक्ति में 'रंगराति' और 'झुकिजाति पर, तीसरी पंक्ति में 'कहिये' और 'सहिये' पर सवैया की स्वाभाविक लचक दुहरे बल खा जाती है, जिससे उसकी लय का संगीत गहरा हो जाता है । इसके अतिरिक्त वृत्यनुप्रास का माधुर्य्य भी एक कोमल झंकार उत्पन्न करता हुआ उसमें मधुर योग देता है ।

उपर्युक्त तीन गतियों में तुकांत के लघु-दीर्घ वर्णों की योजनाओं को बदल देने से सूक्ष्म वैचित्र्य उत्पन्न हो जाता है—इन्हीं के आधार पर तो इन भेदों के कई उपभेद कर डाले गये हैं। देव ने ११ प्रकार के सवैयाओं का सफलता-पूर्वक

प्रयोग किया है। किरीट में से अन्तिम लघु अक्षर हटा देने से वह चित्रपदा बन जाती है : 'औधि को आधिक द्यौस रह्यो अरु आये न री, प्रिय प्रान अधार।' किरीट में जहां अन्त में दो छोटी छोटी चटुल लहरें पड़ती हैं वहां चित्रपदा के अन्मेंलयत में एक झकोर लगती है। चित्रपदा का अन्तिम अक्षर उड़ा देने से वह मदिरा बन जाती है—और उधर मदिरा में एक गुरु और जोड़ देने से वह मत्तगयंद की परिचित लय में परिणत हो जाती है—'किंकिणि की झहरानि बुलावति, झूकनि सों झुकझानि कटी की।' इसमें लय जैसे अन्त में जाकर फैल जाती है। इसी प्रकार—दुर्मिल में कहीं एक गुरु कहीं एक लघु, और कहीं दो लघु जोड़ देने से सगण वाले सवैया के कईभेद हो जाते हैं। इनमें अक्षरों की संख्या की दृष्टि से ललित की लय—जिसमें ८ सगण और दो लघु होते हैं—सबसे लम्बी होती है :

'विन गोकुलचंद अमावस-पावस भीषम-भीषम सेज सरंगिनि।' यहां छन्द का प्रवाह अपनी निश्चित गति पर बढ़ता हुआ अंत में जैसे बिखर कर सीमा से थोड़ा आगे चला जाता है। सवैया की लय में वैचित्र्य लाने के लिए अन्य प्रयोग हैं यति में परिवर्तन तथा गुरु मात्राओं का लघु उच्चारण जो स्वभावतः किसी नियम में न बंधकर भावाभिव्यक्ति के अनुसार स्वतंत्र है। यह उच्चारण वैचित्र्य का कारण इसलिए है कि दीर्घ को लघु चाहे कितनी ही सावधानी से पढ़ा जाये उसका उच्चारण शुद्ध लघु की अपेक्षा कुछ दीर्घ अर्थात् मध्यम ही रहता है। सवैया में साधारणतः यति का कोई नियम नहीं है, परन्तु फिर भी इतने बड़े छंद में श्वास के लिए विराम तो होने ही चाहिएं। देव ने भाव के संकोच-प्रसार के अनुकूल इन विरामों की स्थिति रखी है—स्वभावतः एक ही लय में भिन्न भिन्न गतियाँ उत्पन्न हो गई हैं, उधर गुरु अक्षरों के लघु उच्चारण से यह वैचित्र्य और भी बढ़ जाता है :

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I S
देव जु पै चित चाहिए चाह, तो नेह निबाहिए, देह मर्‌यो परै।

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I S
ज्यौं समुझाइ बुझाइये राह, अमारग मैं पग, धोखे धर्‌यो परै।

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I S
नीके में फीके ह्वै आंसु भरो कत, ऊँची उसास गर्‌यो तो भर्‌यो परै।

S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I I S I S
गावरो रूप पियो अँखियान, भर्‌यो सो भर्‌यो, उबर्‌यो सु ढर्‌यो परै।

इस छंद में पहली और दूसरी पंक्ति में यतियाँ एक ही क्रम से हैं—फिर भी मध्यम उच्चारणों के स्थिति-भेद से उनमें थोड़ा अन्तर पड़ ही गया है। तीसरी पंक्ति की यतियों में अंतर स्पष्ट है—यहाँ मध्यम उच्चारण ही अधिक व्याप्त है—और चौथी का क्रम दोनों से ही भिन्न है। यह भावाभिव्यक्ति की आवश्यकतानुसार स्वतः में आप ही हो गया है, इसके लिए कवि को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा।

कवित्त (घनाक्षरी) :—घनाक्षरी का इतिहास भी सवैया के साथ जुड़ा हुआ है। सवैया की भाँति इसका भी प्रयोग प्रामाणिक रूप से सबसे पहले अकबर के शासनकाल में ही मिलता है। लिखित-साहित्य में नरोत्तमदास, गंग, बलभद्र, बीरबल, रहीम, तुलसी आदि की रचनाओं में ही घनाक्षरी का आरम्भिक रूप मिलता है। उनके पश्चात् केशव, सेनापति जैसे रीति-प्रिय कवियों ने उसको क्रमशः विकसित किया और अन्त में रीतिकाल में आकर वह अपने पूर्ण समृद्ध रूप को प्राप्त हो गया। कुछ कलाविदों की सम्मति में घनाक्षरी कवित्त हिन्दी का औरस पुत्र न होकर पोष्य पुत्र है—उनका अनुमान है कि बंगला के अक्षर-मात्रिक पयारछंद से जिसमें १४ अक्षर होते हैं और उनमें आठवें और चौदहवें अक्षर पर यति होती है, शायद इसको प्रेरणा मिली हो। इसके आविर्भाव के विषय में कवि पन्त का कहना है :—"सम्भव है, पुराने समय में भाट लोग इस छंद में राजा-महाराजाओं की प्रशंसा करते हों और इसमें रचना-सौकर्य पाकर तत्कालीन कवियों ने इसे धीरे धीरे साहित्यिक बना दिया हो।"—कवित्त की मूल प्रेरणा पयार छंद शायद रहा हो, पर उसका आविर्भाव इसी प्रकार पहले-पहल भाटों ने राजदरबारों में तत्काल ही प्रशस्ति बनाकर सुनाने के लिए किया होगा इसमें सन्देह नहीं। लिखित रूप के बजाय यह छंद मौखिक रूप में अधिक खुलता है।

कवित्त अनियमित-गण प्रायः ३१—३२ अक्षरों का छंद है। अक्षर संख्या के अतिरिक्त यह केवल यति का ही नियम स्वीकार करता है—साधारणतः ८, ८, ८, ७, या ८,८,८,८ अक्षरों पर यति होती है, परन्तु कहीं कहीं ८ के स्थान पर ७, ९ पर भी यति पड़ जाती है। कवित्त के नाद-सौन्दर्य के विषय में भी हिन्दी के दो सर्वश्रेष्ठ कला-मर्मज्ञों के विरोधी मत हैं। कवि पन्त की धारणा है कि "कवित्त छंद हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामञ्जस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमों के पालन-पूर्वक चाहे आप इकत्तीस गुरु अक्षर रख दें चाहे लघु, एक ही बात है; छंद की रचना में अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को चाहे वह लघु हो या गुरु एक ही मात्रा-काल मिलता है, जिससे छंद-बद्ध शब्द एक दूसरे को झकझोरते हुए परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते हैं, हिंदी का स्वाभाविक सङ्गीत नष्ट हो जाता। सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती खिंचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है।" इसके विपरीत निराला जी का निश्चित विश्वास है कि "यदि हिंदी का कोई जातीय छंद चुना जाए तो वह यही होगा। × × कारण यह छंद चिरकाल से इस जाति के कण्ठ का हार रहा है। दूसरे इस छंद में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल आदि बड़ी तालों में तथा ठुमरी की तीन तालों में सफलता

पूर्वक गा सकते है, और नाटक आदि के समय इसे काफ़ी प्रवाह के साथ पढ़ भी सकते हैं। × × × इस छंद में Art of reading का आनन्द मिलता है।"

[परिमल की भूमिका]

यह मत-वैपरीत्य वास्तव में इस छंद को दो विरोधी दृष्टिकोणों से परखने के कारण है। पन्तजी की सूक्ष्म-कोमल प्रकृति भाषा की बाल-झंकारों से खेलना पसन्द करती है। उधर निराला का ऊर्जस्वित स्वभाव नाद-गांभीर्य और ओज-प्रवाह में तैरना चाहता है। इसमें सन्देह नहीं कि कवित्त का स्वाभाविक प्रवाह ओज के अधिक अनुकूल है क्योंकि इस छंद में विस्तार काफ़ी है—मेघनाद-वध के ओज को वहन करने के लिए श्री मैथिलीशरण गुप्त ने इसी को समर्थ पाया, और निराला ने भी अपने ओजस्वी मुक्त छंद का आधार इसे ही बनाया है। रीतिकाल में और उससे पूर्व भी इस छंद का उपयोग तुलसी, भूषण, पद्माकर, चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि ने भी वीर रस में किया है।—परन्तु फिर भी रीतिकाल तो शृङ्गार-काल था—वीर-रस की कविताएं इस-युग में गिनी चुनी ही रची गईं। निदान इस छंद को भी शृंगार के ढाँचे में ढाला गया। इस कार्य को सम्पादित करने वाले कृती कवियों में देव का नाम अग्रगण्य है। इनसे पूर्व बलभद्र, केशवदास, सेनापति और मतिराम ने इस ओर सफल प्रयत्न किया था, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु शृंगारोचित पूर्ण मार्दव, लोच और झंकृति सबसे पूर्व देव ने ही उसे प्रदान की। फिर यह प्रक्रिया पद्माकर पर जाकर समाप्त हुई। कवित्त की लय को शृंगार के अनुकूल मधुर और मृदु बनाने के लिए देव ने प्रायः निम्नलिखित साधनों का प्रयोग किया है:—

(१) श्रुति-अनुप्रास-युक्त मधुर-कोमल वर्णों का प्रयोग।
(२) वीप्सा अलंकार की प्रचुरता।
(३) अन्त्यानुप्रास-युक्त पदों की आवृत्ति।
(४) लघु अक्षरों तथा ओ, ए, अ, आदि कोमल स्वरों का प्राचुर्य।

—ये प्रायः वे ही साधन हैं जो कवि ने भाषा की समृद्धि के लिए भी प्रयुक्त किए हैं।

अरुन उदोत, सकरुन ह्वै, अरुन नैन,
तरुनी-तरुन तन तूमत फिरत हैं।
कुंज-कुंज केलि कै नवेली बाल बेलिन सों,
नायक पवन बन झूमत फिरत हैं।
अंबकुञ्ज बकुल समीड़ि मीड़ि पाँडरनि,
मल्लिकानि मीड़ि, घने घूमत फिरत हैं।

द्रुमन द्रुमन दल घूमत, मधुप देव,
सुमन सुमन मुख चूमत फिरत हैं।

इस छंद में उपर्युक्त चारों गुण वर्तमान हैं। अरुन, सकरुन, अरुन, तरुन; केलि, नवेली, बेलि; पवन, वन; अंबकुल, बकुल; द्रुमन, सुमन में अंत्यानुप्रास की छटा है। इसके अतिरिक्त इसका तुकांत भी बहुत लम्बा है। कुंज कुंज, द्रुमन द्रुमन, सुमन सुमन आदि में वीप्सा है। श्रुत्यनुप्रास तो प्रायः सम्पूर्ण छंद में ही बिखरा हुआ है। उधर अन्तिम चरण का संगीत सर्वथा लघु वर्णों पर आश्रित है।

कवित्त के वैसे तो कई भेद हैं, परन्तु उनमें मनहर जिसमें ३१ अक्षर होते हैं और रूपघनाक्षरी जिसमें ३२ अक्षर और अन्त में लघु होता है, मुख्य हैं। अन्य कवियों की भाँति देव ने भी ३१ वर्ण के मनहर का प्रयोग ही अधिक किया है। रूप-घनाक्षरी का उसकी अपेक्षा प्रयोग कम है—इनके अतिरिक्त उन्होंने ३३ अक्षरों का कवित्त भी लिखा है जो उनके ही नाम पर देव-घनाक्षरी नाम से प्रचलित है। देव ने अन्त्यवर्णों के क्रम को विशेष महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने केवल अक्षरो की संख्या को ही मुख्य मानते हुए कवित्त के विभिन्न भेदों को एकत्रिंशाक्षरी, द्वित्रिंशाक्षरी तथा त्रित्रिंशाक्षरी नाम दिया है। ३३ अक्षर वाले कवि में लय बहुत ही अधिक खिंच जाती है जिससे श्वास को और भी अधिक 'दण्ड' मिलता है।

झिल्ली-से झिरत चहुँघाई से घिरत वन,
आवत फिरत झीनै झरसों झपकि झपकि।

इसीलिए एक आध कवि को छोड़ किसी ने भी इसका प्रयोग नहीं किया। कवित्त के विशेषज्ञ रत्नाकर जी ने स्पष्ट शब्दों में इसकी निन्दा की है :—'देव कवि ने जो तीस तथा तैंतीस अक्षर के दो छंद घनाक्षरी भेद में लिखे हैं, वह और कवियों के काव्य में विशेष देखने में नहीं आते और कानों में भी वह विशेष रोचक नहीं ज्ञात होते।' [घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर पृ० ६]

कवित्त का केवल आधार लय है। उसमें गण, मात्रा आदि का कोई महत्त्व नहीं—और लय एक अत्यन्त सूक्ष्म-तरल तत्व है जो संगीत और ध्वनि-मैत्री पर आश्रित रहती है। यों तो कवित्त की लय पर अनुशासन करने वाले अनेक सूक्ष्म सिद्धांत हैं, जिनमें सम-विषम विचार काफ़ी महत्वपूर्ण हैं। यति-व्यवस्था का भी अपना महत्व है, परन्तु उसका आधार अपेक्षाकृत स्थूल है, इसीलिए कभी कभी उसका विचार न करने पर भी लय अक्षुण्ण रहती है। यति की स्थिति साधारणतः १६ और १५ या १६ अक्षरों के बाद और विशेषतः ८, ८, ८, ७ (या ८) के बाद मानी गई है। देव ने अन्य कवियों की भाँति चार यतियों के नियम पर

विशेष ध्यान नही दिया क्योंकि इस प्रकार कवित्त के 'मुक्तत्व' में बाधा पड़ती है। आप उनका कोई भी छंद उठा लीजिए चार यतियों की व्यवस्था उसमें नहीं मिलेगी :—

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै,
साँसे भरि आँसू भरि कहति दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि औचकि उचकि देव,
थकि थकि बकि बकि उठति बई बई।
दुहुन के रूप गुन दोऊ बरनत फिरैं,
पल न थिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधा मय,
राधा-मन मोहि मोहि मोहन मई भई।

लय और संगीत की दृष्टि से यह देव के अत्यन्त पूर्ण छंदो मे से हैं, परन्तु इसमें स्पष्ट ही ८ अक्षरो के उपरांत यति नही है।

ह्वै रहै कमल कमलाकर कमलमुखी, फूलनि में फूलिकै खरीयै खिलि जाति है।
चित्रनि से चित्रते विचित्र होति चित्रिनी, अनूप चित्रसारी के सरूप हिलि जाति है॥

उपर्युक्त छंदांश में ८ अक्षर वाली यति को तो नियमित रूप से भंग किया ही गया है। तीसरी पंक्ति में १६ के स्थान पर १५ वर्णों पर यति दे दी गई है। यति के इस साधारण नियम का उल्लंघन भी देव ने कम नहीं किया। उन्होंने अनेक छंदों में १६ अक्षरों पर यति न देकर दो एक अक्षर इधर उधर कर दिए हैं :—

(१) सखिन के सोच गुरु-सोच मृगलोचनि— (१५ पर यति)
रिसानी पिय सौं जु उन नैक हँसि छुओ गात।

(२) एक कर आली कर ऊपर ही धरे—(१४ पर यति)
हरे हरे पग धरैं देव चलैं चित चोरि चोरि।

(३) दूजे हाथ साथ लै सुनावति वचन—(१४ पर यति)
राज-हंसन चुनावति मुकुत माल तोरि तोरे।

(४) छोह भरी छरी-सी छबीली छिति माँहि—(१४ पर यति)
फूल छरी के छुवति फूल छरी-सी छहरि परी।

इन उद्धरणो से कहीं १५ और कही १४ पर यति दी गई है, और इस प्रकार साधारण *यति-नियम का भी पालन नही हुआ, परन्तु फिर भी लय में

* रत्नाकर जी ने स्पष्ट ही कहा है कि यति-नियम का विशेष महत्व नहीं है।
(घनाक्षरी नियम रत्नाकर)

दोष नहीं आने पाया। इसका कारण यह है कि देव ने सम-विषम की सूक्ष्म व्यवस्था पर पूरा ध्यान दिया है। प्रसिद्ध छंदःशास्त्रकार श्री भानु जी ने सम-प्रयोगों को सब से अधिक कर्णमधुर माना है। इसके अतिरिक्त "यदि कहीं विषम प्रयोग आजावे तो उसके आगे एक विषम प्रयोग और रख देने से उसकी विषमता नष्ट होकर समता प्राप्त हो जाती है और वे भी कर्णमधुर हो जाते हैं"। विषम के उपरांत सम और फिर विषम का प्रयोग छंद की लय के लिए घातक है। देव ने इन नियमों का बड़ी सूक्ष्म रीति से पालन किया है। उन्होंने पहले तो सम का ही प्रयोग अधिक किया है, जैसे :—

(१) फलि फलि, फूलि फूलि, फैलि, फैलि, झुकि झुकि।
(२) वारै कोटि इंदु अरविंदु रस विंदु पर।
(३) रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ।
मेरे रीझि खीझि एकै रंग राग्यो सोई रागि चुक्यो।

इसके अतिरिक्त विषम यदि कहीं आया है तो उसके उपरांत तुरन्त ही दूसरा विषम अनिवार्य्यतः आ गया है—जिससे संगीत की पूरी रचा हुई है :—

१—झपकि झपकि आईं कुंजें चहुँ कोदते।
२—हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अजहूँ बसन देहु व्रजमें बसन देहु।

वास्तव मे इस प्रकार की व्यवस्था वीप्सा और अनुप्रास का प्रचुर प्रयोग करने वाले इस कवि के लिए सहज सुकर हुई है क्योंकि सम विषम की आवृत्ति और वीप्सा-अनुप्रास आदि दोनों का ही आधार अक्षर-मैत्री है। जैसा मैने ऊपर कहा है देव ने इस नियम का सूक्ष्म रूप में निर्वाह किया है, स्थूल रूप में नहीं। अतएव सम प्रयोगों में केवल दो दो अक्षर वाले, और विषम प्रयोगों मे केवल तीन तीन अक्षर वाले शब्द ही सर्वत्र नहीं प्रयुक्त किये गये। ऐसा करना भाव-प्रकाशन को एक अनावश्यक बंधन मे जकड देना होता। इसलिए उन्होंने शब्दावली का प्रयोग तो स्वच्छन्दता से किया है, परन्तु उसमें अनुस्यूत लय के अन्तसूत्र को सर्वत्र ही सावधानी से अक्षुण्ण रखा है।

गोकुल की कुल-बधू को कुल सम्हारैं नहीं।
दो कुल निहारैं लाज नासी है री नासी है॥

यहाँ शब्दों के अनुसार सम विषम की व्यवस्था नहीं बैठती, परन्तु लय के अनुसार पढने से उसमें कोई त्रुटि नहीं मिलती :—

गोकुल कीकुल बधू कोकुल सम्हारैं नहीं।
दोकुल निहारै लाज, नासी हैरी नासी है॥

इसी प्रकार—भूले हू न भोग, बड़ी बिपति वियोग बिथा।
जोग हूते कठिन संजोग पर नारी को।
—का लययुक्त रूप होगा—

भूले हून भोग बड़ी बिपति वियोग बिथा।
जोग हूते कठिन संजोग पर नारी को।
—जो सम-विषम व्यवस्था के अनुसार नितांत शुद्ध है।

इनके अतिरिक्त रत्नाकर जी ने कवित्त की लय को ठीक रखने के लिए कुछ और भी सूक्ष्म नियम बनाए हैं, जिन में दो पर उन्होंने यथेष्ट बल दिया है :

'(१) छंद के आदि में और चार, आठ, बारह, सोलह, चौबीस तथा अट्ठाइस वर्णों के पश्चात् यदि कोई शब्द आरम्भ हो तो उसके आदि में जगण (ISI) तथा तगण (SSI) न पड़ने पावे।'

'(२) तीन, सात, ग्यारह, पन्द्रह, उन्नीस, तेइस और सत्ताइस अक्षरों के पश्चात् जो शब्द आवे और एक अक्षर से अधिक का हो तो उसके आरम्भ में लघु गुरु IS का होना आवश्यक है।'

[देखिए घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर]

लय की परख होने के कारण देव के छंदों में साधारणतः इन नियमों का पालन अपने आप ही हो गया है—परन्तु कहीं कहीं उनका उल्लंघन भी मिलता है :—

१—'संकेत सदन देव मदन विलास......।' यहाँ आदि में तगण आ गया है और निश्चित ही लय में थोड़ी बाधा उपस्थित हो जाती है।

२—रूप की बनक मनि कनक नूपुर पाँय आइ गई झनक मनकनि झनकवार।

इस छंदांश में ११ अक्षर के उपरांत IS न आकर SI आया है, साथ ही अन्तिम अंश मे यति की बड़ी गड़बड़ है जिससे लय विकृत हो गई है। परन्तु इस प्रकार के उदाहरण देव में बहुत कम ही हैं। उनके ग्रंथों का उचित संपादन अभी नहीं हुआ, इसलिए पाठ की अशुद्धि के कारण भी उनमें अनावश्यक छंद-दोष मिल जाते हैं, जिनके लिए वे उत्तरदायी नहीं हैं।

प्राचीन परिपाटी के कवियों में कवित्त पढ़ने की दो शैलियाँ प्रचलित हैं—एक तो भाटों वाली 'लुढ़कंत' शैली है और दूसरी को 'पद्माकरी' शैली कह सकते हैं जिसको रत्नाकर जी ने अमर कर दिया है। पहली शैली की लय पहाड़ी ढाल पर झरझर बहने वाले झरने के समान है, और दूसरी की समतल भूमि पर मस्ती से बहने वाले भँवरदार स्फीत वारि-प्रवाह के समान। इनमें स्पष्टतः पहली

शैली ही अधिक प्राचीन है। देव के अनेक छंदों के परीक्षण से स्पष्ट है कि उनकी लय पद्माकरी स्फीत शैली में नहीं बैठाई जा सकती, उदाहरण के लिए ऊपर उद्धृत 'फलि फलि, फूलि, फूलि फैलि फैलि, भुकि भुकि।

भपकि भपकि आई कुंजै चहुँ कोद ते।'... छंद ही लिया जा सकता है इससे अनुमान होता है कि तब तक दूसरी शैली का जन्म नहीं हुआ था—'लुढकंत शैली का ही प्रचार था। और वास्तव में देव के कवित्तों की लय भी ढाल पर हलकी धार से बहने वाले पहाडी झरने के ही अधिक निकट है। स्फीत वारि-प्रवाह की मस्ती, जो पद्माकर या रत्नाकर की वाग्धारा में मिलती है, उनके कवित्तो में प्रायः कम ही है—उनके कवित्तों में शृंगारोचित रुन-झुन ही अधिक मिलती है। कवित्त के विकास में उनका योग मुख्यतः यही है।

———

आदान-प्रदान

आदान—देव पर अन्य कवियों का प्रभाव—

कवि के लिए शक्ति के उपरान्त दूसरा सब से अधिक स्पृहणीय गुण साहित्यिक व्युत्पन्नता है। वास्तव में कवि की शक्ति का संस्कार अपने प्राचीन तथा समसामयिक साहित्य के अध्ययन और मनन से ही होता है—और उसी के द्वारा उसकी अभिरुचि का निर्माण भी होता है। देव के रीति-विवेचन पर भरत, दण्डी, और विशेष रूप से भानुदत्त तथा केशव का क्या और कितना प्रभाव पड़ा यह हम अन्यत्र दिखा चुके हैं—प्रस्तुत लेख में हमारा उद्देश्य देव के काव्य पर पड़े हुए पूर्ववर्ती कवियों के उन प्रभावों का विश्लेषण करना है जिनके द्वारा उनकी कवि-प्रतिभा का संस्कार तथा उनकी साहित्यिक अभिरुचि का निर्माण हुआ था।

शृंगार की मुक्तक-परम्परा का आरम्भ एक प्रकार से हाल की गाथा-सप्तशती से माना जा सकता है, उसके उपरांत अमरुशतक और फिर गोवर्धनाचार्य्य की आर्य्यासप्तशती इस परम्परा के विशिष्ट मार्ग चिह्न हैं। हिन्दी के प्रमुख मुक्तक कवि बिहारी ने अपने दोहों की रचना करते समय इनका आदर्श सामने रखा है। देव के काव्य का परीक्षण करने के उपरान्त यह स्पष्ट हो जाता है कि वे संस्कृत साहित्य-शास्त्र तथा काव्य से भली भाँति परिचित थे और उपर्युक्त तीनों ग्रन्थो का अध्ययन भी उन्होने अवश्य ही किया था—परन्तु उनके छन्दों को ध्यान में रखकर, जैसा कि केशव बिहारी और पद्माकर आदि ने किया है, इन्होंने रचना नही की। केवल अमरु के ही अनेक छन्दों को बिहारी के दोहों तथा केशव, पद्माकर, आदि के छन्दों से मिलाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचना करते समय इन कवियों के मन में निश्चय ही अमरु के छंद घूम रहे थे और इन्होंने जान बूझकर उनको ग्रहण किया है। उदाहरण के लिए दो छन्द पर्याप्त होंगे :—

क्व प्रस्थितासि करभोरु घने निशीथे,
प्राणाधिपो वसति यत्र निजः प्रियो मे।
एकाकिनी वद कथं न बिभेषि बाले,
नन्वस्ति पुंखितशरो मदनस्सहायः।

(अमरु-शतक)

देखिए, इस छन्द के भाव और शब्दावली दोनों को ही केशव ने और उनसे भी अधिक पद्माकर ने कितने स्पष्ट रूप में ग्रहण किया है :—

× × ×

भारी भयकारी निशि, निपट अकेली तुम ।
नाहीं प्राणनाथ साथ, प्रेम जो सहाई है ॥
(केशव, रसिक-प्रिया)

कौन है तू चली जाति किते, बलि बीती निसा अधि राति प्रमानै ।
हौं 'पद्माकर' भावती मैं, निज भावते पै अबही मोहिं जानै ।
तो अलबेली अकेली डरै किन, क्यों डरूं मेरी सहाय न आनै ।
है मम संग मनोभव सो भट, कान लों बान सरासन तानै ।
(पद्माकर, जगद्विनोद)

इसी प्रकार :—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं;
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥
(अमरु-शतक)

× × ×

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुँह चूम्यौ ढिग जाय ।
हँस्यौ खिसानी गर गह्यौ, रही गरै लपटाय ।
(बिहारी-सतसई)

गाथा-सप्तशती और आर्या-सप्तशती के विषय मे भी यही सत्य है—पं० पद्मसिंह शर्मा के विवेचन से उनके प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है । गाथा-सप्तशती की शर्माजी ने केवल तीन-चार ही गाथाएं दी है, परन्तु उसकी आठ दस गाथाएं ऐसी हैं जिनका बिहारी ने एक प्रकार से रूपांतर करके रख दिया है । वास्तव मे बिहारी ने अपने शृंगार-मुक्तकों की रचना करते समय उपर्युक्त तीनों ग्रंथों को आदर्श-रूप में सामने रखा है—इन्हीं के अनुकरण पर उन्होंने कहीं एक भाव, कहीं एक चमत्कार को लेकर समास शैली मे दोहों का निर्माण किया है । इसीलिए शायद प्रयत्न करने पर भी वे इनके अर्थापहरण से नहीं बच पाए । देव के काव्य का आदर्श तथा उसकी प्रेरणा थोडी भिन्न थी, उन्होंने या तो लक्षण-उदाहरण देकर रीति-बद्ध कविता की है या फिर रीति-मुक्त होकर प्रेम के उद्गार व्यक्त किए हैं । अतएव उन पर इनका प्रत्यक्ष प्रभाव अपेक्षाकृत नगण्य ही है—गाथा-सप्तशती मे एक भी गाथा ऐसी नही है जिसके विषय में यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सके कि देव ने अपने किसी भी छन्द मे इसका अर्थापहरण किया है । केवल दो तीन गाथाएं ऐसी मिलती हैं जिनका कि देव के छंदों से भाव-साम्य है:—

(१) ❀ रुअं अच्छीसु ठिअं फरिसो अङ्गेसु जम्पिअं कण्णे ।
हिअअं हिअए णिहिअं विओइअं किं त्थ देव्वेण । (१३२)

रावरो रूप रह्यो भरि नैननि, बैननि के रस सों श्रुति सानो ।
गात में देखत गात तुम्हारेई, बात तुम्हारियै बात बखानो ।
ऊधो ह हा हरि सों कहियो तुम, हौ न इहां यह हौं नहिं मानो । (देव)

× × × ×

(२) एक्केक्कमवइवेठण विवरन्तर दिण्णतरलणअणाए ।
तइ बोलन्ते बालअ पंजरसउणा इअं तीए । (२२०)

फेरि फेरि हेरि मगु बात हित बंछी पूछै,
पंछी हू मृगंछी जैसे पंछी पींजरा पर्यो । (देव)

परन्तु इन छन्दों के विपय में निश्चय-पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि देव ने इनके भाव उपर्युक्त गाथाओं से ही लिए हैं ।—जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होगा केशव तथा बिहारी आदि में भी ये भाव मिलते हैं, और यह सम्भव है देव ने उन्हें वहीं से लिया हो ।

अब अमरु-शतक को लीजिए । अमरु-शतक की प्रतिष्ठा संस्कृत साहित्य में उपर्युक्त दोनों सप्तशतियों से भी अधिक है । रीति-ग्रंथों में उदाहरण रूप उसके छंद भरे पड़े हैं । हिंदी कवियों पर उसका प्रभाव कितना अधिक रहा है यह अभी दिखाया जा चुका है । वास्तव में केशव, मतिराम, बिहारी, पद्माकर आदि रीति-काल के सभी प्रमुख कवियों पर उसका गहरा प्रभाव है—और इस सूची में विद्यापति, सूर आदि को भी सरलता से अंतर्भूत किया जा सकता है । परन्तु जहाँ तक देव का सम्बन्ध है उनके एक भी छंद पर उसके किसी पद्य-रत्न की स्पष्ट छाया नहीं मिलती । अमरु के केवल तीन छंद ऐसे हैं जिनके भाव का हलका-सा प्रतिबिम्ब अथवा एकाध पंक्ति की प्रतिध्वनि का आभास-सा देव में मिलता है : भाव का प्रतिबिम्ब :—

❀ (१) रूपमक्ष्णोः स्थितस्पर्शोऽङ्गेषु जल्पितं कर्णे ।
हृदयं हृदये निहितं वियोजितं किमत्र दैवेन ॥

आँखों में रूप [समाया हुआ] है अंगों में स्पर्श [रमा हुआ] है, कानों में वाणी [गूंज रही] है, हृदय में हृदय निहित है; फिर विधाता ने वियोग ही किसका किया है ।

(२) एकैकवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरलनयनया ।
त्वयि व्यतिक्रान्ते बालक पंजरशकुनायितं तया ॥

तेरे चले जाने पर एक एक आवरण के विवरों में तरल दृष्टि डालती हुई, वह पिंजरबद्ध शकुन जैसी हो गई ।

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देवस्यानयने पिधाय-विहित क्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रिमकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तो परां चुम्बति । १६ ।

खेलत फागु खिलार खरे अनुराग भरे बड़ भाग कन्हाई ।
एकही भौन में दोउन देखिके देव करी यक चातुरताई ।
लाल गुलाल सों लीनी मुठी भरि बाल के भाल की ओर चलाई ।
वा दृग मूंदि उतै चितये इन भेटी इतै वृषभान की जाई । [देव]

इन दोनो पद्यों में कनिष्ठा के नेत्र बंदकर ज्येष्ठा को चूमने या आलिंगन करने का भाव मात्र ही समान है, वैसे प्रसंग-विधान सर्वथा भिन्न है । हो सकता है कि देव के मन मे अमरु के उपर्युक्त छंद की छाप रही हो, परन्तु निश्चय-पूर्वक उसका प्रभाव मानना उचित नहीं होगा क्योंकि ऐसी चातुरताई तो ज्येष्ठा-कनिष्ठा के लक्षण मे ही निहित है । इसके विपरीत आप देखिए कि पद्माकर ने अमरु के छंद का ज्यों का त्यों अनुवाद ही कर डाला है ।

२—'दोऊ छबि छाजती छबीली मिलि आसन पै जिनहि विलोकि रह्यो जात न जितै जितै । कहै पद्माकर पिछौहैं आइ आदर सो छलिया छबीली छैल बासर बितै त्रितै । मूंदे तहां एक अलबेली के अनोखे दृग सुदृग मिचाउनी के ख्यालन हितै हितै । नेसुक नवाइ ग्रीवा धन्य धन्य दूसरी को औचक अचूक मुख चूमत त्रितै चितै ।' जगद्विनोद के इस छंद में भावानुवाद ही नहीं शब्दानुवाद भी है, पद्माकर ने 'ईषद्वक्रिमकन्धर.' को भी नहीं छोड़ा । स्फुट पंक्तियों की प्रतिध्वनि :—

(१) दीर्घावन्दनमालिका विरचिता दृष्ट्यैवनेन्दीवरैः
पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः।
दत्तस्वेदमुचा पयोधरयुगेनार्घ्यो न कुम्भांभसा ।
स्वैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्व्या कृतं मंगलम् । [४०]

पहली पंक्तिकी प्रतिध्वनि देव में इस प्रकार मिलती है:
सखियान के आनन इन्दुन ते अँखियान की बन्दनवार तनी ।

परन्तु यह भी दूर की कौड़ी ही लगती है—यह भाव अमरु से पूर्व भी कालिदास आदि में आया है । कुछ भी हो देव की उपर्युक्त पंक्ति में अधिक से अधिक अमरु की एक क्षीण प्रतिध्वनि के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता । हाँ, देव से पूर्व मतिराम ने अवश्य इस भाव को इच्छा-पूर्वक ग्रहण किया है ।

पिय मिलाप के हेत तिय सजे उछाह सिंगार ।
दृग-कमलनि के द्वार पै बाँधे बन्दनवार ॥ [मतिराम-सतसई]

यह भी सम्भव है कि देव ने यह प्रतिध्वनि मतिराम से ही ग्रहण की हो।

[२] लाक्षालक्ष्मललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रागले
वक्त्रे कज्जल-कालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोदयः।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः। ८८।

अंजन अधर उर बीच नख-रेख लाल, जावक-तिलक भाल लाग्यो अध माँग के।
भौंहैं अलसौंहैं पल सौंहैं पगे पीक रंग, राति जगे रति मैन सदन सुहाग के। [देव]

यहाँ भी अमरु का निश्चित आभार नहीं माना जा सकता, क्योंकि उपर्युक्त सभी चिह्न खण्डिता के लक्षण में ही सन्निहित रहते हैं। केशव, बिहारी, मतिराम आदि देव के पूर्ववर्ती कवियों ने भी इसी सामग्री का प्रयोग किया है। वास्तव में जैसा कि आगे दिखाएंगे, उपर्युक्त पद्यांश पर बिहारी के एक दोहे का ही सीधा प्रभाव पड़ा है।

कहने का तात्पर्य्य यह है कि अमरु का सीधा प्रभाव देव पर नहीं माना जा सकता, परन्तु उनकी कारयित्री प्रतिभा का संस्कार करने में हाल की तरह अमरु का भी हाथ है, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। आर्या-सप्तशती का प्रभाव अपेक्षाकृत और भी कम है—वास्तव में उसकी कविता इन दोनों की अपेक्षा हीन है। उसमें समय के प्रभाव-वश चमत्कार तथा अतिशय आदि को अधिक महत्व दिया गया है, जो देव की रुचि के अधिक अनुकूल नहीं पड़ता।

दयितप्रहितां दूतीमालम्ब्य करेण तमसि गच्छन्ती।
स्वेदच्युतमृगनाभिदूराद्गौरांगि दृश्यासि॥ [आ० स०]

देव दुरियत न अँधियारे अध रातहू के,
गात हू छिपाये पूछे पाहरु पकरि कै।

× × ×

कासरि करंग-सार केसरि कुसुम सार।
आस पास घने घन-सारनि परसि कै। [देव, सुख-सागरतरंग]

उपर्युक्त दोनों पद्यों में शरीर की कान्ति और मृगमद के द्वारा नायिका के लक्षित हो जाने का भाव ही समान है। साधारणतः गोवर्धन की एक भी आर्या का अर्थ देव ने ग्रहण नहीं किया।

संस्कृत के स्फुट पद्यों की छाया

इनके अतिरिक्त संस्कृत के कुछ स्फुट पद्यों की छाया भी देव में यत्र-तत्र मिल जाती है। कालिदास का एक पद्य है :

पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनानाम्
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरंगनानाम् । [रघुवंश]

मैथिली को देखती हुई पुरांगनाओं के नेत्रों से अयोध्या की अट्टालिकाओं के गवाक्षों में कमल से खिल उठे थे।—देव इसी भाव को ग्रहण करते हुए लिखते हैं :—

अनुराग के रंगनि रूप तरंगनि, अंगनि ओप मनो उफनी ।
'कवि देव' हिये सियरानी सबै, सियरानी को देखि सुहाग सनी ।
बर धामनि वाम चढी बरसैं, मुसकानि सुधा घनसार घनी ।
सखियान के आननि इंदुन तें, अँखियान की बंदनवार तनी ।

बन्दनवार शब्द से अभिव्यक्ति में थोड़ी वक्रता आ गई है, परन्तु भाव की आत्मा वही है, इसके अतिरिक्त प्रसग में भी बहुत कुछ साम्य है।

देव का निम्नलिखित पद्य मरण के चमत्कार-पूर्ण उदाहरण के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है :—

साँसन ही सों समीर गयो अरु आंसुन ही सब नीर गयो ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ।
देव जियै मिलिबेई की आस कि आस हू पास अकास रह्यो भरि ।
जा दिन ते मुख फेरि हरे हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ॥

इस पर स्पष्ट ही प्रसन्नराघवकार कवि जयदेव के इस छंद का प्रभाव है :—

मांसं कार्श्यादभिगतमपां बिन्दवो वाष्पपातात्,
तेजः कान्तापहरणवशाद्वायवः श्वास-दैर्ध्यात् ।
इत्थं नष्टं विरहवपुषः तन्मयत्वाच्च शून्यम्,
जीवत्येवं कुलिशकठिनो रामचन्द्रः किमेतत् ॥

[प्रसन्नराघव]

यहां प्रसंग सर्वथा भिन्न है, मूलभाव मे भी कोई साम्य नहीं है, परन्तु संस्कृत पद्य के भाव-खण्डों को देव ने ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है—'अपां बिन्दवः वाष्पपातात्' और 'आंसुन ही सब नीर गयो ढरि' एक ही बात है, इसी तरह 'वायवः श्वास दैर्ध्यात्' और 'साँसन ही सों समीर गयो' में कोई अन्तर नहीं है। इसके अतिरिक्त तेज और भूमि का भी उल्लेख दोनों में है, परन्तु प्रयोग में थोड़ा अंतर है। यहाँ भी देव ने थोड़ी वक्रता की वृद्धि अवश्य की है, परन्तु प्रसंग और भाव की गंभीरता जो जयदेव के पद्य में है वह देव के छंद में नहीं है।

प्राकृत और अपभ्रंश के भी एकाध पद्य की छाया देव में कहीं कहीं मिल जाती है। उदाहरण के लिए विरह की कृशता-विषयक यह मनोहर अत्युक्ति स्पष्ट ही अपभ्रंश के एक दोहे से प्रभावित है :—

लाल विना विरहाकुल बाल वियोग की ज्वाल भई जरि भूरी।
पौन औ पानी सों प्रेम कहानी सों पान ज्यों प्राननि राखत हूरी।
देवजू आजु मिलाप की औधि सो बीतत देखि विसेख विसूरी।
हाथ उठायो उडायिवे कों उड़ि कागगरे गिरीं चारिक चूरी॥

× × ×

* वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तड़त्ति॥

यह दोहा हेमचन्द्र का है, (प्रियतम के आने का शकुन विचारती हुई) प्रोषित-पतिका कौए को उडा रही थी कि इतने मे सहसा प्रिय दिखलाई पड गया। (विरह की कृशता के कारण) उसकी आधी चूडियाँ पृथ्वी पर गिर पड़ीं और आधी (खुशी से फूल जाने के कारण) चटक कर टूट गई। देव ने इस दोहे का एक भाव ही ग्रहण किया है और वही वास्तव मे अधिक करुण भी है, दूसरे में शक्ति होते हुए भी स्वाभाविकता की कमी है और इसीलिए 'स्वभाव' के प्रेमी कवि ने उसे ग्रहण नहीं किया। विरह की कृशता के कारण हाथों से वलय या चूडी गिरने का भाव संस्कृत मे बहुत पुराना है। शाकुन्तलम् मे दुष्यंत कहता है, 'कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसा ते'। उधर यक्ष के साथ भी यही हुआ, उस बेचारे का भी कनकवलय प्रकोष्ठ से गिर जाता है :—'नीत्वा मासान् कनक-वलय-भ्रंशरिक्त-प्रकोष्ठः।'

इस प्रकार के कुछ और समानान्तर पद्य उद्धृत किए जा सकते हैं, परन्तु वे अनावश्यक होंगे। उपर्युक्त विवेचन के ही आधार पर यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि देव ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के मुक्तक शृंगार-साहित्य का अध्ययन किया था, और उसके संस्कार उनके काव्य में वर्तमान हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि देव ने संस्कार मात्र ही ग्रहण किए हैं—सचेष्ट होकर संस्कृत और प्राकृत के किसी कवि का अनुकरण उन्होंने नहीं किया। भानुदत्त की रस-तरंगिणी और रस-मंजरी से उन्होंने रीति-विवेचन सम्बन्धी बहुत-सी बातें

* दास ने इस दोहे का ज्यों का त्यों अनुवाद करके रख दिया है :—
"दास कहै ता समै सुहागिनि को कर भयो वलया बिगत दुहूँ बातन प्रसंग तें।
आधिक दरकि गई विरह की क्षामता तें, आधिक तरकि गई आनंद उमंग तें।"

ग्रहण की हैं, परन्तु उदाहरण सर्वत्र अपने ही दिए हैं। हमने दोनों को साथ रखकर पढ़ा है, मुश्किल से उनके एकाध छंद पर भानुदत्त के उदाहृत छंद की छाया का आभास मिलता है, जैसे—

सङ्केत-केलिगृहमेत्य निरीक्ष्य शून्य-
मेणीदृशो निभृतनिःश्वसिताऽवरायाः।
अर्धाक्षरं वचनमर्धविकाशि नेत्रं
ताम्बूलमर्धकवलीकृतमेव तस्थौ॥

(रस-मञ्जरी, मध्या विप्र०)

प्यारी संकेत सिधारी सखी संग स्याम के काम सँदेसनि के सुख।
सूनौ इतै रंगभौन चितै चितमौन रही चकि चौंक चहूँ रुख।
एकही वार रही जकि ज्यों कि त्यो भौंहनि तानि कै मानि महादुख।
देव कछू रद बीरी दबी री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख।

[सुजानविनोद, विप्रलब्धा]

यही बात कृष्णमिश्र के प्रबोध चन्द्रोदय के विषय मे भी कही जा सकती है। देव-माया-प्रपंच पर उसकी शैली का प्रभाव अवश्य है, परन्तु उसके किसी पद्य की छाया देव ने ग्रहण नहीं की।

देव और उनके पूर्ववर्ती हिन्दी कवि :—

हिन्दी कवियों के विषय मे उपर्युक्त कथन उतनी सचाई से नही घटता। देव से पूर्व हिन्दी में सैकड़ों रससिद्ध कवि हो चुके थे, और उनमें अनेक अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुके थे। इनमे से कृष्णभक्त कवियों तथा रीति-कवियो की रचनाओं से ही देव की कविता का साम्य बैठता है और तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि देव इनसे प्रभावित अवश्य हुए हैं। जहां तक कृष्ण-भक्त कवियों का सम्बन्ध है वहाँ तक तो हमारी धारणा यही है कि उनका प्रभाव प्रायः अप्रत्यक्ष ही है—देव के काव्य संस्कारों के निर्माण में ही उनका हाथ अधिक रहा है। परन्तु रीति-कवियों का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष है, वे देव के मन मे आदर्श रूप से वर्तमान रहे हैं। कृष्णभक्त कवियों की परम्पराएँ तो विद्यापति से ही आरम्भ हो जाती हैं, परन्तु विद्यापति का प्रचार पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में ही अधिक रहा। उनका प्रत्यक्ष प्रभाव बंगाल के वैष्णव कवियो पर जितना पड़ा उतना हिन्दी के कवियों पर नहीं। सूर आदि प्राचीन कृष्णभक्त कवियों पर उनकी गीति-शैली का प्रभाव अवश्य पड़ा, परन्तु वे इन प्रान्तों में लोकप्रिय कभी नहीं हुए। विद्यापति वास्तव में बंगला के ही कवि समझे जाते रहे। हिंदी के कवि रूप में तो वे बहुत कुछ आधुनिक युग के ही अनुसन्धान हैं। अठारहवीं शताब्दी में

पश्चिमीय प्रान्तों में उनका कोई विशेष प्रचार नहीं था, अतएव देव पर उनका कोई प्रभाव नहीं माना जा सकता। कहीं-कहीं देव की और उनकी कुछ पंक्तियों मे जो थोड़ा-* भाव-साम्य मिल जाता है, वह या तो आकस्मिक है और या फिर इस कारण से है कि दोनों में एक ही प्राचीन संस्कृत कवि की प्रतिध्वनि है।

सूरदास

विद्यापति के उपरांत सूर आते हैं, जिनका सूर-सागर भक्ति-शृंगार की कविता का सागर है। हिन्दी का कोई भी मध्यकालीन शृंगारी कवि सूर के प्रभाव से नहीं बच सका, उनका काव्य संयोग-क्रीडा, उपालम्भ तथा विरह का अमित भाण्डार है और प्रकारान्तर से प्रायः सम्पूर्ण नायिका-भेद भी उसमें आ जाता है।

देव ने भक्ति और कविता दोनों की दृष्टि से सूर-सागर का पारायण किया होगा। उन्होंने इन सभी प्रसंगों को ग्रहण किया है और उनकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों पर सूर की छाप है। प्रेम के करुण मर्म को अभिव्यक्त करने वाला सूर का यह दोहा देव ने ज्यों का त्यों ले लिया है :

> बांह छुड़ाये जात हो निबल जानि कै मोहिं।
> हिरदै ते जब जाउगे, मरद बदौंगो तोहि॥ (सूर)
> ऊधो हहा हरि सों कहियो तुम, हौ न यहाँ यह हौं नहि मानौं।
> या तन तैं बिछुरे तो कहा, मनतैं अनतैं जो बसौ तब जानौं॥ (देव)

इसके अतिरिक्त उनके खण्डिता आदि के चित्रों पर, रासलीला एवं अन्य संयोग-क्रीडाओं के वर्णनों तथा उद्धव-प्रसंग आदि पर, सूर का गहरा प्रभाव है। आप देखिए कि देव ने ही नहीं रीतिकाल के अन्य कवियों ने भी सूर की काव्य-सामग्री का कितना अधिक उपयोग किया है।

---

* सैसव जौवन दुहु मिलि गेल
स्रवनक पथ दुहु लोचन लेल। (विद्यापति—पदावली)
कटिक गौरव पाओल नितम्ब
एक क खीन अओक अवलम्ब। (विद्यापति प०)
कानन की ढिग ह्वै दृग दौरत चातुरी चाउ चबाउ पसारो।
दाब्यो दुहूँन दुहूँ दिशि ते भयो दूबरो सो दबि लंक बिचारो। (देव)
पंकज मधु-पिबि मधुकर रे
उड़ए पसारल पाखे। (विद्यापति)
वेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी। (देव)

खण्डिता के चित्र :—

गात ते गिरत फूल पलटे दुकूल अनुराग अनुकूल भाग जागे बड़ भाग के।
अंजन अधर बीच नख रेख लाल लाल जावक तिलक भाल सघन सुहाग के।
भौंहें अलसौंहें पलसौंहें पगे पीक रस रँग मग नैन रैनि जागे लगे लाग के।
काहे को लजात जलजात से बदन मोंहि महा सुखदेत आए देव पेंच पाग के।
(देव)

भोरही आए मया करि मोपर बैठिए दर्पण देति मंगाए।
ओंठन अंजन लीक लसै दृग देव दुहूं पल पीक लगाए।
अंगन में अगरे बगरे गुण बाल गरे रँग रैनि रँगाए।
को इन लोइन लाल लखे जिन्ह कोइन लोइन ल्याये लगाए (देव)
पीक भरी पलकैं झलकैं अलकैं जु गड़ी सु लसैं भुज खोज की।
छाय रही छबि छैल की छाती मैं छाप बनी काहू ओछे उरोज की। (देव)

उपर्युक्त चित्रों की सम्पूर्ण सामग्री सूर में मिलती है। लाला भगवानदीन ने, जिसको विहारी का माल समझा है,—वह सूर का (और वास्तव में सूर का भी नहीं संस्कृत के कवियों का, तथा भागवत आदि का) है।

१. प्यारी चितै रही मुख पिय को।
अंजन अधर कपोलनि बंदन लाग्यो काहू तिय को।
तुरत उठी दरपन कर लीन्हे देखौ बदन सुधारी ॥

× × ×

२. चन्द्रावलि धाम स्याम भोर भये आये।

× × ×

रिस नहीं सकी सम्हारि बैठि चढ़ी द्वार वारि ठाढे
गिरिधारि निरखि छवि नख सिख ही तें।
बिन गुण बनी हृदय माल ता बिच नख छत रसाल
लोचन दोउ दरसि लाल जैसी रुचि बाढी।
जावक रँग लग्यो भाल चंदन भुज पर बिसाल
पीक पलक अधर झलक वाम प्रीति गाढी।
क्यों आए, कौन काज नाना करि अंग साज,
उलटे भूषन सिंगार निरखत हौ जाने।
ताही के जाहु श्याम जाके निसि बसे धाम
मेरे घर कहा काम सूरदास गाने ॥

३. लाल उनींदे लोचना आलस भरि आए।
अरुझि काम की बेलि सों कीने बिलमाए।
सिथिल पेच सिर पाग के जावक रँग भीने।
लाली मेरे लाल की सब तनु ढीले।

× × ×

४. आये लाल जामिनी जागे ते भोर।
नील कलेवर कोमल उर पर गड़ि गये कुच जु कठोर॥

× × ×

५. आजु हरि रैनि उनींदे आए।
बिनु गुन माल बिराजति उर पर, चन्दन रेख लगाए।
अंजन अधर लिलाट महावर नयन तमोर खवाए।
मगन देह सिर पाग लटपटी जावक रंग रंगाए।
नख रेख विराजति हृदय सुभग कुंकन पीठि वनाए।

[सूर-सागर-खण्डिता-वर्णन]

× × ×

देव की खण्डिता की यह युक्ति अत्यन्त करुण है :—

भारे हौ भूरि भराई भरे अरु भांतिन भाँतिन कै मनभाये।
भाग बड़ो बरु भामती को जेहि भामते लै रंग भौन बसाये।
भेष भलोई भली विधि सों करि भूलि परे किधौं काहू भुलाये।
लाल भले हो भली सिख दीन्हीं भली भई आजु भले बनि आये॥

परन्तु यह भी सूर की उक्ति की प्रतिध्वनि है :

धन्य आजु यहि दरस दियो।
धन्य धन्य जासो अनुरागे तब जानी नहिं और बियो।
भले श्याम वह भली भावती, मिले भले मिलि भली करी।

[सूर-सागर खण्डिता वर्णन]

× × ×

इसे बिहारी ने भी ग्रहण किया है। देव के मन में उपर्युक्त छंद की रचना करते समय शायद 'सूर और बिहारी' दोनों के ही संस्कार वर्तमान थे।

रास-लीला :—देव के रास-लीला के वर्णन भी सूर से काफ़ी प्रभावित हैं। लीला का आरम्भ होते ही गोपियों की दशा का चित्रण लीजिए :—

घोर ...ह नीजन विपिन तरुनी जन ह्वै
निकसी निसंक निसि आतुर अतंक मैं।
गनै न कलंक मृदु लंकनि मयंक-मुखी
पंकज पगन धाईं भागि निसि पंक मैं॥
भूषननि भूलि पैन्हे उलटे दुकूल देव
खुले भुजमूल प्रतिकूल विधि वंक मैं।
चूल्हे चढ़े छांडे उफनात दूध भांडे उन
सुत छांडे अंक पति छांडे परजंक मैं॥ (देव)

मंजन अंजन अंग श्रृंगार। पट भूषण छूटो परिवार॥ रास रसिक गुण गाय हौं।
एक दुहावत तैं उठि चली। पति सेवा कछु करि न भली॥ उतकण्ठा हरि सों बढ़ी।
उफनत दूध न धर्‌यो उतारि। सीपी थुलही चुलहैं डारि॥ पुरुष तजे जेंवत हुते।
पै प्यावत बालक धरि चली। पति-सेवा कछू न करि भली। धर्‌यो रह्यो
भोजन भलो॥

[सूरसागर-रासलीला]

गोपियों की आतुरता के लिए देव ने पावस नदी की उपमा दी है:
'पावस-नदी-सी अह पावस नदी सों परैं उमडी असंगत् तरङ्गित उरनि सों।'
यह उपमा भी सूर की ही है—'जैसे जल-प्रवाह भादौं को सो को सकै बहोरि।'
रास का वर्णन करते हुए देव कहते हैं:—

× × ×

कंकन किंकिनि रव नूपुर अनूप सुर,
मुरली मधुर रस भीने रव झोकि कैं।
बीच-बीच वाम बीच बीच स्यामसुन्दर,
ज्यौं बीजुदाम श्याम घन देव वरि घोकि कैं॥ (देव)

× × ×

सूर ने भी इन बातों का इसी रूप में उल्लेख किया है:—
कंकन चुरी किंकिनी नूपुर पग जनि बिछिया सोहत।
अद्‌भुत धुनि उपजत इन मिलि कै भ्रमि भ्रमि इत उत जोहत॥

× × ×

मध्य श्याम घनतडित भामिनी अति राजति शुभ जोरी।

[सूर, सूर-सागर-रास-लीला]

× × ×

श्याम के अंतर्हित हो जाने पर गोपियों की क्या दशा होती है। पहले यह देव से सुनिए और फिर सूर से :—

कालिन्दी के कूलनि तरुन तर मूलनि निहारि हरि अङ्ग के दुकूलनि उघेरतीं।
मल्ली मलै मालती नेवारी जाती जूथी देव अंबकुल बकुल कदम्बन मैं हेरतीं॥
ताल दैदै तालनि तमालनि मिलत फिरैं बोलि-बोलि बाल भुज भेंटि भट भेरतीं।
पुलकि पुलकि पुलननि मैं पुलोमजा सी बिलपि बिलोकि कान्ह-कान्ह कर टेरतीं॥

[देव-चरित्र]

मोहन मोहन कहि कहि टेरैं कान्ह ह्वौ यहि बन मेरे।

× × ×

ढूंढत हैं द्रुम बेली बाला भईं बेहाल करति अवसेरे॥

× × ×

कहि धौंरी बन बेलि कहूँ तुम देखे हैं नँद नंदन।
बूझहुं धौं मालती कहूँ तैं पाये हैं तनु चंदन॥

× × ×

रास लीला के अतिरिक्त सुरति, दानलीला, तथा देव-चरित के गोवर्धन-धारण आदि प्रसंगों में भी देव ने सूर से भाव तथा घटनाओं के संकेत ग्रहण किए हैं। प्रणय-परिहास का वह मधुरचित्र, जिसमें गोपियां राधा को राजपौरिया बनाकर कृष्ण को छकाती हैं, सूर से ही ग्रहण किया गया है।

अंत में, मिश्रबन्धु-प्रशंसित देव की प्रसिद्ध उपमा—

"गोरो गोरो मुख आज ओरो सो बिलानो जात"—भी सूर मे मिलती है। "अब सुन सूर-स्याम के हरि बिनु गरत गात जिमि ओरे।"—यह उपमा सूर से शायद आलम ने ली और आलम से शायद देव ने—'ओरे-सी बिलाति है जू'—'बिलाति' शब्द इस अनुमान को पुष्ट करता है।

इस प्रकार और भी अनेक स्फुट उदाहरण देकर देव पर सूर का प्रभाव दिखाया जा सकता है, परन्तु वह अनावश्यक होगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि देव ने सूर की सामग्री का प्रचुर प्रयोग किया है। परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि सूर को आदर्श रूप में सामने रखकर उन्होंने कविता नहीं की। उनके काव्य का सामग्री के भाण्डार रूप में उपयोग किया है।

रसखान

सूर के अतिरिक्त दूसरे कृष्ण-भक्त कवि, जिनका देव पर गहरा प्रभाव है, रसखान हैं। सूर और अष्टछाप के अन्य कवियों की कविता में कृष्ण के वस्तुगत

और भावगत दोनों रूपों को ही ग्रहण किया गया है, परन्तु रसखान ने उनके एकांत भावगत रूप को अपना कर कृष्ण-काव्य को शुद्ध आत्मगत गीति-तत्व प्रदान किया है। उनके एक-निष्ठ प्रेम की तीव्रता और तन्मयता का प्रभाव स्पष्ट ही प्रेमी कवि देव की कविता पर पड़ा है, उनके आत्मतत्व को देव ने रुचिपूर्वक अपनाया है। इसी आत्म-तत्व के कारण तो देव की शृंगार-भावना रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों से इतनी भिन्न है। रसखान का प्रभाव देव के काव्य की आत्मा पर है, और तभी उनमें स्थान-स्थान पर रसखान के छंदों की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है।

[१] देव का निम्नलिखित छंद रूप-लोभ की अभिव्यक्ति का अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना है :—

धार में धाइ धँसीं निरधार ह्वै, जाय फँसी उकसी न अबेरी।
री अँगराइ गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न घिरीं नहिं घेरी।
देव कछू अपनो बसु ना, रसु लालच लाल चितै भईं चेरी।
बेगि ही बूडि गईं पंखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी।

आप देखिए इसमें रसखान के एक ऐसे ही छंद की कितनी स्पष्ट प्रतिध्वनि है :—

प्रेम पगे जु रँगे रँग साँवरे, मानैं मनाइ न लालची नैना।
धावत हैं उतही जित मोहन, रोके रुकैं नहिं घूँघट ऐना।
कानन लौं कल ना हिअरे सखि, प्रीति सों भीजि सुने मृदु बैना।
ह्वै रसखान मधू मखियाँ, अब नेह सु बंधन क्योंहु छुटै ना।

[रसखान और घनानंद]

रसखान से पूर्व नन्ददास ने भी इस उपमा का प्रयोग किया है।

कोऊ पिय को रूप नैन भरि उर धरि आवत।
मधुमाखी ज्यों देखि दसों दिसि अति छवि पावत॥

[रासपञ्चाध्यायी]

उपर्युक्त पद्यों में मूलभाव के अतिरिक्त अभिव्यञ्जनाओं में भी गहरा साम्य है।

कुछ उदाहरण और लीजिए :—

[२] रसखान—तौ रसखानि सनेह लग्यौ कोउ एक कह्यौ कोउ लाख कह्यौ री।
और तो रंग रह्यो न रह्यो इक रंग रंगी सोई रंग रह्यो री।

[रसखान-पदावली]

× × ×

देव— रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ,
मेरे रीझ-खीझ एकै रंग राग्यौ सोई रागि चुक्यौ ।

× × ×

लोगन लगायो सो तौ लाग्यो अनलाग्यो देव ,
पूरो पन लाग्यो मन लाग्यो सोई लागि चुक्यौ ।

[३] रसखान—भले वृथा करि पचि मरौ, ज्ञान गरूर बढाय ।
बिना प्रेम फीको सबै, कोटिन किए उपाय ॥

[र० प०]

देव— जिन जान्यो वेद ते तौ बाद कै विदित होंहि ,
जिन जान्यो लोक तेऊ लीक पै लरि मरौ ।

× × ×

हौं तौ नन्द के कुमार तेरी चेरी भई ,
मेरो उपहास क्यों न कोऊ कोटिन करि मरौ ॥

देव-कृत प्रेम के सैद्धांतिक विवेचन में भी कहीं-कहीं रसखान की प्रतिध्वनि है :—

रसखान—प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर-सरिस बखान ।
जो आवत एहि ढिग, बहुरि जात नाहिं रसखान ॥

[र० प०]

देव—विमल शुद्ध सिंगार-रस देव अकास अनंत ।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस विवस न पावत अंत ॥

केशवदास

रीतिकाल के कवियों में केशवदास किन्हीं अंशों में देव के आदर्श थे । रीति-विवेचन में उन्होंने किस प्रकार केशवदास की महत्ता को मुक्तकण्ठ से स्वीकृत करते हुए, उनके प्रभाव को ग्रहण किया है, इसका साङ्ग विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है । केशव को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अनुकरणीय महाकवि माना है । उनके काव्य पर भी, यद्यपि दोनों के काव्यों की आत्माएं सर्वथा भिन्न हैं, केशव का प्रभाव निश्चित रूप से लक्षित होता है । देव के अनेक छंदों पर केशव के छंदों की छाया है ।

स्व० लाला भगवानदीन ने देव के यहाँ से केशव का बहुत-सा 'माल-बरामद किया है'। हालांकि कहीं-कहीं बेचारे देव झूठे शुबे में भी बुरी तरह पकड़े

गये हैं, फिर भी इसमें शक नहीं कि लाला जी की तहकीकात बहुत कुछ कामयाब हुई हैं, देव ने निश्चय ही केशव से भाव, काव्य-सामग्री, उक्ति, उपमा; आदि का ग्रहण किया है।

भाव-ग्रहण :— नैनन के तारन में राखो प्यारे पूतरी कै, मुरली ज्यों लाय राखो दसन बसन में। राखौ गुंज बीच बनमाली बनमाला करि चंदन ज्यों चतुर चढ़ाय राखो तन में। केशोराय कलकंठ राखो बलि कठुला कै, करम-करम क्यों हू आनी है भवन मे। चंपक कली-सी बाल सूंघि-सूंघि देवता-सी, लेहु प्यारे लाल इन्हें मेलि राखौ मन मे। (केशव, रसिकप्रिया)

लेहु लला उठि लाई हौं बालहिं लोक की लाजहिं सों लरि राखौ।
फेरि इन्हें सपनेहु न पैयत लै अपने उर में धरि राखौ॥
देव लला अबला नवला यह, चन्दकला कठुला करि राखौ।
आठहु सिद्धि नवो निधि लै घर बाहर भीतर हू भरि राखौ॥
(देव)

देव ने मूलभाव निस्संदेह केशव से ग्रहण किया है। दोनो छन्दों का प्रसंग-विधान एक है—मूल भाव भी एक है। 'कठुला करि राखौ' तथा 'बलि कंठ राखौ कठुला कै', और 'अपने उर में धरि राखौ' तथा 'मेलि राखौ मन में' बिल्कुल एक बात है। इसके अतिरिक्त 'लेहु लला' का सम्बोधन तक दोनों मे एक ही है। उपर्युक्त कवित्त की छाया देव के एक और छंद में इससे भी अधिक गहरी है :—

पीत पटी लौं कटी लपटी रहै, छैल छरी लौं खरी पकरी रहै।
कान्ह के कंठ की कण्ठी भई, बनमाल ह्वै बाल हिये पसरी रहै।
देव जू कान लुरै लुरकी लौं, भई बंसरी अधरान धरी रहै।
पाग ही पाग ह्वै मूड़ चढ़ी, गहनों सब ग्वालि गुपाल करी है॥
(देव)

लाला जी की धारणा है, और पं० कृष्णबिहारी भी उसे किसी अंश में स्वीकार करते हैं कि केशव के उपर्युक्त कवित्त से देव ने अपने निम्नलिखित प्रसिद्ध छंद की प्रेरणा प्राप्त की है :—

देव मैं सीस बसायो सनेह कै भाल मृगम्मद बिन्दु कै भाख्यो।
कंचुकी मे चुपरो करि चोवा लगाइ लियो उरसों अभिलाख्यो।
कै मखतूल गुने गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो।
सांवरे लाल को सांवरो रूप मैं नैनन में कजरा करि राख्यो॥

परन्तु यह धारणा भ्रांत है क्योंकि दोनों के मूल भाव मे बहुत अन्तर है।

केशव के छंद में आदर और स्नेह के आधिक्य की अभिव्यक्ति है, देव के छंद में स्पष्टतः (श्याम-रस) के उपभोग की तीव्र व्यन्जना है। इसके अतिरिक्त दोनों की काव्य-सामग्री सर्वथा भिन्न है और अन्त में दोनों के काव्य-स्तर में बहुत बड़ा अन्तर है। दोनों में केवल 'उल्लेख' की समानता देखकर उनमें प्रेरक-प्रेरित सम्बन्ध मान लेना अनुचित है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की तीव्रता की दृष्टि से देव का छंद कहीं अधिक उत्कृष्ट है—केशव का छंद उसके सम्मुख अत्यन्त अशक्त प्रतीत होता है।

(२) अँखियां न मिलीं, सखियां न मिली, पतियां न मिलीं बतियाँ तजि मौने।
ध्यान विधान मिली मन ही मन, ज्यों मिलै एक मनो मिलि सौने।
केसव कैसेहु वेगि मिलौ नतु ह्वै है वहै हरि जो कछु हौने।
पूरन प्रेम समाधि मिले, मिलि जैहै तुम्हें मिलिहौ तब कौने।

[केशव, र० प्रि०]

× × × ×

पूछत हौ, पछिताने कहा फिरि, पीछे ते पावक ही को पिलोगे।
काल की हाल में बूड़ति बाल, बिलोकि हलाहल ही को हिलोगे।
लीजिए ज्याय सुधा मधु प्याय कि न्यायन ही विष गोली गिलोगे।
पञ्चनि पञ्च मिले परपञ्च में, वाहि मिले तुम काहि मिलोगे॥

(देव)

यहाँ भी प्रसंग और मूल भाव एक है। दोनों छंदों में दूती का नायक से निवेदन है कि नायिका विरह में मरी जा रही है, आप समय पर ही जाकर उसे बचा लीजिए। यदि उसकी मृत्यु हो जाने के बाद आप पहुँचेंगे तो किससे मिलेंगे? देव को नायिका के पञ्चतत्व में मिल जाने की शंका है, केशव पूर्ण प्रेम-समाधि साधकर स्वयं नायक में उसके लीन हो जाने की बात करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि केशव की उक्ति अधिक रसार्द्र है, परन्तु दोनों की युक्तियाँ भिन्न हैं। देव की दूती नायक को नायिका की मृत्यु के उपरांत होने वाली उसकी अपनी दशा के प्रति सचेत करती है, उधर केशव की दूती केवल नायिका की दयनीय दशा पर ही बल देती है।

(३) छवि सों छबीली वृषभानु की कुँवरि आजु रही हुती रूप मद मान मद छकि कै। मारहु तें सुकुमार नन्द के कुमार ताहि आये री मनावन सयान सब तकि कै। हँसि हँसि सौहैं करि करि पांय परि परि केसौराय की सों सब रहे जिय

जकि कै। वाही समै उठे घन घोर घोर दामिनी-सी लागी लोरि स्याम घन उर सों लपकि कै।

[केशव र० प्रि०]

रूठि रही दिन द्वैक तें भामिनी, मानी नहीं हरि हारे मनाइ कै।
एक दिना कहूं कारी अंधारी, घटा घिरि आई घनी घहराइ कै।
ओर चहूँ पिक चातक मोर के, सोर सुने सु उठी अकुलाइ कै।
भेटी भटू उठि भामते कों, घन धोखे ही धाम अँधेरे में जाइकै।

[देव]

(४) सौंहैं दिवाय दिवाय सखी इक वारक कानन आन बसाये।
जानैं को केशव कानन तें कित ह्वै हरि नैनन मॉझ सिधाये।
लाज के साज धरेई रहे, तब नैनन लै मनही सों मिलाये।
कैसी करौं अब क्यों निकसैं री, हरेई हरे हिय में हरि आये।

[केशव र० प्रि०]

(अ) कानन पैठि कै ऑखिन ह्वै हरिकै हिय बैठि रहे हरि के गुन।

(देव)

(आ) प्रेम कहानिन सो पहिले, हरि कानन आन समीप किये तैं।
चित्र चरित्रन मित्र भये, सपने महँ मोहि मिलाय दिये तैं।
देव जू दूर ते दौरि दुराइ कै, प्रेम सिखाय दिखाय दिये तैं।
वारिज से विकसे मुख पै, निकसे इत ह्वै निकसे न हिये तैं।

(देव)

इनके अतिरिक्त अन्यत्र भी देव में केशव के स्फुट भावों की स्पष्ट प्रतिध्वनि मिलती है जैसे :

(१)— नाह ते नेह निबाहि बलाइ ल्यों, नाहीं सों नेह कहा निबहैगो।

[केशव र० प्रि०]

ऐरी लड़बावरी अहीरि ऐसी बूझौं तोहि,
नाह सों सनेह कीजै नाही सों न कीजिए।

[केशव र० प्रि०]

देव जू देखो विचारि अहो तुम्हैं नाहीं सो नातो कि नाह सों नातो।

(देव)

काव्य-सामग्री का ग्रहण :—

भाव के अतिरिक्त कुछ छन्दों में देव ने केशव की काव्य-सामग्री का भी ग्रहण किया है। यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने उसका उपयोग अपने ढंग से किया है और प्रायः उसके सौन्दर्य्य की वृद्धि ही की है। उदाहरण के लिए कुछ पद्य लीजिए :—

(१) प्रेत की नारि ज्यों तारे अनेक चढाय चलै चितवै चहु घातो।
कोढ़िनि सी कुकरें करि कंजनि, केशव सेत सबै तन तातो।
भेटत ही वरै ही अब ही तो बराय गई ही सुखै सुखसातो।
कैसी करौं कहु कैसे बचौं बहुर्यो निशि आई किये मुख रातो॥
(केशव—र० प्रि०)

वा चकई को भयो चित चीतो चितौति चहूं दिशि चाय सों नाची।
ह्वै गई छीन कलाधर की कला जामिनि जोति मनो जम जांची।
बोलत बैरो बिहंगम देव संजोगिनि की भई सम्पति कांची।
लोहू पियो जु वियोगिनि को, सु कियो मुख लाल पिशाचिनि प्राची॥
(देव)

इन दोनों उदाहरणों के प्रसंग-विधान भिन्न हैं। एक वियोगिनी की उक्ति है, दूसरी संयोगिनी की। केशव ने रात्रि को लाल मुख वाली 'प्रेत की नारि' कहा है, देव ने प्राची को लाल मुख वाली पिशाची कहा है। इस प्रकार मूल काव्य-सामग्री दोनों में समान है। परन्तु केशव ने भी इस रूपक की उद्भावना नहीं की—उन्होंने इसे लिया है वाग्भट्टालंकार के निम्नोद्धृत श्लोक से :—

कीर्णान्धकारालकशालमाना,
निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि।
निशा-पिशाची व्यचरद्दधाना,
महान्त्युलूकध्वनि फेत्कृतानि॥

देव के सामने केशव का छन्द था, इसमें तो सन्देह है ही नहीं, परन्तु साथ में श्लोक का पिशाची शब्द यह संकेत करता है कि वाग्भट्ट का भी संस्कार उनके मन पर वर्तमान था।

(२) फूल ना दिखाउ सूल फूलति है, हरि बिनु,
दूरि करि माला, बाला, ब्याल-सी लगति है।
चँवर चलाउ जिनि, बीजन हलाउ मति,

केशव सुगन्ध वायु बाइ-सी लगति है ।
चंदन चढ़ाउ जिनि ताप-सी चढति तन,
कुंकुम न लाउ अंग आग-सी लगति है ।
बार-बार बरजति बावरी है बारौं आन,
बिरी ना खवाउ बीर, विस सी लगति है ॥
(केशव-र० प्रि०)

देखे दुख देत चैत चन्द्रिका अचेत करि.
चैन ना चितौ न चढ़ै चंदन को टारि दै ।
छीजन लगी है छवि बीजन करै न 'देव',
बीजन सुहात ये सखीजन निवारि दै ।
सौंधे सजि सेज न करेजन मे सूल उठै,
जारि दै निकट कुटी राउटी उजारि दै ।
फूंकै ज्यों फनी री फूल मालकों न नौरी करि,
ये बीरी री बरीयै जाति ये बीरी बगारि दै । (देव)

यहाँ भी दोनो की काव्य-सामग्री लगभग एक-सी है—इसमें सन्देह नहीं कि यह काव्य-सामग्री उद्वेग-वर्णन मे एक प्रकार से रूढ़ हो गई है, परन्तु उसका बहुत कुछ एक ही ढंग से प्रयोग सर्वथा आकस्मिक नहीं माना जा सकता । भवानी-विलास, रस-विलास आदि आरम्भिक ग्रंथों का प्रणयन करते समय केशव की 'रसिक-प्रिया' देव के सामने अवश्य थी, यह तो निश्चित ही है, और यह छन्द दोनो में ही उद्धृत भी है । अतएव केशव के उपर्युक्त कवित्त की थोड़ी छाया इस पर जाने अन जाने में अवश्य पडी है ।

(२) केशव का एक प्रसिद्ध छन्द है :

काछे सितासित काछनी केशव पातुर ज्यों पुतरीन बिचारो ।
कोटि कटाच्छ नचै गति भेद नचावत नायक नेह निहारो ।
बाजत है मृदु हास मृदंग-सो दीपति दीपन को उजियारो ।
देखत हौ हरि देखि तुम्हैं यह होतु है आंखिन बीच अखारो ॥
[केशव—र० प्रि०]

इस विधान को बिहारी और केशव दोनों ने ही अपने-अपने ढंग से ग्रहण किया है :

सब अँग करि राखी सुघर नायक नेह सिखाय,
रसयुत लेत अनंत गति पुतरी पातुर राय । (बिहारी)

बिहारी का दोहा तो एक प्रका से केशव का अनुवाद-सा ही है, देव ने केवल मूल-रूपक को ही ग्रहण किया है।

> बाजी बलै रसना रसनाद सु नूपुर भोग की भूपर मारे।
> चोज के तान मनोज के बान सों ओज के गान गरे अनुसारे॥
> लाज लुटी छिन एक छुटी लट देव कटाच्छ-कुटीर के द्वारे।
> प्रेम चुटी सुख योग जुटी, सु नटी भ्रकुटी त्रिकुटी के अखारे॥

केशव ने पुतरी को पातुरी (नटी) बनाया है—देव ने भ्रकुटी को; केशव के रूपक में प्रेम नायक (उस्ताद) है, देव के रूपक में उसे चुटकी बजाने वाला (ताल देने वाला) अथवा चुटकी लेने वाला (प्रेरक) कहा गया है। शेष सामग्री सर्वथा भिन्न है।

(४) नन्दलाल आगम बिलोकै कुंज जाल बाल,
लीन्हीं तेहि काल गति पिंजर पतंग की।

(केशव—रसिक-प्रिया)

—फेरि फेरि हेरि मगु बात हित बंछी पूछै,
पंछी ह्व मृगंछी जैसे पंछी पींजरा पर्यौ।
—स फिरै फरकै पिंजरा की चिरी ज्यौं॥ (देव)

उपमा काफ़ी प्रचलित और पुरानी है, परन्तु प्रायः एक-से ही प्रसंग में प्रयुक्त होने के कारण केशव का प्रतिबिम्ब माना जा सकता है।

केशोदास नील बास ज्योति जगमग रही, देह धरे देखियत मानों दीप मालिका।

(केशव—क० प्रि०)

अंग अंग उमड़ो परत रूप रंग नव यौवन अनूपम उजासन उज्यारी-सी।
डगर डगर बगरावत अगर अंग, जगर-मगर चली आवति दिवारी-सी।

(देव)

उक्तियों का ग्रहण :—अंत में, देव के छंदो में कहीं-कहीं केशव की उक्तियों की भी स्पष्ट प्रतिध्वनियाँ मिल जाती हैं :—

(१) खात खवावत ही जु बिरी, सु रही मुख की मुख हाथ की हाथहि।

(केशव—र० प्रि०)

देव कछू रद बीरी दबी री सु हाथ की हाथ रही मुख की मुख।

(देव)

यह भाव जैसाकि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है—भानुदत्त की रसमंजरी में भी मिलता है। सम्भव है वहीं से केशव और देव दोनों ने इसे ग्रहण किया हो।

(२) गोरस की सौं बबा की सौं तोहिं किबार लगी कहि मेरी सौं को ही।

(केशव—र० प्रि०)

ब्राह्मण की सौं बबा की सौं मोहन मोहि बबा की सौं गोरस की सौं।

(देव)

(३) माखन के चोर मधु चोर दधि दूध चोर.......।

(केशव—र० प्रि०)

दूध-चोर दधि-चोर अम्बर अवधि-चोर,
वित हित चोर चित चोर रे माखन चोर।

(देव)

(४) देखि तेरी सूरति की मूरति बिसूरति हौं,
लालन के दृग देखिबे कौ ललचात हैं।

(केशवः र० प्रि०)

देव दुख मोचन सलोनी मृग लोचनि,
तो देखि देखि लोचन लला के ललचात हैं। (देव)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि केशव का देव के आचार्य और कवि दोनों रूपों पर ही प्रभाव है। वास्तव में जैसा कि मैंने अन्यत्र भी कहा है, हिन्दी के सभी रीति-कवियों के सामने केशव प्रथम आचार्य्य और अनुकरणीय महाकवि के रूप में उपस्थित थे। संस्कृत में तो अनेक कवि और आचार्य हो चुके थे, जिनका अध्ययन ये लोग निपुणता और अभ्यास की प्राप्ति के लिए करते थे, परन्तु हिंदी में केवल उन्हें एक ही शास्त्र-निष्ठ कवि और आचार्य्य दिखाई पड़ता था। एक प्रकार से केशव का काव्य संस्कृत रीति-साहित्य में प्रवेश करने के लिए सिंह-द्वार था; इसलिए उनका महत्त्व इन लोगों के लिए सूर, तुलसी से भी अधिक था। सूर और तुलसी जनता के कवि थे, केशव कवियों के कवि थे। बिहारी, मतिराम, देव और बाद में दास, पद्माकर आदि पर उनका एक शृंखलित प्रभाव है। देव ने स्वभाव और प्रवृत्ति भिन्न होते हुए भी उनका सिक्का माना है। रसवाद के इतने प्रबल समर्थक होते हुए भी जो उनको यह स्वीकार करना पड़ा कि :—

कविता कामिनि सुखद पद सुवरन सरस सुजाति।
अलंकार पहिरे अधिक अद्भुत रूप लखाति॥

(शब्द-रसायन)

इसका कारण केशव का ही रोब था। वैसे यह दोहा भी केशव के प्रसिद्ध दोहे के वज़न पर ही बनाया गया है :—

जद्यपि जाति सुलच्छिनी सुबरन सरस सुवृत्त,
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ॥

(क० प्र०)

और केशव के प्रभाव-वश ही 'उपमा और स्वभाव' के क़ायल होते हुए भी उन्हें यमक और श्लेष का इतना मोह था।

बिहारी

हिन्दी के दूसरे कवि, जिनको कवियों का कवि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, बिहारी थे। बिहारी का कविता-काल देव से लगभग ७०-८० वर्ष पूर्व पड़ता है। संस्कृत-काव्य में अमरु-शतक की भाँति हिन्दी में बिहारी के ये दोहे बहुत शीघ्र ही साहित्य-गोष्ठियों के शृङ्गार बन गये थे। वैसे तो देव और बिहारी के दृष्टिकोण एक नहीं हैं। देव का दृष्टिकोण शुद्ध रागात्मक था, वे भाव की सहज अभिव्यक्ति पर बल देते थे, बिहारी की आँख चमत्कार खोजती थी, चाहे वह भाव का हो या अलंकार का। फिर भी देव ने बिहारी के काव्य का अध्ययन किया था : उसके संस्कार उनके काव्य पर कुछ सीमा तक अवश्य पड़े थे, और उनको सरलता से पृथक् करके दिखाया जा सकता है :—

(१) हौं ही बौरी बिरह बस कै बौरौ यह गाँव,
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहि सीत कर नाँव।

(बिहारी)

देव ने अपने दो छन्दों में इस भाव की छाया ग्रहण की है :—

हौं ही हौं और कि ये सब और कि डोलत आजु कौ औरै समीरौ।
यातें इन्हें तन ताप सिरातु पै, मेरे हिये न थिरातु है धीरौ।
ये कहें कोकिल कूक भलो, मुहि कान सुने जम आवत नीरौ।
लोग ससी को सराहत री सब, तोहू लगै सखी सांचेहु सीरौ ॥

(देव)

रैनि सोई दिन, इन्दु दिनेस, जोन्हाई है धाम बनो विष धाई।

× × × ×

हौं ही भलानी कि भूलें सबै, कहैं ग्रीषम को सरदागम माई। (देव)

(२) बाल, कहा लाली भई लोयन-कोयन मांहि।
लाल, तिहारे दृगन की परी दृगन में छांह ॥ (बिहारी)

भोर भये मन भावन आये, औ प्यारी तिन्हें लखि कै दृग फेरे।
सोधे सुभायन लाल कही, कहु काहिक लाल बिलोचन तेरे।
बोलि उठी तिय मान भरी, औ गुमान भरे करि नैन तरेरे।
काहू के रंग रँगे दृग रावरे, रावरे रंग रँगे दृग मेरे।

देव का यह छन्द बिहारी के दोहे की टीका-सा लगता है।

(३) झमकि चढ़त, उतरत अटा, नेक न थाकत देह।
भई रहत नट को वटा, अटकी नागर नेह॥ (बिहारी)

साधति देह सनेह, निराटक है मति कोऊ कहूं अटकी-सी।
ऊँचै अकास चढ़ै उतरै, सु करै दिन रैन कला नटकी-सी। (देव)

कुछ छन्दों मे बिहारी की अभिव्यन्जनायें ज्यों की त्यों प्रतिध्वनित होती हैं :—

(अ) ग्रीषम बासर सिसिर निसि, पिय मो पास बसाय।
(बिहारी)

लै सिसिरौ निसि, दै दिन ग्रीषम आँखिन राखि गये ऋतुपावस।
(देव)

(आ) आजु मिले सु भली करी भले बने हौ लाल। (बिहारी)

लाल भले हो भली सिख दीन्ही, भली भई आजु भले बनि आए।
(देव)

(इ) ऊख, मयूख, पियूख की तौ लगि भूख न जाय। (बिहारी)

पीवत हू पिय प्यास बुझै न अहूख महूख न ऊखन हेरे। (देव)

इसके अतिरिक्त बिहारी के कुछ रूपक, उपमा आदि का भी प्रतिबिम्ब देव में है :—

(अ) दुहू ओर ऐंची फिरै फिरकी लौं दिन जाय। (बिहारी)

धाई फिरै फिरकी सी दुहू दिसि, देव दुवौ गुन जोर के ऐंची।
(देव)

(आ) डीठि वरत बांधी अटनि चढ़ि धावत न डरात।
इत उत ते मन दुहुन के नट लौं आवत जात॥ (बिहारी)

दुहूँ कर लीन्हें दोऊ बैस बिसवास बाँस,
डीठि की बरत चढ़ी नाचैं भौंह नटिनी। (देव)

ऐसे ही कुछ और भी उद्धरण दिये जा सकते हैं। स्व० लाला भगवानदीन ने विहारी का भी बहुत-सा माल देव के यहाँ से बरामद किया है, परन्तु बिहारी का प्रभाव देव पर संस्कार रूप में ही माना जा सकता है। विहारी के चमत्कार-वाद तथा ध्वनि-प्रेम को उन्होंने कभी स्वीकृत नहीं किया। साधारण काव्याभ्यास के लिये उन्होंने बिहारी का उपयोग किया है, और इसीलिये उनकी अभिव्यंजनाओं पर ही बिहारी की बंदिशों का असर ज़्यादा है।

मतिराम

देव के पूर्ववर्ती रीति-कवियों में मतिराम भी अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। देव पर उनका प्रभाव है तो अवश्य, परन्तु वह बहुत ही थोड़ा है। मतिराम की अनुप्रासमयी मधुर भाषा का आदर्श देव के सामने रहा है। इस का आभास उनकी भाषा के परीक्षण से मिलता है। उनके शब्दों के चमत्कार पर भी पूर्ववर्ती कवि का प्रभाव स्पष्ट है।

( ) महलनि मंद मुसक्यान की महमही।

× × ×

उर मतिराम माल मालती डहडही।

× × ×

गोरी की गुराई गोरे गातन गहगही।

× × ×

बेला को फुलेल, फूली वेलि-सी लहलही।

(मतिराम : रसराज)

गहगह्यो गोरी को अनूप लहलह्यो रूप,
डहडह्यो आनन, बिलास मृदु बात के।
बहबह्यो गंध, बहबह्यो है सुगन्ध स्वास,
महमह्यो आनंद विनोद सुख सात के। (देव)

इसी प्रकार— × × × तुंग धुजा फहरान लगी,
... . छनदा की छटा छहरान लगी।
× × × बिरही बनिता थहरान लगी,
× × × पयोद घटा घहरान लगी।

(मतिराम : रसराज)

सहर-सहर सोंधो सीतल समीर डोलै घहर-घहर घन घेरि के घहरिया।
झहर-झहर झुकि झीनी झरि लायो देव छहर-छहर छोटी बूंदनि छहरिया।
हहर-हहर हँसि-हँसि कै हिंडोरे चढी, थहर-थहर तनु कोमल थहरिया।
फहर फहर होत पीतम को पीतपट, लहर-लहर होत प्यारी की लहरिया॥

(देव)

कुछ छंदों पर भी मतिराम का प्रभाव देखिए :—

(१) सपने में लालन चलत, लखि रोई अकुलाइ।
जागत हू पिय हिय लगी, हिलकी तऊ न जाइ।

(मतिराम रसराज)

संग सोवत ही पिय के सुख सों मुख मों नहिं योग वियोग सहै।
सपने महँ स्याम विदेश चले, सु कथा कवि देव कहाँ लौं कहै।
तिय रोइ सकी न सुनी सिसकी, हँसि प्रीतम त्यों भरि अंक गहै।
बड़ भागी लला उर लागी जऊ, तिय जागी तऊ हिलकी न रहै।

(देव)

उपर्युक्त दोनो छंदों में प्रसंग, मूल भाव, और शब्दावली भी बहुत कुछ एक-सी है। देव का छंद दोहे की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या है। इसी प्रकार का एक और उदाहरण लीजिये :—

(२) भाल लाल बेंदी दिये उठे प्रात अलसात।
लोनी लाजनि गडिगई, लखे लोग मुसकात॥

(मतिराम : सतसई)

× × ×

देव लला गये सोवत ते, मुख माँह महा सुखमा घुमडी-सी।
प्यारी की पीक कपोल में पीके विलोकि सखीनि हँसी उमड़ी-सी।
सौंहन सैन न लोचन होत, कोचनि सुंदरि जाति गडी-सी,।

(देव)

यहाँ प्रसंग और मूलभाव एक है। चित्र के अवयव-मात्र भिन्न हैं। ऐसा ही एक चित्र और है :—

(३) सहज सुबास युत देह की दुगुनि दुति,
दामिनि दमक दीप केसरि कनक ते।
मतिराम सु कवि सुमुखि सुकुमारि अंग,
सोहत सिंगार चारु जोवन बनक ते।

सोइबे को सेज चली प्रानपति प्यारे पास,
जगत जुन्हाई जोति हँसति तनक ते।
चढ़त अटारी गुरु लोगनि की लाज प्यारी,
रसना दसन दाबै रसना झनक ते।

(मतिराम : रसराज)

नेवर के बजत कलेवर कँपत देव,
देवर जगैं न लगे सोवत तनक ते।
ननद नछीछी त्यौरी चोरति तिरीछी लखि,
बीछी कैसो विष बगरावैगी भनक ते।
देखिए कठिन साथ गहौ जू न हठि हाथ,
कैसे कहो जाहु नाथ आए हो बनक ते।
बस ना हमारे रंग रसना बनत चौंकि,
रसना दसन दाबै रसना झनक ते।

(देव)

इन दोनों की चित्र-सामग्री में काफ़ी अंतर है, परन्तु प्रसंग एक ही है, और अंतिम चरण तो देव ने जाने-अनजाने ज्यों का त्यों ही उद्धृत कर दिया है:—

(४) निसि दिन स्रौनन पियूष सों पियत रहैं,
छाय रह्यो नाद बांसुरी के सुर-ग्राम को।
तरनि तनूजा तीर बन कुंज बीथिन मैं,
जहाँ तहाँ देखति है रूप छविधाम को।
कवि मतिराम होत हाँतो न हिये तैं नैंक,
सुख प्रेम गात को परस अभिराम को।
ऊधो तुम कहत बियोग तजि जोग करो,
जोग तब करै जो बियोग होइ श्याम को।

(मतिराम : रसराज)

जो न जी मैं प्रेम तब कीजै ब्रतनेम जब,
कंजमुख भूलै तब संजम बिसेखिए।
आस नहीं पीकी तब आसन ही बांधियत,
सासन कै साँसन को मूंद पति पेखिये।
नख ते सिखा लौं सब प्रेम मई बाम भई,
बाहिर लौं भीतर न दूजो देव देखिए।

जोग करि मिलैं जो बियोग होइ बालम को,
ह्यां न हरि होयँ तब ध्यान धरि देखिए।

(देव)

(५)—देव द्वारा दिए गए उन्माद के उदाहरण में भी मतिराम की प्रतिध्वनि है :—

पोंछति है कर सों किसलै गहि बूझति स्याम सरीर गुपालहि।
भोरी भई है मयंकमुखी भुज भेंटति है भरि अंक तमालहि॥

(मतिराम : रसराज)

आजु भले गहि पाये गुपाल गहौं गहि लाल तुम्हैं गुण जालहि।
हौन न देउँ कहूँ चल चाल बसाऊँ हिये मैं मिलाय कै मालहिं।
बोलत काहे न बोल रसाल हौ जानति भाग भरे निज भालहि।
सींचति नैन बिसालन के जल बाल सुभेंटति बाल तमालहि।

(देव)

यह भाव वास्तव में मतिराम का भी नहीं है। संस्कृत-साहित्य में यह अनेक स्थानों पर मिलता है। भागवत में गोपियां उन्माद के वशीभूत होकर तमाल को कृष्ण समझ कर उसे अपने स्तन अर्पित करती हैं। रघुवंश में राम तमाल-गुच्छों का सीता के स्तनों के धोखे में आलिंगन करते हैं।

कुल मिलाकर मतिराम का प्रभाव देव पर साधारण ही है। मतिराम की भाषा की माधुरी से वे अवश्य प्रभावित हुए थे, और उन्होंने उसमें और भी श्री-वृद्धि करने का सफल प्रयत्न किया है, इसमें सन्देह नहीं। काव्य की आत्मा की दृष्टि से भी केशव और बिहारी की अपेक्षा मतिराम देव के अधिक निकट हैं, परन्तु संयोगवश उनकी प्रसिद्धि उन दोनों से कम थी। अतएव अठारहवीं शताब्दी के महत्वाकांक्षी कवि की दृष्टि उनकी अपेक्षा मतिराम पर कम पड़ी।

मौलिकता

बाह्य प्रभाव का सम्यक् परीक्षण कर लेने के उपरान्त अब हम देव की मौलिकता का मूल्यांकन सरलता से कर सकते हैं। साहित्य की मौलिकता विज्ञान की मौलिकता से बहुत भिन्न है—विज्ञान में जहाँ मौलिकता से अभिप्राय केवल 'नवीन उद्भावना' का ही है, वहाँ साहित्य में दृष्टिकोण अथवा विवेचन की नवीनता ही उसके लिए अपेक्षित रहती है। भाव-साम्य अथवा प्रभाव-ग्रहणमात्र से ही किसी कवि की मौलिकता की हानि नहीं होती, इस विषयमें संस्कृत के अनेक आचार्य—आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर आदि—शताब्दियों पूर्व निर्णय दे चुके हैं। पाश्चात्य समालोचक बाह्य प्रभाव का परीक्षण कवि के व्यक्तित्व-

निमाण का अध्ययनकरने के उद्देश्यसे ही करते हैं। उनकी मौलिकता की नाप-जोख वे दूसरे ही प्रकार से करते हैं। वास्तव में भाव और विचार सार्वजनिक सम्पत्ति हैं। साहित्य मे केवल उनकी अभिव्यक्ति ही कवि की अपनी होती है। अतएव यदि कोई कवि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के भाव ग्रहण कर उनको अपने आत्म का अंग बना कर अभिव्यक्त करता है तो उसकी मौलिकता में किसी प्रकार भी कमी नहीं आती। इसके अतिरिक्त, भाव-साम्य को भी तो सभी दशाओं में निश्चित रूप से प्रभाव-ग्रहण नही माना जा सकता, उसके और भी अनेक कारण हो सकते हैं। एक सामान्य कारणतो यही है, कि समान परिस्थिति में अनेक व्यक्तियों की स्वभावतः एक-सी ही प्रतिक्रिया होती है क्योंकि मानव-स्वभाव के मूल-तत्त्व समान ही हैं। जिस प्रकार भौतिक वातावरण के परिवर्तनों के प्रति हमारे शरीरों की प्रतिक्रियाएँ बहुत अंशों मे समान होती हैं, इसी प्रकार समान मानसिक परिस्थितियों में भी हमारे मनो मे बहुत कुछ एक-से ही विकार उत्पन्न होते हैं। परिस्थिति के साथ व्यक्तियो के संस्कार, उनके सामाजिक वातावरण, तथा विचार-पद्धति में भी यदि समानता हो तो भाव-साम्य की सम्भावना और भी अधिक हो जाती है। रीतिकाल के कवियो के न केवल संस्कार, विचार-पद्धति तथा सामाजिक वातावरण ही समान थे, वरन् उनके काव्य-विषय और काव्य-सामग्री भी समान थी; अतएव उनमे भाव-साम्य होना स्वाभाविक ही है। भाव-साम्य का दूसरा कारण यह है कि कभी कभी दो या दो से अधिक कवि एक ही पूर्ववर्ती कवि के भाव को जाने-अनजाने में अपनाते हैं। रीतिकाल मे यह भी बहुत हुआ है। इस युग के प्रायः सभी कवियों के सम्मुख संस्कृत के कुछ विशिष्ट रीति अथवा काव्य-ग्रन्थ आदर्श रूप में वर्त्तमान थे। ये तो साम्य के आनुषंगिक कारण हुए। इनके अतिरिक्त, प्रत्येक व्युत्पन्न कवि अपने पूर्ववर्ती साहित्य का गम्भीर अध्ययन करता हुआ, उससे संस्कार भी ग्रहण करता है। जिस प्रकार खा कर पचाया हुआ भोजन हमारे शरीर का अंश बन जाता है उसी प्रकार अध्ययन और मनन के द्वारा ग्रहण कर पचाया हुआ भाव और विचारो का कोष भी हमारे व्यक्तित्व का अंश बन जाता है, और यदि हम स्वयं भी साहित्यकार हैं तो उसके कुछ कण अवश्य कभी-कभी हमारी वाणी से अनायास ही विकीर्ण होते रहते हैं। जब कोई ध्वनि किसी गुहा में होकर गुज़रती है तो वह ध्वनि न रहकर प्रतिध्वनि बन जाती है। यह प्रतिध्वनि सर्वथा वाह्य वस्तु न होकर बहुत कुछ गुहा का अपना अंग होती है। यही सिद्धान्त भाव की प्रतिध्वनि के विषय में भी इतना ही सत्य है।

उपर्युक्त तीन प्रकार का भाव-साम्य मौलिकता में बाधा नहीं डालता, इसके आगे जब कोई कवि भाव-ग्रहण का जानबूझ कर प्रयत्न करता है, तो वह निश्चित ही साहित्यिक चोरी का अपराधी है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे

इस अपराध से सर्वथा मुक्त हैं। उनमें मिलने वाला भाव-साम्य प्रायः तीसरे प्रकार का है—उन्होंने पूर्ववर्ती कवियों का गम्भीर अध्ययन किया था—और निश्चित ही यह अध्ययन उनके व्यक्तित्व का अंग बन गया था। समान प्रसंग और मनः स्थिति में यदि उसकी कुछ पंक्तियाँ अथवा कोई भाव आप से आप कहीं-कहीं प्रतिध्वनित होगया है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? देव ने जानबूझ कर प्रयत्न-पूर्वक ऐसा नहीं किया; इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि पूर्ववर्ती कवियों के जो-जो भाव उनमें मिलते हैं उनमें से अधिकांश में कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है, कम से कम इतना सौन्दर्य नहीं है कि उसके लिए देव जैसे रस-सिद्ध कवि को अर्थापहरण के लिए बाध्य होना पड़े। संस्कृत के कवियों का सीधा आभार, जैसा कि हम आरम्भ में दिखा चुके हैं, रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा उनके काव्य पर निश्चय ही बहुत कम है। इस दृष्टि से उनका काव्य केशव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर के काव्यों से भी कहीं अधिक मौलिक है, दास आदि की तो बात ही क्या ? वास्तव में देव प्रतिभावान् कवि थे। उनकी अनुभूति इतनी तीव्र एवं समृद्ध तथा साहित्य-निपुणता इतनी भरी-पूरी थी कि दूसरे का अवलम्ब लेने की आवश्यकता ही उनको नहीं थी। देव के काव्य के विश्लेषण से स्पष्ट है कि उसमें आत्म-तत्व की अत्यन्त प्रधानता है और आत्म-तत्व की प्रेरणा से लिखी हुई कविता में बाहर की सामग्री के लिए स्थान कम ही हो सकता है। देव की मौलिकता का यही प्रधान रहस्य है।

प्रदान

[देव का हिन्दी के परवर्ती कवियों पर प्रभाव]

शक्ति, निपुणता और अभ्यास—इन तीनों गुणों से विभूषित होते हुए भी देव परिस्थितियों के अनुरोध से केशव तथा बिहारी की भांति ख्याति प्राप्त करने में असमर्थ रहे, और इन दोनों की अपेक्षा हिन्दी साहित्य पर उनका प्रभाव भी सीमित ही है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि परवर्ती कवियों में उनका पर्याप्त सम्मान था, और अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों के रीति-विवेचन और काव्य पर उनका निश्चित प्रभाव है। देव का प्रभाव तीन दिशाओं में लक्षित होता है; (१) रीति-विवेचन पर :—रीति-विवेचन में देव की प्रमुख विशेषता उनका भेद-विस्तार ही है—इसको अपनाने वाले कवियों में साधारणतः दास और रसलीन का नाम आता है। (२) रीति-बद्ध शृंगारिक कविता पर :—इस दिशा मे उनका प्रभाव मुख्यतः दास, बेनी प्रवीन, पद्माकर, आदि कवियों पर पड़ा है। (३) रीति-मुक्त प्रेम की कविता पर।—जैसाकि उनके काव्य के विवेचन में स्पष्ट किया गया है, देव की शृंगारिक चेतना सर्वथा रीति-बद्ध नहीं थी। अन्य रीति कवियों की अपेक्षा उन्हें प्रेम की गहरी अनुभूति थी, उन्होंने रीति के प्रभाव से मुक्त होकर भी अनेक छंदों में प्रेम के उद्गार व्यक्त किए हैं, जो उनको रीति-मुक्त कवियों की श्रेणी में ले आते हैं। उनके काव्य के इस पक्ष का प्रभाव लगभग सभी परवर्ती रीति-मुक्त प्रेमी कवियों पर थोड़ा-बहुत पड़ा है—घनानन्द, ठाकुर, बोधा और विशेषकर भारतेन्दु, हरिश्चन्द्र के नाम साक्षी रूप में उपस्थित किए जा सकते हैं।

(१) रीति-विवेचन पर प्रभाव

दास ने आचार्य और कवि दोनों रूपों में ही देव का प्रभाव ग्रहण किया है। वे पहले आचार्य थे, जिन्होंने हिंदी साहित्य को दृष्टि में रख कर रीति-विवेचन किया है। उनका स्थान वास्तव में एक संग्राहक आचार्य का था, उनका ध्यान विवेचन पर अधिक था—उदाहरणों की रचना में उन्होंने इतना परिश्रम नहीं किया; जितना अन्य रीति कवियों ने किया। इसीलिए दूसरों की छाया ग्रहण करने में उन्हें कोई संकोच नहीं रहा। उन्होंने केशव, बिहारी, मतिराम, देव आदि रस-सिद्ध हिंदी कवियों के अतिरिक्त संस्कृत के कवियों के भावों और अभिव्यञ्जनाओं को भी स्वच्छन्दता से अपनाया है।—आचार्य रूप में देव का उन पर प्रभाव अधिक नहीं है: उनके रसवाद को दास ने न तो उतने आग्रह के साथ स्वीकृत किया है, और न उनकी तद्विषयक संगतियों को ही ग्रहण किया है। देव का प्रभाव उनके नायिकाओं

के प्रस्तार पर ही विशेषतया लक्षित होता है। स्वकीया के लक्षण को व्यापक बनाते हुए रनवास में रहनेवाली अन्य योग्य भामिनियों का भी उसमें अन्तर्भाव कर लेने वाला सिद्धांत—जो परकीया-प्रेम के रसाभास का परिष्कार करता है--दास ने देव से ही शब्दावली-सहित ग्रहण किया :—

श्रीमाननि के भौन में भोग्य भामिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहिं में गनैं सुकवि सिरमौर॥

(दास : शृंगार-निर्णय)

भूपन के संभोग हित भोग्य भामिनी और।
जो गंधर्व-विवाह विधि ब्याहीं सुख सिरमौर॥ (देव : कुशलविलास)

शुक्लजी ने इसे दास की उद्भावना मानते हुए इसका श्रेय उन्हीं को दिया है, परन्तु वस्तुतः दास ने यह देव से ही लिया है। देव ने जाति-विलास में विभिन्न देशों और जातियों की स्त्रियों का वर्णन किया है—दास ने इसी के अनुसार रस-सारांश में इन सब का वर्णन-विस्तार किया है, अन्तर केवल इतना है, देव ने उन्हें नायिका माना है। दास ने दूतियों की श्रेणी मे रखा है।

रसलीन पर देव का प्रभाव और भी कम है। रसलीन ने अपने ग्रंथ में पूर्ववर्ती सभी कवियों का अनुशीलन करने के उपरांत नायिका-भेद का सम्पूर्ण विस्तार-प्रस्तार दिया है। उसी सिलसिले में उन्होंने देव के कुछ मीज़ानों को भी ले लिया है। देव ने अंश-भेद के अनुसार नायिका के पांच प्रकार माने हैं—और उनकी अवस्था का क्रम इस तरह दिया है :—१—देवी (७ वर्ष), २—देव-गंधर्वी (१४ वर्ष), ३—शुद्ध गंधर्वी (२१ वर्ष), ४—गंधर्व-मानुषी (२८ वर्ष); ५—शुद्ध मानुषी (३५ वर्ष)।

सुकिया देवी प्रथम देव गन्धर्वी दूजी।
गन्धर्वी गन्धर्व मानुषी नारि अदूजी॥
सुद्ध मानुषी सात सात बय वर्ष बखानौ।
अवधि वर्ष पैंतीस तरुनि तौही लो जानौं॥
सुर अंस भवानी पूज्य जग गन्धर्वी संभोग प्रिय।
कुलधर्म कर्म सन्तान हित सरस्वती नर अंस त्रिय॥

रसलीन ने इस पूरे विवरण को अपनाया है :—

सात बरस लौं जानिए देवी विधि परमान।
बहुरो देवी गंध्रबी चोदह लौं अह जान॥
तेहि पीछे इक्कीस लौं शुद्ध गंध्रवी होय।
पुनि गंध्रबि मिलि मानुषी अट्ठाइस लौं जोय॥

सुद्ध मानुपी को बहुरि पैंतीस लों उरधारि।
सात बरस प्रति प्रति लहति पांच नाम ये नारि॥

× × ×

गौरी पूजन जोग है लक्ष्मी भोग समर्थ।
बहुरि सरस्वति,जानिए मनो बूझिवे अर्थ॥

इसी प्रकार मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा के अवान्तर भेदों का अवस्था-क्रम भी रसलीन ने देव से ग्रहण किया है :—

तीनि मास अंकुरित नवजोबन नव मुग्धासु।
नवल वधू षट् मास लों वर्ष तेरही तासु॥
नवयौवना सु चौदही पन्द्रह नवल अनंग।
सोरह वर्ष सलज्ज-रति मुग्धा पांचौ अंग॥
रूढ-जोबना सत्रहें बर्ष सुमध्या वैस।
प्रगट-मनोज अठारहें प्रगलभ वचन उनैस॥

(देव : भवानीविलास)

प्रथम अंकुरित जोबना तीनि मास लों होइ।
नवल वधू षड्मास लौं यह निश्चय जियजोइ॥
बहुरि चौदहें बरस पुनि नव-यौवना निवास।
नवल-अनंगा पन्द्रहें, बरस करत परकास॥
होय सोरहवें बरस पर पुनि सलज्ज-रति नारि।

इत्यादि।

+ + +

तेइसवें बस-वल्लभा नाम धरत बुधिवंत।
साढ़े चौबिस लों बहुरि रहै सविभ्रमा अंत॥

(रसलीन : रस-प्रबोध)

एकाध लक्षण पर भी देव का प्रभाव है। उदाहरण के लिए रति का लक्षण लीजिए :—

नेकु जु परिजन देखि सुनि आन भाव चित होय।
अति कोविद पति कबिनु के, सुमति कहति रति सोय॥

(देव : भाव-विलास)

प्रिय जन लखि सुनि जो कछू प्रीति भाव चित होय।
है रति भाव सिंगार को थाई जानो सोय॥

(रसलीन : र० प्र०)

अन्त में रसलीन ने भी देव की तरह संचारियों के दो भेद किए :— तन-संचारी (सात्त्विक भाव), और मन-संचारी (निर्वेदादि) परन्तु सम्भव है कि ये भेद उन्होंने देव से न ग्रहण कर उनके मूल आधार भानुदत्त से ही ग्रहण किए हों।

(२) रीति-बद्ध शृंगारिक कविता पर प्रभाव

देव और दास :—इस प्रसंग में भी सबसे पूर्व दास का नाम आता है। उनकी काव्य-रचना पर देव का प्रभाव अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। उनके अनेक छन्दों पर देव के छन्दों की स्पष्ट छाया है :—

(१) साँझ ही स्याम को लेन गई, सु बसी बन में सब यामिनि जाय कै।
सीरी बयारि छिदे अधरा, उरझो उर झाँखर झार मंझाय कै॥
तेरी सी को करिहै करतूति, हुती करिवे सु करी तैं बनाय कै।
भोर ही आई भटू इत मो दुखदाइनि काज महा दुख पाय कै॥

(देव)

धनि धनि सखि मोहि लागि तू , सहे दसन नख देह।
परम हितू है लाल सो , आई राखि सनेह॥

(दास : काव्यनिर्णय)

एक अन्य कवि ने देव के भाव को और स्फुट रूप मे उपस्थित किया है :—

आलि दसे अधर सुगंध पाइ आनन कौ,
कानन मे ऐसे चारु चरन चलाए हैं।
फाटि गई कंचुकी लगे ते कंट कुंजन के,
बैनी बरहीन खोली वार छवि छाए हैं॥
वेग तैं गवन कीनों धकधक होत सीनों,
ऊरध उसासैं तन स्वेद सरसाए है।
भली प्रीति पाली बनमाली के बुलाइबे कों,
मेरे हेत आली! बहुतेरे दुःख पाए हैं॥

(२) धाई खोरि-खोरि तें बधाई पिय आवन की,
सुनि, कोरि-कोरि रस भामिनि भरति है;
मोरि-मोरि बदन निहारति विहार-भूमि,
घोरि-घोरि आनन्द घरी-सी उघरति है।
'देव' कर जोरि-जोरि बंदत सुरन, गुरु-
लोगनि के लोरि-लोरि पाँयन परति है;

तोरि-तोरि माल पूरे मोतिन की चौक ;
निवछावरि को छोरि-छोरि भूपन धरति है ।

(देव)

छालि जानि आयो प्यारे प्रीतम विहार भूमि मानि मानि मंगल सिंगारन सिगारती ।
दुरस दग-तोरन को द्वारन में तानि तानि, छानि छानि फूले फूल सेजहि सँवारती ।
ध्यान ही में आनि आनि पीं को गहि पानि पानि ऐंचि पट तानि तानि मैन मदगारती ।
प्रेम गुन गानि गानि अमृतनि सानि सानि,बानि बानि खानि खानि बैनन विचारती ।

(दास : का० नि०)

× × ×

उपर्युक्त दोनों छंदों में मूलभाव एक ही है । वीप्सालंकृत वाक्य-रचना एक-सी ही है, विहार-भूमि आदि शब्दों की भी आवृत्ति हुई है । दास ने केवल वर्णन के अंगों में अन्तर कर दिया है । ठीक ऐसा ही एक और छंद के विषय में कहा जा सकता है :—

(३) अ—मन मनभावन को मानौ किरकिला शोभासिंधु में थिर.कि चख झख में झपटि पर्यौ । नीलाम्बर नील जाल बीच ही उरझि देव मुरझि सिवाल लट जाल में लपटि पर्यौ । भाल छवि भूल्यो सोंक सेंदुर केसर सूल्यो बीध्यो बरुणीन भौंह दीपति दपटि पर्यौ । ठोड़ी ते ढरकि पर्यौ चीकने कपोल गड़्यौ गाड़नि सरकि रूप कूप मैं रपटि पर्यौ ।

(देव)

× × ×

आ—लट मे लटकि लोयनन मे उलटि करि ,
त्रिवली पलटि कटि तटी मांहि कटि गयो । (देव)

× × ×

इ—ऊंचे कुच-गिरि ते गिरयो फिरिं न फिरयो तीर ,
त्रिवली तरंगनि गहीर नाभि कूप सों । (देव)

× × ×

भाल मैं बाम के ह्वै कै बली बिधो बाँकी भ्रुवैं बरुनीन में आइ कै ।
ह्वै कै अचेत कपोलन छ्वै बिछुरै अधरा को सुधा पियो धाइ कै ॥
दास जू हास छटा मन चौंकि घरीक लौं ठोड़ी के बीच बिकाइ कै ।
जाइ उरोज सिरै चढ़ि कूद्यो गयो कटि सों त्रिवली में नहाइ कै ॥

(दास का० नि०)

(६) तैंतीस संचारियों को उदाहृत करने वाला देव का निम्नलिखित छंद रस-शास्त्रियों में अत्यन्त प्रसिद्ध है.—

बैरागिन किधौं अनुरागिन, सोहागिन तू,
'देव' बड़भागिनि लजाति औ लरति क्यौं ?
सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति,
अनखाति, बिलखाति, दुख मानति, डरति क्यों ?
चौंकति, चकति, उचकति, औ बकति,
बिथकति, औ थकति, ध्यान धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति, सतराति, इतराति, साह-
चरज सराहै, आहचरज मरति क्यों ?

(देव)

× × ×

दास ने ठीक इसी के आधार पर अपना छन्द रचा है :—

सुमिरि, सकुचि, न थिरात चित-संकित ह्वै,
त्रसति, तरल उग्र बानी हरषाति है।
उनींदति, अलसानि, सोवति अधीर चौंकि,
चाहि चित्त अमित, सगर्ब हरषाति है।
'दास' पिय नेह छिन-छिन भाव बदलति,
स्यामा सविराग दीन मति कै मखाति है;
जलपि, जकति, कइरति, कठिनाति मति,
मोहति, मरति, बिललाति बिलखावति है।

(दास श्र० वि०)

× × ×

इनके अतिरिक्त दास के और भी बहुत से छंद ऐसे हैं जिन पर देव का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी में छः और छंद दिए हैं जिनमें दास ने देव के भाव तथा काव्य-सामग्री को इच्छापूर्वक ग्रहण किया है—(देखिए देव और बिहारी पृ० २०१–२०५)। दास देव के भावों को ही अपना सके हैं। वैसे उन्होंने शैली का भी अनुकरण करने का प्रयत्न किया है; परन्तु देव के हृदय और शैली में जो संगीत था वह दास मे नहीं मिलता है। परिणाम-स्वरूप दास की कविता में स्वच्छता देव से अधिक होते हुए भी, उनकी जैसी समृद्धि नहीं आ पाई।

देव और बेनी-प्रवीन :—बेनी-प्रवीन वैसे तो मतिराम की परम्परा के

कवि हैं—और मतिराम का ही उनपर गहरा प्रभाव है, परन्तु देव का भी ऋण उनपर थोड़ा बहुत है ही। अपने कई छंदों में उन्होंने देव के भाव, काव्य-सामग्री तथा अभिव्यन्जनाएं अपनाई हैं।

भाव और काव्य-सामग्री :— (१) रीझे सुख पाऊं औ न खीझे सुख पाऊं, ऐसे रीझ खीझ एकै रंग राग्यौ सोई रागि चुक्यो। जस अपजस कुबड़ाई औ बड़ाई गुन औगुन न जान्यो जीव जाग्यो सोई जागि चुक्यो। कौन काज गुरु जन बरजै जु दुरजन कैसे कुल नेम प्रेम पाग्यो सोई पागि चुक्यो। लोगन लगायो सु तौ लाग्यो अनलाग्यो देव, पूरो पन लाग्यो मन लाग्यो सोई लागि चुक्यो॥ (देव)

> नै चुकी हैं सखियाँ सदते अँखियाँ ये कलंकहि लै चुकी लै चुकीं।
> जै चुकी हैं घर बाहर हू तें, चवायनै चौचँदु कै चुकी कै चुकीं।
> बेनी-प्रवीन कहा कहौं अब, वा छबि छैल की छै चुकी छै चुकीं।
> लै नहीं जानती हैं हम, या मन मोहि कै मोहनै दै चुकी दै चुकीं।
>
> (बेनी प्रवीन—नव-रस-तरङ्ग)

यहाँ मूल-भाव तो एक है ही, उसको अभिव्यक्त करने की सामग्री भी बहुत कुछ वही है।

> (२) मालिनि ह्वै हरि माल गुहै चितवै मुख चेरी भयो चित चाइन
> पान खवावै खवासिनि ह्वै कै सवासिनि ह्वै सिखवै सुखभाइन॥
> बैंदी दै, देख दिखाइ कै दर्पन जावक देत भयो अब नाइन।
> प्रेम-पगौ पिय पीत पिछौरी सों प्यारी के पोंछि पिछौरी से पांइन॥
>
> (देव)

> मालिनि ह्वै हरवा गुहि देत, चुरी पहिरावैं बने चुरिहेरी।
> नायनि ह्वै कैं निखारति केस, हलेस करैं बनि जोगिनि फेरी।
> बेनी-प्रवीन बनाइ बिरी बरईनि, बने रहैं राधिका केरी।
> नन्द किसोर सदा बृषभान की पौरि पै ठाढे बिकैं बने चेरी॥
>
> (बेनी प्रवीन—नव-रस-तरङ्ग)

(३) निम्नलिखित छंदों मे परिस्थिति भिन्न होते हुए भी काव्य-सामग्री कितनी समान है। बेनी प्रवीन ने उसे सादर देव के छंद से ग्रहण किया है—इसमें संदेह नहीं :—

नील पट तन पै घटा-सी घुमाय राखौं, दत की चमक सों छटा-सीं बिचरति हौं। हीरनि की किरनैं लगाय राखौं जुगनू-सी, कोकिला, पपीहा, पिय-बानी सों भरति हौं। कौंच अँसुवानि की मचाऊं कवि देव कहै, पीतम बिदेसी को

सिधारिबौ हरति हौं। इन्द्र कैसौ धनु साजि बेसरि कसति आजु, रहुरे बसंत तोहि पावस करति हौं। (देव)

भृकुटी धनु बेसरि मोर मनो मनि मानिक इंदु वधू जित है।
दुति दामिनि कोर हरी बन बेलि, घटा घन घूंघट्ट सो हितु है।
उँगी रस बेनी प्रवीन रसाल भयो अब चातक सो चितु है।
हित रावरे नील किसोर लला अबला भई पावस की रितु है।
(बेनी प्रवीन—न० र० त०)

अभिव्यञ्जना :—

चढ़ि काम के धाम ध्वजा फहरात, सुमीनन काम कहा जल सों।
(देव)

जनमैं ते पियूष पै सिन्धु लह्यो, तिन मीतन काम कहा जल सों।
(बेनी प्रवीन—न० र० त०)

नील घन धूम पै तड़ित दुति धूम धूम धूंधरि सी धाई दाप पावक लपट-सी।
(देव)

दव कैसी धधरि धधकि धाई कुंजन मै, मानौ धूम पुञ्जन मैं लपट लपेटी है।
(बेनी प्रवीन—न० र० त०)

देव और पद्माकर:—पद्माकर पर देव का प्रभाव अत्यन्त सीमित है। पद्माकर ने सर्वथा स्वतंत्र रूप से भाषा और छंद-शैली का विकास किया है और वास्तव में पद्माकरी भाषा तथा पद्माकरी छंद-प्रवाह का व्रजभाषा में एक पृथक् ही अस्तित्व है जिसपर देव या किसी भी पूर्ववर्ती कवि की छाप नहीं है। बस उनके दो एक ही छंद ऐसे हैं, जिनपर देव के भावों की छाया है; इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी पंक्तिया मिल जाती हैं, जिनमे देव की कुछ पंक्तियो की प्रतिध्वनि है।

सोन सरोज कलीन के खोज उरोजन को उरबो जु निहारो।
देव जु बाढत ओप धरी पल त्योंही नितम्ब भयो कछु भारो।
कानन की ढिग ह्वै दृग दौरत चातुरी चाउ चवाउ पसारो।
दाब्यो दुहूंन दुहू दिशि ते भयो दूबरो सो दवि लंक बिचारो।
(देव)

ये अलि या बलि के अधरानि मे आनि चढी कछु माधुरई-सी।
ज्यों पदमाकर माधुरी त्यो कुच दोउन की चढती उनई-सी।
ज्यों कुच त्योंही नितम्ब-चढ़े कछु ज्योंही नितम्ब त्यो चातुरई-सी।
जानी न ऐसी चढ़ाचढि में कहि धौं कटि बीच ही लूटि लई-सी॥
(पद्माकर—जगद्विनोद)

चरननि-चूमि, छूवै छवा नि ह्वै चकित देव, भूमि कै दुकूलन न घूमि करि घटि गयो। कौरे कर-कमल कोरे कुच-कंदुकनि खेलि खेलि कोमल कपोलननि पटि गयो । ऐसो मन मचला अचल अंग अंग पर लालच के काज लोक लाजहि तै हटि गयो । लट मैं लटकि लोइननि मैं उलटि करि त्रिबली पलटि कटि-तटी माँहि कटि गयो ॥

(देव)

ईश की दुहाई शीशफूल तैं लटकि, लट-लर तैं लटकि, लर कंध पै ठहरिगो ।
कहै पद्माकर सुमंद चलि कंध हू तैं भूमि भ्रमि भाई सी भुजा में त्यों भभरिगो।
भाई सी भुजा तैं भ्रमि आयो गोरी गोरी बांह गोरी बांह हू तैं चपि चूरिन मैं प्ररिगो । हेरे हरे हरैं हरी चूरिन तैं चाहौ जौ लौं तौ लौं मन मेरो दौरि हाथ तेरे परिगो

(पद्माकर—जगद्विनोद)

इन दोनों छंदों में मूलभाव एक ही है, पर उसकी अभिव्यक्ति में थोड़ा अंतर है। दोनों में ही नायिका के विभिन्न अंगों में नायक के मन का लोट-पोट होना दिखाया गया है। पहले वह अङ्ग-अङ्ग से उलटता पलटता हुआ अन्त मे कटि में जाकर कट जाता है। दूसरे में मस्तक से चलता है, और विभिन्न अंगो पर फिसलता हुआ अन्त में नायिका के हाथ में पड जाता है। इन छंदों का, तथा इनसे ऊपर दिए छंदों के मूल-भाव काफी प्रसिद्ध और पुराने हैं। देव से पूर्व भी अन्य कवियो ने इन दोनों को अभिव्यक्त किया है, अतएव यह निश्चय-पूर्वक कहना तो कठिन है कि पद्माकर ने इन्हें देव से ग्रहण किया है—अथवा सीधा पूर्ववर्ती कवियों से, परन्तु अभिव्यञ्जनाओं के परीक्षण से इतना आभास अवश्य मिलता है कि उनकी दृष्टि से देव के दोनों छंद जरूर गुजरे होंगे।

भावों के प्रभाव की अपेक्षा कुछ विशेष पंक्तियों की प्रतिध्वनियाँ अधिक स्पष्ट हैं। उदाहरण के लिये :—

देव—मोहि मोहि मोहन को मनभयो राधामय राधामन मोहि मोहि मोहन मई भई।

पद्माकर—मोहनी को मन मोहन मे वस्यो मोहनी को मन मोहन माँहीं ।
या—राधामयी भई स्याम की सूरत श्याममयी भयी राधिका डोलै ।

(ज० वि०)

देव—पूरन प्रीति हिये हिरकी खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी-सी ।
पद्माकर—झांकति है खिरकी मैं फिरै थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी मैं ॥

(ज० वि०)

देव—झूंठी झलमल की झलक ही मैं झूल्यो, जलमल की पखाल, खल, खाली खाल पाली तैं।

पद्माकर— रीती राम नाम ते रही जो बिन काम तौ या खारिज खराब हाल लाल की खलीती है।

रीति-मुक्त प्रेम-कविता पर प्रभाव

रीतिमुक्त प्रेमी कवियों की परम्परा रसखान से आरम्भ होती है। देव किस प्रकार रसखान से प्रभावित हुए हैं, यह हम पहले दिखा चुके हैं। बाद में यह परम्परा घनानन्द, ठाकुर, बोधा और बाबू हरिश्चन्द्र तक चली। कुब्जका ने छोड़कर पार्थिव प्रेम की उपासना करने वाले इन सभी कवियों के सामने देव-कृत प्रेम के छन्द थे, इसमें सन्देह नहीं।

देव और घनानन्द :—घनानन्द का व्यक्तित्व देव से साधारणतः पृथक् है, परन्तु 'नेह की पीर' का तत्व दोनों मे वर्तमान है—मात्रा का अन्तर हो, यह दूसरी बात है :—

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ, कोऊ कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक नरलोक बरलोकन में, लीन्हों मैं अलोक लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाइ मन जाइ देव गुरु जन जाइ जीव किन जाइ टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावनवारी बनवारी की मुकुटवारी पीतपट वारी वाहि मूरति पै वारी हौं।
[देव]

हौं तो देव नन्द के कुमार तेरी चेरी भई ;
मेरौ उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ। [देव]

कोऊ मुख मोरौ जोरौ कोटिक चवाव क्यों न तोरौ सब कोऊ करि सोरो मेरें को सुनैं।
नेहरस-हीन दीन अंतर मलीन लीन दोस ही मै रहैं गहैं कौन भांति वे गुनैं॥
रूप उजियारे जान प्यारे पर प्रान वारे आँखिन के तारे न्यारे कैसे धौं करौं उनैं।
टरै नहीं टेक एक यही घन आनँद जौ निन्दक अनेक सीस खीसनि परे धुनैं।
[घनानन्द—सुजान-सागर]

देव कछू अपनो बसु ना, रस-लालच लाल चितै भईं चेरी।
वेगिही बूड़ि गयीं पखियाँ, अखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी॥
[देव]

माधुरी-निधान प्रान ज्यारी जान प्यारी तेरौ रूप-रस चाखै आँखैं मधुमाखी ह्वै गईं॥
[घनानन्द—सुजान-सागर]

अंग-अंग उठति तरंग स्याम-रंग की। [देव]
अंग-अंग स्याम रंग रस की तरंग उठैं······ । [घनानन्द]

देव और ठाकुर :—ठाकुर पर देव का प्रभाव अधिक प्रत्यक्ष और गहरा है। यहाँ तक कि उनके संग्रह में देव का एक छन्द "पटवा की वधू नटवा-से नचावै।" ज्यों का त्यों समाविष्ट मिलता है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रेमाभिव्यक्तियों तथा कतिपय अभिव्यञ्जनाओं पर देव का प्रभाव असंदिग्ध है :—

(१) झांर्यो बंस-बिरद में बौरी भई बरजति मेरे बार बार बीर कोई पास बैठो जनि।
तुम सिगरी सयानी बिगरी अकेली हौंही गोहन में छांड़ो मोसों भौंहन अमैठो जनि।
कुलटा कलंकिनी हौं कायर कुमतिकूर काहू के न काम की निकाम यातें ऐंठो जनि।
देव तहाँ बैठियत जहाँ बुद्धिबढ़े हौं तो बैठी हौं बिकल कोई मोहि मिलि बैठो जनि॥
(देव)

देखिए, उपर्युक्त छन्द की छाया को ठाकुर ने कितने सतर्क होकर ग्रहण किया है :—

हम एक कुराह चलीं तौ चलीं हट कौ इन्हैं ए ना कुराह चलैं।
इह तौ बलि आपनौ सूझती हैं, प्रन पालिए सोई जो पालैं पलैं।
कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपालसों टेरैं कहौ सुनो ऊंचे गलैं।
हमैं नीकी लगी सो करी हमनें,तुम्हें नीकी लगौ न लगौ तो भलैं।

[ठाकुर – ठाकुरठसक]

ठाकुर का ऐसा ही एक दूसरा छंद है :—

(२) अब का समुझावतीं को समुझै, बदनामी के बीजन बो चुकी री।
इतनौ हु बिचार करौ तो सखी,इहि लाज की साजकों धो चुकी री।
कवि ठाकुर काम न या सबकौ, करि प्रीति पतिव्रत खो चुकी री।
सब नेकी-बदी जो बदी हुती भाल मैं, होनी हुती सु तो हो चुकी री॥

[ठा० ठ०]

यह देव के 'रीझे सुख पाऊँ औ न खीझे सुख पाऊँ' कवित्त का रूपान्तरमात्र है। इसी प्रकार :—

(३) ऐसे निरमोही सदा मोही मैं बसत,
और मोही तैं निकसि मोही मोहीं न मिलत हौ। [देव]

मोही मैं रहत रहैं मोही मै उदास सदा................।

[ठाकुर : ठा० ठ०]

प्रेम की इन तीव्र अभिव्यक्तियों के अतिरिक्त ठाकुर के कुछ साधारण शृंगारिक छंदों पर भी देव की गहरी छाप है :—

सांपने में गई देखन हौं सुनि नाचत नन्द जसोमति कौ नट।
वा मुसक्याइ के भाव बताइ के, मेरोइ खैंचि खरो पकरो पट।
तौ लगि गाइ रम्हाइ उठी, 'कविदेव' बधून मथ्यो दधि को घट।
चौंकि परी तब कान्ह कहूं न, कदम्ब न, कुंज न कालिंदी कौ तट॥

[देव]

× × ×

सांपने हौं फुलवारी गई हरि अङ्क भरी भुज कण्ठन मेली।
हौं सकुची कोउ सुन्दरी देखत लै जिन बांह सो बांह पछेली।
ठाकुर भोर भये गये नींद के देखहुँ तो घर मांझ अकेली।
आँख खुली तब पास न सांवरो बाग न बावरो वृक्ष न बेली।

[ठाकुर ठा० ठ०]

अब देव से प्रभावित एक छंद बोधा का भी लीजिए ;—

देव और बोधा:—

पांचन के आगे आँच लागे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारे को सती लौं बैठि सर मैं।
प्रेम सों कहत कोई ठाकुर न ऐंठौ सुनि,
बैठौ गढि गहिरे तौ पैठो प्रेम-घर मैं॥

[देव]

लोक की लाज औ सोक अलोक की वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
गांव को गेह को देह को नातो सनेह में हाँतो करै पुनि सोऊ।
बोधा सुनीति निवाह करै धर ऊपर जाके नहीं सिर होऊ।
लोक की भीत डेरात जो मीत तौ प्रीति के पैंडे परै जनि कोऊ॥

[बोधा]

देव और भारतेन्दु :—

भारतेन्दु बाबू पर देव का प्रभाव ठाकुर से भी अधिक है। वे देव के परम-भक्त थे, और उनको कवियों का बादशाह कहा करते थे। सुन्दरी-सिन्दूर नाम से देव के उत्तम छंदों का संग्रह कर तथा अपने नाटको में उनके दो छन्दों को उद्धृत कर उन्होंने अपनी 'देव-भक्ति' का प्रत्यक्ष प्रमाण भी दिया है। भारतेन्दु बाबू का कवि-व्यक्तित्व, जिसमें रीतिकाल की रसिकता पर प्रेम का गाढा रंग था, देव के बहुत कुछ समान भी था। अतएव देव के प्रति उनको स्वाभाविक आकर्षण था। उनकी कविता की भाव-सामग्री उसकी भाषा-शैली तथा छंद के बन्दों पर देव की अमिट छाप है :—

हम हूँ सब जानतीं लोक की चालनि क्यों इतनौ बहरावती हौ।
हित जामैं हमारो बनै सो करौ, सखिश्राँ तुम मेरी कहावती हौ।
'हरिचंद जू' जामैं न लाभ कछू हमैं बातन क्यों बहरावती हौ।
सजनी मन हाथ हमारे नहीं, तुम कौन कों का समुझावती हौ॥

इस प्रकार के अनेक छन्द उन्होंने लिखे हैं, जो देव के छन्दों से टक्कर खाते हैं। कुछ साधारण शृंगारिक छन्दों में भी देव के भावों को ग्रहण किया गया है :—

भाव भर्‌यौ सिगरे ब्रज सोर, सराहत तेरेइ सील सुभाइन।
दुःख हेरात सिरात हिश्रौ, गहिरात चितैवे कौ चित्त चवाइन।
ऐरी अहो ठकुराइन मेरी, सु चेरी हौं तेरी, परौं इन पाइन।
सौति हू की अंखियाँ सुख पावतीं तो मुख देखि सखी सुखदाइन।

[देव]

सासु जेठानिन सों दवती रहै, लीने रहै रुख त्यों ननदी कौ।
दासिन सो.सतरात नहीं, हरिचंद करै सनमान सभी कौ।
पीश्र को दच्छिन जानि न दूसत चौगुनो चाउ बढ़ै वा लली कौ।
सौतिन हू कौ असोसै सुहाग, भरै कर आपने सेंदुर टीकौ॥

[हरिचंद]

भाषा शैली :—

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरति करि, जिय में बिरह घटा घहरि घहरि उठै।
त्योंही इन्द्रधनु बगमाल देखि बनमाल मोतीलर पी की जिय लहरि लहरि उठै।
हरिचंद मोर पिक धुनि सुनि बंसीनाद बांकी छबि बार बार छहरि छहरि उठै।
देखि देखि दामिनि की दुगुन दमक पीतपट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै॥

[हरिश्चन्द्र-चन्द्रावली]

इस छंद की शब्द-योजना पर देव के प्रसिद्ध छंद,

'सहर सहर सौंधो सीतल समीर डोलै'......का कितना प्रभाव है। इसी प्रकार—"छरी-सी, छकी-सी, जड़ भई-सी, जकी-सी, घर हारी-सी, बिकी-सी, सो तो सबही धरी रहै।... .." [चन्द्रावली] आदि की शब्द-योजना देव के निम्न-लिखित छंद की शब्द-योजना के अनुकरण पर हुई है :—

× × ×

छोही-सी छली-सी छीनि लीनी-सी छकी-सी छीन जकी-सी चकी-सी लागी थकी थहरानी-सी बींधी-सी बँधी-सी विष-बूडी-सी बिमोहित-सी बैठी बाल बकति बिलोकति बिकानी-सी।

छंद-बन्धन :—भाषा-शैली के अतिरिक्त भारतेन्दुजी ने देव के छन्द-बंधनों को भी रुचि-पूर्वक अपनाया है। उन्होंने बहुत कुछ देव के अनुकरण पर ही,—परन्तु उनकी अति को बचाते हुए, वीप्सा, अनुप्रास, संतुलन आदि उपकरणों को ग्रहण कर अपनी छंद-लय को सँवारा है। उनकी सवैयाओं में देव की सवैयाओं की घूँघर और उनके कवित्तों में देव के कवित्तों की लघु वर्णों से रुन-झुन करती हुई गति मिलती है।

निष्कर्ष

कुल मिलाकर परवर्ती साहित्य पर देव का प्रभाव बहुत अधिक नहीं है। परवर्ती रीति-विवेचन पर तो उनका आभार प्रायः नगण्य सा ही है—क्योंकि उन्होंने स्वयं ही लगभग सभी मूल-तत्त्व अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ग्रहण किए थे। केवल वर्णन-विस्तार और कुछ संगतियाँ उनकी अपनी हैं, परन्तु उनको हिन्दी में विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। उनका विशेष महत्त्व रस-सिद्धांत को अधिक व्यापक और मान्य बनाने मे है, और इसका थोड़ा बहुत अप्रत्यक्ष प्रभाव बाद के रीति-कारों पर अवश्य पड़ा होगा—बस! कवि रूप में उनका प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है, परन्तु केशव और बिहारी से तुलना करने पर वह भी साधारण ही माना जायगा। इसका विशेष कारण है। केशव की मूल विशेषता आचार्यत्व और पाण्डित्य है और बिहारी की मुख्य विशेषता है दूर की सूक्ष्म तथा चमत्कारपूर्ण कला। इसके विपरीत देव का मुख्य काव्यगुण है तन्मयता एवं आवेग-पूर्ण रसार्द्रता—कलाकार वे भी अपने ढंग के हैं परन्तु उनकी कला अधिक सूक्ष्म-तरल है। तन्मयता की अपेक्षा आचार्यत्व एवं पाण्डित्य तथा चमत्कारिता आदि गुणों का अनुकरण सरलता से किया जा सकता है—और यही हुआ भी। रीति-साहित्य का यह दुर्भाग्य रहा कि वह देव के भाव और भाषा की समृद्धि को नहीं अपना सका।

——:०:——

७- हिन्दी काव्य में देव का स्थान

समस्त हिन्दी-काव्य में देव का स्थान निश्चित करना न तो साधारणतः सम्भव है, और न समीचीन ही। हिन्दी-काव्य एक सागर के समान है, इसमें अनेक धाराएँ प्रवहमान हैं जो दिशा, परिमाण तथा गुण सभी में एक दूसरे से भिन्न हैं। इन विभिन्नताओं का विचार न करते हुए किसी भी एक कवि का समस्त सजातीय-विजातीय कवियों में एक साथ स्थान निर्णीत कर देना सर्वथा भ्रामक एवं निराधार होगा। जो जाति, धर्म, प्रकृति और गुणों मे असमान हैं, उनकी तुलना का आधार ही क्या, और बिना इस आधार के स्थान का निर्णय कैसा? अतः स्थान का निर्णय सजातीयों में ही हो सकता है। देव रीति-कवि हैं— शास्त्रीय दृष्टि से उनका काव्य—समस्त रीति-साहित्य ही—मुक्तक काव्य की श्रेणी में आता है। रीति-काव्य की दो मूल प्रवृत्तियाँ हैं। (१) रीति-विवेचन (२) शृङ्गारिकता। देव के काव्य में इन दो के अतिरिक्त वैराग्य की प्रवृत्ति भी मिलती है, परन्तु जैसाकि हमने अन्यत्र स्थापित किया है, उनकी वैराग्य भावना अतिशय राग की प्रतिक्रिया, दूसरे शब्दों में, राग-क्लान्ति ही है, जो निर्गुण अथवा सगुण संतों के शमभाव से सर्वथा भिन्न है। उन की इस प्रवृत्ति को शृङ्गारिकता से पृथक् कर संतों के वैराग्य-काव्य की परम्परा में देखना अनुचित होगा। अतएव देव का स्थान हम एक ओर हिन्दी के रीति-आचार्यों और दूसरी ओर शृंगार-मुक्तककारों की परम्परा में ही उचित रीति से निर्धारित कर सकते हैं।

आचार्य रूप में देव ने भारतीय साहित्य-शास्त्र मे कोई मौलिक योग नहीं दिया। संस्कृत के आचार्यों ने उसका जो विकास-विवर्धन किया, वह उनके पश्चात् एक प्रकार से समाप्त ही हो गया था—और वास्तव में हिन्दी के रीति-साहित्य का सम्यक् अध्ययन करने के उपरान्त हमको शुक्लजी की यह धारणा स्वीकार करनी ही पड़ती है कि देव अथवा रीतियुग का कोई भी हिंदी आचार्य इस क्षेत्र में विशेष कृतकार्य नहीं हो सका। संस्कृत में भी आचार्यों की दो पृथक् श्रेणियां हैं; एक में भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनव, कुंतक आदि मौलिक उद्भावनाकार आचार्य आते हैं, दूसरी में मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि व्याख्यानकार आचार्य आते हैं। पहली श्रेणी का तो प्रश्न ही नहीं उठता, दूसरी श्रेणी में भी देव के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रथम श्रेणी के आचार्यों की मौलिक सृजन-प्रतिभा और दूसरी श्रेणी के आचार्यों की स्वच्छ गम्भीर सामञ्जस्य-दृष्टि दोनों का ही देव में अभाव है।

रीति-काव्य का साधारण आलोचन करते हुए हमने निर्देश किया है कि विवेचन-विषय तथा विवेचन-शैली की दृष्टि से किस प्रकार हिन्दी-आचार्यों के तीन पृथक् वर्ग मिलते हैं। (१) मम्मट तथा विश्वनाथ आदि की शैली पर काव्य के दशांग का विवेचन करने वाले आचार्य (२) शृंगार-तिलक और रसमंजरी आदि के अनुसार केवल शृंगार-रस और उसकी प्रधान आलम्बन नायिका का वर्णन करने वाले आचार्य, (३) चन्द्रालोक तथा कुवलयानन्द आदि के आधार पर अलंकार-मात्र का निरूपण करने वाले आचार्य। देव ने काव्य के सर्वांग का ही विवेचन किया है, अतएव स्पष्टतः ही उनका स्थान पहले वर्ग के अंतर्गत पड़ता है। इस वर्ग में उनके प्रतिद्वन्द्वी हैं केशव, कुलपति मिश्र, श्रीपति, दास और प्रताप-साहि। केशव का ऐतिहासिक महत्व देव की अपेक्षा कहीं अधिक है, उन्हें संस्कृत रीति-शास्त्र को हिन्दी में अवतरित करते हुए, अलंकार और रस दोनों सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा करने का मुख्य श्रेय प्राप्त है। देव ने मुक्त-कण्ठ से उनका गौरव स्वीकार किया है, और अनेक स्थानों पर उनका अनुकरण किया है। इसके अतिरिक्त जहां तक पाण्डित्य की गम्भीरता का प्रश्न है, केशव देव से बढ़कर हैं। देव का विषय-क्षेत्र अपेक्षाकृत किंचित् अधिक व्यापक है, उन्होंने शब्द-शक्ति, रीति, गुण, पिंगल आदि का भी विवेचन किया है, परन्तु अस्पष्टता दोष दोनों में प्रायः एक-सा ही है। केवल एक बात में देव स्पष्टतः ही केशव से अधिक गौरव के अधिकारी हैं— वह है उनकी सूक्ष्म एवं गहरी रस-चेतना, जो कि आलोचक अथवा आचार्य का एक मूलवर्ती गुण है। केशव के अतिरिक्त शेष चारों कवियों—अर्थात् कुलपति, श्रीपति, दास तथा प्रतापसाहि ने आचार्य-कर्म्म को देव की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीरता तथा मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। कुलपति ने मम्मट की प्रणाली को स्थिरता से ग्रहण करते हुए काव्य के सभी प्रमुख अंगों का प्रौढ विवेचन किया है। देव की तरह वे इधर-उधर भटकते नहीं हैं। अतएव विवेचन की प्रौढ़ता तथा सिद्धान्तों की स्थिरता में देव उनकी समता नहीं कर सकते। श्रीपति में दो गुण और भी अधिक हैं, वे हैं विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता और सिद्धांतों का व्यावहारिक उपयोग। यह बड़े खेद का विषय है कि उनका मुख्य ग्रन्थ श्रीपति-सरोज साधारण पाठक के लिए अभी अप्राप्य है। लक्षणों की स्पष्टता और उदाहरणों की स्वच्छता की दृष्टि से यह ग्रन्थ रीतियुग की सर्व-श्रेष्ठ विभूति है। इसके अतिरिक्त श्रीपति ने दोष आदि के विवेचन में कल्पित उदाहरणों की रचना नहीं की वरन् केशव के उदाहरण देते हुए व्यावहारिक रीति-विवेचन की पद्धति को जन्म दिया, यह उनकी दूसरी विशेषता है। ये दोनों गुण दास में और भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। वास्तव में दास हिन्दी के पहले आचार्य हैं, जिन्होंने हिन्दी साहित्य पर दृष्टि स्थिर रख कर, हिंदी पाठक की आवश्यकताओं का विचार करते हुए, रीति-विवेचन किया है। रीतियुग के आचार्यों में हिंदी की

प्रकृति का इतना विशद ज्ञान और किसी को भी नहीं था। विवेचन की स्वच्छता, सिद्धांतों का व्यावहारिक उपयोग तथा भाषा की प्रकृति का ज्ञान—इन तीनों के विचार से दास की तुलना में देव क्या, कोई भी अन्य रीतिकालीन आचार्य नहीं ठहरता। उनका केवल एक ही पक्ष दुर्बल है—मौलिकता, और इस दृष्टि से देव की स्थिति उनकी अपेक्षा दृढ़तर है। अब प्रतापसाहि रह जाते हैं। प्रतापसाहि को लोग प्रसिद्ध व्यंग्य-विद् के रूप में—व्यंग्यार्थ-कौमुदी के लेखक के रूप में ही अधिक जानते हैं। उनका दूसरा और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थ काव्य-विलास दुष्प्राप्य होने के कारण प्रकाश में नहीं आ सका, अतएव आचार्य रूप में उनका उचित आदर नहीं हो पाया। परन्तु जिन्होंने काव्य-विलास का अध्ययन किया है, वे उनके आचार्यत्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। उन्होंने व्याख्याता आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि का आधार दृढ़ता-पूर्वक ग्रहण करते हुए काव्य के स्वरूप, तथा उसके दशांग का अत्यन्त प्रौढ़ विवेचन किया है। प्रतापसाहि रीतियुग के प्रथम श्रेणी के कवियों में हैं। परन्तु काव्य-विलास में सिद्धांतों का निरूपण तथा उनका व्याख्यान करते समय वे अपने कवित्व को बाधक नहीं होने देते। वास्तव में काव्य-विलास पढ़ते हुए हिंदी का पाठक मम्मट और विश्वनाथ के प्रौढ़ तथा सांगोपांग शास्त्रीय विवेचन का थोड़ा बहुत आभास अवश्य प्राप्त कर लेता है, जो अन्यत्र दुर्लभ है—और कम से कम देव में अलभ्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य के सर्वांग का विवेचन करने वाले इन रीति-आचार्यों मे देव की गणना तो अवश्य की जा सकती है, परन्तु आचार्यत्व की दृष्टि से वे इन सभी से हलके पड़ते हैं। वास्तव मे, उनका महत्व रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा करने के कारण ही है। अन्य क्षेत्रों में उनकी गति ही है, गहरी पैठ नहीं।

शृंगारिक मुक्तक-कारों की परम्परा के प्रमुख कवि हैं विद्यापति, केशव, बिहारी, मतिराम, देव और पद्माकर—इसी में रीतिमुक्त प्रेमी कवि भी आते हैं जिनमें घनानन्द मुख्य हैं। स्थूलतः सूर को भी इसी के अंतर्गत लिया जा सकता है परन्तु जीवन के प्रति दृष्टिकोण, काव्य-प्रेरणा, तथा प्रतिभा के धरातल को दृष्टि में रखते हुए उनको इस श्रेणी से पृथक् ही रखना उचित होगा। विद्यापति के पद विशेष कारणों से देव-काव्य में परिगणित किये जाने लगे हैं। परन्तु मूलतः वे मानव-शृंगार, उसमें भी विशेष रूप से मानव-सौंदर्य के कवि हैं। जहाँ तक सौंदर्य की सूक्ष्म और रसमय चेतना का सम्बन्ध है, उपर्युक्त कवियों में से यदि कोई भी विद्यापति की तुलना मे थोड़ा बहुत खड़ा हो सकता है तो वह देव ही हैं। विद्यापति का रोम-रोम जैसे नारी की सौंदर्य सुरा का पान कर नाच उठता है। इस प्रकार के आत्म-रस में डूबे हुए सौंदर्य-चित्रों के सामने रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ

चित्रकवि बिहारी के चित्र निर्जीव-से लगते हैं। देव में आत्म-रस का प्राचुर्य्य है। गीति-तत्व भी उनमें प्रभूत मात्रा में है, परन्तु फिर भी उनका स्थान विद्यापति के बाद ही पड़ेगा क्योंकि उनका आत्मनिलय उतना पूर्ण नहीं है जितना विद्यापति का; साथ ही भाषा और भाव का मादक संगीत जितना विद्यापति में है उतना देव में नहीं है।

केशव का प्रभाव देव के कवि रूप पर भी पड़ा है। उनका व्यक्तित्व देव की अपेक्षा अधिक पाण्डित्य-प्रौढ़ है, इसमें संदेह नहीं। शुक्ल जी तथा उनके अनुयायियों ने रामचन्द्रिका के कुछ आलंकारिक अनौचित्यों के कारण ही केशव को एकदम हृदयहीन घोषित कर दिया है, परन्तु रसिक-प्रिया का लेखक आलंकारिक मात्र नहीं था। उसमें रसिकता पूरी पूरी मात्रा में वर्तमान थी, रसिक-प्रिया के अनेक छंद इसके मधुर साक्षी हैं। फिर भी यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि देव का हृदय-पक्ष केशव की अपेक्षा अधिक समृद्ध है। उनमें आवेग, तन्मयता, रसार्द्रता केशव से निश्चय ही अधिक है, और इस प्रकार उनकी रसानुभूति निश्चय ही अधिक समृद्ध है। कला-पक्ष भी देव का केशव से अधिक सम्पन्न है। उनकी भाषा मे केशव की भाषा की अपेक्षा औज्ज्वल्य, झंकृति, लाक्षणिक वक्रता, आदि गुण कहीं अधिक मिलते हैं, छंदों में कहीं अधिक मसृणता तथा संगीत है। एक शब्द में, देव में केशव की अपेक्षा गीतितत्व अधिक समृद्ध और प्रचुर है।

इस क्षेत्र में देव के सब से प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी बिहारी हैं। द्विवेदी-युग के आलोचकों में देव और बिहारी को लेकर अच्छी मोर्चे बन्दी हुई थी। वास्तव में बिहारी मध्य युग के सब से अधिक लोक-प्रिय कवि हैं। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर हरिश्चन्द्र-काल तक बिहारी-सतसई का सम्मान प्राकृत मे गाथा-सप्तशती और संस्कृत में अमरु-शतक से भी अधिक रहा है। इसके कई कारण दिए जा सकते हैं। एक तो यही कि गाथा-सप्तशती और अमरु-शतक के आदर्श पर लिखा हुआ हिन्दी का यह प्रथम स्वतन्त्र मुक्तक ग्रंथ था, अतएव स्वभावतः ही यह उनके समान ही लोक-प्रसिद्धि का अधिकारी हुआ। दूसरा कारण तत्कालीन रसिक-सम्प्रदाय की चमत्कार-प्रिय रुचि को माना जा सकता है। लोक-प्रसिद्धि की दृष्टि से देव की बिहारी से कोई समता नहीं। परन्तु लोक-प्रसिद्धि साहित्यिक उत्कर्ष की अतर्क्य कसौटी भी नही है, और इसमें संदेह नहीं कि उचित तुलनात्मक अध्ययन के अभाव में रीतिकाल के कई रस-सिद्ध कवियो के ऊपर बिहारी को अनावश्यक महत्व दिया गया है। बिहारी में चमत्कार का आग्रह इतना अधिक है कि वे प्रायः उक्ति के बाँकपन के लिए रस की भी उपेक्षा कर देते हैं, उनके ऐसे दोहो की एक बृहत् संख्या है जो दूर की सूझ या उक्ति के साधारण चमत्कार

से केवल मस्तिष्क को प्रभावित कर रह जाते हैं, हृदय को रसार्द्र नहीं कर पाते। रसार्द्रता की दृष्टि से देव की कविता निश्चय ही उनकी कविता की अपेक्षा उत्कृष्ट है। देव की प्रेमानुभूति कहीं अधिक गहरी और सबल है—तन्मयता तथा द्रवणशीलता में केशव की भाँति बिहारी भी देव की समता नहीं कर पाते। परन्तु यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिए :—वह यह कि इन दोनों कवियों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। बिहारी की दृष्टि वस्तु-परक अधिक है देव की भाव-परक, और इसका प्रभाव उनकी सौन्दर्य-चेतनाओं पर पड़ा है। बिहारी में सौन्दर्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व को ग्रहण कर शब्द-बद्ध करने की जैसी अपूर्व क्षमता है, वैसी देव अथवा रीति-युग के किसी भी कवि में नहीं है—परन्तु सौन्दर्य में पूर्णतः रसमग्न होने की क्षमता देव में उनसे कहीं अधिक है। समग्र रूप से विचार करते हुए, देव के काव्य की आत्मा बिहारी के काव्य की आत्मा से अधिक समृद्ध है। काव्य-शिल्प की दृष्टि से दोनों ही पक्ष समान रूप से प्रबल हैं—यद्यपि यहाँ भी टेकनीक दोनों की सर्वथा भिन्न है। देव की अपेक्षा बिहारी की कला अधिक *सचेष्ट है—उन्होंने कला का माध्यम भी अपेक्षाकृत सूक्ष्म ही चुना है। स्वभावतः उनके शिल्प का मुख्य गुण है सूक्ष्म जड़ाव। इसके विपरीत देव के शिल्प में कोमल सामञ्जस्य अधिक है। बिहारी की भाषा देव की भाषा से अधिक प्रौढ़ है। उसकी लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक शक्ति अत्यन्त विकसित, तथा समासगुण अद्भुत है। उधर देव की भाषा में झंकृति, संगीत और औज्ज्वल्य अधिक है। अतएव शिल्पी रूप में दोनों के सापेक्षिक महत्व का निर्णय निर्णायक की रुचि पर ही निर्भर है।

रीति-युग में मतिराम शृंगार की उर्मिल भावनाओं की सरल कोमल व्यंजना करने वाले कवि हैं। भाव और भाषा की स्वच्छता उनकी विशेषता है, जिसके प्रति देव जैसे कवि को सहज ईर्ष्या हो सकती है। परन्तु भाव-गाम्भीर्य में मतिराम देव के समकक्ष नहीं खड़े हो सकते। मतिराम चटुल वीचियों से क्रीड़ा करने वाले स्वच्छ सरोवर हैं—तो देव गहन-गंभीर वापी। यह गंभीरता आपको पद्माकर में मिलेगी। पद्माकर के भावों में गाढा रस-परिपाक और उनकी भाषा मे तरंगायित नद-प्रभाव है। परन्तु उनकी अनुभूति में देव की सी सचाई नही है—उसमें उतना आत्म-द्रव नहीं है। पद्माकर की काव्यानुभूति में शक्ति तो है, परन्तु उतनी स्निग्ध तथा सूक्ष्म-कोमल अभिरुचि नहीं है। इसीलिए उनकी कविता में कृत्रिमता की प्रवृत्ति स्पष्ट मिलती है, उनके संग्रह मे ऐसे छंदों की कमी नहीं है, जो शब्दों की भड़क-भड़क दिखा कर केवल नाद-प्रभाव उत्पन्न कर रह जाते हैं।

अनुभूति की सचाई एवं आत्मद्रव वास्तव मे रीति-बद्ध कवियों मे विरल ही है। यह भक्त कवियों की या फिर रीति-मुक्त प्रेमी कवियों की विभूति है।

---

* (Conscious.)

रीतिमुक्त कवियों मे घनानन्द ही देव के समकक्ष रखे जा सकते हैं। ठाकुर, बोधा आदि का काव्य-स्तर निश्चय ही उनसे नीचा है। घनानन्द में आत्म-तत्व देव से अधिक है—आवेग, तन्मयता तथा द्रवणशीलता उनमें देव से प्रचुरतर है। इसके अतिरिक्त उनकी 'नेह की पीर' में एक अभूतपूर्व तीव्रता है, जो देव में उतनी मात्रा मे नहीं है। भाषा की शुद्धता तथा लाक्षणिक वक्रता मे भी घनानन्द देव से आगे हैं। इन गुणों के संतुलन मे देव के काव्य में वैभव[1] अधिक पाया जाता है। देव की काव्य-सामग्री स्पष्टतः ही अधिक समृद्ध है। उनकी शैली मे कान्ति, औज्ज्वल्य, तथा संगीत का कहीं अधिक उल्लास है।

देव के प्रतियोगी हिन्दी के उपर्युक्त कवि ही हैं—और काव्य के सभी तत्वों पर विचार करते हुए यह सरलता से कहा जा सकता है कि इनमें देव का स्थान अन्यतम है। ये सभी कवि द्वितीय श्रेणी के कवि हैं। स्वभावतः देव भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। प्रथम श्रेणी मे मै उन कवियों की गणना करता हूँ, जो जीवन को समग्र रूप में ग्रहण करते हैं, जिनकी कल्पना और अनुभूति की गति उसकी विराट से विराट ऊंचाइयों और गंभीर से गंभीर गहराइयों तक होती है। शास्त्रीय शब्दावली में—जिनका मधुर के साथ ही विराट पर भी समान अधिकार होता है। हिन्दी मे रामचरित-मानस, सूर-सागर और कामायनी आदि के स्रष्टा ही इस श्रेणी में आते हैं। रसिक-प्रिया, बिहारी सतसई, रसराज और सुखसागर-तरङ्ग के रचयिता नहीं।

शम्